



गोस्वामिश्री १००८ श्रीगोविन्दलाल महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

एक किंवदन्तीके अनुसार नवरत्न ग्रन्थकी रचना श्रीमहाप्रभुने वि. स १५५८ मे अडेलमे की थी । यह ग्रन्थ खेरालुग्रामके गोविन्द दवे साचोराके लिए लिखा गया था।

प्रारम्भमे ही गोविन्द दवेकी मनोवृत्ति वैराग्यप्रधान थी. अल्पवयमे ही वे अपने माता-पिताको छोडकर तीर्थयात्रायें द्वारका पहुच गये थे और वादमे वही रहने लग गये थे भावप्रकाशके अनुसार ये मर्यादापुष्टिके जीव थे ओर तदनुरूप इनकी द्वारकालीलामे आसक्ति अधिक थी. द्वारकाम्य श्रीरणछोड-जीके स्वरूपमे भी अतएव इनकी अत्यधिक आसक्ति थी. अपने माता-पिताके देहावसानके बाद ये श्राद्ध करने गया गये थे लौटते समय मार्गमे मनिकर्णिका घाटपर इनकी भट श्रीमहाप्रभुके साथ हुई दर्शन करते समय इन्हें इच्छा हुई कि श्रीमहाप्रभुके पास रहकर कुछ विद्यार्जन करे अनुमति मिलनेपर कहीमे व्याकरणकी पोथी ले आये पर श्रीमहाप्रभुने मूल गीताके अध्यापन द्वारा ही संस्कृत भाषा, व्याकरण एवम् सिद्धान्त का भी ज्ञान इन्हें प्रदान कर दिया. इससे प्रभावित होकर ये पुष्टिमार्गमे दीक्षित हुए और आज्ञानुसार परलौटकर भगवत्सेवामे प्रवृत्त होगये

८४ वंशवर्णनकी वार्ताके अनुसार— 'गोविन्द दूब घरमे सेवा करे परन्तु मनमें बहुत विग्रह (व्यग्र) रहे सो मेवामें चित्त लागे नाही तब गोविन्द दूबे एक पत्र श्रीआचार्यजीको लिखे—'महाराज ! मेरा मनमे बहुत विग्रह रहत है भगवत्सेवामें चित्त लागत नाही सो कहा करू?' सो पत्र श्रीआचार्य-जीके पास आयो सो आप वाचिके नवरत्न ग्रन्थ करि लिख पठाये और लिखें 'यह नवरत्न ग्रन्थको पाठ !कये तेरे मनकी विग्रहता (व्यग्रता) मिटि जायेगी' सो पाठ करत श्रीआचार्यजीकी कृपाते व्यग्रता--चिन्ता सब मिटि गई मन भगवत्सेवामे करन लागे "

इस प्रसंगका निगूढ़ आशय श्रीहरिरायचरणने भावप्रकाश बहुत सुन्दर गद्यशैलीमें व्यक्त किया है—“गोविन्द दूबेके मनम विग्रहता भई ताको अभिप्राय यह जो गोविन्द दूबे जीव तो द्वारिकालीला सम्बन्धी और सेवाभावना व्रजकी करे सो मन लागे नाही न राजलीलामें दृढता होई न व्रजलीलामें सो अनेक साधनमें मन दोरे जो तीर्थ करू के व्रत करू कोई जप करू इत्यादि मन भटके सो श्रीआचर्यजी महाप्रभु नवरत्न ग्रथ लिखि पठाये—‘तू चिन्ता मति करें चित्तकी उद्वेगता है यह प्रमुलीला जानि—श्रोठाकुरमे ते मन और ठोर जाये सोउ भगवदिच्छा मानि—चिन्ता मति करियो तितनी वने तितनी सेवा करियो तब गोविन्द दूबको मन स्थिर होगयो. जहा मन लौकिक वैदिक मे जाई तो भगवदिच्छा माने. श्रीरत्नछोडजीमे मन बहोत जाई सो भगवदिच्छा माने उहाकी लीलामें मग्न रहे काहेने ? नाम्त्र पुरान अनेक उपाई प्रभुमिलन के कहे हैं जीवको मिममात्र मार्ग दिखाये जो जहाको अधिकारी है वामे वाको मन स्वत सिद्ध लागत है

ताते जैसे मनुष्य गैल चलिवेवारेका दम गामके मारग बताव परन्तु जासो जा गाम जानो होई सोई गाम जात है तैसे ही कोई भगवदीय द्वारा कोई गुरु द्वारा कोई ईश्वर द्वारा जैसे अधिकारी तैसे सग पाय उहो मार्गमे भाव वाको दृढ होत है सो गोविन्द दूबेको श्रीरणछोडजीमें दृढ भाव भयो

पुष्टिप्रवाहमर्षादा ग्रन्थम मार्गभेदका निरूपण किया ही गया है सभी जीवोंके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं स्वयम् पुष्टिमार्गमें भी भगवान् पाम पहुँचनेकी अनेक दिशा या मरणो है जिस दिशाम सहजतया हम चल पाते हा उमी ओर हमारे चलनेका प्रयास निरायाम होना है अपने स्वभावके अनुसृत्य सहजतया जिस मार्गपर हम चल सकते हैं, उसे छाडकर अन्यथा फलोंकी कामनाक वश या मिथ्या अनुकरणकी मनोवृत्तिसे, जब हम अपने स्वभावविपरीत मार्गपर चलना चाहते हैं ता उस आयाममें चिन्ता उद्वेग या ध्यग्रता से मनका ग्रस्त हो जाना स्वाभाविक बात है.

पुष्टिपथके अधिक स्वयम् अपने स्वरूपका या अपन कर्तव्यके स्वरूपका अथवा अपने भजनीम भगवानके स्वरूपका चिन्तन करें यह तो स्वभाविक तथा आवश्यक ही है इस चिन्तनका स्थान परन्तु अस्वाभाविक चिन्ता लेने लग जाये तो वह श्रीमहाप्रभुको नहीं सुहाता है क्योंकि चिन्ताका मूल हमारी आस्था

भक्ति तथा स्वीकृति की मनोवृत्तिमत् होकर अनास्था उद्विग्नता तथा अस्वीकृति की मनोवृत्तिमें होता है भगवान्की शरणागति स्वीकारनेके बाद सब कुछ ऐहिक या पारलौकिक भगवान्की समर्पित कर देना चाहिये. भगवान् तो सर्वज्ञ सर्वसमर्थ सर्वहितैषी सर्वसुहृत् कर्ता-कारयिता अचिन्त्य लीला विहारी हैं इस भावभूमिपर सशय चिन्ता या प्रार्थना के विपेले अदुर फूट ही नहीं सकते जो कुछ घटित हो रहा है उसे लीलाबोधके साथ स्वीकारनेमें ही वास्तविक विवेक समाहित है भगवान्की कृपासे भगवत्सेवा या भगवत्कथा में जितना भी चित्त तन्मय होता चला जाये उसमें अधिकाधिक आनन्द लेते जानेंकी मनोवृत्ति एक स्वस्थ स्वीकृतिकी मनोवृत्ति है जबकि अनधिकार चेष्टाके द्वारा जो आदर्श तन्मयता हम प्राप्त नहीं हुई हो उसके वारेमें चिन्ता या उद्वेग की मनोवृत्ति अस्वस्थ अस्वीकृतिकी मनोवृत्ति है प्राप्तिमें अधिकका मनोरथ अस्वाभाविक नहीं होता परन्तु अप्राप्ति की चिन्ता या तज्जन्य उद्वेग एक अस्वाभाविक मनोवृत्ति है इसी तरह लौकिक या वैदिक योगक्षमके बारे में भी निरन्तर चिन्ता करते रहना एक भक्तिविरोधी मनोभाव है

अतः भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेवाले पुष्टिजीवोको श्रीमहाप्रभु इस नवरत्न ग्रन्थके द्वारा सभी तरहकी चिन्ताओसे मुक्त करना चाहते हैं

वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानका अधिकार जैसे गायत्री-मन्त्रके उद्देशग्रहण करनेसे मिलता है, वैसे ही पुष्टिभागमें भगवत्सेवाका अधिकार ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षासे प्राप्त होता है आत्मनिवेशनकी मायंकता भगवत्सेवाके सम्पन्न होनेपर ही होती है अपने लौकिक व्यवहार भी अनएव धावत्शक्य भगवान्की सेवामें उपयोग लाये हुए पदार्थोंसे चलाने चाहिये इसमें भी प्रयोजन पुनः भगवत्सेवाका निर्द्वन्द्व निर्वाह ही होता चाहिये भगवान्की दानरूप किसी वस्तुके भेंट करनेपर उसे पुनः अपने उपयोगमें लाना वर्जित है पर निवेदितके समर्पणकी प्रक्रियामें किसी वस्तुको पुनः अपने उपयोगमें लाना वर्जित नहीं है प्रत्युत यही प्रकार अनुसरणीय है अन्यथा भगवान्को निवेदित अत्र आर्द्रका भी प्रसादके रूपमें पुनर्ग्रहण वर्जित मानना पडगा जबकि सिद्धान्त-रहस्यमें असमर्पित वस्तुके त्यागका ही विधान किया गया है अतः आत्मनिवेदीके लिए यह सर्वथा उचित बात है कि प्रभुकी समर्पित सभी वस्तुआना कर्मसेकर्म एकद्वार भगवान्की सेवामें पहले विनियोग करे और तत्र अपन

उपभोगार्थं उसे ग्रहण करे इस नियमके पालनसे आत्मशुद्धि होती है

परन्तु अन्न वस्त्र आदि वस्तुओंके एकवार भगवान्की सेवामें काममें आ जानेपर दुबारा उन्हें जुटानेका प्रयास करना चाहिये कि नहीं ? यदि नहीं करते तो आगे सेवाका भी स्वरूप नहीं निभ पायेगा और यदि करते हैं तो वह तो दुनियाकी रीतके अनुसार ही करना पड़ेगा और उस उपार्जनकी प्रक्रियामें पुनः ससारमें उलझना पड़ेगा तो सेवामें भी विघ्नकी सम्भावना है इस तरहकी चिन्ता भगवद्भक्तके मनमें उठ सकती है. स्पष्ट है कि ऐसी चिन्ता स्वार्थप्रेरित नहीं होती किन्तु भगवत्प्रेरित ही होती है पर श्रीमहा-प्रभु आज्ञा करते हैं कि भक्तको न तो स्वार्थपूर्तिके लिए और न भगवत्प्रेरित ही चिन्ता करनी चाहिये.

आत्मनिवेदीके लिए यह आवश्यक है कि जीवनमें सुख-दुःख जो भी आयें उन्हें भगवदिच्छा मानकर सहजतया स्वीकार ले चिन्ता कदापि न करे लौकिक व्यवहारको निभानेके लिए लौकिक प्रयासोंमें व्याप्त होनेपर यह सम्भव है कि मयादा मार्गीय वैराग्य न भी सिद्ध हो भगवान्ने, किन्तु, पुष्टिमार्गमें हमारा अंगीकार किया है अतः प्रवाहमार्गीय लौकिक गति पुष्टिजीवकी होने नहीं देंगे, यह दृढ़ आस्था हमें रखनी चाहिये

भगवत्सेवा निभानेके लिए व्यापार या नौकरी आदि करनेपर सम्भावित वहिर्मुखतामें बचनेका उपाय है अपने आत्मनिवेदनकी स्मृतिको बनाये रखना कि "मैं कृष्णका हूँ— कृष्णका दास हूँ "

किसी विषय स्थितिमें सेवा न निभ पाती हो तब भी अन्य आत्मनिवेदी भगवदीयोंके सत्सागद्वारा इस आत्मनिवेदनकी स्मृतिको बनाये रखना निरन्तर आवश्यक है क्योंकि यह स्मृति मानस-पटलपरसे गिटी और तुरत असुरावेदकी सम्भावना प्रबल हो जाती है

आत्मनिवेदन करनेवाले सभी पुष्टिजीव चाहे वे उच्चकक्षाके हो या निम्न कक्षाके सभीका सम्बन्ध तो दासके रूपमें भगवान्के साथ जुड़ ही गया है फिर चिन्ता किस बातकी ? भगवान् हमारे स्वामी हैं वे जो भी निजैच्छासे करे वह हमें स्वीकार्य होना चाहिये. और फिर भगवान् तो भक्तवत्स भी हैं अतः अपन भक्तोंकी विकाररहित सारी मनोकामना भगवान् विना किसी प्रार्थनाकी

अपेक्षाके स्वयमेव पूर्ण करेगे. यह आस्था हमें रखनी चाहिये और चिन्तासे छुटकारा पाना चाहिये

आत्मनिवेदन तो हम भगवान्को करते हैं पर सेवा तो हमें अपने स्त्री-पुत्र-परिवारकी भी करनी ही पड़ती है ऐसी चिन्ता भी आत्मनिवेदीको नहीं करनी चाहिये. क्योंकि ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षाके समय हम केवल अपना ही नहीं अपितु सम्पूर्ण परिवारका भी भगवान्को समर्पण कर देने है अतः हमसे सम्बन्धित सभी कुछ प्रभुका अर्थात् ब्रह्मसे सम्बन्धित हो जाता है अतः उनका भरण-पोषण या संरक्षण भक्तिविरोधी भाव या व्यवहार नहीं गिना जाता. फिर चिन्ता क्यों करनी चाहिये ?

परिवारके सदस्य यथा पति-पत्नी माता-पिता या सन्तति आदि, यदि भगवत्सेवामें सहायक न होकर अन्याय सासरिक कार्योंमें व्यस्त रहते हो, तब भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये क्योंकि हमारा कर्तव्य है उन्हें प्रभुको समर्पित करना सो वह कर देनेपर सब कुछ भगवदिच्छापर अवलम्बित है कि कब वे उन्हें अपनी सेवामें काममें लाये सहज सद्भाव तथा प्रेरणा से उन्हें भगवत्सेवामें प्रवृत्त कराया जा सकता हो तो अच्छी बात है अन्यथा उनकी भगवत्सेवामें रुचि या प्रवृत्ति न दिखलायी पड़ती हो तो व्यर्थ चिन्ता कलह या क्लेश करना भक्तिविरोधी भाव है

कभी यह भी सम्भव है कि हमें ऐसे व्यक्तियोंके काम आना पड़े जिनके बारेमें ब्रह्मसम्बन्ध लेने समय उन्हें भगवान्को समर्पित करनेका मनोभाव हमारे अन्दर सर्वथा न हो पर इससे चिन्तित होनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि एक वार सर्वात्मना प्रभुके प्रति समर्पित हो जानेपर, चाहे वह समर्पण ज्ञानपूर्वक न भी हो परन्तु चिन्ताका कोई कारण रह नहीं जाता

कभी-कभी हमें विश्वास नहीं होता कि हमारे आत्मनिवेदनको प्रभुने सुना कि नहीं हमने तो सब कुछ समर्पित कर दिया पर भगवान्ने उसे स्वोकारा कि नहीं यह चिन्ता भी निरर्थक है क्योंकि श्रीकृष्ण तो पुष्टि-पुष्टोत्तम हैं अतः जैसे वज्रभक्तोंका अन्धाध्र्य छुड़ाकर स्वयमेव अपने भजनमें उन्हें प्रवृत्त करने हैं, वैसे ही जब और जिस क्षण वह अपने भजनमें हमें प्रवृत्त करना चाहेंगे उस क्षण स्वतः ही हमारा तथा हमसे सम्बन्धित सभी वस्तु या व्यक्ति का उनकी सेवामें विनियोग अनायास सम्पन्न हो जायेगा यदि भग-

वदिच्छा पुष्टिमागंमे हमारे अगीकारकी न हो तो हम आत्मनिवेदन भी नहीं कर पायेंगे प्रभु तो सर्वसमर्थ है अतः हमारी सारी अयोग्यताओको दूर कर विना किसी साधनकी अपेक्षाके हमें योग्य भी बना सकते हैं अतः हम निवेदन या समर्पण के योग्य हैं कि नहीं ऐसी चिन्ता भी पुष्टिभक्तको नहीं करनी चाहिये

जब लौकिक व्यापार आदिमें कोई कठिनाई उपस्थित हो या वैदिक वर्णाश्रम धर्मके पालनमें कोई कठिनाई उपस्थित हो, तब भी विना नहीं करनी चाहिये प्रत्युत यह समझना चाहिये कि भगवान् अधिकाधिक भक्तिमार्गपर अग्रसर होनेका अवसर हमारे सामने उपस्थित कर रहे हैं

आओ ! सारे पुष्टिजीव आओ ! और ऐसी विषम स्थितिमें भी अपनी पुष्टिभक्तिको निभानेका यत्न करो लौकिक या वैदिक व्यवहारोंमें स्वास्थ्यका क्या मूल्य यदि पुष्टिभक्तिका स्वास्थ्य न हो ? भगवान् यदि लौकिक दृष्टिसे या वैदिक दृष्टिसे कुछ विषमस्थिति हमारे सम्मुख उपस्थित करते हो तो निश्चिन्त होकर उन्हें सहन कर लेना चाहिये क्योंकि सभवतः इसी तरह भगवान् हमें पुष्टिमार्गपर अग्रसर करना चाहते हो !

भक्तिकी प्रारम्भिक अवस्थामें गुरुकी आज्ञाके अनुसार ही भगवत्सेवा करनी चाहिये परन्तु भगवदिच्छावश या भगवदाज्ञावश सेवाके प्रकारमें कुछ भिन्नता भी आ जाये तो चिन्ताकी कोई बात नहीं है गुरुकी आज्ञाके अनुसार हो अथवा भगवान्की आज्ञाके अनुसार हो जैसे भी ऋणमेवाम तत्परता बढ़ती चली जाये वही जीवनप्रणाली सुखप्रद होती है

निश्चिन्तताके इन सारे सिद्धान्तोंको जाननेके बावजूद भी कभी कभी पारिवारिक कष्ट व्यक्तिको झकझोर देता है उदाहरणतया पुत्र पति या पत्नी का वियोग होनेपर मनस्ताप ही होता है पर जो भी कुछ घटित होना है उसे भगवल्लीलाके बोधके माध्यम सृजितया स्वीकार लेनकी मनोवृत्ति सम्पादित करनी चाहिये चिन्ता उद्भव या मनस्ताप से जितनी भी जन्सी छुटकारा पाया जा सके उसे पानेकी मनोवृत्ति रखनी चाहिये

भक्तिके नौ मोक्षान्दियेण्य गय है— श्रवण कीर्तन स्मरण पादपवन अर्चन वन्दन दाम्पत्य मस्य और आत्मनिवेदन इनमें अपेक्षित प्रकारमें श्रवणकीर्तन जैसे प्राथमिक मोक्षान्दियेण्य पर भी आरोहण करना एक कठिन कार्य है तो

अन्तिम सोपान आत्मनिवेदन और उसके बाद प्राप्त होनेवाली निश्चिन्तता-की मानसिक अवस्थाका लाभ तो अत्यधिक कठिन लगता है ! परन्तु आवश्यकता इस कठिनताके विचारसे चिन्ताकी नहीं प्रत्युत सर्वात्मना शरणागतिके मनोभावको बनाये रखनेको है ऐसी निरर्थक चिन्ताओमें जितने समय तथा मनोयोग का व्यय हो जाता है, उतने समय तथा उतने मनोयोगसे निरन्तर “श्रीकृष्ण शरण मम” कहते रहे तो बात बन सकती है

यह आश्वासन —यह अभिमत केवल गोविन्द दूबेके लिए नहीं अपितु सभी पुष्टिजीवोको श्रीमहाप्रभु दे रहे है

भगवद्-विप्रयोगकी स्नेहात्मिका अनुभूतिमें पुष्टिजीवका कृश होना तो परमपुष्टि है — “तिहारे सेवक ऐसे कृश क्यों ? वरजे हते पर मारगमें आये ताको फल पाय रहे है !” यह कृशता तो पुष्टिभक्तिके स्थायिभावको एक रोचक सञ्चारिभाव है अत रसवर्धक भी है पर भक्तिके स्थायिभावके विपरीत चिन्ता या उद्वग रसाभास पैदा करते है. रसाभास पैदा करनेवाले चिन्ताके इन्ही विविध प्रकारोंमें से कुछ प्रकारोंको यहा सूचित किया गया है श्रीमहाप्रभु पुष्टिभक्तके मानसको इनसे दूषित होनेसे बचाना चाहते है ताकि कृष्णसेवा तनु-वित्तजासे मानसी सेवाके रूपमें विकसित हो पाये —आत्मनिवेदनका बीजभाव भगवत्प्रेममें अकुरित हो पाये— भगवदासक्तिमें पल्लवित हो पाये और अन्तत भगवद्-व्यसनमें वह फलित हो जाये ।

प्रस्तुत सस्करण वि स १९८१ में श्रीमूलचन्द्र तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल ब्रजदास सोकलिया द्वारा सम्पादित-प्रकाशित सस्करणका ऑफसेट प्रॉसस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है इस पुन प्रकाशनके अवसरपर हम इन महानुभावोंका कृतज्ञापूर्वक स्मरण करते है.

તેવા જ કોઇ બાલકે લાલુભટ્ટની માફક પોતાને અસંગતિ પ્રતીત થતા અર્થ થટાવવાને આ પક્તિ ઉમેરી પણ હોય તમે તેમ હોય તો પણ આ કાંઉસની પક્તિથી પ્રકાશનો અર્થ બધ બેસી રહે છે, અને તેથી લાલુભટ્ટનો પ્રયત્ન ઐતિહાસિક દૃષ્ટિએજ ઉપયોગી વાગે છે

૪ નવરતના યાવતપ્રાપ્ય સસ્કૃત સાહિત્યનો સમઢ કરી શોધી આ પ્રકટ કર્યું છે શ્રીગુસાઇજનો નવરતપ્રકાશ પ્રાચીન શુદ્ધ દશેક પ્રતિ ઉપરથી શોધી પ્રકટ કર્યો છે શ્રીપુરુષોત્તમજનો નવરતપ્રકાશવિવૃતિ તથા ઢાકા શ્રીવલ્લભજનો નવરતપ્રકાશ ટીકા પણ બહુ સારી પ્રાચીન પ્રતિઓના આધારે શોધી છપાવી છે શ્રીમુરલીધરભટ્ટ જનો ટીકા માત્ર જ પ્રતિ ઉપરથી છપાવી છે આ ટીકાની શોધમા અમે બહુ શ્રમ લીધો છે, તો પણ અમને તન્મુદ્રણમા સતોષ થયો નથી આ શ્રીમુરલીધરભટ્ટ જોણ અને ક્યારે થયા તે પણ અમને જ્ઞાન થયુ નથી આ સસ્કૃત સાહિત્ય અમને ૫ ગદ્લાલાજના પુરતકસમઢમાથી, પોરબદરવાલા શ્રીરણજોડલાલજ, મુરતવાળા શ્રીમજરજલજ, શસ્ત્રીજ મુખ્યાલ ગોકુલદાસજ તથા શાસ્ત્રી ચીમનલાલ આદિ તરફથી મળ્યુ છે આ સર્વનો અમારા ઉપર પરમ ઉપકાર થયો છે

૫ શ્રવણ કર્યું છે કે શ્રીગોકુલેશે નવરત ઉપર ટીકા લખી છે, તથાપિ તેનુ દર્શન કરવાનુ સૌભાગ્ય અમને ક્યાહિ પણ થયુ નથી સભવ છે કે શ્રીગુસાઇજની વિવૃતિમા આપે કવચિત્ ઉમેરો કર્યો હોય આજે કોઇ ઉમેરો જે વિવૃતિમા પાછળથી થયો છે એમા તો સદેહ નથી એવો એક ઉમેરો જે અમને મળ્યો તે અમે ટિપ્પણમા સૂક્ષ્મ અક્ષરમા છાપ્યો છે.

૬ દ્વન્વ આખનાર શેઠ કરાણી તથા ઉપર જણાવેલા શ્રીગોસ્વામિ બાલકો તથા વિદ્વાનોના સાહાય્યથી આ પરમ પ્રેમ અને પરિશ્રમથી સિદ્ધ થયલો ગ્રન્થ શ્રીમતપ્રભુચરણ કમલમા સમર્પિએ છીએ

શ્રીલોત્સવ
૧૯૮૧
મુબઈ

મૂલચન્દ્ર તેલીવાલા,
ધૈર્વલાલ સાંકસીઆ.

॥ श्रीकृष्णाय नम ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नम ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नम ॥

नवरत्नम् ।

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभि कदापीति^१ ।
भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥१॥
निवेदन तुं स्मर्तव्य सर्वथा तादृशैर्जनै ।
सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छात करिष्यति ॥२॥
सर्वेषा प्रभुसम्यन्धो न प्रत्यकमिति स्थिति ।
अतोऽन्याविनियामोऽपि चिन्ता का स्वस्य साऽपि चत् ॥३॥
अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।
यै कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषा का परिदेवना ॥४॥
तथा निवेदन चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।
विनियामोऽपि सा त्याज्या समर्थो हि हरि स्वत ॥५॥
लोके स्वास्थ्य तथा वदे हरिस्तु न करिष्यति ।
पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिला ॥६॥
सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा पाधन^२ वा हरीच्छया ।
अत सेवापर चित्त विधाय स्वीयतां सुखम् ॥७॥
चित्तोद्वेग विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।
तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्ता द्रुत त्यजेत् ॥८॥
तस्मात् सर्वात्मना नित्य श्रीकृष्ण शरण मम ।
यदङ्गिरेव मत्तन स्पर्शमित्येष म मति ॥९॥
इति श्रीमद्ब्रह्माचार्यचरणप्रकटित नवरत्न समाप्तम् ॥

१ इति रक्षितोऽपि पाठ इति २ च इति धीमुरलीपरभट्टसमय पाठ । ३ अवाधनम् इति वैश्विकच्छेदोऽपि । ४ एव इत्यपि पाठ श्रीप्रभुचरणानामिद । धीमुरलीपरभट्टानां ५ एव इत्येव ।

नवरत्नम् ।

श्रीविठ्ठलेश्वरविरचितप्रकाशसमेतम् ।

चिन्तासन्तानहन्तारो यत्पदाम्बुजरेणवः ।

स्त्रीयानां तान् निजाचार्यान् प्रणमामि धुहुर्धुहुः ॥ १ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविष्टतिप्रकाशसमेतम् ।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् प्रभून् श्रीविठ्ठलेश्वरान् ।

नवरत्नप्रकाशे यास्तद्वाचस्ता उपासहे ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः सिद्धान्तरहस्य आत्मनिवेदिनामुत्तरपूर्वांघाष्ठेपविनाशोपा-
यस्य भगवतोक्तत्वेपि तत्रोक्तस्य प्रकारस्य भोगसाधकतया अलौकिकभोगानुगुणत्वमेव, न तु
सेवाप्रतिबन्धकनिर्धारकत्वमपीति तदभावे तेषां आपिद्वैधिकीत्याभावं तस्मिन् सति तत्प्र-
वणचेतोरूपमानसीसेवाया असंभवं चालोच्य, कालप्रारब्धस्वभावैरभीक्ष्णं जन्यमाना-
नामुद्वेगादीनां निवृत्त्यर्थं सेवाफलग्रन्थविवरणे च 'सविधत्वादल्पत्वाद्भोगस्त्याज्य' इति
लौकिकभोगनिवृत्तौ तत्स्वरूपविचारस्यैव तन्निवृत्त्युपायत्वेनोक्तत्वात् साधारणप्रतिबन्धनिवृत्तौ
च तत्र 'आघो बुद्ध्या त्याज्य' इत्यनेन बुद्धिमात्रस्यैवोपायत्वेन कथनादुद्वेगनिवृत्तौ च कस्यापि
साधनस्वाकथनात्, किञ्चित् साधनं बुद्धिविशेषरूपं वक्तव्यम्, यद्यपि अतत्त्वनिर्धारवि-
वेकयोः प्रतिबन्धसाधकत्वकथनेन तत्प्रतियोगिनोस्तत्त्वनिर्धारविवेकयोः सर्वप्रतिबन्धनिवृ-
त्तिसाधनत्व सूचितम्, तथापि तत्त्वनिर्धारस्वरूपस्य सङ्क्षेपतः कुत्राप्यनुक्तत्वाद्द्विवेकधैर्या-
श्रये विवेकस्वरूपस्योक्तत्वेपि आश्रयशेषत्वेनोक्ततया सेवाशेषत्वेनानुक्तत्वात् सेवाया आधि-
दैविकीत्वसम्पत्त्यर्थं प्रतिबन्धकत्रयनाशहेतुं सङ्क्षेपेण वदिष्यन्तो, हेतुनाशे कार्यनाशात् तद्दे-
तुभूतचिन्तानाशकमुपायमुपदिशन्तीत्यनुसन्दधानाः श्रीमत्प्रचरणाः नवरत्नं व्याचिकी-
र्षन्तः, तत्र चिन्ताया अकरणस्य आह्वसत्वात् स्वभावतः श्लाघ्याश्चिन्ताया अनिवार्यत्वात्
तत्स्वरूपमन्यविश्वित्य तन्निवृत्त्युपायमुपदिशन्ती महलमाचरन्ति चिन्तेत्यादि । चिन्ता-
शब्दः स्मरणारूपे मनोव्यापारे योगरूढः । चिति स्पृत्यामिश्रतो भावेऽङ्घ्रि कृते चिन्तापद-
सिद्धेः । 'स्याचिन्ता स्पृतिराध्यान'मिति कोशाब् । सा तु प्रयत्नमन्तरेणापि, सद्यशाद्यचि-
न्ताधैः तद्दीजबोधकैः तदा तदा सम्भवन्ती न निर्वारयितुं शक्या । किञ्च, तस्याः सर्वस्या
अकरणे 'निवेदनं तु स्तर्तव्य'मित्यागिमग्रन्यस्यापि विरोध इति सात्र न निषिध्यत्वेन
विवक्षिता, किन्तु शास्त्रेषु प्रस्तूयमाने विचारे 'अधेदं चिन्त्यत' इत्यादिप्रयोगदर्शनादि-
चारापरनामा सप्रयत्नः स्मरणविशेषश्चिन्ता, तस्या अपि शोऽनस्याविशेषकृतोऽचान्तरवि-

ननु भगवदीयानां कथं चिन्तोद्भवः । इत्यम् । आत्मनिवेदिनो हि भगवद्भजनाहो, नेतरे । तत्र चैहिकपारलौकिकयोरर्थयोर्नापशिष्टं किञ्चिदसमर्पितम् । एव मति देहादिनिर्वाहः केन कार्यः, किं निवेदितार्थेन, उत इतरेण वा । तत्र नाथ । तदीयार्थस्य तदिच्छा विना ग्रीहीतुमशक्यत्वात्, इच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वात् । वस्तुतस्त्विच्छायामपि सत्या तदुपयोगोऽनुचितः सेवकस्य । न च तदीयानां देहादीनां तदीयार्थेन पोषणं न दोषार्थेन

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

शेष, 'एवमापन्नस्य मे किं सा'दित्याकारक, सोऽत्र चिन्तापदेन परामृश्यते । तस्या सन्तान-परम्परा, तद्धन्तारो निवारका यत्पदाम्बुजरेणवस्तान् निजाचार्यान् मुहुर्मुहुः यदा यदा तत्सम्भव, तदा तदा तन्निवृत्त्यर्थं प्रकर्षेण कायवाश्रयनसेन नमामीत्यर्थं । तेन तदीयानां प्रथमत इदमेव तन्निवृत्तिसाधनमिति पोषितम् ।

अतः परं व्याख्येयग्रन्थे चिन्ताया अकरणस्य निवेदितात्मधर्मत्वेनोक्तत्वाद्ब्रह्मसम्बन्धकरणरूपस्य निवेदनस्य चात्र भगवद्धर्माचरणोपकारत्वेन विवक्षितत्वात् तेन भगवदीयत्वे सति यथा चिन्तोद्भवस्त प्रकारं ग्रन्थावतरणाय पृच्छति नन्वित्यादि । सिद्धान्तरहस्ये ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वदोषनिवृत्तेरसमर्पितवर्जनेन च भाविदोषाससर्गस्य व्यवहारानुरोधिगौणधर्मोपदेशेन लौकिकालौकिकनिर्वाहप्रकारस्य चोक्तत्वात् तदीयाऽभीक्ष्णं भगवन्तमनुसन्दधानानामैहिकामुष्मिकचिन्ताहेतोर्निरस्तत्वात् केन प्रकारेण चिन्तोद्भवो यन्निवृत्त्यर्थं नवरत्नकरणमित्यर्थं । एव सामिप्रायप्रथमुखेन तददृशा चिन्तोद्भवे आक्षिप्ते तेषां यादृशचिन्तोद्भवस्त प्रकारं वक्तुं निवेदनसाधिकाररूपतायास्तत्प्रकारस्य च कुत्रापि प्रकरणग्रन्थेष्वनुक्तत्वात्तत्प्रकारकथनादिना तदावश्यकत्वं च दृढीकर्तुं तेषां न लौकिकी चिन्ता, ते भगवदीया इति तेषां स्वरूपबोधनाय प्रथमतः पुरस्कर्तव्यं चिन्तोद्भवप्रकारं वदिष्यन्तस्त्र हेतु विकल्पयन्ति इत्यमित्यादि । तथाच । सिद्धान्तरहस्योक्तरीत्या चिन्ताया असम्भवेपि शरीरादियात्रानिर्वाहप्रकारस्य तत्रानुक्तत्वादनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पशुपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहमिति भगवदुक्ते निर्वाहप्रकारे प्राप्तस्योक्तविकल्प्यात्मकहेतोर्वशाच्चिन्ता सम्भवतीति तन्निवृत्त्यर्थं ग्रन्थकरणमित्यर्थं । एव सम्भवहेतु विकल्प्याय परिहरन्ति तत्रेत्यादि । आद्यं निवेदितेनैव निर्वाहं कार्यं इति पक्षो न युज्यते । तत्र हेतुस्तदीयार्थस्येत्यादि । नन्वेकादशो न विंश आत्मनिवेदिना धर्मा 'श्रद्धा-सूतकयाया म' इत्यादिनोपदिष्टा, ते च शरीरस्थितिमन्तरेणानुपपद्यमानास्तद्हेतुमाक्षिपन्तो निवेदितेनैव निर्वाहमाक्षिपन्तीति नेच्छाया ज्ञातुमशक्यत्वमित्यत आहुः यस्तुत इत्यादि । अनुचित इति । भगवद्वाक्यतात्पर्यज्ञानाभावादनुचितं । सेवकस्येति । हेतुगर्भं विशेषणम् । तथा चेच्छाज्ञानेपि प्रत्यक्षाज्ञाभावेन स्वतस्तयाकरणे भक्तिमार्गविरुद्धस्य स्वातन्त्र्यस्य सम्भवादनुचितं इत्यर्थं । पुनः प्रकारान्तरेणौचित्यमाशङ्क्य परिहरन्ति न चेत्यादि । दोषावदत्वादिति । देहादेर्भगवदीयत्वेपि तत्र स्वत्वामिमानसानपेतत्वेन

चान्यम् । स्वतस्तथाकृतेर्दोषावहत्वात्तदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वादित्युक्तम् । न द्वितीयः, अस्वधर्मत्वात् । निवेदितस्वार्थस्य स्थित्वाद्यर्थ स्वस्य विचारसाध्यनुचितत्वात् । तदभिमाने तत्सम्भवात् । एव सति देहादिनाशसम्भवेन भजनासम्भवात्तद्वैधर्म्यत्वात् । मार्ग एव चायमुच्छेद्येत । अतो निवेदने भजनाधिकारः, तस्मिन् सति तदनिर्वाह इत्युभयतः-पाशा स्फुरिति चेत् । अत्र वदाम् । 'दारान् सुतान् रहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम् । एव

श्रीम पुरुषोत्तमकृतविरुक्तिप्रकाशसमेतम् ।

तथात्वादित्यर्थः । द्वितीय परिहरन्ति न द्वितीय इत्यादि । तत्र हेतुः अस्वधर्मत्वादिति । तदुपपादयन्ति निवेदितस्येत्यादि । भगवता ह्यात्मसमर्पणमिदं स्वत्वाभिमानत्यागार्थमेवाधिकारिविशेषणतयोपदिष्टम् । तत्पूर्वकमेव सेवाकारणस्य महद्विष्टयमजसुःकृष्टकारणत्वात् । अन्यथा अत्रोक्ताना पूर्वमेकादशाध्यायेषुक्तत्वाद्त्रोक्तेषु विशेषामावे उक्तृकारणत्वप्रतिज्ञान विरुद्धं स्यात् । उक्तृत्वत्व तत्रान-यथासिद्धत्वमेव । नत्वन्यत् । तथा सति पूर्वोक्तेर्वेतत्कारणत्वाभावप्रसङ्गात् । न चेष्टापति । तथा सत्येतेषु परत्वोक्तेर्विरोधप्रसङ्गादिति । अतो यथान्यस्मिन्निवेदितेऽयं नाभिगम्यते, तथा देहादावपि युक्तम् । तद्यद्यनिवेदितेन देहादिनिर्वाहं चिन्तयेत्, तदा स्वत्वाद्यभिमानदाढ्यापत्या स्वस्वधर्मोपाध्येतेति स्वधर्मविरोधेन तथात्वादित्यर्थः । एव हेतुद्वय परिहृत्य यथाचिन्तोद्भवस्त प्रकारमाहुः एवं सतीत्यादि । एव देहादिनिर्वाहप्रकारद्वये चापिते सति देहादेस्तथात्वेन भजनासम्भवात्निवेदनवैधर्म्यं पुष्टिमर्यादात्मकभक्तिमार्गोच्छेदश्चेति भगवता भक्त्यधिकारवाक्य भक्तिपरमकारणवाक्ये किमभिप्रायेणोक्तम् । ततश्च तदर्थज्ञानासम्भवे तदुक्तकरणस्यापि व्यङ्ग्यत्वात्कथं परमभक्तिलाभ इत्येव तत्सम्भव इत्यर्थः । एव चिन्तासम्भवव्युत्पादनमुखेनात्मनिवेदनस्यावश्यकते आक्षिप्ते प्रमाणपुरःसरं तदावश्यकत्व साधयन्त उभयतः पाशा परिहरन्ति अत्रेत्यादि । इह दारानितिवाक्यमेकादशे प्रबुद्धेन 'तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद्भुवात्मदैवतम् । अमापयानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मालमदो हरि'रिति भगवत्तोषहेतुर्न धर्मानुपक्रम्य तत्र पठितम् । दारादीनालक्ष्यं यत् परमेश्वराय निवेदनं तदुपयोगितया समर्पणं तत् शिक्षेदिति तत्रपदसम्बन्धादारादिनिवेदनस्य भगवत्तोषहेतुत्व बोधयति । द्वितीयं तु भगवता भक्तिपरमकारणमुपक्रम्य तदधिकारिविशेषणबोधनाय पठितमिति तत्र तदावश्यकता बोधयति । आदिपदेन 'दासेनात्मनिवेदन'मिति भगवद्वाक्यं स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणेन चेति वल्पाचारबोधकवाक्यं च सङ्गच्छते । अत एतादृशैर्वाक्यैः स्वसर्वस्वसहितात्मसमर्पणं भक्तिमार्गं आवश्यकम् । तत्र हेतुर्दृष्टान्तश्च साक्षादित्यादिना स्फुटीक्रियते । न'चैव धर्म'रितिवाक्ये स्वकृतधर्मापेक्षया मनुष्यत्वस्य पूर्ववदित्वेन तत्र तेषां हेतुतयाऽनन्वयेप्यात्मनिवेदिनामिति तद्विशेषणं प्रति हेतुत्वस्य सुवचत्वात् प्रत्येव तेषां हेतुत्व तस्य भक्तिं प्रतीतिप्रतीतेः स्फुटत्वादात्मनिवेदनस्य धर्मकरणं प्रत्यधिकारत्वमयुक्तमिति शङ्क्यम् । साक्षात् क्रियान्वयं विहायैवं कल्पने बीजाभावात् । धर्माणां तत्रोपक्षये आत्मनिवेदनोच्चरं तदकरणप्रसङ्गात् ।

धर्मैर्ननुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । गयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्धोस्वावशिष्यत' इत्यादि-
वाक्यैस्तदावश्यकम्, साक्षात् श्रीगोकुलेशभजनाधिकाररूपत्वात्, द्विजस्य वैदिककर्मणि
गायन्पुपदेशजसंस्कारवत् । (निवेदनस्य सार्थकत्वाय भजनसिद्धयर्थमावश्यक्यवहारार्थं
निवेदितस्यैव स्वार्थं विनियोगः कार्यः ।) अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदनेऽकृतेऽग्रे
तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः । अपरंच । दाने हि न स्वविनियोगो, न तु
निवेदने । अन्यथा निवेदिताग्नादेर्भोजनं न स्यात् । अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात् ।

श्रीमत्पुस्तकोत्तमकृतविरचितप्रकाशसमेतम् ।

दासेनात्मनिवेदनस्य प्रागुक्तत्वेन दासापेक्षया न्यूनश्रद्धादिधर्मजन्यात्मनिवेदनस्यात्र पर-
त्वोक्तेर्षीजानुपलम्भाच्च । तस्मादात्मनिवेदनस्याधिकारत्वायैवैवमुक्तिरिति निश्चय इति
बोध्यम् । तथा च त्रैवार्षिकत्वेन सत्यामपि स्वरूपयोग्यतायामुपनयनं विना वैदिककर्मणि
यथा नाधिकारः, तथा 'देवोऽसुरो वे'ति 'को नु राजन्निन्द्रियवा'निति च वाक्यात् स्वरू-
पयोग्यत्वेपि निवेदनं विना विवक्षितभक्तौ नाधिकार इति सिध्यति । एवं निवेदनस्वरू-
पस्यानवगमे भजनासिद्धिं स्फुटीकुर्वन्ति अन्यथेत्यादि । यदि भगवद्वाक्यस्य आत्मनि-
वेदिपदे दाराद्यात्मा न सङ्गृह्येत, तदा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तथा तदात्मनिवेदने
अकृते तस्या आत्मनिवेदिताभावादनधिकारेणाग्रे सेवायां तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैय-
र्थ्यापत्तिरत उक्तरीत्या तज्ज्ञानमावश्यकमित्यर्थः । तथा च यथा गायन्पुपदेशजनित उप-
नयनसंस्कारः प्रतिपुरुषं भवंस्वस्य तस्य वैदिककर्मोपकारकदेहादिनिर्वाहप्रयोजकभिक्षादि-
कर्मणां न प्रतिरोधकः, तथोक्तरीत्या निवेदनरूपः संस्कारोपि भजनोपकारकदेहादि-
निर्वाहप्रयोजकस्य निवेदितोपयोग्य न प्रतिरोधक इति नोभयतःपाशारब्धुदित्यर्थः । अत्र
दारपदं चेतनयोः पुत्रासयोरन्युपलक्षकम् । उत्तरक्षणपदं चावश्यकत्वपरम् । न त्वन्य-
वहितोत्तरत्वपरम् । अशक्योपदेशत्वापादकत्वात् । अथवा । उत्तरक्षण एव तद्वैयर्थ्या-
पत्तिरिति योजना, तेन न कोपि दोषः । एवं चोक्तवाक्यद्वयविचारे दारादिनिवेदनं
स्वात्मना सह क्रियमाणं पृथक् धर्मरूपम्, दारादिभिः स्वयं क्रियमाणं त्वधिकाररूप-
मिति सिध्यतीति । एकेन स्वसर्वस्वनिवेदने तेषां निवेदितत्वेपि तेषां स्वस्वसंस्काराय पृथक्
तत्करणं युज्यते । तस्माल्लुप्तं अन्यथा तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिरिति । ननु भवत्वे-
वमिच्छाज्ञानेनोभयतःपाशनिवृत्तिः, तथाप्याज्ञाऽभावे स्वतस्वयाकरणे यो दोषः, स कथं
निवर्ततेत्यत आहुः अपरं चेत्यादि । दानं नाम स्वत्वपरित्यागपूर्वकः परस्वत्वोत्पादना-
नुकूलः, 'तुभ्यमहं सम्प्रददे न मन', इत्यादिशब्दाभिप्रेत्यज्ञो मनोव्यापारः । तस्मिन् कृते
सति हि निश्चयेन न स्वविनियोगः । दत्तापहारदोषोत्पादकत्वात् । निवेदनं तु तदीयत्वानु-
सन्धानपूर्वकः स्वत्वाभिमानत्यागानुकूलः 'तुभ्यं समर्पयामि, निवेदयामी'त्यादिशब्दाभिप्रेत्यज्ञ-
स्वद्विलक्षणो मनोव्यापारः । तस्मिन्कृते तु न स्वविनियोगो दोषाय । दत्तापहारदोषानु-
त्पादकत्वात् । तत्र गमकमाहुः अन्यथेत्यादि । यदि स्वत्वत्यागपरस्वत्वोत्पत्त्यानुकूल-

निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्वत्प्रसादत्वेन स्तोत्रभोगकृतिरुचिततरा,
दासधर्मत्वात् । 'उच्छिद्यसोजिनो दासा' इत्यादिवाक्यैः । आत्मशोधकत्वाच्च । किन्तु प्रभौ
निवेदितार्थस्य विनियोगे जातेऽग्रे तदर्थं यत्नः कार्यो, नवेति भवति चिन्ता । *तत्करणे
वाहिर्मुख्यसम्भवः सेवाप्रतिबन्धश्च । 'वैवर्गिकायासे'तिवाक्यात् भगवत्कृतप्रतिबन्धश्च
तत्र स्यात् । अकरणे निवेद्याभावेन भवति च दुःखम् । एवंभूतान् स्वानुपदिशन्ति चिन्ता
कापि न कार्येति ।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविरुतिप्रकाशसमेतम् ।

योर्दाने निवेदने च तुल्यतायामपि कश्चिद्विशेषो न स्यात्, तदा पुराणेष्वनिवेदितस्य
निषिद्धत्वात्निवेदिताग्नादेर्भोजनं नोक्तं स्यात् । तत्सूच्यते । तथा हि । हरिवन्द्यभसुयोदये
रुद्रान्दे 'नैवेद्यशेषं तुलसीविमिश्रं विशेषतः पादजलेन सिक्तम् । योऽश्नाति नित्यं पुरतो
पुरारेः प्राप्नोति यज्ञायुतकोटिपुण्यम् । पङ्क्तिर्मांसोपवासैस्तु यत्फलं परिकीर्तितम् । विष्णो-
र्नैवेद्यसिक्थेन तत्फलं भुञ्जतः कला'विति । गारुडे च 'पादोदकं पिबेत्तित्यं नैवेद्यं मधु-
येद्धरेः । शेषाश्च मस्तके धार्या इति वेदानुशासन'निति । ब्रह्माण्डे च 'पत्रं पुष्पं फलं
तोदमन्नपानान्यमौषधं । अनिवेद्यं न भुञ्जीत यदाहाराय कल्पितम् । अनिवेद्यं तु सुज्ञानः
प्रायश्चित्तो भवेन्नरः । तस्मात्सर्वं निवेद्यैव विष्णोर्भुञ्जीत सर्वदे'ति । पद्मपुराणेपि गौतमः
'अम्बरीष गृहे पक्वं सदाभीष्टं यदात्मनः । अनिवेद्यं हरेर्भुञ्जन् ससजन्मानि नारकी ।
अम्बरीष नवं वस्त्रं फलमन्नं रसादिकम् । कृत्वा विष्णुपभोग्यं तु सदा सेव्यं हि वैष्णवै'-
रिति । श्रीभागवते पृथ्वरुन्धे दिगिपुंसवैभवते समस्तपश्याथे 'उद्गास देवं स्वे भग्नौ
तन्निवेदितमग्रतः । अद्यादात्मविशुद्ध्यर्थं सर्वकामासथे तथे'ति । तेन सिद्धमाहुः निवेदि-
तानामित्यादि, शोधकत्वाच्चेत्यन्तम् । तथा चैवं भगवद्वत्प्रसादत्वेन तन्निवेदितप्रहणस्य
दासधर्मत्वे सिद्धे आज्ञासत्त्वमप्यर्थादेव सिद्धमिति न गतिकमार्गविरुद्धस्य स्वात्प्रसापति-
रित्यर्थः । नचोक्तवाक्येषु 'स्वयोपमुक्ते'ति वाक्ये च अचेतनानामेव प्रसादत्वेनोपयोग-
स्योक्तत्वाद्दारादीनां विनियोगे दोषः स्यादेवेति शङ्कम् । पाकादिसेवायां विनियोगस्य
तेषामपि सिद्धत्वेनादोषादिति । एवं चैतावता ग्रन्थेन सिद्धान्तराहस्योक्तमेव सर्वं निर्धारितं
ज्ञेयम् । तेनात्र न तदुक्तविचारचिन्तासम्भवः, किन्तु प्रकारान्तरेणेति बोधितम् । अतः
परं तत्संभवप्रकारं वदन्तो ग्रन्थमवतारयन्ति किन्त्वित्यादि । व्याकुर्वन्ति लौकिके-

* (टिप्पण) । तत्करणे वाहिर्मुख्यसम्भव इत्यादिभ्योपात्तिन्ताभावान्नेदमत्र विचार्यते । सेवार्थं यत्नकरणे
वाहिर्मुख्यं सेवाप्रतिबन्धश्च न सम्भवति । तस्य सेवात्वादेन तत्पूरणत्वात् तदकरणे तदसम्भवाच्च । नच
'वैवर्गिका या से'ति वाक्यात्तत्र भगवत्कृत प्रतिबन्ध इति वाच्यम् । 'वैवर्गिकपदवैवर्थापत्ते । अन्यथा
आवासाविधातमित्येतावतैव पारितोष्यं स्यात् । अत्र स्वर्गीयानां वैवर्गिकायात्मविधातयेव भगवाद् करोति, न
स्वसेवार्थंक्रमाद्यपिधातयिति निश्चयेते । अन्यथा यजमानस्य निषेधे भजजगतीं ह्योच्छिद्येत । नन्वात्म-

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति ।

भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥ १ ॥

लौकिकतद्भावेपि भगवदर्थोपि सा न कार्या । एतदाहुः कापीतिशब्देन । अङ्गी-
कारणैव सर्वं स्यात् एव करिष्यतीति विश्वासो यतस्तस्यावश्यकः । भगवतोपि तथानियमः ।
कदाचित् परीक्षार्थं प्रारब्धभोगार्थं वा प्रभुश्रेद्धिलम्बते, तदापि न कार्येत्याहुः कदापीति-

श्रीमत्पुरोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

त्यादि । सिद्धान्तरहस्योक्तरीत्या तन्निष्कर्षजनकपूर्वोक्तविचाररीत्या च लौकिक्याश्चिन्ताया
अभावेपि पूर्वोक्तरीत्या भगवदर्थोपि सा न कार्या । तत्र हेत्वपेक्षायां निवेदितात्मपदेन
भगवानपीत्युत्तरार्धेन च सूचितं हेतुद्वयं व्याख्यानमुत्तरेण स्फुटीकुर्वन्ति अङ्गीकारणैवे-
त्यादि, आवश्यक इति । ब्रह्मास्त्रचातकन्यायादावश्यकः । एतेन निवेदितात्मपदसूचितो
हेतुर्विज्ञतः । द्वितीयं विवृण्वन्ति भगवतोपि तथा नियम इति । अङ्गीकृतपालननियमः ।
योगक्षेमवहनवाक्येनैव तथा गिद्धत्वादित्यर्थः । [यदि तूत्तरार्धस्याग्रे व्याख्यातत्वादेतस्य
पूर्वशेषत्वमङ्गीक्रियते, तदास्यार्थिकत्वं ज्ञेयम् । वस्तुतस्तूत्तरार्धं व्याख्यानेपि महापुरुषेण
निवेदितेन पूर्वार्धोक्ते हेतोरप्युक्तत्वात्पूर्वार्धेषुत्तरार्धार्थोङ्गीकारो न दुष्ट इति ज्ञेयम् ।]
तत्रापि विशेषं यदन्तीत्याहुः कदाचिदित्यादि । कदापीतिपदेनेति । कदाशब्दापि-
शब्दाभ्यां युक्तमिति पदं तेनेत्यर्थः । प्रकारद्वयान्यतरेण विलम्बेपि चिन्ताया अकरणे
एतावेष हेतु इति ज्ञापनायान्ते इतिपदोक्तिः । तथा चात्रेतिपदयुतात्वाठाडुपगीति-
शब्दः । 'आर्याद्वितीयकेषु यद्भूतं लक्षणं, तस्मात् । यद्युभयोरपि दलयोरुपगीति
तां मुनिर्धनं' इति वृत्तरत्नाकरं तल्लक्षणादुदाहरणाच्च । यदा त्वितिशब्दरहितः पाठः,
तदा त्विव वृत्तिगन्धिचूर्णिकेति न किमपि शब्दः । (वृत्तिगन्धिचूर्णिकालक्षणं तु
छन्दोमञ्जर्यामुक्तम् । 'अपाद पदसन्तानो गद्य तत्तु त्रिधा मतम् । चूर्णिकोत्कलिकाप्रायवृ-
त्तिगन्धिप्रभेदत ॥ अकठोराक्षर स्वल्पसमास चूर्णक विदुः । मवस्तुत्कलितप्रायं समासाद्यं
ह्दाक्षरम् । वृत्तकदेशसम्बन्धाद्द्वितिगन्धि पुनः स्मृतम् ॥) तदा हेतुरर्थोक्त एव ।

ननु सत्यं भगवान् स्वाज्ञाकारित्वं जीवेऽवलोक्यारोपेक्षितपूरणेन योगक्षेमं भगवदर्थं
लौकिकार्थं च निर्वाहयति, तथापि प्रथमं जपन्याधिकारे भगवांस्तथा निर्वाहयेन्नवेति

निवेदिनामिनस्यवासम्भवनं तन्मिनचिन्ताऽभावात् कथं चिन्ता न कार्येयुदेस इति चेत् । अवेदं प्रति
भाति । भजनमात्रं हि भगवद्विचारविशेषः । पाठ्यमयादाप्रवाहभेदेन । तथापि वै श्रेयिष्यम् । तत्र
पुष्टिपुष्टनताङ्कनस्य नन्तरयवगम्भानपि । परं मयावापुष्टे प्रवाहपुष्टौ चाङ्गीकृतव्यं तत्करणं मयावापुष्टे,
तद्विषयतः पुष्टयः । तथा चाननिवेदिता मयावापुष्टेवाहस्यकितानां यथेतरवने कृते चादिर्भुमतेरापतिरन्धत
द्विषयादिकं भवति तथा सेवाधनेपि यत्ने भविष्यतीति भवति चिन्ता, अतस्तदभावात् तान् प्रति चिन्ता
कापि न कार्येयुक्तम् । अतः सेकार्थं यत्र कर्तव्यं एवेति मानुषपतिः कानिद ।)

१ लौकिकीति पाठः । २ भोजनार्थमिति पाठः । ३ [] सिद्धान्तगतं बहुषु पुलाकेषु नास्ति ।

४ () टिप्पणं नाम्नि बहुषु पुलाकेषु ।

पदेन । ननु लोकवत् कुटुम्बाघासकत्वा स्वसापि लौकिकीं गतिं कदाचित् प्रभुः कुर्यात्, तत्राहुः भगवानपीति । यत् पुष्टिस्थोऽतो मर्यादानामार्गीयवैराग्याद्यभावेपि 'महापुरुषेण निवेदिता' इति स्वकीयत्वेनाङ्गीकारात् तथा न करिष्यतीत्यर्थं ॥ १ ॥

एवं चेत्, स्वाच्छन्दव्यवहारापत्त्या बाहिर्मुख्यं स्यादत आहु निवेदनमिति ।

निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ।

सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥ २ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतदिव्यप्रकाशसमेतम् ।

चिन्ता स्वादेवेत्याशङ्का समादधते इत्याशयेनोत्तरार्धमवतारयन्ति ननु लोकवदित्यादि । स्वस्यापीत्यनेन भगवान् परामृश्यते । गतिमिति । रीतिम् । तथा च यथा लौकिकाः प्रभवः सेवकस्य कुटुम्बाघासक्तिं दृष्ट्वा तत्कार्यं उदासते, तथा भगवान्पुदासीत, तदा किं कुर्यादित्यर्थं । व्याकुर्वन्ति यत् इत्यादि । यतोऽयं जीव पुष्टिस्थः भक्तिमार्गीयत्वाद्भक्तिकारणीभूतानुग्रहविषयोऽत एतस्मिन् मर्यादानामार्गीयवैराग्याद्यभावेपि महापुरुषेणैतत्सम्बन्धिनः सर्वेपि निवेदिता इति तेष्वसक्तावलौकिको भगवान् यथा नारदवाक्यसत्यत्वाय नलकूचरमणिप्रीवावनुजग्राहेति दृष्टत्वात्, 'स्वयं समुत्तीर्ये'ति गर्भस्तुतिषाक्ये भक्तिमार्गप्रवर्तकाचार्यानुग्रहीतेषु भगवदनुग्रहस्य सिद्धत्वाच्च, स्वाभीष्टमार्गप्रवर्तकाचार्यनिवेदितेषु स्वकीयत्वेनाङ्गीकारादुपेक्षा न करिष्यतीति भगवत्स्वभाव निश्चित्य, 'संसारचक्रे अमत स्वकर्ममि'रितिन्यायेन क्लेशे स्प्रारब्धस्य हेतुता चानुसन्धाय चिन्ता न कार्या । एव यथा वित्तजाया न कार्या, तथा तनुजायां शरीरसहायसौकर्याभावेपि न कार्येति बोध्यम् । अत्र दिव्यात्स्य अदर्शनादिति । लौकिकीं चेति मूले चकारोवधारणार्थं । क्रिययान्वेति । समुच्चयार्थत्वे त्वनुक्ता वैदिकीं गतिं समुच्चिनोति । यथा हि चाक्रायणस्यापद्रताविभ्यस्वादितकुत्सापमङ्गण श्रूयते, तथात्र भक्तिमार्गीये काप्यश्रवणादस्मरणात् योगक्षेमप्रवहणवाक्याच्च । इदं च 'सर्वाज्ञानुमति'सूत्रे स्थितम् ॥ १ ॥

अतः परमत्र दोषोपस्थितिमाशङ्क्य परिहरन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति एवं चेदित्यादि । कुटुम्बाघासक्तावपि भगवानुपेक्षा न कुर्याच्चेत्, तदा नैवेद्यादिसम्पादनार्थं यन्न एव कर्तव्यं, किमर्थं क्लेश सोढव्य इत्यादिविचारेण सच्छन्दव्यवहारापत्त्या नानाविध बाहिर्मुख्यं स्यात् । अत एतादृशे सकटे उपायमाहुरित्यर्थं । व्याकुर्वन्ति सर्वदेत्यादि । आत्मनिवेदनं हि सेवाधिकारार्थं सस्काररूपतया भगवतोऽभिप्रेतमिति पूर्वमुपपादितम् । तथा च तदुत्तर सर्वदा सेवाया एव करणात्सर्वांशे स्वस्य सपरिकरस्य सर्वदा भगवदीपत्वानुसन्धाने बाहिर्मुख्यं न भविष्यतीति भाव इत्यर्थं । नन्वत्र तुशन्देन निवेदनस्मरणसैव तथात्वं बोध्यत इति कथं तथा व्याख्यायते इत्याकाङ्क्षायां तुशन्द-

सर्वदा सर्वांशे तदीयत्वानुसन्धानेन तथा न भविष्यतीति भावः । अशक्त्या सेवाव-
सम्भवेऽपीदं कार्यमेवेति ज्ञापनाय तुशब्दः । चकारपक्षे समुच्चयः । सर्वथेत्यस्मात्परक-
त्वज्ञापनाय । अथवा । सर्वथा ये तादृशा निवेदितात्मत्वेन तत्परास्तेः सह तथा । एतेन
सङ्गदोषो निवारितः । अतादृशेष्वेतद्गोपनं सूच्यते । सर्वदेतिपाठे कालापरिच्छेदस्तत्रोच्यते ।
अन्यथा तदैवासुरप्रवेशः स्यादिति भावः । कदाचिदलौकिककार्यस्य लौकिकस्य वा सिद्धार्थं
प्रभुः प्रार्थनीय इति प्रश्ने नेत्याहुः सर्वेश्वर इति । अत्र सर्वशब्दो निवेदितात्मसर्वपरः ।
यथा 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या' इत्यत्र निमग्नता एव सर्वपदेनोच्यन्ते, न त्वन्येपि ।
सर्वात्मपदेष्वेवं ज्ञेयम् । तेन सेवकाः सर्वे यथा यथा प्रपन्नाः, तथा तथा प्रभुरपि तेष्वङ्गी-
कृतस्वामित्व आत्मीर्यत्वमेव तेषु मनुत इति तद्धितकृतौ न प्रार्थनामपेक्षत इति ज्ञाप्यते ।
अथवा । कालादिनियामकत्वेन न तत्कृतोपि प्रतिबन्धसम्भव इच्छायामिति ज्ञापनाय सर्वपदं
कालादिपरम् । प्रार्थितोपि स्वविचारितमेव करिष्यतीति प्रार्थनाप्यप्रयोजिकेति ज्ञापनाय
निजेच्छेत्युक्तम् । अथवा । निजाः स्वीयत्वेनाङ्गीकृताः सेवकास्तेषां प्रपुरेच्छातः स्वयमेवा-
पेक्षितं करिष्यतीति न प्रार्थनापेक्षेत्यर्थः । परन्त्विच्छया अविकृतत्वमेवापेक्षितमिति ज्ञाप-
नायाव्ययप्रयोगः ॥ २ ॥

श्रीमत्पुराणमहत्तद्विवृतिप्रकाशसमेतम् ।

तात्पर्यमाहुः अशक्त्येत्यादि । तथा च अनुकल्पत्वप्रोपनाय तुशब्द इति न पूर्व-
व्याख्याने दोष इत्यर्थः । एतदेव दूरीकर्तुं पाठान्तरं विवृण्वन्ति चकारेत्यादि । सर्वपेति
पदं व्याकुर्वन्ति सर्वथेत्यादि । अस्येति । निवेदनस्य । ननु मुल्याशक्त्यावनुकल्पत्वादेवा-
वश्यकत्वप्राप्तेर्नेदं व्याख्यानं युक्तमित्यरुच्या पश्चान्तरमाहुः अथवेत्यादि, सूच्यत
इत्यन्तम् । अस्मिन् पक्षे सर्वथातादृशैरित्येक पदम् । पाठान्तरं व्याकुर्वन्ति सर्वदेत्यादि ।
तत्रेति । निवेदनस्मरणे । एवं व्याख्यानद्वयेन सर्वदा भगवदीयत्वानुसन्धानमुत्तमभगव-
दीयसङ्गेन दुःसङ्गवर्जेन दुष्टेष्वेतद्गोपनं चेति त्रयमुक्तम् । तथा च सर्वदेतत्करणे पूर्वोक्त-
दोषस्य न संसर्ग इत्यर्थः । अतः परं प्रारब्धेनातिक्रेश्प्रार्थौ पूर्वोक्तत्रयस्यान्यतरस्य वाऽसम्भवे
प्रमोक्ष सातुभावतायां क्लेशनिवृत्त्यर्थं तत्प्रार्थनं कार्यं नवेति चिन्तायासुपायान्तरं वदन्ती-
त्याश्रयेनोत्तरार्थमवतारयन्ति कदाचिदित्यादि । अर्थस्वतितरोद्धितः । प्रश्ने इति सप्तमी ।
व्याकुर्वन्ति अत्र सर्वेत्यादि । अस्मिन् पक्षे सर्वपदस्य वृत्तिसंकोच इत्यरुच्या
पश्चान्तरमाहुः अथवा कालेत्यादि । निजेच्छात इति व्याकुर्वन्ति प्रार्थित इत्यादि ।
अस्मिन् पक्षे भगवतः कृपासुखं तिर इव भवतीत्यतः पश्चान्तरमाहुः अथवा निजा
इत्यादि । नन्वेवं सति पूर्वं कृतोऽन्यथा व्याख्यातमित्यत आहुः परमित्यादि ।
अविकृतत्वमिति । विकृतत्वं प्राकृतगुणक्षोभकृतलौकिकविषयत्वम्, तद्विलक्षणत्वमविकृ-
तत्वम् । तथा च अधन्याधिकारिणामिच्छया विकृतत्वात्तदर्थं तथा पूर्वं व्याख्यातम् ।

ननु भगवते समर्पितदेहादेः स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगेन स्वधर्महानिचिन्ता चाधते, तत्राह सर्वेषामिति ।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।

अतोऽप्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत् ॥ ३ ॥

स्वात्मना सह यावन्तो निवेदितास्तैः सहैव स्वस्याङ्गीकारात् तेषां सर्वेषामेव प्रभु-सम्बन्धो, न तु प्राधान्यात् स्वस्यैवेति तत्रोपयोगे स्वस्य का चिन्ता, न कापीत्यर्थः । इय

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

उत्तमाधिकारिणा त्विच्छाया अतिक्रुतत्वादिदानीमेव व्याख्यातम् । अतोऽप्यख्यानद्वयमप्युचितमेव । अत्रायमर्थः । प्रार्थना हि प्रभोरसर्वज्ञत्वे उदासीनत्वे वाऽऽन्यत्वे वा उपयुज्यते । अत्र च स्वकीयसर्वेश्वरत्वात्काळादिसर्वनियामकत्वाच्च नासर्वज्ञत्वम् । नियमनस्य ज्ञानकार्यत्वात् । तत्तदात्मत्वाच्च नोदासीनत्वम् । स्वात्मत्वान्नान्यत्वम् । एव सत्यपि यत् स्त्रीयज्ञेशोपेक्षणम्, तत्किञ्चिदसक्तौ भगवानेवेति न्यायेन स्वस्य भक्तस्य वा कार्यार्थैव । तत्र भगवत्कार्यार्थत्वे स्वस्यान्ययाप्रार्थनमपराधावदम् । भक्तकार्यार्थत्वे स्वस्यैवानिष्टोपादकम् । अत एतदुभय विचार्य प्रार्थना न कार्या, किन्तु स्वस्वाधिकारानुसारेण विवेकपूर्वैरेव रक्षणार्थे इत्यर्थः । अत एव विवेकपूर्वाश्रयेऽपि 'प्रार्थितं वा तत किं स्मात् साम्यभिप्रायसशया'दित्युक्तम् ॥ २ ॥

ननु पूर्वोक्तं विचार्यमाणे लौकिकालौकिकी सेवोपकरणविषयिणी चिन्ता न भविष्यति, तथापि वक्ष्यमाणरीत्या सेवाऽकरणविषयिणी धर्महानिचिन्ता तु भविष्यत्येवेति तन्नित्यर्थमग्रिमं वदन्तीत्याशयेन तृतीयं श्लोकमवतारयन्ति ननु भगवत इत्यादि । स्वधर्महानिचिन्ता चाधते इति । स्वयं हि समर्पणक्रियायां कर्तृत्वेन प्रविष्ट इति समर्प्यान्तरापेक्षया मुख्यश्चेतनश्चेति अचेतनस्य स्वाधिष्ठितस्य देहादेः सदा भगवत्येव विनियोगः कर्तव्यः, तत्र च शरीरादिकं मुच्यम्, तेन सेवा चेन्न सर्वदा कुर्यात्, तदा तस्य स्वधर्मो द्वीपेतेति सा तथेत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति स्वात्मनेत्यादि । तत्रोपयोग इति । स्त्रीपुत्रादिषु स्वदेहेन्द्रियविनियोगे । शेषोऽर्थस्तु स्पष्टः । तथा च यद्यपि समर्पणक्रियोत्पत्तिदश्यायां स्वस्य प्राधान्यम्, तथापि तदुत्तरदश्यायां स्वस्याप्यन्यतुल्यत्वात् यथा अचेतनानां ब्रह्मादीनां भगवत्सुपयोक्ष्यमाणानां परस्परं विनियोगे चिन्ताया अव्योगः, तथा चेतनाधिष्ठितानां स्वशरीरादीनामप्यचेतनानां परस्परं विनियोगे चिन्ताया अव्योगः । भगवत्सुपयोक्ष्यमाणत्वसोभयत्रापि तुल्यत्वात् । तत्र स्वत्वाभिमानं न्यग्माप्यभगवदीयत्वेऽनुसहिते स्वधर्महान्यभावात् का चिन्ता, न कापीत्यर्थः । ननु निवेदनेन सर्वेषां भगवदीयत्वरूपे सम्बन्धे तुल्येऽपि कसचिद्विशेषतः सेवायां विनियोगो

सर्वदा सर्वांशे तदीयत्वानुसन्धानेन तथा न भविष्यतीति भावः । अशक्त्या सेवाद-
सम्भवेऽपीदं कार्यमेवेति ज्ञापनाय तुशब्दः । चकारपक्षे समुच्चयः । सर्वथेत्यस्यावदयक-
त्वज्ञापनाय । अथवा । सर्वथा ये तादृशा निवेदितात्मत्वेन तत्परास्तैः सह तथा । एतेन
सद्गदोपो निवारितः । अतश्चेश्वेतद्गोपनं सूच्यते । सर्वदेतिपाठे कालापतिच्छेदस्तत्रोच्यते ।
अन्यथा तदैवानुरप्रवेशः स्यादिति भावः । कदाचिदलौकिककार्यस्य लौकिकस्य वा सिद्ध्यर्थं
प्रभुः प्रार्थनीय इति प्रश्ने नेत्याहुः सर्वेश्वर इति । अत्र सर्वशब्दो निवेदितात्मसर्वपरः ।
यथा 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या' इत्यत्र निमज्जिता एव सर्वपदेनोच्यन्ते, न त्वन्येपि ।
सर्वात्मपदेष्वेवं ज्ञेयम् । तेन सेवकाः सर्वे यथा यथा प्रपन्नाः, तथा तथा प्रभुषुपि तेष्वङ्गी-
कृतस्वामित्व आत्मीयत्वमेव तेषु मनुत इति तद्धितकृतौ न प्रार्थनामपेक्षत इति ज्ञायते ।
अथवा । कालादिनियामकत्वेन न तत्कृतोपि प्रतिबन्धसम्भव इच्छायामिति ज्ञापनाय सर्वपदं
कालादिपरम् । प्रार्थितोपि स्वविचारितमेव करिष्यतीति प्रार्थनाप्यप्रयोजिकेति ज्ञापनाय
निजेच्छेत्युक्तम् । अथवा । निजाः स्वीयत्वेनाङ्गीकृताः सेवकास्तेषां प्रनुरेच्छातः स्वयमेवा-
पेक्षितं करिष्यतीति न प्रार्थनापेक्षेत्यर्थः । परन्त्विच्छाया अतिकृतत्वमेवापेक्षितमिति ज्ञाप-
नायाव्ययप्रयोगः ॥ २ ॥

श्रीमत्पुराणोत्तमकृतविकृतिप्रकाशसमेतम् ।

तात्पर्यमाहुः अशक्त्येत्यादि । तथा च अनुकल्पत्वबोधनाय तुशब्द इति न पूर्व-
व्याख्याने दोष इत्यर्थः । एतदेव छुर्विर्क्तुं पाठान्तरं विवृण्वन्ति चकारेत्यादि । सर्वथेति
पदं व्याकुर्वन्ति सर्वथेत्यादि । अस्येति । निवेदनस्य । ननु मुल्याशक्तवानुकल्पत्वादेवा-
वश्यकत्वप्राप्तेर्नैदं व्याख्यानं युक्तमित्युक्त्या पश्चान्तरमाहुः अधवेत्यादि, सूच्यत
इत्यन्तम् । अस्मिन् पक्षे सर्वथासाहचर्यलोकं पदम् । पाठान्तरं व्याकुर्वन्ति सर्वदेत्यादि ।
तत्रेति । निवेदनस्मरणे । एवं व्याख्यानद्वयेन सर्वदा भगवदीयत्वानुसन्धानमुत्तमभगव-
दीयसङ्गेन दुःसद्भवर्जनेन दुष्टेष्वेतद्गोपनं चेति त्रयमुक्तम् । तथा च सर्वदेतत्करणे पूर्वोक्त-
दोषस्य न संसर्ग इत्यर्थः । अतः परं प्रारब्धेनातिक्रेश्प्रसौती पूर्वोक्तत्रयस्यान्यतरस्य वाऽमन्भवे
प्रमोक्ष साधुभावतायां क्लेशनिवृत्त्यर्थं तत्प्रार्थनं कार्यं नवेति चिन्तायामुपायान्तरं वदन्ती-
त्याशयेनोत्तरार्धमवतारयन्ति कदाचिदित्यादि । अर्थस्त्वतिरोहितः । प्रश्ने इति सप्तमी ।
व्याकुर्वन्ति अत्र सर्वेत्यादि । अस्मिन् पक्षे सर्वपदस्य श्रुतिसंकोच इत्युक्त्या
पश्चान्तरमाहुः अथवा कालेत्यादि । निजेच्छात इति व्याकुर्वन्ति प्रार्थित इत्यादि ।
अस्मिन् पक्षे भगवतः कृपासुखं निर इव भवतीत्यतः पश्चान्तरमाहुः अथवा निजा
इत्यादि । नन्वेवं सनि पूर्वं कृतोऽन्यथा व्याख्यातमित्यत आहुः परमित्यादि ।
अविकृतत्वमिति । विकृतत्वं प्राकृतगुणशोभकृतलौकिकविषयत्वम्, तदित्यणत्वमविकृ-
तत्वम् । तथा च अपन्याधिकारिणामिच्छाया विकृतत्वात्तदर्थं तथा पूर्वं व्याख्यातम् ।

ननु भगवते समर्पितदेहादेः स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगेन स्वधर्महानिचिन्ता बाधते, तत्राहुः सर्वेषामिति ।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।

अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत् ॥ ३ ॥

स्वात्मना सह यावन्तो निवेदितास्तैः सहैव स्वसाक्षीकारात् तेषां सर्वेषामेव प्रभु-
सम्बन्धो, न तु प्राधान्यात् स्वस्यैवेति तत्रोपयोगे स्वस्य का चिन्ता, न कापीत्यर्थः । इयं

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

उत्तमाधिकारिणां त्विच्छाया अविच्छ्रुतत्वादिदानीमेव व्याख्यातम् । अतो व्याख्यानद्वयम-
प्युचितमेव । अत्रायमर्थः । प्रार्थना हि प्रभोरसर्वज्ञत्वे उदासीनत्वे वाऽन्यत्वे वा
उपयुज्यते । अत्र च स्वकीयसर्वेश्वरत्वात्कालादिसर्वनियामकत्वाच्च नासर्वज्ञत्वम् ।
नियमनस्य ज्ञानकार्यत्वात् । तत्तदात्मत्वाच्च नोदासीनत्वम् । स्वात्मत्वान्नान्यत्वम् । एवं
सत्यपि यत् स्वीयश्लेषोपेक्षणम्, तत्किञ्चिदासक्तौ भगवानेवेति न्यायेन स्वस्य भक्तस्य वा
कार्यार्थैव । तत्र भगवत्कार्यार्थत्वे स्वसान्यथाप्रार्थनमपराभावहम् । भक्तकार्यार्थत्वे
स्वस्यैवानिष्टोत्पादकम् । अत एतदुभय विचार्य प्रार्थना न कार्या, किन्तु स्वसाधि-
कारानुसारेण विवेकधैर्ये एव रक्षणीये इत्यर्थः । अत एव विवेकधैर्याश्रयेऽपि 'प्रार्थिते वा
ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशया'दित्युक्तम् ॥ २ ॥

ननु पूर्वोक्ते विचार्यमाणे लौकिकालौकिकी सेवोपकरणविषयिणी चिन्ता न
भविष्यति, तथापि वक्ष्यमाणरीत्या सेवाऽकरणविषयिणी धर्महानिचिन्ता तु भविष्यत्येवेति
तन्निवृत्त्यर्थमग्रिम वदन्तीत्याशयेन तृतीय श्लोकमवतारयन्ति ननु भगवत इत्यादि ।
स्वधर्महानिचिन्ता बाधत इति । स्वयं हि समर्पणक्रियायां कर्तृत्वेन प्रविष्ट इति सम-
र्प्यान्तरापेक्षया मुख्यश्चेतनश्चेति अचेतनस्य साधिष्ठितस्य देहादेः सदा भगवत्सेव विनि-
योगः कर्तव्यः, तत्र च शरीरादिकं मुख्यम्, तेन सेवां चेन्न सर्वदा कुर्यात्, तदा
तस्य स्वधर्मो हीयेतेति सा तथैत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति स्वात्मनेत्यादि । तत्रोपयोग इति ।
स्त्रीपुत्रादिषु स्वदेहेन्द्रियविनियोगे । शेषोऽर्थस्तु स्पष्टः । तथा च यद्यपि समर्पण-
क्रियोत्पत्तिदशाया स्वस्य प्राधान्यम्, तथापि तदुत्तरदशायां स्वसाप्यन्यतुल्यत्वात्
यथा अचेतनानां वस्त्रादीनां भगवत्सुपयोक्ष्यमाणानां परस्पर विनियोगे चिन्ताया
अयोगः, तथा चेतनाधिष्ठितानां स्वशरीरादीनामप्यचेतनानां परस्पर विनियोगे चिन्ताया
अयोगः । भगवत्सुपयोक्ष्यमाणत्वस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् । तत्र स्वनामिमानं न्यग्नाय
भगवदीयत्वेऽनुसहिते स्वधर्महान्यभावात् का चिन्ता, न कापीत्यर्थः । ननु निवेदनेन
सर्वेषां भगवदीयस्वरूपे सम्बन्धे तुल्येऽपि कम्पविद्येयतः सेवानां विनियोगे

निवेदनेऽङ्गीकारमर्थादेत्याहु स्थितिरिति । कस्यचिद्विशेषतोऽङ्गीकारश्चेत्, सा पुष्टिरिति भाव । अथवा । पुनादीनामन्यविनियोगदर्शनेषु स्वस्य का चिन्ता, तेषामप्यङ्गीकारेणैव वृत्तार्थतासम्भवादित्यर्थ । किञ्च । स्वस्येतिपदमावृत्तमपिशब्देन सम्यध्यते ॥ ३ ॥

यथा पुनादीनाम्, तथा स्वस्यापि स अन्यविनियोगश्चेत्, तदापि चिन्ता न कार्येत्याहु. अज्ञानादिति ।

अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।

यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ॥ ४ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविरचितप्रकाशममेतम् ।

इदयते, कस्यचित् स्वस्य, कस्यचिन्न, तत्र हेत्वज्ञाने तु चिन्ता स्यादेवेति तस्या कथं निवृत्तिरित्यतस्तत्रिवृत्तिप्रकार स्थितिपदेन वदन्तीत्याहु इयमित्यादि । तथा च तत्र पुष्टि कारणत्वेनावधार्य चिन्ता न कार्या, किन्तु 'गन्धेऽर्चिते तुलसिकाभरणे'ति न्यायेन सन्तोषो विधेय इति सुखेन तस्मिन्निवृत्ति । एकत्र विशेषदर्शनेऽप्यन्यत्र निवेदनकृतभगवत्सम्बन्धस्थानपायात्र कापि चिन्तेत्यर्थ । एवञ्चात्र वाच्यद्वय प्रतिभाति, सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येक नै गुणप्रधानभावेन, अतस्तेषामन्यविनियोगे स्वस्य का चिन्तेत्येकम्, इति उक्त-रूपा, स्थिति. निवेदनेऽङ्गीकारमर्थादा, इतो विलक्षणता तु पुष्टि, अतः कस्यचिद्विशेषतोऽङ्गीकारेऽपि चिन्ता केत्यपरम् । अत्राशिमवाक्ये स्वस्येति चेतनपरामर्शकपददर्शनात् पूर्ववाक्येषु सर्वेषामितिपदेन शरीराधिष्ठाणामेव परामर्शो युक्त, न तु चेतनाचेतनानां यावतामिति पूर्वव्याख्यानमयुक्तम् । किञ्च, भगवति समर्पितदेहादेः स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगे स्वधर्महानिस्तदा स्यात्, यदि तेषां समर्पितत्व न स्यात्, समर्पितेषु विनियोगे तु 'निवेदिमि समर्थैव सर्वं कुर्या'दितिवाक्ये निवेदिना समर्पणस्य कवनेन तस्य च समर्पणस्य निवेदिना परस्परविनियोग एव सम्भवेन भक्तिमार्गमर्थादावोषकाहुक्तवाक्यादेव चिन्तो दयस्यासम्भव इति चारुन्या पक्षान्तरेण व्याकुर्वीत अथवा पुत्रेत्यादि । तथा च सेवासम्बन्धिना चेतनानां निवेदितव्यनिरिक्तससर्गाविषयिण्याश्विन्ताया निवृत्त्यर्थमयमुपदेश । पुनादीनामित्यादिपदेनाचेतनानामपि सगृह । उत्तरपूर्ववाच्ययोरेकत्रातीत्यमेव ग्राह्यमित्यत्र नियामकत्वस्याभावात् । पूर्वव्याख्यानोक्ता चिन्ता तु पुष्टिभात्रविचारात् । साम्प्रतिका तु मार्गमर्थादात् इति न कोपि दोष इत्यर्थ । स्वस्वेत्यन्तस्य पदराशे पूर्ववाक्य एव सम्बन्धे शिष्टं सोपि चेदिति पदत्रयमलमकं तिष्ठतीति, तत्सम्बन्धायाहु विश्वेत्यादि ॥ ३ ॥

सबन्ध बोधयित्वा अर्थं वदन्तोऽग्रिममवतारयन्ति यथेत्यादि, स्वस्येति । अनुभावज्ञानेन स्वस्मिन् विशेषाङ्गीकार निश्चितवतो वा सेवाकर्तृत्वेन प्रधानस्य वा । इत्याहुरिति ।

१ निवेदिनोऽङ्गीकारेतिपाठ । २ नैति नास्ति । ३ विशेषतोऽङ्गीकारे इति पाठ । ४ सम्बन्धि-त्वेन कल्पेति पाठ । ५ न कोपि दोष इत्यन्तमधिकं कथितम् ।

हीनमध्यमाधिकारिभिरपि निवेदितात्मभिश्चिन्ता न कार्या भवति यत्र, तत्र कृष्ण-
सात्कृतप्राणैश्चिन्ता न कार्येति किमु वाच्यमित्यर्थः । केवलं ग्रन्थधीनीकृतप्राणानां चिन्ता-
विषयमावादेव न सेति भावः । अत एव केतिशब्द उक्तः । पदसम्बन्धस्तु अज्ञा-
नादयवा ज्ञानाद्यैस्तत्कृतम्, तेषां सा नेतिशेषः । कृष्णसात्कृतप्राणैर्यैस्तत्कृतम्, तेषां सा
केत्युक्तम् ॥ ४ ॥

धीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

इतिपदं कैमुतिकचोदकेनाग्रिमवान्पेनाहुरित्यर्थः । व्याकुर्वन्ति हीनेत्यादि । हीन-
मध्यमाधिकारिभिरिति । भगवतः सर्वरूपत्वेन मार्गप्रवर्तकोपदेशकगुर्वादिरूपताया
निरवधिसच्चिदानन्दस्वरूपत्वेन परमफलताया निरुपधिमन्त्येकप्राप्यतायाश्चाज्ञानाद्धी-
नाधिकारिभिः । तादृशज्ञानवत्त्वेपि कृष्णसात्कृतप्राणत्वाभावेन मध्यमाधिकारिभिरित्यर्थः ।
शेषं व्याख्यानं तु स्पष्टार्थम् । तथा च स्वस्मिन् विशेषानुग्रहं निश्चितवतोपि यत्रान्य-
विनियोगसंभवः, तत्र भगवदिच्छैव किञ्चित्कार्यार्थं तादृशी तेनावधार्या, न तु चिन्ता
कार्या, तन्मूलमूलस्य स्वापराधस्याभावादिति । तदेतदुक्तं केवलमित्यादिना, केति
शब्द उक्त इत्यन्तेन । कैमुतिकन्यायस्य स्पष्टीकरणार्थं पदसम्बन्धमाहुः पदेत्यादि,
सा केत्युक्तमित्यन्तम् । अत्रेदमुक्तं भवति । एकादशस्कन्धे साधुलक्षणकथन-
समाप्तौ 'ज्ञात्वाऽज्ञात्वाय ये वै मां यावान् यथासि यादृशः । भजन्यनन्यभावेन
ते मे भक्ततमा मता' इति भगवद्वाक्ये हीनमध्यमयोरुपनयनभावेन भजने
भक्ततमतयोत्कर्षः कथितः । भगवदुद्धवसंवादसमाप्तौ च 'न ह्यहोपक्रमे ध्वंसो
मद्दर्मसोद्धवाप्वपि । मया व्यवमितः सम्यद् निर्गुणत्वादनाशिपः । यो यो
मयि परे धर्मः कल्पते निःफलाय चेत् । तदायामो निरर्थः स्याद्भवादेरिव
सत्तमे'ति श्लोकद्वयं भगवतोक्तम् । तत्र श्रीधरीये, अहं हे उद्धव, अनाशिपो निष्कामस्य
मद्दर्मस्य उपक्रमे सति, अप्वपि ईषदपि वैगुण्यादिभिर्नाशो नास्त्येव । यतो मयैव
निर्गुणत्वादयं धर्मः सम्यग्व्यवमितो निश्चितः, नतु मन्वादिमुखेन कथयित् । ननु
त्वद्दर्मस्य एवं सामर्थ्यम्, तस्मादन्वय कथम्, तत्राह यो य इति । अयमर्थः । किं वक्तव्यं
मद्दर्मस्य न ध्वंस इति, यतो लौकिकेपि यो यो निरर्थो व्यर्थ आयासः, सोपि मयि परे
परमेश्वरे निष्फलाय कल्प्यते चेत्, निष्कामतया अर्पितश्चेत्, तर्हि स धर्म एव स्यात्,
कर्मकरणायाप्तो न निरर्थः स्यात् । निरर्थायामे रष्टान्तः । यया भयशोकादेर्हेतोः फलायन-
ग्रन्दनादिस्तद्भूत् । एवं व्याख्यातम् । तथा च निष्काममग्नरद्दर्मस्य वैगुण्यादिभिरीषदपि
नाशो नास्तीति भगवता कथनात् प्रकृते चाननिवेदनस्य अप्रिकारतया तथात्वात् हीनाय-

ननु सख्यात्मनिवेदने हि भगवदङ्गीकारेणैव सम्पद्येते, तथा च स्वयमात्मनिवेदने कृतेपि प्रसुरङ्गीकृतवाञ्छवेति चिन्ता भवत्येव, इत्यत आहुः तथेति ।

तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।

विनियोगेपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः ॥ ५ ॥

पुरुषोत्तमोङ्गीकृतवाञ्छवेति निवेदनविषयिणी या सा त्याज्या उक्तनिवेदनवदित्यर्थः । पुरुषोत्तमेन निरोधलीलाया स्वतोऽन्यगजन कियमाणा भक्तास्तत्रिर्बार्थ स्वयमात्म सात्कृता इति तादृशे स्वय सवात्मना निवेदने कृते सा शङ्का नोचितेति ज्ञापनाय पुरुषो

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविद्वत्प्रकाशसमेतम् ।

धिकारेपि साधनत फलतश्च नाशाभावाच्चिन्ताया अभावो यत्र, तत्र मुख्याधिकारे किं वक्तव्यमिति भगवद्वाक्यादेव सिद्धम् । तथा भगवदर्थो लौकिकोप्यायासो नापार्य इति च । अत पूर्वोक्त सर्व युक्तमेवेति तेषामुक्तचिन्ताजन्या विठापात्मिका परिदेवना का, न कापीत्यर्थदिवोक्तमित्यर्थः ॥ ४ ॥

एव निवेदितविषयिण्याश्चिन्ताया निवृत्त्युपायमुक्त्वा इदानीं निवेदनविषयिण्याश्चिन्ताया निवृत्त्युपाय वदन्तीत्याशयेनाश्रिमभवतारयन्ति ननु सख्येत्यादि । प्रेममक्तौ हि विहितश्रवणादिनवक प्रत्येक क्वचित् समुदित च साधनम्, तेष्वाय प्रय सेव्यनिरपेक्षजीवमात्रसाध्यम् । पादसेवनमपि 'पादौ हरे क्षेत्रपदानुसर्षण' इति नवमस्कन्धवाक्योक्तरीत्या पद्भ्यां सेवनमिति पक्षे पूर्ववदेव । पादयो सेवनमितिपक्षे तु सेव्यसापेक्षम् । तथैवार्चनादित्रयमपि । तथा सत्येत्तदुत्पद्य प्रय वा सेव्ये चैतन्याप्राकट्येपि सिध्यति । सख्यात्मनिवेदने तु भजनीये चैतन्यप्राकट्यमपेक्षेते । यदि हि भजनीयो भक्ते सख्य तत्कृतमात्मनिवेदन च चैतन्यप्राकट्येनाङ्गीकुर्यात्, तदा भगवदङ्गीकारेण सम्पद्येते । तत्राकट्य तु प्रेममक्त्यधीनम् । साम्प्रत तु तत्साधनदशा, तथा चेदानीं तत्राकट्याभावात् स्वयमित्यादिनोक्ता चिन्ता भवत्येव हीनमध्यमयोरित्यतस्तत्रिवृत्त्युपायमाहुरित्यर्थः । श्याकुर्वन्ति पुरुषोत्तम इत्यादि । उक्तनिवेदनवदिति । मूलस्यस्य तथापदम्यार्थः । अत्र च ससम्पद्ये वति । तथा च यथा भगवद्वर्माणैकमरूपे निवेदनेऽन्यविनियोगादिना वैगुण्यतोपि भगवद्वर्भनाशामावाचिन्ता त्यज्यते, तथा अङ्गीकारसन्देहरूपा निवेदनविषयिण्यपि सा त्याज्येत्यर्थः । अत्र हेत्वपेक्षया श्रीपुरु

त्तमपदम् । तत्रापि स्वरूपानन्ददानेनानिशं पोष्यमाणानां भक्तानां तदितरत्रोपयोगासम्भ-
वेनैव न शङ्कोदय इति ज्ञापनाय श्रीपदम् । तथा च तद्युक्ते तत्र निवेदने सा त्याज्येति
भावः । कदाचिल्लोकभयाद्युपस्थितौ तद्विवारणाय जीवस्वभाववशादन्यविनियोगेपि तथे-
त्याहुः विनियोगेपीति । प्रमादात्तथासम्भवेपि प्रभुर्न त्यक्ष्यति । यतस्तत्स्वभाववशात्तथा-
भूतमप्युद्धर्तुं तत्साधनानपेक्षः ॥ ५ ॥

अङ्गीकारे लक्षणान्तरमप्याहुः लोक इति ।

लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।

पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः ॥ ६ ॥

श्रीनपुरुषोत्तमकृतविश्वनिर्गकाशासमेतम् ।

पोत्तमपदेन तं वदन्तीत्याशयेन तत्तदं विवृण्वन्ति, पुरुषोत्तमेनेत्यादि श्रीपदमित्यन्तम् ।
तात्पर्यं स्फुटीकुर्वन्ति तथा चेत्यादि । सरसभक्तयुक्तो भगवान् हीन्द्रयागभङ्गगोवर्ष-
नोद्धरणादिलीलाभिस्तथाकुर्वन् स्वीयान् पुष्पातीति इन्द्रयागभङ्गादिवोधकान्छब्दादेव
भगवतस्तथास्वभावमवगत्य सा त्याज्या, स्वसानन्यभावेन भजनस्य निर्वाहे कार्यलि-
ङ्गकानुमानादेवाङ्गीकारं निश्चित्य सा त्याज्या भक्तानां दयालुत्वादित्यर्थः । न च
निवेदनगद्ये भगवतः केवलस्यैव सम्प्रदानत्वमुक्तमिति कथमत्र श्रीपुरुषोत्तमपदेन
भक्तयुक्ते निवेदनमुच्यत इति शङ्काम् । एकादश एव 'रामेण सार्ध'मित्यादिना या
तावद्भक्तिः प्रशंसिता, तत्परमकारणत्वेनोन्नतं आत्मनिवेदिधर्मा उक्ताः, तत्रात्मनिवेदन-
प्रकारो न स्फुट इति तत्रत्यं सर्वं संगृह्य कल्पयन्वत् गद्ये प्रभुणोक्तः, अतः कृष्णपदेन
तत्र ताभिः सहित एव परामृश्यते । तेन भक्तयुक्तस्यैव सम्प्रदानत्वम् । किञ्च, सदानन्दो
हि भगवान् रसात्मक एव, 'रसो वै स' इति श्रुत्या सिद्धो, रसश्चालम्बनसोपेक्ष एवे-
त्यतोपि तथेति न विरोधगन्धोपि । ननु सत्यमेवम्, तथापि स्वस्य कदाचित्
कथञ्चिदन्यविनियोगे जाते तस्माद्विरुद्धकार्यादङ्गीकारे सन्देहो भवत्येवेति तद्रूपा सा
कथं त्यक्तुं शक्येत्काकाङ्क्षायां तत्रोपायं वदन्तीत्याशयेनोत्तरार्धमवतारयन्ति कदाचिदि-
त्यादि । न तथेति । न कार्या । व्याकुर्वन्ति प्रमादादित्यादि । तत्स्वभाववशात्तथा-
भूतमिति । जीवस्वभाववशात् कदाचित् वैहिर्मुखम् । तथा च तादृशस्य कदाचिद-
नन्यभजनाभावान्नैवं वाहिर्मुख्ये तस्य जुगुप्सा तूल्यत एवेति तेन कार्येण सप्रतिबन्धक-
मङ्गीकारमनुमाय 'हराम्यंघं यत्स्मर्त्तुं हविर्भागं क्रतुष्वहम् । वर्णश्च मे हरिचेष्टस्तास्मा-
द्धरिहं स्मृत' इति भारते भगवद्ब्रह्मनात्, भगवतः स्वीयापनिवर्तकत्वमनुसन्वाय अपरा-
धिनां पकीयकादीनामप्यनुप्राहकत्वेन जीवकृतसाधनानपेक्षत्वं चानुसन्वाय सा त्याज्येत्यर्थः ।
एतेनैतादृशदीनभावोत्पत्तिरङ्गीकारलक्षणमित्युक्तम् ॥ ५ ॥

एतद्व्याख्यानमन्यदपि वदन्तीत्याशयेनाग्निमवतारयन्ति अङ्गीकार इत्यादि ।

कदाचित् प्रवाहवशाद्धौकिके वाणिज्यादी, वैदिके आश्रमधर्मादी वा स्थितौ तत्र विन्न एव भवति, न तु तत्फलमित्यर्थः । तत्र हेतुः पुष्टीनि । तद्दिनापि स्वबले-
नैव सर्वकर्ता यत इति भावः । पुष्टिमार्गाद्धीकारे मर्यादां न सहत इति ज्ञेयम् । एव सति
किं कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः, साक्षिवत् तत्कृतं पश्यत ॥ ६ ॥

सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया ।

अतः सेवापरं चिन्तं विधाय स्थीयतां सुखम् ॥ ७ ॥

सेवाकृतिरिति । गुर्वाज्ञाया अबाधनं यथा भवति, तथा सेवाकृतिः पूर्वमपेक्षिता ।
एवं वर्तमानानां कदाचिद् विशेषतो भगवदाज्ञा चेत्, गुर्वाज्ञा विसृद्धा भवेत्, तदा तथा
कार्यमित्याशयेनाहुः बाधनं वा हरीच्छया । विकल्पेनाबाधनमित्यर्थः । एवं सति गुर्वा-

धीयत्पुरुषोत्तमकृतवित्तिरकाशसमेतम् ।

व्याकुर्वन्ति कदाचिदित्यादि । अत्र च 'त्रैवर्गिकाप्यासे'ति पूर्वोक्तं पृष्ठस्कन्धवाक्यमेव
वीजत्वेन ज्ञेयम्, पुष्टिप्रकरणसत्वात् । तथाच यथा वृत्रस तादृशसङ्घोपसितावपि
भगवत्प्रसादानुमितिरिव जाता, तथास्यापि लौकिकवैदिकास्वास्थ्योपस्थितौ यद्भगवत्प्रसा-
दानुसन्धानम्, तदप्यद्धीकारलक्षणम् । एतादृशयोधवन्तं प्रत्युपदिशन्ति साक्षिण
इत्यादि । तद् व्याकुर्वन्ति साक्षिवत् तत्कृतं पश्यतेति । तथा च 'ज्ञातयः पितरौ
पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे । यद्ददन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्मम' इति सप्तमस्कन्ध-
स्यभगवदीयगृहस्यप्रकरणस्यवाक्यात् पूर्वोक्तरीत्या एतदाचार्यवाक्येन लौकिके वैदिके
साक्षिवत् भगवत्कृतित्वदर्शनं यत्तदपि तद्वक्षणमित्यर्थः ॥ ६ ॥

नन्वप्रासास्येपि साक्षिरकृतिदर्शनोपदेशेन विदुःखसहनरूपं धैर्यमेव साधनत्वे-
नोक्तं भवति, ततश्च तावन्मात्रस्य कर्तव्यत्वे सेवायाः सम्यगमम्भवान्निवेदनवैयर्थ्यं तु
स्वादेवेति प्रकारान्तरेण धर्महानिचिन्ताप्राप्तौ तन्निवृत्त्यर्थमुपदिशन्तीत्याशयेनाग्रिममवतार-
यन्ति एवं सतीत्यादि । व्याकुर्वन्ति गुर्वाज्ञाया इत्यादि । तथा कार्यमिति । बाधनं
कार्यम् । तथा च 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ'विति श्वेताश्वतरश्रुते 'नैवोऽप-
यन्त्यपचितिं करयस्तवेश ब्रह्मादयोऽपि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः । योऽन्तर्गहितस्तनुभृताम-
शुभं विधुन्वन्नाचार्यचैत्यत्रुषा स्वर्गातिं ध्यनक्ती'त्येकादशब्रह्मसूत्रादिभ्यश्च गुरोरेव गुरुषु
इति । गुर्वाज्ञासाधनाभावपूर्वकं सेवाकृतिरात्मनिवैदिधर्मः स यादृशेन साक्षिवत् तत्कृतिदर्श-
नेन न विपदितो भवति, तादृशतया साक्षिवत् स्यात्तप्यम्, न तु सेवाविरुद्धतया । तेन
लौकिके विषये साक्षिवत् स्थेयम्, न तु सेवाविषये इति सिध्यति । तत्रापि हरीच्छा
विचार्या, असाधने बाधने वा सास्तीनि । सा च भगवदनुभावमनुभवतो बुद्धिगोचरो
भवति, अन्यस्य तु फलफलकत्वात् । एवं सति यथाधिकारं तां बुद्ध्या कार्यम् । ततो न
स्वधर्महानिरित्यर्थः । एतदेव निगमयितुमुत्तरार्थमित्याशयेनावतारयन्ति एवं सतीत्यादि ।

ज्ञाया अवाधने वाधने वा सेवैव मुख्या यतोऽतस्तथैव स्येममित्याहुः अत इति । एवं सति पर्यवसितं सुखमेवेत्याशयेन सुखमित्युक्तम् ॥ ७ ॥

कदाचित् पुत्रादिवियोगशङ्काजनितदुःखेन चिन्तासम्भवे गतिमाहुः चित्तोद्वेगमिति ।

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।

तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥ ८ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

तथा च यथा राजभोगसमये नेत्रे निमील्य वीजयन्तं बृहद्रामदास प्रति भगवता श्रीगो-
वर्धनेश्वरेण साक्षाद्भुञ्जानं मामुन्मील्य पश्येत्याज्ञप्ते, ममाचार्याज्ञा भोगसमये दर्शनविषयिणी
नास्तीति नोन्मीलयिष्यामीति तैः प्रत्युक्तम्, तदा भगवान् प्रसन्न आसीत् । सामग्यादि-
विषयिण्यां विशेषाज्ञायां तु साधारण्याचार्याज्ञा बाध्यते, तदा नाप्रसन्नो भवति, तेन
सेवाया एव मुख्यत्वम्, अतस्तदनुसारेणैव स्येममित्यर्थः । अत्रापि 'परिनिष्ठा तु पूजाया'-
मिति निषेदिप्रकरणसं भगवद्वाक्यमेव बीजत्वेन ज्ञेयम् । सर्वतो नितरां निरवधितया
वा स्थितेरेव परिनिष्ठापर्यत्वादिति ॥ ७ ॥

ननु भवत्स्वैवमल्पदुःखोपस्थितौ साश्वित् स्थितिः, महादुःखोपस्थितौ त्वेवं
स्थितिरशक्येत्याशङ्कानिन्वृत्त्यर्थमग्रिम वदन्तीत्याशयेनाग्रिमवदतारयन्ति कदाचिदित्यादि ।
मूलव्याख्यानं तु स्पष्टत्वात् न कृतम्, परं तत्रायं भावः । अवश्यंभाविनो दुःखस्वाप्न-
तीकार्यत्वात्तत्र चित्तसमाधानमेत्रोपायः । तत्र नानोपायैर्भवति । यथा सप्तमस्कन्धे यमप्रे-
तसुयज्ञवन्सुसंवादे 'अहो अनीपां वयसाधिकाना'मित्यादिना यमप्रदर्शितलोकगतिज्ञानेन
सुयज्ञवन्भूनां जातम्, यथा च षष्ठस्कन्धे 'यथा वस्तूनि पण्वानि हेमादीनि ततस्ततः ।
पर्यटन्ति नरेभ्येवं जीवा योनिषु कर्तृष्वि'ति जीववान्यात्रीनस्य सर्वसाधारण्यज्ञानेन चित्र-
केतुप्रभृतीनाम् । यथा च 'पित्रोः स किन्तु भार्यायाः स्वामिनोभेः श्वष्ट्रयोः । किमात्मनः
किं सुहृदामिति यो नावसीयत' इति देहस्य सर्वसाधारण्यज्ञानेन पुरुखसः ।
एवमन्येपि बोध्याः । ते केपि नारमनिवेदिनामुपयुज्यन्ते, भगवत्स्मरणोदासीनत्वात्,
किन्तु प्रमासीयलीलायां 'नैषां वधोपाय इयानतोम्य' इत्येकादशीयभगवद्विचारानुवाद-
वाक्यात् सा लीला यथा नक्तानां चित्तोद्वेगं विधाय, या कृता लोकमर्यादाविक्ष-
णार्थम्, अग्रे तेषां नित्यसुखदानार्थं च, तथा चित्तोद्वेगं विधाय अपिशब्दादविधाय च हरिः
स्वर्षणां प्रारब्धादिरूपापहारको भगवांस्तद्दरणार्थं यद्यत् शुभत्वेनाशुभत्वेन वा आपाततः
प्रतीयमानं करिष्यति, तत्कार्यं साक्षाद्वा केनचिद्द्वारेण वा तस्य अस्मदीश्वरस्यास्मदात्मनो
भगवत्स्वयैव लीला, अनेन प्रकारेणास्माकं महतोऽप्यस्य नाशनाय मायिकी लीलेति मत्वा
साधकनाथकप्रमाणैस्तुचिन्त्य चिन्तां उद्वेगजनिकां वा तज्जनितां वा तद्रूपां वा द्रुतं शीघ्रमेव
त्यजेत् । तस्याः बहुकालं स्थाने कालकर्मस्वभावानां प्रचलत्वेन तथा अमुस्प्रवेशरूपमहो-
पद्रवसम्भवेन मुख्यफलप्रतिपन्धो वा विलम्बो वा स्यात्, अतो मङ्गु स्वजेदिति भावः ॥८॥

नन्विदमखिलमशक्यमिव भाति । तथाहि । श्रवणमारभ्य सख्यपर्यन्तागतौ हि पश्चान्निवेदनवार्ता । तत्र प्रत्येकं तदेव दुरापमिति दूरतरा निवेदनदिगपि । अतस्त्रकृत-चिन्तान्यविधोपचिन्तादिसमाहितिर्निरर्थेति विचार्य साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधान-माहुः तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।
वदन्निरेवं सततं श्रेयमित्येव मे मतिः ॥ ९ ॥

श्रीमत्पुरोचमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

एवमत्र पुष्टिमार्गस्य पूर्व सेवोपकरणकर्तृनिवेदनविषयकचिन्तानिवृत्तुषा-यत्वेन स स विचार उपदिष्टः, ततः सेवाकृत्यविरुद्धतया साक्षिवत् स्वित्युपदेशेन सेवायां स्थितेशोपदेशेन वैराग्यरागौ नियमभेदेन व्यवस्थापितौ । चित्तोद्वेगे च लीलाविचार उपदिष्टः, तदिदानीं सर्वमशक्यम्, कालादिकृतगुणक्षोभेण चित्तस्यैर्यस्य दुर्घटत्वात्, अतोऽयमुपदेशो-नुपदेश एवेत्याशङ्क्य कृपया तस्मिद्धर्षगुणायमधुनोपदिशन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति नन्विदमित्यादि । तदेव दुरापमिति । श्रवण हि भगवद्वाचकपदवाक्यानां गुरुगुणा-च्छक्तित्वात्पर्यनिर्धारः । तत्पूर्वकमन्यस्याग्रे कथनं कीर्तनम् । तेषामर्थानुसन्धानं स्मरणम् । तदिदानीं सर्वतद्विदो गुरोर्दोर्लभ्येन श्रवणस्य दुरापत्वे कीर्तनस्मरणयोरपि तथात्वम् । तदभावे भगवत्स्वरूपज्ञानाभावात् पादसेवनादीनामपि भगवद्विषयत्वाभावात्तथात्वम् । एवं कालादिभिः प्रतिघ्न्यकैः प्रत्येकमपि द्रष्टव्यम् । साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधा-नमाहुरिति । साधन श्रवणाद्यष्टकम् । फलमात्मनिर्देनम् । ते उभे एकीकृत्य स्वासाध्यत्वेन तस्यां कोटीं निक्षिप्य पूर्वोक्तस्य सर्वस्य सुसाध्यत्वं यथा भवति, तादृश तत्सम्बन्धिसमाधा-नमाहुरित्यर्थः । समाधानं व्याकुर्वन्तः शरणागते समाधायकत्वे बीजमाहुः यस्मादित्यादि । भक्तिमार्गं श्रेयेशे तत्र रूप्यादौ चानुग्रह एव हेतुरिति वरणशून्या भक्तिहेतुनिर्णये व्युत्पादि-तम् । तस्मिन् सति यदा सेवाप्रतिबन्धसम्भवः, तदा प्रारब्धकालस्वभावानामेव हेतुत्वम् । तन्निवृत्तिस्तत्सर्वनियामकेन प्रभुणैव भवति, नान्यतः । तत्र च शरणागतितरेव साधनम् । 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच' इति भगवद्वाक्यात् । 'देवर्षिभूतासन्तानां पितृणां न क्रिकरो नायमृणो च राजन् । सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कृत'मित्येकादशस्कन्धे करमाजनवाक्याच्च भगवतः शरण्यता । तस्माद्द्वौकृतस्य जीवसोक्तरीत्या अशक्तौ शरण्यत्वात् प्रभुरेव सर्वं सम्पाद-यिष्यतीत्याचार्याणामाशय इत्यर्थः । एतेनाष्टमस्कन्धप्रतिपादित आपस्तु हरिसंस्मृतिरिति भगवद्भक्तिसम्पादक आपद्मर्षिपि गजेन्द्रसेवास्यापि सिध्यतीत्यपि बोध्यम् । नन्वेवं सति

१ भगवद्भक्त्या भगवत्शरण्यमेव तदनुगम्यत च साधनम् । एवं भगवद्विचार । ततो भगवद्भक्त्या भगवत्शरण्यतो भगवत्शरण्यं निवेदनस्याधीकाराद्भक्तिपुत्रमनियमाभावात्निवेदनोद्वेगश्च चिन्तासाधनना-मुक्त्यकारिणी भार ।

यस्मादुक्तरीत्या स्वतः सर्वमशक्यगतः सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यतीति हृदयम् । नक्तिगार्गीयान् सर्वानंशान् विचार्य तत्र प्रतिबन्धं स्वाशक्तिं च स चेत् पश्यति, तदा सर्वात्मना तथा भवति । नित्यमिति नैरन्तर्यमुच्यते । अन्यथा कालेनासुरधर्मप्रवेशः स्यात् । अन्तःकरणे तथाभावेऽतथाभावे वा तथा वदनमावश्यकमिति ज्ञापयितुं सततमेवं यदङ्गिरित्युक्तम् । एवं सति लोकशिक्षाप्यानुपक्षिकी सिध्यति । एवमुक्तप्रकारेण सेवापरतया श्रेयमित्यर्थो वा । नन्विदमपि न स्वशक्यमित्याशङ्क्य 'यमेवैष वृणुत' इति श्रुतेर्मे मतिरित्येव, एवंप्रकारिकैवेत्यर्थः ।

श्रीमत्पुराणेत्तमकृतविवृतिप्रकाशासमेतम् ।

प्रथमत एवेदं साधनं कुतो नोपदिष्टमित्यत आहुः भर्त्सीत्यादि । सर्वात्मना तथा भवतीति । श्रीकृष्णाश्रयोक्तरीत्या सर्वेषां सहकारिणामतथात्ममसहायत्वं च निश्चित्य, विवेकादीनां भक्त्यन्तानां साधनानां स्वासाध्यत्वं च निश्चित्य, दीनभावेन सर्वैः प्रकारैः शरणागतिर्भवति । तथा च प्रागेवोपदेशार्हत्वेपि यदधुना सर्वान्त उपदिष्टम्, तत् सर्वात्मना सर्वैः प्रकारैर्भवनार्थमित्यर्थः । आसुरधर्मप्रवेश इति । बाहिरुत्थयजनकाहङ्कारप्रवेशः । तथा वदनमावश्यकमिति । वाचस्तेजोमयीत्वेन वदनक्रियायां वैखरीत्वेपि वक्तुः पश्यन्ती प्रकाशयन्त्यन्तःकरणमासुरधर्मात् परावर्तयेदत आवश्यकम् । परोपकारायपि भवेत्, अतश्च तथेति बोधनायाहुः एवं सतीत्यादि । एवं सत्याश्रयस्यैव मुख्यता आयातीति सेवावश्यकत्वबोधकपूर्वग्रन्थविरोध इत्यतः प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति एवमुक्तेत्यादि । एवं यदङ्गिः सर्वचिन्तारहितपूर्वकं सेवापरतया श्रेयम् । तथा चाङ्गत्वेनैवात्र शरणोपदेशो, न तु मार्गत्वेन, अतो न विरोध इत्यर्थः । स्वमत्या निष्कर्षकथनस्य तात्पर्यमाहुः नन्वित्यादि । इदं सर्वात्मना शरणगमनमपि न स्वशक्यम्, 'सोहं तवाद्भ्युपगतोस्म्यसर्ता दुराप'मित्यकूरस्तुतौ तथा सिद्धत्वादित्याशङ्क्य 'यमेवैष वृणुत' इति वरणलभ्यत्वबोधकश्रुतेर्मे मतिरेवंप्रकारिकैव । भगवता यदानुगृह्यते, तदैव सर्वात्मना शरणागतिर्भवति, नान्यथा । 'तन्वाप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्ये पुंसो मवेद्यर्हि संसरणापवर्गः । स्वयम्भवा नाम स दुपासगया मतिः स्या'दिति तत्रैव वाक्यशेषात् । तथा चास्मिन् मार्गे कृपेय साधनम्, अतः श्रुत्यनुसारेण मार्गप्रवेशतद्गुण्यादिना वरणमनुगाय मदीयेरेवमेव कर्तव्यं यत्कन्यं च । यदि च न तन्निर्वाहः, तदा प्रतिबन्धकमनुमेयम् । भगवन्भाषे एतदतिरिक्तस्य इच्छ सर्वप्रतिनिधिभूतस्य साधनान्तरस्वामानान् । गीतायामन्तो एतस्यैव शोकाभावार्युपदेशेन तथा निश्चयात् । एतद्वाक्यान्तःस्यस्य श्रीकृष्णपदस्य भक्तसहितपुरुषोत्तमवाचकतायाः सुप्रसिद्धत्वेन मम स एव शरणमिति तस्मिन् सरसकल्पबोधनेन वाक्यतात्पर्यस्य तत्रैव निर्धारो गुरुस्तादृचे श्रवणस्य तत्पूर्वकागामन्येषां च सरूपकउभोक्ता एव सुरोऽपि सिद्धेरिति ॥ ९ ॥

एवं सर्वं व्याख्याय ग्रन्थकरणसन्तो शरणवद्भक्तिरुपवस्य च प्रयोजनमाहुः

भक्तिमार्गं प्रवृत्तस्य दाढ्यार्थमिदमुच्यते ।
 अन्धस्य सूर्य इव तद्विमुखस्यात्र नार्थिता ॥ १ ॥
 भक्तिमार्गमुधासिन्धोर्विचारमथनैः स्वयम् ।
 स्फुटीकृतानि रत्नानि श्रीमदाचार्यपण्डितैः ॥ २ ॥
 मयोञ्जलीकृतानीत्यं हृदि धृत्वा प्रजाधिपम् ।
 मजन्तु भक्ता येनासौ न विमुञ्चति कर्हिचित् ॥ ३ ॥
 इति श्रीश्रीविद्वलदीक्षितविरचितो नवरत्नप्रकाशः समाप्तः ।

श्रीमत्पुराणोक्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

भक्तिमार्ग इत्यादि । भगवत्कृपया यो भक्तिमार्गं स्वरूपाथत्वाय प्रवृत्तः, तस्य दाढ्यार्थं तदुक्तरीत्या फलावश्यभावनिश्चयेन प्रवृत्त्यविधातार्थं इदं नवरत्न शरणमभ्रावर्तन चोच्यते आचार्यैरुपदिश्यते । तस्यैवोद्देशेनानिर्वर्तनस्य प्रमूषामनन्यजनवत्सलतयावश्यकत्वात्, न तु साधारणार्थम्, तत्र हेतुः अन्धस्येत्यादि । तद्विमुखस्येति । भक्तिमार्गाद्द्विमुखस्य । अत्रेति । चिन्तानिवृत्त्युपायबोधकेस्मिन् ग्रन्थे । शरणमभ्रावर्तने च । तथा चार्थित्वस्य अधिकारिविशेषणत्वाद्विमुखस्य चार्थित्वाभावेनाधिकाराभावात्तदर्थं नोच्यते इत्यर्थः । एतस्य ग्रन्थस्य भगवत्सिद्धान्तसारत्वबोधनायाहुः भक्तीत्यादि । श्रीमदाचार्यपण्डितैरिति । मयूर्यसकादिसमाप्तः । पण्डितत्वं च न केवलं सदसद्विवेचकबुद्धिमत्त्वम्, शास्त्रीत्यबुद्धिमत्त्वं वा । किन्तु 'पण्डितो बन्धमोक्षवि'दित्येकादशे भगवद्वाक्यात्, 'यस्य सर्षे समारम्भा कामसङ्कल्पवर्जिता' । ज्ञानाम्निदम्भकर्मणो तमाहुः पण्डितं बुधा' इति गीताया भगवद्वाक्याच्च तादृशधर्मवत्त्वं विवक्षितम्, अन्यथा भक्तिमार्गविचारस्यासम्भवात् । 'भगवान् प्रथमं काल्पर्येण' इति द्वितीयस्कन्धवाक्येण भक्तिमार्गस्य सर्वश्रुतिसारत्वनिश्चयादिति । स्वकृतविवरणप्रयोजनमाहुः मयेत्यादि । तथा चैतदर्थं विवरणमित्यर्थः ॥ १० ॥

एव चात्र एतत् सिद्धम् । भगवत्सैवैकतानचिन्तेन यथाशक्ति सेवा कुर्वता दुःसङ्गवर्जनपूर्वकं स्वस्य स्वपरिकरस्य च भगवदीयत्वमनुसन्धानेन पूर्वोक्तरीत्या सर्वविधचिन्तास्त्यजता सर्वत्र स्वाशक्त्यनुसन्धानेन भगवत एव शरणत्वमनुसन्धानेन यदा स्वीयते, तदा उद्देशगल्यप्रतिबन्धनिवृत्त्या सेवाया आधिदैविकीत्व सम्पद्यते । तस्माद्दुक्तरीत्या सेवापूर्वकं सर्वात्मना शरणगमनमेव परम साधनमिति ।

नवरत्नभासनकृतां वचसां मम यत्नपूर्वकमुपासनतः ।

व्रजरेदोहृद्यकूपयास्तु सुखादसपलचैतससपलहृतिः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्माचार्यचरणैकतानस्य पीताम्बरस्य तनुजेन पुरुषोत्तमेन

कृतो नवरत्नविवृतिप्रकाशः सम्पूर्णः ।

नवरत्नम् ।

श्रीविद्मलेश्वरविरचितप्रकाशसमेतम् ।

चिन्तासन्तानहन्तारो यत्पदाम्बुजरेणवः ।

स्वीयानां तान् निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥ १ ॥

ननु भगवदीयानां कथं चिन्तोद्भवः । इत्यम् । आत्मनिवेदिनो हि भगवद्भजनार्हाः, नेतरे । तत्र चैहिकपारलौकिकयोरर्थयोर्नावशिष्टं किञ्चिदसमर्पितम् । एवं सति देहादिनिर्वाहः केन कार्यः, किं निवेदितायै, उत इतरेण वा । तत्र नायः । तदीयार्थस्य तदिच्छां विना ग्रहीतुमशक्यत्वात्, इच्छयाश्च ज्ञातुमशक्यत्वात् । वस्तुतस्त्विच्छायामपि सत्यां तदुपयोगोऽनुचितः सेवकस्य । न च तदीयानां देहादीनां तदीयार्थेन पोषणं न दोषायैति वाच्यम् । स्वतस्त्रयाकृतेर्दोषावहत्वात्तदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वादित्युक्तम् । न द्वितीयः,

श्रीविद्मलेशात्मजश्रीवल्लभकृतप्रकाशाटिप्पणी ।

चिन्तात्रयनिवृत्त्यर्थमुद्भिन्ननवरत्नकाः ।

समुद्बलीकृततदः प्रसीदन्तु मये मयि ॥ १ ॥

नवरत्नप्रकाशे । चिन्तासन्तानेति । यत्पदाम्बुजरेणवः समाश्रिता देहेन्द्रियादिकं शोधयन्ति, (वासनात्मकं लिङ्गं नाशयन्ती) तन्तःकरणशोधनद्वारा चिन्तानां वक्ष्यमाणानां सन्तानो वक्ष्यमाणप्रकारेण तन्निवर्तनेपि कुसृष्टधुद्भावनं तद्धन्तार इत्यर्थः । अन्ये चिन्ताः स्वयमेव निवर्तयिष्यन्ति, चित्ताशुद्ध्या कुसृष्टधुद्भावनं तु चरणरेणुसमाश्रयनिवर्तनमिति भावः । नन्विति । किंप्रकारकचिन्तोद्भवः, सम्भवतीति शेषः । इत्थमिति । अन्ये वक्ष्यमाणस्तिस्रश्चिन्ता भगवदीयानामपि हीनमध्यमाधिकारिणां सम्भवन्तीत्यर्थः । अन्यद्विन्नामप्येकां चिन्तां पूर्वोक्तेषु सम्भावितानां स्वयमेव प्रमाणवाक्यैः समाधातुमाहुः आत्मनिवेदिनो हीति । एतन्निरासस्य प्रमाणवाक्यैः स्पष्टत्वान्मूलेऽकथनमिति भावः । तत्र चेति । निवेदने जाते सलौहिकसुखसाधकानि स्त्रीपुत्रवित्तादीनि पारलौकिकसुखसाधकान्यभिदोत्रादिकर्माणि भगवदीयान्येव ज्ञातानीत्यर्थः । एवं सतीति । वित्तसमर्पणे कृते सतीत्यर्थः । देहादीति । आदिपदेन गृहादिकम् । तथा च गार्हस्थ्यनिर्वाह इत्यर्थः । इतरेणेति । निवेदनात् पूर्वमेव स्थापितेनानिवेदितेनेत्यर्थः । अस्वधर्मत्वादिति । निवेदितस्य देहादेस्तदीयार्थेन पोषणं दोषावहमित्युक्तम् । अनिवेदितेन च पोषणमस्वधर्म इत्यर्थः । दूषणान्तरमप्याहुः

अम्बधर्मत्वात् । निवेदितस्यार्थस्य स्थित्वायर्थं स्वस्य विचारस्याप्यनुचितत्वात् । तदभिमाने तत्त्वम्भवात् । एवं सति देहादिनाशसम्भवेन भजनासम्भवात्तद्वैयर्थ्यापातः । मार्ग एव चायमुच्छिद्येत । अतो निवेदने भजनाधिकारः, तस्मिन् सति तदनिर्वाह इत्युपयत्पाशा रञ्जुरिति चेत् । अथ वदामः । 'दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्सरस्सै निवेदनम् । एवं धर्मैर्ननुप्याणामुद्भवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोऽस्यावशिष्यत' इत्यादिवाक्यैस्तदावश्यकम्, साक्षात् श्रीगोकुलेशभजनाधिकाररूपत्वात्, द्विजस्य वैदिककर्मणि गायत्र्युपदेशजसंस्कारवत् । (निवेदनस्य सार्थकत्वाय भजनसिद्धवर्धमावश्यकव्यवहारार्थं निवेदितस्यैव सार्थं विनियोगः कार्यः ।) अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदने कृतेऽप्ये नदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः । अपरंच । दाने हि न स्वविनियोगो, न तु निवेदने । अन्यथा निवेदिताद्दानेर्भोजनं न स्यात् । अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात् । निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्वत्प्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा, दासधर्मत्वात् । 'उच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्यादिवाक्यैः । आत्मशोधकत्वाच्च । किन्तु प्रभौ निवेदितार्थस्य विनियोगे जातेऽप्ये तदर्थं यत्नः कार्यो, नवेति भवति चिन्ता । *तत्करणे

श्रीविद्वलेश्वरमजधीवल्लभकृतटिप्पणीसमेतम् ।

निवेदितस्यार्थस्येति । निवेदितपदार्थस्य देहेहोहादेः स्थितिरादिपदेन तत्सम्बन्धीनि गृहादिकार्याणि विचाहादीनि च तदर्थं स्वस्य विचारोप्यनुचितः । तत्र हेतुः । तदभिमाने इति । स्थापनीये सतीति शेषः । देहे स्वकीयत्वामिमाने स्थापनीये सत्येतादृशो विचारः सम्भवति । एतस्य तु देहे भगवदीपत्वमेव सम्पादनीयम्, अतः स्वस्य तद्विचारोनुचितः, भगवानेव विचारयिष्यतीति स्वस्यैत्युक्तम् । तथा च देहस्थित्वायर्थं पूर्वमेव किञ्चित् पदार्थानिवेदनं नोचितमित्यर्थः । एवं सतीति । पक्षद्वयप्रकारेणापि देहाद्यनिर्वाहे सतीत्यर्थः । तदावश्यकमिति । वाक्येषु निवेदनकथनात् सर्वानिवेदनमावश्यकम्, नतु पदार्थविनियोगेन बाधितमित्यर्थः । बाधितत्वे भगवान्न वदेदिति भावः । साक्षादिति । भजने सर्वाधिकारत्वोक्तावपि सत्त्वन्वयवहितस्यैव भजने तथा । साक्षात् पुरुषोत्तमभजने तु निवेदिनामेवाधिकार इति भावः । अन्यथेति । निवेदितपदार्थस्य स्वयमग्रहणे दारानुपयोगोपि प्राप्येत, तथा च न तथेत्यर्थः । दाने हीति । पुत्रवित्तादिकं निवेदितम्, न तु दत्तमित्यर्थः । निवेदितोपयोगे प्रकारकथनाद्वाहुः निवेदितागामित्यारम्भ शोधकत्वादित्यन्तम् । तथा चेयं चिन्ता तु प्रमाणवाक्यैर्लुक्तिभिः परिशीलितैर्निजाचार्यपदान्बुजरेणुसमाश्रयकृतचित्तमुद्वेः कुमुद्वथनुद्गावनेन च निवर्तते । अतोऽन समाधेयान्ग्यां चिन्तामाहुः किन्तिरिवलारम्भ

* (किंच । तत्करणे बाहिसुंख्यासम्भव इत्यारभ्योक्तचिन्ताभाववादेनत्र विचार्यते । सेवार्थं यजकरणे बाहिसुंदरय सेवाप्रतिबन्धश्च न सम्भवति । तस्य सेवाज्ञत्वेन उत्पन्नत्वात् तदकरणे तदसम्भवाच्च । नच

वाहिर्मुख्यसम्भवः सेवाप्रतिबन्धश्च । 'त्रैवर्गिका या से'तिवाक्यात् भगवत्कृतप्रतिबन्धश्च तत्र स्यात् । अकरणे निवेद्याभावेन भवति च दुःखम् । एवंभूतान् स्वातुपदिशन्ति चिन्ता कापि न कार्येति ।

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति ।

भगवानपि पुष्टिस्यो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥ १ ॥

लौकिकैतदभावेपि भगवदर्थोपि सा न कार्या । एतदाहुः कापीतिशब्देन । अङ्गीकारेणैव सर्वं स्वत एव करिष्यतीति विश्वासो यत्सत्सावश्यकः । भगवतोपि तथानियमः । कदाचित् परीक्षार्थं प्रारब्धभोगार्थं वा प्रमुञ्चेद्विलम्बते, तदापि न कार्येत्याहुः कदापीति-पदेन । ननु लोकवत् कुटुम्बायासक्त्या स्वस्यापि लौकिकीं गतिं कदाचित् प्रभुः कुर्यात्,

श्रीविद्वलेशात्मजधीपहभट्टतटिपणोसमेताम् ।

भवेति च दुःखमित्यन्तेन । एवंभूतानिति । यत्करणकरणचिन्तायुक्तान् उभयपक्ष-समाधायकत्वाक्येनोपदिशन्तीत्यर्थः । तत्र समाधानं चिन्ता न कार्येति । पूर्वसिद्धा-निषिद्धद्वयौ सहजसिद्धयत्नकरणेपि तस्य यत्नस्य चिन्ता अतुचिन्तनं कथं इदं कार्यमिति मनसा सर्वथा तद्भावने न कार्यमित्यर्थः । अग्रेपि वक्ष्यन्ति वाग्विद्यादावास्तितौ तत्र विद्य एव भवतीति । आस्तितिः कायवाच्यनसां तदीयत्वम् । तथा चानाश्रया यत्नकरणे पक्षद्वयोक्तोपि दोषो न भविष्यतीति भावः । लौकिकेति । स्त्रीपुत्रादिनिर्वा-हक्यज्ञानास्थायामपि भगवन्नैवेद्यार्थकयत्ने आस्था सम्भवति, सापि न कार्येत्यर्थः । तत्राप्याश्रया तत्सम्पादकेषु आस्तितिसिद्ध्या वाहिर्मुख्यं स्यादेवेति भावः । नन्वना-श्रया कृतो यत्नो न सिध्येदित्याशङ्कोत्तरार्थार्थं सामान्यत आहुः अङ्गीकारेणैवेति । स्वसौदासीन्येषु भगवान् स्वान्नीकारेणैव हेतुना सर्वं यत्नं सिद्धं करिष्यतीत्यर्थः । विलम्बते इति । औदासीन्ये तत्कृतो यत्नः कदाचित् सिध्यति चेत्तथाप्यग्रिमयत्ने आस्था न कार्येत्यर्थः । ननु लोकवदिति । लोकस्येव कुटुम्बासक्त्या भगवदङ्गीकारसासिद्ध-त्वेन लोकस्येव स्वस्यापि लौकिकीं लोकसदृशीं गतिमाशापूर्वकं विचार्य यत्नकरणे एव

'त्रैवर्गिका या से'ति वाक्यात् भगवत्कृत प्रतिबन्ध इति वाच्यम् । 'त्रैवर्गिकपद्वैश्वर्ण्येण । जन्मशा आनन्दविषादभिक्षेणार्थैव कावितार्थं स्यात् । अतः स्वकीयानां त्रैवर्गिकप्राणविषादमेव भगवत्कृतं करोति, न स्वसेवार्थवादासविषादमिति निश्चिद्यते । अन्यथा यत्नमानस्य निषेधे भगवत्कृत्या त्वापि उच्यते । नन्वात्म-निवेदिनामीतरयत्नासम्भवेन तत्तन्निवेदिताऽभावात् कथं चिन्ता न कार्येत्युपदेश इति च । अनेदं प्रति-भाति । भगवत्कार्ये दि भगवदङ्गीकारनिमित्तं पुष्टिमर्त्यादायत्नशब्देन । मनसि वै त्रैविष्यम् । तत्र पुष्टिपृथगङ्गीकृतस्य नैतरयत्नसम्भवनपि । परं मर्यादापुर्यं प्रवाहपुर्ये वाङ्गीकृतस्य तत्करणं मर्यादाप्रवृत्त्या, तद्विषयं पुष्टपदा । तथा चान्निवेदिना मर्यादाप्रवाहसम्भक्तानां यत्नेतरयत्ने इत्ये वाहिर्मुख्यसंज्ञकप्रतिबन्धत-दिशात्तदिक भवति, तथा सेवार्थेपि यत्ने भास्यतीति भवति चिन्ता, मनसादभावात् एतत् प्रैव चिन्ता कापि न कार्येत्युक्तम् । अतः सेवार्थं यत्नं नर्तन्यं यत्नं नानुपपत्ति काचित् ।)

तत्राहुः भगवानपीति । यतः पुष्टिशोऽतो मर्यादामार्गीयवैराम्याद्यभावेऽपि 'महापुरुषेण निवेदिता' इति स्वकीयत्वेनाङ्गीकारात् तथा न करिष्यतीत्यर्थः ॥ १ ॥

एवं चेत्, स्वाच्छन्द्यव्यवहारापत्त्या बाहिर्मुख्यं स्यादत आहुः निवेदनामेति ।

निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ।

सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥ २ ॥

सर्वदा सर्वांशे तदीयत्वानुसन्धानेन तथा न भविष्यतीति भावः । अशक्या सेवाय-
सम्भवेऽपीदं कार्यमेवेति ज्ञापनाय तु शब्दः । चकारपक्षे समुच्चयः सर्वथेत्यसावश्यक-
त्वज्ञापनाय । अथवा । सर्वथा ये तादृशा निवेदितात्मत्वेन तत्परास्तैः सह तथा । एतेन
सहदोषो निवारितः । अतादृशेष्वेतद्गोपनं सूच्यते । सर्वदेतिपाठे कालपरिच्छेदस्तत्रोच्यते ।
अन्यथा तदैवासुरप्रवेशः स्यादिति भावः । कदाचिदलौकिककार्यस्य लौकिकस्य वा सिद्धार्थं
प्रभुः प्रार्थनीय इति प्रश्ने नेत्याहुः सर्वेश्वर इति । अत्र सर्वेश्वरो निवेदितात्मसर्वपरः ।
यथा 'सर्वे प्राणाना भोजयितव्या' इत्यत्र निमग्नता एव सर्वपदेनोच्यन्ते, न त्वन्येऽपि ।
सर्वात्मपदेऽप्येवं ज्ञेयम् । तेन सेवकाः सर्वे यथा यथा प्रपन्नाः, तथा तथा प्रभुरपि तेष्वङ्गी-

श्रीविद्वेष्वरविरचित्रप्रकाशसमेतम् ।

तत्फलमिद्विरन्यथा नेतिरूपां नीतिशास्त्रानुरोधेन कुर्यादित्यर्थः । यत् इति । पुष्टिः
प्रवाहो मर्यादा चेति मार्गत्रयम्, तन्मध्येऽत्र पुष्टिशो भगवान्, अतः कुटुम्बासक्त्या
मर्यादामार्गीयवैराम्यादिसाधनाभावेऽपि पुष्टिमार्गीयेण महापुरुषाचार्यकृतनिवेदनेन स्वीय-
त्वाङ्गीकार करिष्यति । तथा चाङ्गीकारस्य भिद्वत्वात् लौकिकीं गतिं करिष्यतीत्यर्थः ।
भक्तस्य पुष्टिस्त्वयाथाविशब्दः ॥ १ ॥

एवं चेदिति । अनास्थायामविचारेऽपि फलसिद्धौ स्वाच्छन्द्येन बाहिर्मुख्यं
भगवदनुसन्धानं भवेदित्यर्थः । तथा च यत्नानास्थया समाहितो दोषः पुनः प्राप्त
इति भावः । निवेदनस्मरणस्य स्वरूपमाहुः सर्वदेति । 'त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया'
इति प्रकारकस्वाच्छन्द्येऽपि बाहिर्मुख्यं भगवदनुसन्धानं न भविष्यतीत्यर्थः ।
निवेदानुसन्धानाभावे तु बाहिर्मुख्यं स्यादेव, अतस्तदावश्यकमिति भावः । सेवादीनि ।
आदिपदेन कथा, तदसम्भवेऽपीत्यर्थः । अनायासन फलसिद्धौ स्वाच्छन्द्येन प्राप्तस्य
बाहिर्मुख्यदोषस्य निवारणार्थं निवेदानुसन्धानमुक्तम् । फलासिद्धावपि तदनुसन्धानं
कार्यमेवेत्यपिशब्दः । चकारपक्षे सर्वथेति पदेनावश्यकत्वं योषितम् । तुशब्दपक्षे
आवश्यकत्वं तेनैव योषितमिति सर्वथापदस्य समासेनाप्रेञ्जव्यमाहुः अधवेति ।
आसुरप्रवेश इति । 'द्वया ह प्राजापत्यां इत्यत्र वागादीनां सार्धमुद्गानान् पापवेषः,
॥मन्यन्व भगवदर्थमुद्गानात्तदभाव इति तृतीयाध्याये वेषाद्यर्थभेदादित्यधिकरणे भागे

कृतस्वामित्व आत्मीयत्वमेव तेषु मनुत इति तद्विदितकृतौ न प्रार्थनामपेक्षत इति ज्ञाप्यते । अथवा । कालादिनियामकत्वेन न तत्कृतोपि प्रतिबन्धसम्भव इच्छायामिति ज्ञापनाय सर्वपदं कालादिपरम् । प्रार्थितोपि स्वविचारितमेव करिष्यतीति प्रार्थनाप्यप्रयोजिकेति ज्ञापनाय निजेच्छेत्युक्तम् । अथवा । निजाः स्वीयस्वेनाङ्गीकृताः सेवकास्तेषां प्रचुरेच्छतः स्वयमेवापेक्षितं करिष्यतीति न प्रार्थनापेक्षेत्यर्थः । परन्त्विच्छया अविकृतत्वमेवापेक्षितमिति ज्ञापनायान्यप्रयोगः ॥ २ ॥

ननु भगवते समर्पितदेहादेः स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगेन स्वधर्महानिचिन्ता बाधते, तत्राहुः सर्वेषामिति ।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।

अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत् ॥ ३ ॥

स्वात्मना सह यावन्तो निवेदितास्तैः सहैव स्वस्वाङ्गीकारात् तेषां सर्वेषामेव प्रभुसम्बन्धो, न तु प्राधान्यात् स्वस्यैवेति तत्रोपयोगे स्वस्य का चिन्ता, न कापीत्यर्थः । इयं निवेदेनेऽङ्गीकारमर्थादेत्याहुः स्थितिरिति । कस्यचिद्दिशेऽपतोऽङ्गीकारश्चेत्, सा पुष्टिरिति

श्रीमिहलेशात्मजधीवल्लभकृतदिग्गणिसमेतम् ।

विद्युत्तम्, अतो यस्मिन्नेव काले भगवदीयत्वविस्मरणम्, तदेव देहादावासुरधर्मप्रवेशो भवतीत्यर्थः । तेन बाह्यमुख्यं भवेदेवेति भावः । आत्मीयत्वमेवेति । भगवत्सदात्मत्वकथनेन तेषामात्मीयत्वगुक्तम् । स्वामित्वं भगवन्निष्ठो धर्मः सर्वेश्वरपदस्यार्थः । आत्मीयत्वं मकनिष्ठो धर्मः सर्वात्मपदेनोक्तः । सर्वपदस्य कालवाचकत्वपक्षे कालनिष्ठो ज्ञेयः । स्वधर्मेति । स्वधर्मो निवेदनम्, तस्य हानिरित्यर्थः । स्वात्मना सहति । प्रत्येकं प्रभुसम्बन्धे यावत्तत्सम्बन्धानामनङ्गीकारस्यावत् तत्तत्सम्बन्धयुक्ते स्त्रीपुत्रादौ स्वस्य विनियोगे दोषः स्यात्, अत्र तु सहैवाङ्गीकारात् सेवानवसरे अनिषिद्धप्रकारेण भार्याद्युपयोगेऽपि न स्वधर्महानिरित्यर्थः । प्राधान्यादिति । प्राधान्याद्धेतोः स्वस्यैव नेत्यर्थः । का चिन्तेति । अथभगवदीयसंसर्गे हि स्वधर्महानिः । तेषामप्यङ्गीकृतत्वात् तथेत्यर्थः । तथा च भगवदीयत्वानुसन्धानेन तेषु व्यवहर्तव्यम्, न तु स्वकीयत्वामिमानेनेति भावः । वित्तादिवद्भार्यादीनामपि समर्पणम् । परमेतावान् विशेषः । अपर्णादिदेहे सपैतस्य सम्बन्धः, तस्य तत्तत्प्राप्त्याऽपि सम्बन्धोऽस्ति, अत एतेन तत्तन्निष्ठसम्बन्धसमर्पणे कृतोपि तत्तत्प्राप्त्याऽसमर्पणार्थं भिन्नभित्तया तत्कृतसमर्पणमपेक्षितम् । एतत्कृतसमर्पणेनैतन्निरूपिततत्सम्बन्धः समर्पितो भवति, स्वस्यसहजादिदोषप्रत्यकनिवृत्तिस्तु स्वसकृतसमर्पणेन भवति । वित्तादिषु त्वन्यसत्ताभावादेतत्कृतसमर्पणेनैव निर्दुष्टत्वसिद्धिरिति । इयमिति । सर्वनिष्ठसम्बन्धैः सह स्वस्वाङ्गीकार इत्यर्थः । विशेषः ३३ । निवेदकस्यैवाङ्गीकारस्य निष्ठक्रियेन्निरूपितसम्बन्धस्य नेति

भावः । अथवा । पुत्रादीनामन्यविनियोगदर्शनेपि स्वस्य का चिन्ता, तेषामप्यङ्गीकारेणैव कृतार्थतासम्भवादित्यर्थः । किञ्च । स्वस्येतिपदमावृत्तमपिशब्देन सम्बन्धते ॥ २ ॥

यथा पुत्रादीनाम्, तथा स्वसापि सः अन्यविनियोगश्चेत्, तदापि चिन्ता न कार्येत्याहुः अज्ञानादिति ।

अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतभात्मनिवेदनम् ।

यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ॥ ४ ॥

हीनमध्यमाधिकारिभिरपि निवेदितात्ममिच्छिन्ता न कार्या भवति यत्र, तत्र कृष्णसात्कृतप्राणैश्चिन्ता न कार्येति किमु वाच्यमित्यर्थः । केवलप्रभ्वधीनीकृतप्राणानां चिन्ता-विषयाभावादेव न सेति भावः । अत एव केतिशब्द उक्तः । पदसम्बन्धस्तु अज्ञानादथवा ज्ञानाद्यैस्तत्कृतम्, तेषां सा नेतिशेषः । कृष्णसात्कृतप्राणैर्यैस्तत्कृतम्, तेषां सा केत्युक्तम् ॥ ४ ॥

श्रीविठ्ठलेश्वरभोवहभट्टविरचितपिण्डयोगसमेतम् ।

चेत्, सा पुष्टिः मर्यादातिश्रमां भगवतो नियन्तुमशक्यत्वादित्यर्थः । तदा ताद्ये स्वदेह-विनियोगो न कार्यः । अत एव 'प्रतिकूले गृह त्यजे'दिति वाक्यम् । अस्मिन् पक्षे अन्यत्र स्त्रीपुत्रादौ विनियोगे स्वस्य देहस्वेत्यर्थः । अन्यविनियोगेति । अन्यत्र ठौकिके स्वस्त्रीपुत्रादिकार्ये विनियोगदर्शनेपि तेषां निवेदनहानिजनितचिन्ता स्वस्य केत्यर्थः । तेषामपीति । स्वाङ्गीकारेणैव क्रमेण तेषामपि कृतार्थता सम्भवति । अधुना अतथाभावे-प्येकाह्नेन भगवत्सम्बन्धात् तदनुभावेनैवास्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा तथा शुद्धा स्वस्वकृतसमर्पणेन स्वस्वसहजादिदोषनिवृत्त्या कृतार्थता सम्भवतीत्यर्थः । अङ्गीकृतस्य सर्वांशे भगवानेव चिन्तां करोतीति स्वस्येत्युक्तम् । स्वस्य एवपुनैव सहजादिदोषनिवृत्त्या कृतार्थता सिद्धा, क्रमेण तेषामपि सम्भवतीत्यपिशब्दः ॥ २ ॥

एतमेव पक्षमाश्रित्वाग्रिमश्लोकाभासमाहुः किञ्चेति । प्रथमपक्षे स्वस्य स्वकीयस्य स्त्रीपु-त्रादेरपीत्यग्रिमश्लोकव्याख्याने इत्यर्थः । केप्रलेति । भगवद्दर्शनजीवनानां सर्वांशे भगवदीयत्वेन विषयाः सर्वे भगवदीया एवेति भोग्यविषयेषु स्त्रीपत्नेनाभिमानाभावात् सा पक्षद्वय-भेदेन स्वान्यविनियोगजनिता पुत्राद्यन्यविनियोगजनिता वा चिन्ता नास्त्येव, किन्तु हीन-मप्याधिकारिणामपि तदभावात् बोध्यत इति भावः । चिन्ताभावे हेतुः पूर्वोक्त एव सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो ज्ञेयः । आद्यव्याख्याने पूर्वं स्वान्यविनियोगचिन्ता, द्वितीये पुत्राद्यन्यवि-नियोगाचेन्तोक्ता । द्वितीयव्याख्याने इदं विपरीतमिति विभेदः । तेषां सा नेति । स्वपदस्य स्वकीयवाचकत्वपक्षे सा स्त्रीपुत्रादिविषयिणी चिन्ता नेत्यर्थः । निवेदनपदार्थो न नश्यति, विलम्बस्तु मन्वयेवेति ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

ननु राख्यात्मनिवेदने हि भगवद्गीकारेणैव सम्पद्येते, तथा च स्वयमात्मनिवेदने
ज्ञेयेषु प्रभुरङ्गीकृतवाच्येति चिन्ता भवत्येव, इत्यत आहुः तथेति ।

तथा निवेदने चिन्ता तद्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।

विनियोगेषु सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्यतः ॥ ५ ॥

पुरुषोत्तमोङ्गीकृतवाच्येति निवेदनविषयिणी या सा त्याज्या उक्तनिवेदकत्वदि-
त्यर्थः । पुरुषोत्तमेन निरोधलीलायां स्वतोन्वयभजनं क्रियमाणा भक्तास्त्रिद्वार्य स्वयमात्म-
साकृता इति तादृशे स्वयं सर्वोत्पना निवेदने कृते सा शङ्का नोचितेति ज्ञापनाय पुरुषो-
त्तमपदम् । तत्रापि स्वरूपानन्ददानेनानिशं पोष्यमाणानां भक्तानां तदितरत्रोपयोगासम्भ-
वेणैव न शङ्कोदय इति ज्ञापनाय श्रीपदम् । तथा च तद्युक्ते तत्र निवेदने सा त्याज्येति
भावः । कदाचिन्नोकभयाद्युपस्थितौ तन्निवारणाय जीवस्वभाववशादन्यविनियोगेषु तथे-
त्याहुः विनियोगेपीति । प्रमादात्तथासम्भवेऽपि प्रभुर्न त्यक्ष्यति । यतस्वरूपभाववशात्तथा-
भूतभण्डुत्तु तत्साधनानपेक्षः ॥ ५ ॥

धीनिद्रुलेनात्मजधीबहुभक्तुदिव्यणीसमेतम् ।

इति निवेदनविषयिणीति । इति असम्पत्तिप्रकरणे निवेदनविषयिणीत्यर्थः ।
पूर्वोक्त्यापि निवेदनविषयिण्येव, परं हानिप्रकरणोक्तेति भावः । पूर्वोक्तमेव समाधानमत्रापि
ज्ञेयमित्याहुः उक्तनिवेदकत्वदिति । मूलस्थतथेतिपदस्यार्थोपयम् । सप्तम्यर्थे वृत्तिः ।
यथा निवेदके, तथा पुरुषोत्तमे इति मूलानुसन्धानेनार्थः । तथा च यथा पूर्वोक्तोक्त-
रीत्या निवेदककृतान्यविनियोगहेतुकनिवेदनहानिचिन्ता त्याज्या, तथा भगवच्छ्रुताङ्गीका-
राभावहेतुकनिवेदनासम्पत्तिचिन्तापि त्याज्येत्यर्थः । पुरुषोत्तमेनेति । एतेन हीनमध्या-
धिकारिणां निवेदनविषयकचिन्ताभाव उक्तः । उत्तमाधिकारिणामाहुः तत्राप्येति ।
निवेदितात्मस्वपि मध्ये कृष्णसाकृतप्राणानामुत्तमाधिकारिणां तु परमसौन्दर्यस्य
स्वगतत्वाय तादृशकारेण प्राहुर्भूते भक्तसहिते भगवति समर्पणस्य सिद्धत्वात् तदानन्देन
पोष्यमाणानां शङ्काया उदयो यस्मात् स शङ्काहेतुर्नास्तीत्यर्थः । तदितरत्रेति ।
अन्विक्रान्तगमनेषु तं दोषं निवार्य स्वस्मिन्नुपयुक्ताः सर्वे कृताः, रासस्थानां तु
गमनमेव नास्ति । इदमङ्गीकारस्वरूपं ज्ञेयम् । तथाप्युत्तमाधिकारिणां तु भगव-
दीयेभ्य इतरत्रोपयोग एव न सम्भवति । तस्मिन् सति हि तादृशशङ्का भवतीति
भावः । तद्युक्ते इति । ताभिः श्रीपदसूचितलीलाभिश्च युक्ते निवेदने यदि त्रमात्
प्राप्ता शङ्का त्याज्येत्यर्थः । तथा च पुरुषोत्तमे यन्निवेदनं तादृशविषयी पुरुषोत्तमकृता-
ङ्गीकाराभावहेतुकनिवेदनासम्पत्तिचिन्ता, तथा निवेदककृतान्यविनियोगहेतुकनिवेदनहानि-
चिन्तावत् त्याज्येति मूलार्थः । निवेदनविषयिणी चिन्ता निवेदके इह पुरुषोत्तमेऽपि
त्याज्येत्यन्वयः । अन्यविनियोगेपीति । रात्र्यादाश्रयणेषीत्यर्थः । ज्ञात्वा त्वास्वया तदपि
न कर्तव्यमित्याशयेनापिशब्दार्थमाहुः प्रमादादिति ॥ ५ ॥

अङ्गीकारे लक्षणान्तरमप्याहु लोक इति ।

लोके स्वास्थ्य तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।

पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिला ॥ ६ ॥

कदाचित् प्रवाहवशात्लौकिके वाणिज्यादौ, वैदिके आश्रमधर्मोदौ वा आस्थितौ तत्र विघ्न एव भवति, न तु तत्फलमित्यर्थ । तत्र हेतु पुष्टीति । तद्विनापि स्ववले नैव सर्वकर्ता यत इति भाव । पुष्टिमार्गाङ्गीकारे मर्यादा न सहत इति ज्ञेयम् । एव सति किं कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहु, साक्षिवत् तत्कृत पश्यत ॥ ६ ॥

सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधन वा हरीच्छया ।

अत सेवापर चित्त विघाप स्वीयता सुखम् ॥ ७ ॥

सेवाकृतिरिति । गुर्वाज्ञाया अबाधन यथा भवति, तथा सेवाकृति पूर्वगपेक्षिता । एव वतमानाना कदाचिद् विशेषतो भगवदाज्ञा चेत्, गुर्वाज्ञा विरुद्धा भवेत्, तदा तथा कार्यमित्याशयेनाहु बाधन वा हरीच्छया । विकल्पेनाबाधनमित्यर्थ । एव सति गुर्वा

श्रीविद्वलेशासनधीवल्लभकृतदिप्पणीसमेतम् ।

लक्षणान्तरमपीति । पूर्वश्लोके भगवत पुरुषोत्तमत्वमेतद्विषयकाङ्गीकारे लक्षण सन्देहाभावसाधकमुक्तम् । तत्र पुरुषोत्तमोपि नहि सर्वानङ्गीकृतवान्, किन्तु काश्चन तादृ कृपसादविषयान्, तत्राह कीदृश इति स्फुटं ज्ञातु न शक्यत इत्यधुना लोकवेदस्वास्थ्य दूरीकर्तृत्वरूप लक्षणान्तरमप्युच्यते इत्यर्थ । स्वास्थ्यपदसार्थमाहु आस्थिताविति । आस्थिति कायवाचनसा तदीयत्वमिति लक्षणमेकादशस्कृपसुयोपि यामुक्तम् । तथा च मूले स्वास्थ्यमित्यत्र स्वपदेन लोकवेदौ तन्निष्ठता न करिष्यति, सिद्धा च दूरीकरि ष्यति, विघ्नसम्पादनेनेति शेष । तथा चैव विघ्नेनाङ्गीकारो निश्चय इति भाव । आस्थितौ विघ्नरुचनेन इद मम कार्यसाधकमिति ज्ञात्वा तद्विश्वासेन वाणिज्यादिकमाश्र मधर्मादिक च न कर्तव्यम्, किन्त्वेतद्वारा भगवान् करिष्यतीति ज्ञात्वा तदुभय कर्तव्य मिति भाव । स्वयमेव समर्थत्वात् स्वकीयाना साधननिष्ठता निवारयतीत्याहु तद्वि नापीति । ननु तथापि सिद्धस्य साधनस्य विघाते को हेतुरित्याशङ्क्य तृतीयपरणस्य तात्पर्यान्तरमप्याहु पुष्टिमार्गाङ्गीकारे इति । किं कार्यमिति अनास्थाया कृतो यत्र कथ फल जनयेदित्यर्थ । साक्षिवदिति । यथा साक्षी कर्तुर्हानिपृच्छोर्हर्षशोकरहित सन् कर्तृसम्पादित फल पश्यति, तथा हर्षशोकरहिता सन्त साधनानास्थया भगवत्सम्पा दित फल विघ्ने वा पश्यतेत्यर्थ । तथा च भगवानेव तस्य यत्नस्य फलजनकता सम्पाद विष्यतीति भाव ॥ ६ ॥

विकल्पेनेति । साक्षात्सेवाया सिद्धाया साधनरूपसेवापापघातानिमिति च्यव

ज्ञाया अवाधने वाधने वा सेवैव मुख्या यतोऽतस्तस्यैव श्रेयमित्याहुः अत इति । एवं सति पर्यवसितं सुखमेवेत्याशयेन सुखमित्युक्तम् ॥ ७ ॥

कदाचित् पुत्रादिवियोगशङ्काजनितदुःखेन चिन्तासम्भवे गतिपाहुः चित्तोद्वेगमिति ।

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।

तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥ ८ ॥

नन्विदमखिलमशक्यमिव भाति । तथाहि । श्रवणमारम्य सख्यपर्यन्तागतौ हि पश्चात्निवेदनवार्ता । तत्र प्रत्येकं तदेव दुरापमिति दूरतरा निवेदनदियपि । अतस्तत्कृत-चिन्तान्यवियोगचिन्तादिसमाहितिर्निरर्थेति विचार्य साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधान-माहुः तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।

बद्धिरेवं सततं श्रेयमित्येव मे मतिः ॥ ९ ॥

श्रीविद्दलेत्तारमजधीयस्तुभक्तदिग्गजोसमेतम् ।

स्थितधिकल्पेनेत्यर्थः । तथैव श्रेयमिति । आक्षर्यककार्यार्थं कदाचित् कार्यस्य तत्परत्वेपि चित्तं सेवापरमेव विधातव्यम्, नतु तत्कार्यपरमिति यन्नातुचिन्तनं न कर्तव्यमिति अन्यासम्भे उक्तोर्थे उपसंहृतः ॥ ७ ॥

कदाचिदिति । कदाचित् पुत्रादिर्विद्युक्तो भवेदिति सम्भावनाया जनितां यदुःखं चित्तस्य पुत्रादिपरता इति यावत्, तेन हेतुना निवेदनविषयिणी चिन्ता सम्भवति । तथा च लोकवन्ममापि चित्तं पुत्रादिपरं जायत एवातो निवेदनं सम्बन्धं भवेति चिन्ता-सम्भवे गतिं तद्भावप्रकारमाहुरित्यर्थः । चित्तैस्त्वोद्वेगं भगवद्वीयत्वाननुत्तन्धानेन पुत्रादि-परतां विधायापि यद्यत् करिष्यति सा सा तथा तत्तत्प्रकारिकैव तस्य लीला निवे-दिनां सर्वं कार्यं स्वयमेव करोतीति भावः इति मत्वा निवेदनविषयिणीं चिन्तां त्यजेदिति मूलार्थः । एतच्चिन्तास्थापने 'एतच्छास्त्रा विनश्यती'तिवाक्यात् सर्वमेव नश्यतीति द्रुतमित्युक्तम् । निवेदनं सम्पन्नमेव, परं विलम्बेन भगवतः स्वप्रापणं चिकीर्षि-तमिति श्रेयमित्यर्थः ॥ ८ ॥

सत्कृतेति । निवेदनकृता यत्तत्करणाकरणविषयिणी चिन्तेत्यर्थः । साधनफले इति । साधनं श्रवणाध्यासकम्, फलमात्मनिवेदनम्, शरणागतत्वेकदैवैते सम्पद्येते इत्यर्थः ।

१ भगवद्भक्त्यात् भगवत्प्रणयनं तदनुगमनं च साधनम् । फलं भगवद्भक्तिः । ततो भगवद्भक्त-
द्वारा भगवत्प्रणयनं भगवता निवेदनस्याक्षीनारायणकृपु कृपानियमाभावात्निवेदनसिद्धेस्तत्र चिन्तासाधनाना-
भुक्तत्वादिभि भाव । २ उद्वेगं मेवमेति षट् ।

यस्मादुक्तगीत्या स्वतः सर्वमशक्यमनः सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुत्वे सम्पाद-
 विष्यतीति हृदयम् । भक्तिमार्गीयान् सर्वानंशान् विचार्य तत्र प्रतिदग्धं स्वार्थं च म-
 चेन् पश्यति, तदा सर्वात्मना तथा भवति । नित्यमिति नैरन्तरमुच्यते । अन्वया कावे-
 नायुत्तमप्रवेशः स्यात् । अन्तःकरणे तथाभावेऽनयाभावे वा तथा वदनमावश्यकमिति
 ज्ञापयितुं मत्तमेवं पदङ्घ्रित्युक्तम् । एव मति लोकादिशास्त्रानुपदिशती विष्यति ।
 एवमुक्तपरायेण सेवासत्तदा श्रेयस्वित्यर्थो वा । नन्विदमपि न शक्यमभिव्याजय-
 'यमेवैव वृणुते' इति श्रुतेर्मे मतिरित्येव, एवमपि विवेच्यते ।

भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य दार्ढ्यार्थमिदमुच्यते ।

अन्धस्य एष ह्य तद्विभृगस्यात्र नार्थिता ॥ १ ॥

भक्तिमार्गशुभागिन्योर्विचारमयनः मयम् ।

स्फुटीकृतानि रत्नानि भीमदाप्तार्थपण्डितैः ॥ २ ॥

मयोऽवर्टीकृतानानीयं हृदि धृत्वा प्रजापिपम् ।

भजन्तु भक्ता येनात्मा न विमुञ्चति बर्हिषिन् ॥ ३ ॥

इति श्रीश्रीविठ्ठलेश्वरविरचितनारासमेतम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

नवरत्नम् ।

श्रीसुरलीधरकृतविवृतिसमेतम् ।

नवरत्नसुवर्णनिर्मिता परमानन्दरसस्य बोधिका ।
हृदये वसतात् सदोर्वशी परभोजग्रहरश्मिरूपिणी ॥ १ ॥
रसमयसुवर्णधारारवर्षणशीला दशविधप्रगुणाः ।
श्रीसुरलीधरलीला सुरलीधरमानसे सन्तु ॥ २ ॥
वसु सुवर्णमयं परितः परं रसमयं च विधाय सुमण्डलम् ।
विविधनर्तनदर्शनवत्परा रसनिधिर्भवि सैव विराजताम् ॥ ३ ॥
ललिते हृन्दाविपिने वैकुण्ठादप्यतीव रमणीये ।
क्रीडसि नवरसखचिरे श्रीस्वामिन् मम हृदम्बुजे क्रीड ॥ ४ ॥
श्रीशुकदेवरहस्यं प्रकाशितं यैरतीव रमणीयम् ।
श्रीवल्लभाभिधानैर्नवधा तेभ्यो नमोस्तु मे सततम् ॥ ५ ॥
श्रीमद्विठ्ठलप्रभुषु श्रीनवरत्नप्रकाशनियुगेषु ।
सप्तविभक्तिरहस्यप्रकाशकेष्वस्तु मे प्रणतिः ॥ ६ ॥

अन्तःखलधर्मप्रधानकलिट्ठपिनसमयतीर्थकर्तृगेषद्रव्यश्रद्धादीनामसाधकत्वाद्बुद्धिष्णु-
दुरवगाहभाषण्डादिनियुगजनतासङ्गसञ्जाताज्ञानान्धकारसंभृतहृदयदरीनिविष्टविषयविपरस-
संभृतानन्तसंसारसागरे निमग्नतया चेतसः स्थिरत्वाभावाद्बिभ्रुकरीला श्रवणादिसाध-
नाभावान्नवमी रत्नैश्चिन्ताभानपूर्वकं तदीयत्वानुसन्धानपूर्वकं च निरन्तरमष्टाक्षरवदनकृति-
साधनरूपसाध्यफलायतिसुगणं च श्रीकृष्णस्य श्रीमद्भद्रनरूपाः श्रीवल्लभाचार्या दैविजी-
वानुदिधीर्षन्तः प्रथमं मध्यमादकल्पेनालीक्रिक्श्रेष्ठभानोविशेषरूपया निगूढदिमात्रया आर्य-
योपदिशन्ति चिन्ता कापि न कार्येस्तादिना ।

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापि ।

भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥ १ ॥

वसन्तादिपूर्णरसमयपदैश्वर्यादिमूर्तिमद्भिः सेवितस्य गोरसदानादानप्रवीणस्य
द्वादशसुवर्णरत्नाशिकल्पतरुकरुण्णरूढस्य श्रुतिगीतद्वादशभाससंवेत्परादिरसमयसमयप्रा-
दुर्भावकस्य गायकपरित्राणनियुक्त्यतिपदमात्राविद्योतितसकलसुषमास्पदकीर्तिप्राकटा-
कारकस्य सप्ताक्षरव्यधितोत्तमवासरस्य त्रिभुवनललितमाधुर्यादिसुगन्धलतामधुपागप्रवीण-

षट्पदस्य स्वीयजनानामाधिदैविकसकलज्योतिषानानुकूल्येन चिन्तानिवर्तकस्य द्वितीयचरणमात्राविधौतत्त्वयोदशमाससप्तसरस्य लौकिकसकलशुभकर्मानर्हसाध्यस्य भगवद्भक्तावाधिक्यघोतकस्य तथाधिकमात्रायाश्चयोदशीत्वेनान्नस्यपि साङ्गतासिबोधकस्य उत्तरदलाद्वैलक्षण्यघोतनायाधिकैकमात्रस्य वा । सा मात्रा तु गायकपरित्राणसमर्थाया, प्रथमचरणे गूढा न्यासे द्वितीयचरणे च प्रकटीकृता । अत्र च याकारे आकृतिरूप निगूढवासुदेवपदमुत्तरान्वयि गूढभासमन्तात् सर्वप्रकारेण निवेदित आत्मा यैरित्यर्थात् । अत एव पदपदत्वमुक्तम् । तस्य चरणान्तत्वेन गुप्तवामनत्वे सत्येकादेशेति प्रथमचरणेन साम्यम् । अनेन मलिम्लुचातिरिक्तैकादशमासाना सङ्ग्रहोपि घोतित । द्वितीयचरण तु त्रयोदशमान सममेव, त्रिपदायास्तृतीयान्वयस्य व्यञ्जनस्य न्यासेऽगणनायाकारस्य वैकल्पिकत्वान्तत्वे द्वादशमात्रा । अकारोप्यत्राकारात्पूर्वं प्रच्छिद्ये येच सकलवापूप । अस्या गायत्र्याश्च तुरीयस्य तुरीयनिगमवेदैकत्वाभावात् निचरणे साम्यम् । अस्याश्लिचरणावाध्यालौकिकश्रेष्ठमानुप्रकाशत्वम् । एकस्मिन्नक्षरे मध्यस्था दिव्यव्यक्तिरव्यक्ता पूर्वोत्तरान्वयिनी । पूर्वांश्वयित्वे यशोदोत्सहलालिता व्यक्तिरुत्तरान्वयित्वे कीर्त्यङ्गलालिता व्यक्तिर्व्यङ्गिता वेद्या । अद्वो ह्यनन्दात्मा विद्यारूपो भगवत्पाकल्यस्वानम् । व्यक्तियेप्यङ्गस्य समत्वात् । सकलवापूयाश्च एकस्मिन्नेकाह । द्वितीयाया व्यक्तौ द्वितीयत्वेपि तज्जातित्वेनाह्वयत्वादेकाह । एव चैकाहस्य द्वित्वे द्वेकादशी कृष्णवह्न्या प्रकटा भवति । तथा च दलद्वयस्याद्यन्तरहितत्वेन वर्तमानता उत्तरोत्तर वर्तमानस्यैव रसावहत्वात् । योगशलेन भूतभविष्यत्सदार्थयोर्वर्तमानत्वेपि सर्वेषा तयात्वाभावात् । अत एव यथोत्तर मुनीना प्रामाण्यमिवैचोश्चोत्तरभूयस्तन्निवान्तिमवर्णेऽर्ष्यपर्यवसानमनुभवसिद्ध रसावहम् । अतो वाज्यपदीये 'पदेन वर्णा विघन्त' इत्यादि । किञ्च, दीर्घे मात्राद्वयम्, इवने त्रयमिति हरि पञ्चधा इह द्वितीयचरणे मात्रात्रय गुप्तम्, तद् द्वितीयव्यक्त्या व्यक्तीकृत कदापीतिपदेनेति । न हि कदापीतिपदमेकम्, किन्तु पदनयम् । एवञ्च कदाप्येतस्मात् पदद्वयात् यदितिपदमाचार्यं शेषत्वेन पूर्वोक्तसकलप्रकारबोधक ह्येषेव स्थापितम् । गायत्रीमात्रार्थसाम्याय तत्स्वात्मद्वितीयव्यक्त्या व्यक्तीकृत वेद्यमिति भाव । द्वितीयचरणान्त इति पदे सति पञ्चदशमात्राभित्तिथय इति कृष्णजन्मपक्ष । पदैर्भूतभविष्यद्वर्तमाना एतत्सकलरहस्यार्थबोधकस्य 'क्षय कार्तिकादिनये नान्यत स्यात् तदा वर्षमध्येऽधिमासद्वय चे'ति सवत्सरस्यास्य मासाश्चयोदशेति सोपि सगृहीत । इति पदप्राकृत्ये गूढा योऽद्यकला द्वादशकले प्रविशन्ति । तृतीये मात्रामि सूर्यस्य कलागामक्षरैर्मासाना पदे प्रातरादीना त्रयाणा घोतकस्य तुर्ये मात्रामि शुक्लपक्षघोतकस्य रद्रसहस्राक्षरैर्मलिम्लुचातिरिक्तगायाना च पदैर्हरे पञ्चात्मकत्व स्पष्टयत, प्रात सहस्रमध्याह्नपराह्णसायाह्नला च घोतकस्य,

दिनमणेरुत्तरपदमात्रस्य भावप्रयोगात् (?) स्वाधिके कनि सत्याद्युदात्तस्य माणिक्यस्य
 रसेन परिपूर्णस्य सम्बन्धानन्दात्मकरत्नस्य प्रतिपादकतया आर्याविशेषरूपाया मध्यनायक-
 रत्नयोधिकाया अपि तद्रूपता वेद्या । वेद्यवेदकयोः संशुक्तवत्वात् । एवमग्निमेष्वपि वेद्यम् ।
 श्रीकृष्णस्य हरेः पञ्चविधत्वं श्रीप्रभुचरणैर्निबन्धे उक्तम् 'अग्निहोत्रं तथा दर्शः पूर्णमासः
 पशुस्तथा । चातुर्मास्यानि सोमश्च क्रमात् पञ्चविधो हरिः । तत्साधनं च स हरिः प्रयाजादि
 सुगादि यत् । प्राकृत रूपमेतद्धि नित्यं काम्यं तु वैकृत' मिति वेदार्थस्य पञ्चधात्म-
 कतां सूचयितुं हरिनामाक्षराणि चत्वारि भक्तजनदुःखहरणदक्षाणि समूहरूपेण पृथग्वर्णा-
 भावरूपं च पञ्चममिति पञ्चधा हरिः । तथा कृष्णनाम्नि वर्णाः पञ्च । पञ्चवर्णोऽमिति ।
 स चर्वेदादिरिति पञ्च, अस्मासनत्वं पशुनामगम्यत्वाय सूचितम् । भगवतः भक्तानां तु
 विद्यात्मकमुखारविन्दपङ्क्तिं प्राप्य कृतार्थता भवति । रमन्ते भक्तानां मनांसि यत्र तद्रत्नम् ।
 प्रत्येकं रत्नेषु नवत्वेपि क्रमो विवक्षितः । श्रेष्ठभानोः समयपरिच्छेदकज्योतिषां प्राधान्यात्
 तद्रत्नस्य मध्यनायकत्वम् । आर्याविशेषरूपछन्दसा द्योत्यद्योतकयोः श्रेष्ठत्वसूचनात् ।

अर्थस्येयमतिश्रेष्ठा श्रेष्ठभानो रसात्मिका ।

विशेषरत्नतापन्ना चसुररत्नप्रकाशिका ॥ १ ॥

मध्यस्था प्रथमं प्रोक्ता श्रीमद्भद्रमदीक्षितैः ।

सोर्वशी राज्ञतां नित्या मुरलीधरमानसे ॥ २ ॥

अष्टरत्नप्रधाननवमस्वोर्ध्वशील्यं प्रधानतयोक्तं माणिक्यस्य ।

रसमध्यसुवर्णनायिका चरमाणिक्यतया निरूपिता ।

हृदये मुरलीधरस्य सा लसताम्नित्यमनन्तवैभवा ॥ ३ ॥

त्रिचरणसमगायत्री तुरीयचरणेन संयुता तस्वम् ।

वेदानां प्रसवित्री मुरलीधरमानसे प्रकाशयताम् ॥ ४ ॥ १ ॥

दिनमणेर्दिनप्रधानस्य रत्नमिधाय क्षणदाप्रधानस्य कृष्णसाराङ्गस्य स्वात्ममृतचि-
 न्द्रद्रव्यं मुक्ताफलामिधं द्वितीयं रत्नमाहुः निवेदनं च स्मर्तव्यमित्यादिना ।

निवेदनं च स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ।

सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥ २ ॥

स्मरणं चन्द्रेच्छे च मानसे । एवं च 'अहं तवास्मि' इति निरन्तरं स्मर्तव्यम् ।
 तत्र भगवत्प्राप्तौ मुरयं निमित्तम् । तेनाविकृतपोडशदल आधिदैविको भगवन्मनश्चन्द्र
 आधिभौतिकेऽविकृते सत् विद्यात्मतां याते अक्षरात्मनि व्यापके पञ्चदशकलत्वं प्राप्ते सेव-
 कमनश्चन्द्रे निविशते, तदा पोडशकलो भवति । अत एव पोडशसङ्घाचाकाक्षरणाङ्गाः । अत

एव रसिकशिरोमणिमि श्रीहरिराये 'यद्ब्रह्मनाचेतोपि च पौडशकलमञ्जसा भवति' इत्युक्तम् । इहापिशब्दाचित्तनुद्ब्रह्महङ्काराणा तत्सङ्घातकाना चतुषष्टधरात्मिका कला सम्पद्यन्ते । सर्पथा तादृशै कायवाञ्छनोभिरनन्यतया ये भवन्त प्रपन्ना तादृशैरिति सहाथं तृतीया । यद्यपि स्मरणे सन्नपेक्षा नास्ति, तथापि तादृग्भिन्नै सह सङ्गनिवृत्त्यर्थं तद्योक्ति । सर्वसेवकानामीश्वरत्वेन निरोधकत्वात् तेष्वेव दैवेषु आत्मत्वमात्मीयत्व च मनुते । अतो 'निजस्य नैजाना चाविकृतेच्छात' इत्युक्त प्रकाशे । भगवद्विच्छा परीक्षाद्यर्था तात्त्विकी नेत्यविकृतोक्ता । स्वतन्त्रप्रवाहमर्यादयो रत्ने शोकोत्पादकत्वात् शोकाश्रयत्वात् वा शुक्तित्वम् । क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकेनिवेशम्योक्तत्वात् शोकननकत्वम् । करिष्यतीति सामान्योक्त्या केषुचिदविलम्ब, केषुचिन्मध्यत्रिलम्ब, केषुचिदतित्रिलम्ब इति द्योत्यते । वर्तमानसामीप्ये मविष्यत्प्रयोगात् प्रथम पक्ष, इतरौ तु सामान्यप्रयोगाद्वेधौ ।

उपरितनमर्यादा शुक्तिरधस्तात् प्रवाहरूपा च ।

उभयो' सम्पुटगर्भे स्वातिरसालं विरत्नरत्नेव ॥ १ ॥

उपरि महामर्यादाधस्तनशुक्त्या तु सम्पुट याता ।

पुष्टिर्मुक्ता मध्येऽससृष्टा निर्गता ततः शुद्धा ॥ २ ॥

पुनरनयोर्न प्रविशति भगवद्भूपासु ससक्ता ।

इत्थं मुक्तारत्न द्वितीयमथ द्वय वेद्यम् ॥ ३ ॥

प्रवाहवेदमर्यादाशुक्तिसम्पुटनिर्गताः ।

कलानिधे रत्नरूपा मुक्ताः स्वातिरसात्मिकाः ॥ ४ ॥

भवन्तु भावे सरसे तासा मम रसात्मनः ।

सदा येन भवेद्भावो भूषणे भूषणे विभो ॥ ५ ॥

प्रयास्तपुष्पवद्रत्ने सर्वरूपरसान्विते ।

श्रीकृष्णहृदये भाते भासेता हृदये मम ॥ ६ ॥ २ ॥

रसवर्षणभावद्वादशात्मककृष्णसाराङ्गाह्लादकरसरश्म्युदयमात्रेण प्रफुल्लता प्राप्तवतो, अत एव प्रशस्तयोरत्युत्कृष्टमार्णवस्वरत्नरूपयो कमलयो पुष्पयो सदा विद्यमानसाययोगोविप्रप्रतिपालकवशप्रवर्तकशोरत्नीकिकयो रसकलभुवनाप्यायकत्वेन पुष्टिप्रदयो सूर्याचन्द्रमसो सदानन्दरूपे रत्ने अभिधाद तृतीया सेवकव्यक्ति विना सेव्यलीलातुदयात् पूर्वोत्तरान्वयिनी सदानन्दमध्यस्था चिदानन्दाक्षरदैवजीवसम्बन्धिदेहरूपविटुमारया मध्यपुरुषबोध्यामदिगन्ता रत्नव्यक्तिमाहु सर्वेषामिति ।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।

अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत् ॥ ३ ॥

वसुभराप्रधानानां प्राकृतानां स्वस्वीयदेहानां परब्रह्मसम्बन्धादलौकिकतां यातानाम-
क्षरस्वरूपत्वेन चिद्रूपसात्विकानां विशेषेण महलद्रुमरूपता भवति । सा तु श्रीकृष्णामर-
णत्वेन । किञ्च, द्रवतेर्यत्यर्थकत्वेनान्यत्र विनियोगसम्भव उक्तः । न हि स पस्तुतो भवति ।
यतोऽलौकिकहस्तिकेन प्रशुचरणारविन्देन स्वसेवकमनोनत्तामातङ्गस्य स्वस्मिन्नेव
स्थापनाय नित्याङ्कुशधारणं कृतम् । अत उक्तं ललिते 'एतत्पदपङ्कजमधुमत्तस्यार्थं निसर्ग
एवाम् । नेतरभावं भजते यदङ्कुशो नित्यमेवास्ती'ति । प्रभोरिच्छायाः सर्वकार्यकरण-
समर्थाया यः सम्बन्धः स परब्रह्मणः समत्वात् सर्वत्र समः । ईदृग्देहानां महलमन्दिरवे-
दत्रयात्मकाक्षराधारत्वेन महलरत्नत्वम् । स्वयं विराजमानत्वात् ।

भौमानां विद्रुमत्वं भवति निजपरस्वीयदेहादिकानाम्
कृष्णेऽद्वा स्वर्पितानां रसमयपरमालौकिकानां स्वभक्तैः ।
स्वीयाचार्यस्य मार्गे परमगुणगणालङ्कता भूषणार्हाः
सेवायुक्ता यत्तले रसमयवपुषो जङ्गमाः कल्पवृष्टयः ॥ १ ॥

मच्चित्ते वा भवन्तु प्रणयरसभरा उर्वशी रत्नमध्यात्
बाह्यायां बीधिकायां हृदयपरितरे रत्नरूपाः सुवर्णै ।
इत्थं रत्नं तृतीयं नवसु निगदितं पूर्णकामायमानम्
तस्मै दिव्याय भे स्नात्रम इह परमानन्दलाभाय नित्यम् ॥ २ ॥ ३ ॥

ननु मध्यहीनाधिकारिभिः स्वयं ज्ञात्वा स्वदेहस्वर्पितत्वेपि पुत्रादीनां ज्ञाना-
भावात् तदेहानामज्ञानावृत्तचित्तत्वेन लौकिकत्वादन्वविनियोग एव भवतीति भवति-
चिन्तेति बुधस्य सेवकजनशिक्षकस्य गहापुरुषस्य निवेदकस्य प्रभावादज्ञानकृतनिवेदि-
तदेहानामपि चिन्ता न कार्येति गरकताधिषं तुरीयं रत्नगद्गुः अज्ञानादिति ।

अज्ञानादधया ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।

यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ॥ ४ ॥

अज्ञानस्य व्युत्थितरक्षण एव सम्बन्धात् प्रथममुपादानम् । तत्रावरकत्वात्
सङ्कर्षणनिचोऽनिभम्, यतः ज्ञानात् प्रकाशकत्वेन मास्तरप्रायात् सञ्छाद्रेतुधृतात्
कृतं देहादीनां परमात्मने समर्पणम्, श्रीकृष्णाधीनकरणं प्राणानामविकृतमव्ययत्वाद्देयम् ।
अतस्त्वस्यै हितः प्रत्ययः सातिथ्य वेद्यः । बुधेऽज्ञानाद् ज्ञानाद्वापि तं स एवृत्ति, बुधत्वेन वैप-
म्याभावात् । तदीयत्वेन रत्नमपि तादृशम् । त्रियतेऽनेनेत्यदन्ताममतात्मको विविषदुःखदो
मनोदेहेन्द्रियविकृतिजनकः संसारो मरः, तस्य कृतो नैर्धत्यजनकः । यतः कं निरतिश-
यानन्दः, तं तापति तनोति वा उपलभयान्तः । मनोदेहेन्द्रियादीन् समावतो मणिनाम्

कतकापरपर्यायनिर्मलीकृतघनरसं शोधयति, तथेदमपि । अतः प्रमाणरूपरामेण ताद-
 स्वर्णवसनं घृतम् । अञ्जं सुञ्जं वा पण्डितत्वादनुगृह्णाति ।

सरस्वतीरूपनिचोलरामस्नाह्ने य आनन्दमये रसायाम् ।
 श्रीबालकृष्णो रमते यथेच्छं तं पूर्णकामं प्रणमामि देवम् ॥ १ ॥

सुधो विद्यारूपः प्रकटपरमानन्दजनको
 निचोलं यन्नीलं सकलरसज्ञहारविभवम् ।
 घृतं येन स्वच्छं मरकतमणिप्रख्यमतुलम्
 स मे चित्ते भूयादखिलतिमिराह्वानदलनः ॥ २ ॥

निवृद्धे मल्लीनं सरसरमणीनां हृदि तटे
 प्रसिद्धं श्रुन्दाया विपिनध्रुवनेत्र प्रतिदिनम् ।
 प्रमेयं विख्यातं दशरमरसात्कृतवधुः
 महातेजःपुङ्गवं मनसि मम भूयाद्गुमितम् ॥ ३ ॥

मरकतमिह रत्नं यद्गुह्यसोक्तमेत-
 त्प्रभवतु मम चित्ते शोधनाय प्रकामम् ।
 गुरुचरणसमर्प्या स्वापया पुण्यकरीं
 सकलदुरितहारीं सर्वकामप्रदात्रीं ॥ ४ ॥

इति सुपस्त मरकतारस्यं धनुष्यं रत्नम् ॥ ४ ॥

स्वतन्त्रः कर्ता सकलरममयः श्रीनिरेननः पूर्णपुरपोलमोऽर्पितमहीकृतवान्, न वेदि
 संशयमुरिधीर्षवो मुकुन्दमुखावबिन्दनेत्रोनिपिरूपा. श्रीवास्तव आचार्याः सर्वदा

यनामनामित्वेन तदीयत्वात् । एवं ब्रह्मानन्दादुद्धरणं पदार्थमात्रस्य वेद्यम् । भङ्गानन्दे शोभनं तु पूरणात् पुरुषधर्मः ।

पूरणात् पुरुषतामनवद्यामुत्तमां समधिगम्य रमेशः ।

सोपमत्र नहि मुञ्चति भक्तान् क्रीडति प्रतिदिनं हृदयेषु ॥ १ ॥

पुन्यति प्रतिदिनं हृदये वै येन राग इह भक्तजनात्तम् ।

तद्गुरो रसमयं पररत्नं पुष्पराग इति मे मनसि स्यात् ॥ २ ॥

सस्य स्वीयजनस्य वा परवशत्वादन्वयोगो भवेत्

दैवादत्र सदा तदा निजजनैश्चिन्ता न कार्या यतः ।

सामर्थ्यं पुरुषोत्तमस्य सततं श्रीमर्तुरभ्याहृतम्

जानीयादिति पुष्परागरचना मे मानसे भासताम् ॥ ३ ॥

इति पुष्परागाल्यं पञ्चमं गुरुदेवस्य रत्नम् ॥ ५ ॥

अहं मनेत्यसद्वाहेण लोचति यस्मिन्निति लोकाः, पुनः पुनरावर्तनदः प्रवाहमार्गः ।

अत्र लोचनं नामाहन्ताममतयोरेव विशेषज्ञानम् । तत्र व्यवहारे क्रियमाणे सेवकस्य स्मयनाशनाय फलं न भवति, किन्तु लोके व्यवहारेण फलाभावात् खेदे सति हरिः करिष्यति, तदेव भविष्यतीति निश्चये जाते भगवान् पुष्टिमार्गं एव तिष्ठतीत्यनायासेन सकलमनोरथाः सेत्सन्तीति तदर्थतया सेवकैः स्पेयमित्युपदिशन्ति, मर्यादामार्गेषु स्वपनाशनायोपदिशन्ति लोके स्वास्थ्यमित्यादिना ।

लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।

पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः ॥ ६ ॥

भक्तानां स्मयनाशनेन सकलं दुःखं हरतीति हरियतोऽयं तृतीयमार्गस्यः । मर्यादा-मार्गे देशादीनां कृष्णाश्रयोक्तरीत्या साम्प्रतमसाधकत्वात्, तत्र प्रत्युत प्रत्यहमेव करोति परीक्षायै, स्वतन्त्रेच्छत्वाच्च, पुष्टिमार्गस्थितत्वेन सुखमेवान्ततः प्रयच्छतीति पुरुषार्थदयं सम्पद्यते । अन्यथा विततानेकविष्णुक्तसाधने क्लेशेषु फलाभावे सुतरां क्लेशः । तस्मात् स्वयं कविनाम्ना रसाधायकरीत्या अलौकिकं न केनाप्यपनोद्यं फलं प्रयच्छतीति भावः । अत एव कवेर्वज्ररत्नेन व्रजति पर्वततुल्यं किल्विषं गच्छत्यनेनेत्यन्वयेन सर्वं सेत्सतीति साक्षितया सेवकैस्तत्कृतिं पश्यद्भिरैव स्पेयम् ।

यापिब्यादौ च वेदे विविधविधिकृती विभ्रमेवेति वेद्यम्

यस्मात्तस्मात् फलं वै न भवति नितरां कर्तुरस्य कृपायाः ।

अन्तःस्वभूयोभिमानो न भवति सुतरां मानसं वक्रतुल्यम्

नीरीभूतं यथा स्यात् फलमपि भवति श्रीयनिष्ठं यत्तत् ॥ १ ॥

पर्वतसदृश किल्बिषमिह जात भक्तवर्गस्य ।

त्रजति त्वरित वज्रादित्यन्वर्थं कवे रत्नम् ॥ २ ॥

साक्षीवत्कृतिमादराद्भगवतो यूय सदा पश्यते

त्येव सिध्यति सर्वमीप्सिततम कार्थे फलं कर्तृतः ।

पुष्टिं श्रीपुरुषोत्तमादुपदिशन्त्यद्वा तदास्यात्मका

आचार्या इह वैष्णवान् स्वकुलतोप्यन्याननन्याश्रितान् ॥ ३ ॥

मर्यादात्सजन विरुद्धमिह यत्तत्र पर ये विदुः

पुष्टेः किन्तु दरिभरित्वमिति तत्र स्वीकृत्य पुष्टिं गताः ।

दुष्टास्ते दयया सदा विरहिता वेदाक्षरान् वाचय-

त्यद्वाज्ञानगुरुमोक्षर ह्युपदिशन्तीशस्य चाज्ञाद्बुहः ॥ ४ ॥

इति कवे शुक्लस्य रत्न षष्ठम् ॥ ६ ॥

कविर्ज्योतीरूपो देवः सुरासुरभावज्ञ आसुरभाव निन्दयन् दैवभाव स्तुवन् स्वर-
त्नेन । एव च प्रह्लादादिष्वासुरत्वेपि तद्धर्माभावादनुमह, अन्येषु निग्रहोपि सूचितोऽ-
नेनेति । दैवै किं कृत्वा स्थेयमित्यादिसन्देहान् सारिरत्नेन निवर्तयन्ति सेवार्कृतिरित्यादिना ।

सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा याधर्मं वा हरीच्छया ।

अतः सेवापर चित्त विधाय स्थीयता सुखम् ॥ ७ ॥

गृणाति परमात्मनस्तत्त्वमिति गुरु, 'गुरु न मर्त्यं मन्येते ति वाक्यात् तदुपदिष्टमार्गेण
रसमयी सेवा विधेया । तत कदाचिद्भगवदनुग्रहवशात् सेवकस्य विशेषेच्छया भावरूपा
भगवदिच्छा विशेषाकृतिरूपेण तमनस प्राकल्पमाप्नोति, साद्धा भगवदिच्छेत्यनुमित्या
मन्तव्या सेवकै । एव हि गुर्वज्ञायाधनमवाधन वा हरीच्छया भवतीति भाव । इन्द्रनीलम
त्वमितिमन्थरगते सर्ववर्णरनपनोषवर्णे तमसाप्यनुपनोष च सर्ववर्णस्वात् । इन्द्र परमाला
परमैश्वर्यवान् सकलरसाया जीवतरसवर्षणशील, अत एवाद्युदात्तस्तद्भक्तिनिधिदृश्याम-
सुन्दरमूर्तिं, तस्येदम् । अनेन श्यामसुन्दरसेवाया मन प्रभृतीना वृत्तयोऽन्यावृत्ततया
मन्थरगतयो रसमयशिरविपुलतारूपा भवन्त्यत उक्त सेवापर चित्त विधाय
स्थीयता सुखमिति । निर्गडरसकुण्ठसेवाया मन्थरा गतिर्भनतीति सेवामकत्या सकल
सिध्यतीति व्यनितम् ।

गुरणा परमेश्वरेण या कथिता सर्वरसप्रदायिनी ।

परमा उनुसेवना तथा वसुना स्वस्य च सा परा मता ॥ १ ॥

यदि सा त्रयशिका उतो भवेन्मनगस्तस्य परात्मन प्रभो ।

परमेश्वरतयावगम्यता निनभर्त्तरवरध्य चेन्द्रियम् ॥ २ ॥

स्थिरतामुपगम्य सेवयावसरेऽन्यत्र कथारसैस्तथा ।
रविन्दनरत्ननीलतां रमणीयां हृदये विचिन्तयेत् ॥ ३ ॥
इन्द्रनीलमणिवद्विराजिता सर्ववर्णसमवायदेवता ।
मन्दमन्दगतिमद्रसान्विता मे मनस्यविरतं विराजताम् ॥ ४ ॥

यद्यप्यनेन भगवत्सेवायां देहेन्द्रियाणां स्थिरतोपदिष्टा, तथापि 'यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः । इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः । इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते । तदस्य हरति प्रज्ञां वासुर्नाविभ्राम्मसी' त्यादिवाक्यैर्वायोरिव मनसो दुर्ग्रहत्वेनानेकदुःखोत्पत्त्या चित्तोद्विग्नतायां सेवाया असम्भवात् तत्रिवृत्त्यर्थं गोमेदाख्यं विधुंतुदस्याष्टमं रत्नमाहुः चित्तोद्वेगमित्यादिना ।

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।

तथैव तस्य लीलेति मत्या चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥ ८ ॥

सांसारिकानन्तदुःखजन्योद्वेगस्य चित्तधर्मतयाऽवश्यं प्रथमं भवनमित्यकृतोपि स कृतो भवतीति कत्वोक्तिः । तदुत्तरं सेवकस्य यत्कर्तव्यं तदाहुः हरिर्यद्यत्करिष्यतीत्यादिना । सेवकानां सकलदुःखहर्ता हरिर्यद्यदनेकविधं दशललितलकारप्रकृतियोधितफलाश्रयं करिष्यति, तथैव तस्य होलीलेति मनसि ज्ञात्वा चिन्तां शीघ्रं निश्चेत् । विधौ लिङ् । विधिः कर्तव्यार्थोपदेशः । करिष्यतीति वर्तमानसामीप्ये लृट् । अनेन वर्तमानकार्यं भविष्यत्कार्यं सकलं भगवलीलेति सेवकैर्मन्तव्यमिति भावः । अतीतसमये स्मृतिमात्र आनन्द उपलक्षणत्वेन वेद्यः । वर्तमानस्यानुभूयमानागणितानन्दत्वे रसापायकत्वम् । भविष्यति तु गाविनि कार्येऽत्युररुग्णितं मन इति रसापायकत्वमिति त्रिष्वपि समयेषु यत्कार्यम्, सा लीला । एवं च सदा चिन्तात्यागे गवामिन्द्रियाणां तेषामाधारसारूपमङ्गलदेहस्य बोधकगणीनां च क्षेत्रात्मकभेदो घृष्ट्या गोमेदो विधुंतुदरत्नप्रकाशकस्यास्य भवति । क्रिय, भगवत्सेवकमानसचन्द्रस्य भगवद्विषयोजरसं रूपस्फूर्त्या तत्तलीलायाः स्मरणान् तन्मयत्वेन मत्समूयं लब्ध्वा परमद्वयमवत्प्राप्तिरविलम्बेन भवतीति श्रुतिरहसा-र्थोऽनेन व्यञ्जितः ।

चिन्तात्याजनवस्त्वनेन विदुषां पाणीद्वीकादिकाः

पुष्टिं यान्ति निरन्तरं विधुमनःखेदं विधायाद्भुतम् ।

शीघ्रं प्राप्तिरतो यतो भगवतो लक्ष्मीपतेरजगा

गोमेदाभिधरत्नरूपत इदं मे मानसे मामताम् ॥ १ ॥

गोपालगोरक्षणधर्महेतोर्विद्वत्प्रमद्वीकृतमग्र विद्वन् ।

वगुन्धरां गां परिपालनाय कृतायनारत्वमुपेक्षते कथम् ॥ २ ॥

मद्वत्प्रवदेवासु निनेषु कथिद्विषयोजनीयः गुरुराननाय ।

नो येत् कथं मे विद्वदं निरं स्यात् कृपानिषेन्नन्व शरण्या विद्वन् ॥ ३ ॥

इति मुरलीधरबाण्या देहहृषीकाणि पुष्टिमुपयान्तु ।

मुरलीधरस्य सततं श्रीगोपालप्रसादेन ॥ ४ ॥

इत्यष्टमं गोमेदाख्यं रत्नम् ॥ ८ ॥

नन्विदानीन्तनानां सेवकानां श्वः श्वः पापिष्टदिवसत्वेन देशादीनां साधकत्वाभावात्
श्रवणादीनां सम्यक्तयाऽसम्भवात् पूर्वोक्तप्रकाराणां सुतरामसम्भवाच्च कथं फलप्राप्तिरित्याशङ्क
सा भवत्यनायासेनेति तत्प्रकारः त्रिसूत्रापरपर्यायेण नवमेन वैदूर्यरत्नेनाहुःतस्मादिति ।

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।

वदद्भिरेव सततं श्लेषमित्येव मे मतिः ॥ ९ ॥

यस्मात् पूर्वोक्तं कर्तुमशक्यम्, तस्माद्धेतोः सर्वात्मना वाचा व्यक्ततया मनसा
न्तरव्यक्ततया तदर्थानुसन्धानपूर्वकं सदा आसुरावेशाभावायाष्टाक्षरमुच्चारयद्भिरेव सेवकैः
श्लेषम् । यथा मनसोऽन्यत्र वृत्तिर्न भवति, तथा विधेयमिति मे मनीषाऽस्तीत्युपदेशः ।
अयं भावः । श्रीकृष्ण इति विशेषणम्, शरणमिति विशेष्यम्, व्यक्षरं सूत्रद्वयम् । ततः
समसम्बन्धबोधकं द्व्यक्षरमपि परोक्षास्तिना व्यक्षरीति नव । किञ्च । जीवात्मनः सम्बन्धबो-
धकं द्विधा, अव्ययमनव्ययं च । अव्ययात् विकाररहितात् पुष्टिमार्गीयसिद्धा पुष्टिमार्गी-
याणाम्, साध्येतरेषामिति भावः । भक्तबोधकादनव्ययाच्च प्रवाहमार्गीयभक्तबोधकादस्तीति
लीलाबोधकं पदमस्त्विति वा शेषत्वेन विज्ञैर्विज्ञेयम् । एवं च सलीलाप्रकाशकत्वेन सह
व्यक्षरी तृतीयेति नवाक्षरी परमावधिसिद्ध्या चेद्य । एता ब्रह्मसूत्राक्षररूपाः सङ्कर्षण-
प्रद्युम्नानिरुद्धैर्धृताः, सदैव शिखापद्मोपधीतधारणं प्रसवैवर्ते व्यक्तम् । ब्रह्मादिभिश्च सह
जातत्वेन तद्धारणमद्य उक्तत्वाद्दतः सदा धारणम् । 'सदा वदद्भिरेव चे'तिकारिकाव-
न्मातापि सदा धार्या । मलघातोर्धारणार्थकत्वात् । मल्यते सदा श्रियते सा माता ।

अनुपमसुवर्णरत्नैरद्भुतमात्मा वसुमितैर्विहिता ।

मध्यश्रीमाणिवया विराजतां मामके मनसि ॥ १ ॥

इत्थं नवाक्षरीयं परोक्षनित्यास्तिना चोक्ता ।

प्रत्येकं व्यक्तीनां स्वरूपमस्या विराजतां हृदये ॥ २ ॥ ९ ॥

तत्र प्रथमं जगन्मङ्गलमङ्गलमूर्तिर्भगवदुरसि स्थितेन श्रीवर्णेन सकलरत्नसुवर्ण-
रससम्भृता नित्यानन्ता द्वितीया प्रकृतिः संसिद्धार्थिका विराजेते । द्विसुवर्णाकृतिवर्णो
यत्र । अत एवादिर्विस्तरेण विस्ताराय श्रेष्ठभानुकीर्तिवेधपरम्परया प्रकाशकौ यत्र
द्वौ सदा विराजगानौ सिद्धसाधौ यथा रामित्युक्तं श्रुत्यानुनासिकी तौ तु व्यवहार्या-
व्यवहार्यौ । तत्र पूर्वो गत्यर्पप्रकृतिधतुर्धः ।

इति श्रीमुरलीधरभट्टविरचिता नवरत्नटीका संपूर्णा ।

परिशिष्टम् ।

श्रीसाधनप्रश्नम् ।

अथ नवरत्नग्रन्थविषये किञ्चिद्विल्यते । 'श्रीयतेऽमलया भक्त्या हरित्पद्मिद्विडम्ब-
नम्' 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' 'वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या' 'भक्त्यैव तुष्टिमभ्येती'-
त्यादिवचोभिः प्रेमलक्षणया भक्त्या भगवान् लभ्यः । 'दारान् सुतान् गृहान् प्राणा'नि
त्याभ्य 'उद्धवात्मनिवेदिनां मयि सञ्जायते भक्ति'रित्यन्तेन वाक्येन प्रेमलक्षणया
निवेदनलभ्यत्वम् । निवेदनं च देहादियु स्वकीयत्वाध्यासनिवृत्तिपूर्वकभगवदीयत्वबुद्धि-
सम्पादने भवति । 'श्रीडार्यमात्मन इदं विजगच्छतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुपियोऽपर ईश
कुपु'रित्यादिवचनैर्निखिलवस्तुनां भगवदीयत्वात्तदीयत्वबुद्धिसम्पादनेन देहादीनां भग-
वत्सेवोपयोगिकरणस्य निवेदनपदार्थत्वात् । जावे च निवेदने पुनरिष्टानिष्टासिनिवृत्त्यु-
पायविमर्शनादिरूपचिन्ताकृतौ स्वकीयत्वाभिमानेन याहिर्हुत्यसम्भवात्निवेदनवैयर्थ्यं स्यात् ।
तथा सति न निस्सार इति परमकृपाळुभिराचार्यचरणैश्चिन्तारूपप्रतिपत्त्यनिवृत्त्यर्थं 'चिन्ता
कापि न कार्ये'त्याद्युपदिदिष्टे । तथापि निवेदनस्य श्रवणाद्यष्टकान्तरभावितात् श्रव-
णादीनां च प्रत्येकं दुरापतया निवेदनस्य सुतरां तयात्वेन प्रेमलक्षणया अनुत्पत्या कथं
भगवदातिरित्याशङ्क्य 'श्रीकृष्णः शरणं ममे'त्यष्टाधरमशो निरन्तरमावर्तनीयः, तेन च
सर्वानुपपत्तिपरिहारः सकलसिद्धिभेत्सुपदिष्टम् । तत्र कथमनुपपत्तिपरिहारपूर्वककार्यसिद्धि-
रित्याकाङ्क्षायां तदाशयं विवृण्वन्ति प्रभुचरणाः 'साधनफले एकैकृत्य सर्वसमाधानमा-
हु'रित्याभासग्रन्थेन । 'श्रीकृष्णः शरणं ममे'त्यष्टाधरमशे साधनफलपौरेकीकण्ठात्सर्व-
समाधानमिति भावः । तथाहि । श्रीकृष्णः फलरूपः निःसाधनजनोद्भूतिकृताभिव्यक्तिः
सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा मम निःसाधनस्य शरणं आश्रयः शक्त्याशक्त्यसम्पादक इति मन्त्रार्थः ।
यद्यपि स्वायोग्यताविचारे श्रवणादिसाधनदौर्लभ्येन भगवत्प्राप्तिनैश्चिन्त्याभावः, तथापि मनोः
पुष्टिसारूपविचारे शरणागतौ सर्वं सुलभम् । 'तेषामहं समुद्धतां मृत्युसंसारसागरा'दि-
त्यादिसाधनत्वात् । तत्र साधनक्रमेण चेदुद्दिष्टीपुः, तदा जीवाशक्त्यानि श्रवणादीन् सम्पा-
पोद्धरति । अन्यथा किनापि साधनं कृतार्थयति । अतः शरणगमनं पुमर्थसाधनम् ।
अत एव 'शरणं भावपेद्वरि'मिति श्रीमदाचार्यैरुक्तम् । 'भक्तद्रोहे भक्त्यभाव'इति च ।
इह भक्त्यभावे भक्तिप्रतिद्वयार्थं हरिं शरणं भावपेदित्यर्थः । प्रकृतेषु श्रवणादिनरिषभक्तीनां
दौर्लभ्यं ज्ञात्वा नवरिषभक्तिप्रतिद्वयमेतन्नश्रावृत्तिरुपदिष्टा । अतः प्रमात्तपलविचारेण
पूर्वपक्षः । प्रमेयपलविचारेण समाहितिरिति ज्ञेयम् । तमात्र फलमेव साधनीकृत्येति
कङ्ककार्यः । अनेन 'श्रीकृष्णः शरणं ममे'नि मन्त्रार्थो व्याख्यातो ज्ञेयः ।

किम् । अयं मशो नेतरसाधारणः । किन्तु पुष्टिमार्गीयः । समर्पणघटनम् । अत
एव प्रभुचरणैरभिहितं 'यदुक्तं तातचरणैः श्रीकृष्णः शरणं मम । तत्र एवाभि नैधि-
न्यभेदिके प्रातीतिक' इति । पुष्टिमार्गीयत्वं च भगवत्स्वरूपानिरिक्तकलाभाववशात् ।
तथाच पुष्टिसौख्यं मन्त्रोत्तरमावर्तनीयः । मनसा पूर्वोक्तद्वयानुग्रहानेन शरणमारने

च कार्यम् । अत एवोक्तम्, 'एव चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तये'दिति । एवं प्रपत्तौ भगवानशक्यमपि साधयिष्यतीति निष्कर्षः । अत एव तद्विद्युतौ प्रभुचरैरूपे 'सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यतीति हृदय'मिति । तथा सति चिन्ताले-
शोपि नास्तीति प्रतिबन्धाभावे सिद्धे निवेदनसिद्धौ मुख्यभक्तिराम', तेन च भगवत्प्रा-
प्तिरिति चिन्ताकरणनिराकरणनिरूपणस्य सार्थक्यमिति कोविदा एव विदाङ्कर्वन्तु ।

नवरत्नप्रकाशे, 'अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदने कृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः ।' इयं फक्किका पूर्वफक्किकया न सगच्छत इति बहूनामार्थानां महामेवोद्यमोऽस्मिन्ग्रन्थे नानाविधोऽस्ति । परन्तुद्यमशतेनापि न लगतीयं फक्किका । तत्रायं निष्कर्षो बोध्यः । इह लेखकादिदोषवशात्फक्किकानां वैपरीत्यं जातं लेखने । अतः फक्किकानामर्थस्वारस्यं विचार्य पूर्वापरभावं निर्धार्य फक्किका लिख्यन्ते । तथाहि । इह पूर्वं 'निवेदने भजनाधिकारस्तस्मिन् सति तदनिर्वाह इत्युभयतः पाशारजुरिति चेत्' इति फक्किकास्ति । तत्रोत्तरमुक्तम्, 'अत्र वदाम' इत्यादिना । तत्र 'गायत्र्युपदेशजसंस्कार-
व'दित्यन्तेन निवेदनस्यावश्यकतोक्ता । एवं निवेदनस्यावश्यकत्वमुक्त्वा निर्वाहः केन कार्यं इत्याकाङ्क्षायां 'निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्वत्प्रसा-
दत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा' इति फक्किकास्ति पठिता । तथाच देहादिनिर्वाहः केन कार्यं इत्याकाङ्क्षायां निवेदितेन निर्वाहः कार्यं इत्युत्तर सिध्यति । तत्र किं प्रमाणमित्या-
काङ्क्षायां 'दासधर्मत्वात्' इत्युक्तम् । तदग्रे भगवद्वाक्य प्रमाणत्वेनोपन्यस्य निवेदितेन निर्वाहः कार्यं इति ज्ञापनार्थं 'मुच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्यादिवाक्यै 'रात्मशोध-
कत्वाच्चे'ति पठितम् । तदग्रे 'अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदने कृते-
ऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिरिति फक्किकया अन्यथानुपपत्तिः प्रद-
र्शिता । तदग्रे 'अपरश्चे'त्यारम्य 'अनिवेदितस्य निषिद्धत्वा'दित्यन्तेन निवेदनदानयोः पुनः स्वविनियोगतदभावान्यां चैलक्षण्यं प्रदर्श्य भगवदनिवेदितेन निर्वाह निषिध्य भगव-
न्निवेदितपदार्थेन भगवदुपभुक्तशिष्टेन प्रसादतया प्राप्तेन निर्वाहः कार्यं इति सिद्धान्तितम् । एवं फक्किकानामे सर्वोऽपि ग्रन्थः सङ्गतो भवति । तथाच सिद्धमेतत् । 'द्विजस्य वैदिके कर्मणि गायत्र्युपदेशजसंस्कारव'दिति फक्किकाया अग्रे 'निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्वत्प्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा । दासधर्मत्वात् । 'उच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्यादिवाक्यैरात्मशोधकत्वाच्चे'त्यन्तो ग्रन्थो ज्ञेयः । एतदग्रे 'अन्यथा दारपरिग्रहो-
त्तरक्षण एव तन्निवेदने कृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः । अपरश्च । दाने हि न स्वविनियोगः । न तु निवेदने । अन्यथा निवेदिताज्ञादेर्भोजनं न स्यात् । अनिवेदि-
तस्य निषिद्धत्वात्' इत्यन्तो ग्रन्थोऽस्ति । तदग्रे 'किन्तु प्रभौ निवेदितार्थविनियोगे जातेऽग्रे तदर्थं यत्नः कार्यो न वेति भवति चिन्ते'त्यादिरूपो ग्रन्थोऽस्तीति सर्वमनवद्यम् ।

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतः-सप्तमो

अन्तःकरणप्रबोधः

पञ्चशटीकाभिः समलंकृतः

- १ श्रीगोकुलनाथानां विवृतिः
- २ श्रीरघुनाथानां विवरणम्
- ३ श्रीहरिराधानां विवृतिः
- ४ श्रीधनराजानां विवरणम्
- ५ श्रीपुरुषोत्तमानां विवरणम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-प्रवर्तित-शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायस्य-
सप्त-षोडशान्तर्गत-षष्ठ-षोडाधिष्ठित-नित्यश्रीलास्यित-
दोस्वामिन्नी १००८ श्रीवल्लभलाल-महाराजानां-
स्मृती-तैपा-श्रीमती-कृष्णावती-बहूजी-महा-
राजधीत्येताभिः-प्रकाशित

प्रकाशक ।

गोस्वामी १००८ श्रीवल्लभलालजी महाराज (पण्डीठाधीश्वर) के
श्रीवृष्णावती बहूजी महाराज,
श्री कल्याणरायजीवी ह्येली, बंक रोड, बड़ोदा, गुजरात ३ ९ ० ० ० ६, भारत

साधारण संस्करण २००० प्रति
राज संस्करण १००० प्रति
श्रीवल्लभाब्द . ५०३

ग्रन्थ-परिचय लेखक . गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक :
स्टूडियो बहार, २३-ए, सेन्द्रल चौपाटी बिल्डिंग चौपाटी,
बम्बई—४०० ००७.



गोस्वामिथी १००८ श्रीवल्लभलालजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यधरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

अन्तःकरणप्रबोध ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुकी सन्यासग्रहण करनेसे पूर्वकी तथा पौडशाग्रन्थोमे योजित ग्रन्थोमे अन्तिम कृति है.

श्रीयदुनाथजी-विरचित बल्लभदिग्विजयके अनुसार सन्यासग्रहण करनेके बाद श्रीमहाप्रभु भूतलपर ३९ दिन विराजे थे और यह सन्यास आपने इस ग्रन्थमे वर्णित तृतीय भगवदाज्ञाके पालनहेतु लिया था अतः आपाठ शुक्ल द्वितीयासे ३९ दिन पहले यानि वैशाख (ब्रज जेठ) कृष्णा सप्तमीके आसपास किसी दिन वि. सं. १५८७ मे इस ग्रन्थकी रचना हुई यह माना जा सकता है

कुछ आधुनिक विद्वान् इस ग्रन्थमें वर्णित तीन भगवदाज्ञाओंकी व्याख्या श्रीमहाप्रभुको दोवार हुई अस्वस्थता तथा अन्तमे श्रान्ति तथा देहत्यागकी आन्तरिक प्रेरणा के रूपमें देते हैं, जो बात इन विद्वानोके गले नहीं उतरती है वह है इन तीन भगवदाज्ञाओंका चमत्कारिक रूप! श्रीमहाप्रभुके प्रति किसी अतर्कित लगावके कारण ये मिथ्याभाषणके आरोपका साहस जुटा नहीं पाते अतः भक्ति और श्रान्ति के सहारे इन स्पष्टतम विधानोंकी अतीव अस्पष्ट और अटपटी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं इन विद्वानोंको कभी लगता है कि किन्हीं श्रान्तिके क्षणोमे ये तीन भगवदाज्ञाकी श्रान्तिया पैदा होगी होगी--कभी इन्हें लगता है कोई तीन साधार्तिक विमानियोंमे पैदा हुई निराशाके वश श्रीमहाप्रभु इन विचारियोंको परलोक सिधारनेकी भगवदाज्ञा ही मान बैठे हैं--कभी इन्हें लगता है कि सम्भवतः किसी अन्तरवाणीके रूपमें श्रीमहाप्रभुने लोक-त्यागका आदेश सुना हो और उसे ही श्रद्धावश भगवदाज्ञा मान ली हो!

न पूर्ण श्रद्धा और न पूर्ण अश्रद्धा अर्थात् मध्यमार्गको अपनानेकी मनोवृत्ति-वश अपनी निराधार कल्पनाओंको बौद्धिकताके रूपमें ये विद्वान् मान्य करना चाहते हैं जगतके कारण स्थिति या प्रयोजन को ईश्वरीय चमत्कार मान कर भी जो चमत्कृत नहीं होते, ये ईश्वराज्ञाके श्रवणको 'चमत्कारपूर्ण' घटना कहकर अस्वीकार करना चाहते हैं. इससे अधिक चमत्कारपूर्ण तार्किकता और क्या हो सकती है !

इन कपोलकल्पित व्याख्याओको प्रस्तुत करनेका एकमात्र हेतु स्वयम्की तूटती हुई श्रद्धाको कयञ्चित जोड़ना होता है पर अपने इस मोहमें ये विद्वान् अपसरयह वात भूल जाते हैं कि ऐसी अटपटी कल्पनासे श्रीमहाप्रभुका न तो कोई बुद्धिबल और न कोई चारित्रिक महत्ता ही सिद्ध होती है. जिस व्यक्तिका मनोबल दोवार केवल बीमार पड़ जानेपर तूट जाता हो उसे 'युगप्रवर्तक व्यक्ति' कैसे माना जा सकता है ? दोवारकी बिमारीसे पनपी निराशाको देहत्यागकी भगवदाज्ञा मान लेनेवाले भ्रान्त आत्मघातीको किस अर्थमें बुद्धिमान् माना जा सकता है ?

भारतवर्षकी तत्कालीन नितान्त विपम परिस्थितिमें किस अदम्य उत्साह निष्ठा और सकल्प के साथ श्रीमहाप्रभुने वैष्णवधर्म और सस्कृति की मशालको अपने मुदूब हस्तोमें धारण किया था ! देशके कोने-कोनेको उससे प्रकाशित करनेको जूझते रहनेवाले व्यक्तिको इननी कमजोर डूँडाशक्तिवाला माननेमें कौनसा गौरव सिद्ध होता है ? वर्ण-आश्रम जाति-रिग निम्नवर्ग-उच्चवर्ग देशी-विदेशी के भेदके बिना सभी व्यक्तियोंके हृदयको पुष्टिभक्तिके उपदेशसे भावपूरित श्रीमहाप्रभुने कर दिया था. ऐसे व्यक्तिवृत्ते के घनी श्रीमहाप्रभु बीहड़ जगलोमें वर्षा-शीत-आतप आदिकी परवाह किये बिना निरन्तर परिभ्रमण करते रहे—विदेशी आक्रामकोसे आतंकित नगर-जनपदोमें बसनेवाली जनतामें निरन्तर आस्थाका सञ्चार करते रहे वे स्वयम् दो वारकी बीमारियोंसे घबराकर आत्मघात करें यह कल्पना कैसे बुद्धिसगत मानी जा सकती है ? जबकि वे जनताको— "त्रिदुःखसहन धर्ममामृते सर्वत सदा" का उपदेश देते रहे ! अत —

आज्ञापूर्वं तु या जाता गगासागरसगमे ।

यापि पश्चान्मधुवने न कृत तद्-द्वय मया ॥

देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचर ।

पश्चानाप कथ तत्र मवकोह नचान्यथा ॥

इन शब्दोमें रास्ती अन्तर्वाणी या सघर्षजन्य श्रान्ति या शारीरिक अस्वास्थ्यजन्य निराशा और भगवदाज्ञाकी भास्ति की खाजना श्रीमहाप्रभुका अनादर है—उनकी अनुभूतिकी आध्यात्मिक-आधिदैविक गहनतासे नितान्त अपरिचयका घोटन है !

श्रीमहाप्रभुके पौत्र श्रीगोकुलनाथजी इस ग्रन्थका सन्दर्भ यो देते हैं

द्वादश स्कन्धात्मक श्रीभागवत पूर्णपुरुष पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भगवान्का ही नामात्मक स्वरूपमें प्रकट दूसरा रूप है भागवतकी वाणीके अर्थको प्रकट करनेके लिए ही वाणीके पति तथा भगवन्मुखरूप अग्निका श्रीमहाप्रभुके रूपमें प्राकट्य हुआ (यह रहस्य भागवतकी सुबोधिनी व्याख्याके प्रारम्भम स्वयम् श्रीमहाप्रभुने ही प्रकट किया है) भागवतपर सुबोधिनी व्याख्या श्रीमहा-
प्रभुके अवतारका प्रमुखतम प्रयोजन है. दशमस्कन्ध भागवतका हृदय है प्रथमस्कन्धसे प्रारम्भ कर क्रमश दशमस्कन्ध तक पहुचनेमें पर्याप्त विल-
 म्वकी सम्भावना थी फलत तृतीयस्कन्धतक पहुचनेके बाद अविलम्ब दश-
 मस्कन्धकी व्याख्या पूर्ण करनेकी कही एक विषय भगवदाज्ञा श्रीमहाप्रभुको हुई (उसका पालन तो सर्वथा हुआ ही अब यहा उस आज्ञाका उल्लंघन नहीं किया गया है. परन्तु उप आज्ञाके निगूढ आशय तथा अपने अवतारके प्रयो-
 जनकी पूर्तिका सन्तोषोद्गार स्वयम् श्रीमहाप्रभुके मुखसे दशमस्कन्धकी सुबो-
 धिनीके समाप्तिपर प्रकट हो गया है—'प्रवरणमिह पूयंतेऽनव-
 च त्रयमपि विश्वजगाम मादृशाना, निजपदसमवाप्तये च नित्य निजगुरुणा हरिणैव लोकबन्धम्')

दशमस्कन्धकी व्याख्या पूर्ण करनेके बाद श्रीमहाप्रभु पूर्वनिर्धारित योजनाके अनुसार अवशिष्ट स्कन्धोंकी व्याख्या लिखने प्रवृत्त हुए

भागवतके सातों अर्चोंमें एकवाक्यता स्थापितकर दिखलानेकी अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भागवतार्थ—निबन्धमें शास्त्रार्थ स्कन्धार्थ प्रकरणार्थ तथा अध्यायार्थ की व्याख्या लिखी जा चुकी थी इसी तरह वाक्यार्थ पदार्थ और अक्षरार्थकी व्याख्या भी प्रथम सूक्ष्मटीकामें लिखी जा चुकी थी पुन गूढतम रहस्योंको प्रकट करनेके लिए द्वितीय टीका सुबोधिनीका प्रणयन हुआ यह एक सुदीर्घकालम पूरी होनेवाली लेखनशैलीमें लिखा जा रहा ग्रन्थ था भूतलपर उतने विलम्ब तक श्रीमहाप्रभुका विराजना भगवान्को अभिप्रेत न था अतएव शीघ्र दशमस्कन्धपर सुबोधिनी-लेखनकी आज्ञा हुई और वह परिपूर्ण भी हुई अब पुन इसी शैलीमें अवशिष्ट स्कन्धोंकी व्याख्या भगवदभिप्रेत नहीं थी श्रीपुरुषोत्तमजी अतएव पाचवे और छठे श्लोककी व्याख्यामें कहते हैं :
 "न च पूजाप्राप्तसम्पूतिदोष यावदुक्तमेतावत्कृत्यैव साक्षा कृतास्तु, अधिक

न कार्यम् . इदञ्च सूक्ष्मटीकातिरोधान—स्कन्धक्रमव्याख्यात्याजन दशमस्कन्धव्याख्यानानन्तरमसामयिकमाधवभट्टकाश्मीरिखारीशराहृतिप्रभृतिभि. कार्यरनुमीयते ”

गंगासागर और मधुवन में जब सुबोधिनी-लेखनको वन्द करनेकी आज्ञा हुई तो रासपञ्चाध्यायीवाली गौपिकाओकी तरह श्रीमहाप्रभुने भी इन आज्ञाओकी उल्लघन करना चाहा वेणुनाद सुनकर जो गोपिकायें भगवान्के समीप पहुच पायी उन्हें पुन घर लौट जानेकी भगवान्ने आज्ञा दी थी, पर वे लौटी नहीं श्रीमहाप्रभुने भी इसी तरह लेखन-कार्य वन्द नहीं किया भगवदाज्ञाके उल्लघनके इन दोनों प्रकारोमें किन्तु एक विशेष अन्तर यह था कि गोपिकाओने भगवत्स्वरूप सुखके लिए भगवद्-वाणीका उल्लघन किया था, जबकि श्रीमहाप्रभुको भगवद्वाणीका उल्लघन नामसेवार्थ भगवद् विप्रयोगको सहते हुए करना पड रहा था फलतः सूक्ष्मटीकाका तिरोधान हो गया. चतुर्थसे नयमतककी व्याख्या छोडकर दशमस्कन्धकी व्याख्या लिखनेका भगवदादेश भी हुआ ही था और पुन अवशिष्ट स्कन्धोकी व्याख्या लिखनेको प्रवृत्त होनेपर लिपिकार श्रीमाधव भट्ट काश्मीरी किसी पारपीके तोरस आहत हो गये यो सारी प्रतिकूलतायें कवल प्रतिकूल भगदिच्छाकी अनुनायिका थी तभी तृतीय भगवदाज्ञा हुई—लोकगोचर देह-देश-परित्यागकी. इस तृतीय भगवदाज्ञामें भगवदाग्रहकी स्पष्टता हुई श्रीमहाप्रभु अतएव अपने आग्रही मतको भगवदाग्रहके अधीन होनेको मना रहे है

“मेरे अन्तःकरण ! मेरी बात सावधानीसे सुनो कि कृष्णसे उत्कृष्ट एवम् निर्दुष्ट कोई तत्त्व न है और न हो सकता है भागवतकी सुबोधिनी व्याख्या पूर्ण करनेके लिए जिन दो भगवदाज्ञाओका उल्लघन किया था वह अपने आग्रहिल अन्तःकरणके कारण ही हुआ अन्तःकरणको भगवदाग्रहके अधीन होनेको समझाया जा सके तो अन्य सभी देहेन्द्रियादिकी वृत्ति और प्रवृत्तियो पर काबू पाया जा सकता है.”

वैसे तो भागवतकी व्याख्याका प्रयोजन अन्ततः श्रीकृष्णके स्वरूपमें आत्मिक सम्पादन करना ही था पर यह समस्या श्रीमहाप्रभुकी नहीं किन्तु अन्य पुष्टिजीवोकी थी भागवतके वास्तविक अर्थको प्रकट करनेसे पुष्टिजीवोका उपकार होगा वे श्रीकृष्णकी पुष्टिलीलाके वास्तविक रहस्यको समझ

कर उसमें आसक्त हो पायेंगे जहातक श्रीमहाप्रभुका प्रश्न है तो उन्हें तो इस-प्रक्रियामें भागवतकी लौकिकी भाषा और परमतभाषा का भी चिन्तन-मनन-व्याख्यान करना ही पड़ता था केवल भगवल्लीलाके मनन या प्रवचन तक सीमित रहा नहीं जा सकता यो अनेक पुष्टिजीवोके उद्धारार्थं परोपकारकी मनोवृत्तिसे श्रीमहाप्रभु स्वयम् भगवद्-विप्रयोग सहते उद्यत हुए थे.

जितना व्याख्यान सम्पन्न हो चुका वह पुष्टिजीवोको पुष्टिभागपर प्रवृत्त करनेके लिए पर्याप्त है. इससे अधिक परोपकारकी आवश्यकता नहीं है सर्व-निर्णय-निवन्धने श्रीमहाप्रभु स्वयम् यह निर्णय दे चुके हैं कि भगवत्सेवाके अवसरमें हिस्सा बढानेवाले धर्मोंका त्यागकर देना चाहिये परोपकारादि धर्म भी यदि भगवत्सेवामें बाधक होने हों तो छोड़ देने चाहिये "एतद्विरोधि यत्किञ्चित् तत्तु शीघ्र परित्यजेद् । धर्मादीना तथा चास्य तारतम्य विचार-यन् ॥ २३९ ॥ एतद्विरोधोति सामान्यवचन धर्मादीनामुपलक्षण .परोप-कारादि सर्वधर्माणामपि दायिष्ण्वेव फलम्. अत उभयोरन्तर ज्ञात्वा परोप-कारादिधर्मा न कर्तव्या, यदि पूजाविरोधिनो भवन्ति" कोई धर्म या कर्तव्य भगवत्सेवामें सहायक होता हो तो अनुष्ठेय है अन्यथा भगवत्सेवामें बाधक होनेपर परोपकार आदि धर्म भी त्याज्य समझने चाहियें. फलत आत्मसमर्पण के बाद भगवत्सेवासे अधिक और कोई भी कर्तव्य पुष्टिजीवका ही नहीं सकता.

श्रीमहाप्रभु अतएव कहते हैं कि समर्पणसे पूर्व सभी पुष्टिजीवोकी स्थिति अस्पृश्य कुलमें उत्पन्न किसी सुन्दर स्त्रीकी तरह होती है पर आत्म-समर्पणके बाद इन्हीं पुष्टिजीवोकी स्थिति, उक्त सुन्दरी यदि किसी राजाके मनको भा जाये और वह उसे अपनी रानी बना ले ऐसी, सम्मानपूर्ण हो जाती है इस असाधारण सम्मानकी प्राप्तिपर अभिमान भी कभी पैदा हो सकता है और उस अभिमानके कारण कभी अपमानित होनेका अवसर भी प्राप्त हो सकता है परन्तु अपनी पूर्वावस्थाकी अधमताका विचार करनेपर प्राप्त सम्मानित अवस्थाम थोडा-बहुत अपमान पश्चात्तापका विषय नहीं लगेगा क्योंकि राजाके द्वारा अपमानित भी रानी जगतमें तो सम्माननीय ही मानी जाती है

इसी तरह किसी प्रोढीभाववश भगवदाज्ञाके उल्लंघन करनेके कारण

अपने देहके साथ भी ऐसा ही मोहजन्य व्यवहार देहके स्वामी श्रीकृष्ण को कैसे सुहायेगा ? कैसे सन्तुष्ट कर पायेगा ? अतः यह विचार करना चाहिये कि आत्मसमर्पणरहित अन्य लौकिक जनोकी तरह हमारी भी स्थिति होती तो क्या होता ?

शरीरका हठात् त्याग करना अशक्य कार्य लगता है परन्तु सर्वदुःखहर्ता श्रीहरिके स्वरूपका विचार करना चाहिये कि साक्षात् नित्यलीलामें नित्य सयोग-सुखका दान, जब वे करना चाहते हैं तो दुःख कैसा ? अतः किसी भी प्रकारके मोहकी आवश्यकता नहीं है कि प्रभु लौकिक स्वामीकी तरह रुष्ट हो जायें तो क्या करना—या फलदानमें प्रभु विलम्ब करेंगे तो क्या होगा—या देह-देशके लोकगोचर त्याग करने पर पुष्टिजीवोका उद्धार कैसे होगा—या श्रीमद्भागवतकी व्याख्या सुबोधिनी सम्पूर्ण नहीं हो पायी इत्यादि-इत्यादि

अपने इस अन्तःकरणके प्रबोधनको ग्रन्थके रूपमें उपनिबद्ध कर श्रीमहा-प्रभुने यह प्रकट कर दिया है कि निज अन्तःकरणके उपदेशके व्याजसे श्रीमहा-प्रभु उन सारे पुष्टिजीवोके अन्तःकरणको सम्बोधित तथा प्रबोधित करना चाहते हैं, जिनमें भगवत्संवासे अन्य किसी आध्यात्मिक या आधिदैविक फल प्रयोजन या कर्तव्य के प्रति अधिक आकर्षण पैदा हो सकता है अतएव "तव कथामृत तप्तजीवनम्" की सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुने विवेचन किया है कि अमृतकी आवश्यकता मृत्युके उपस्थित होनेपर है. अन्यथा स्वतः अमृतपानकी प्यास किसीकी भी नहीं होती इसी तरह भगवान्के स्वरूप और भगवान्का कथामें भी घनोभूत रस और तरलोभूत रस का सा अन्तर होता है अन्यथा रासमें भगवान्के तिरोहित हो जानेपर उन्हें खोजनेके वजाय गोपीजनोंने भी भागवत कथाका आयोजन किया होता । "रसविण्ड्योरिव तव कथायाश्च विशय अन्यथा कथार्थमेव यत्न कृत स्यात्" अतएव "सेवाया वा कथाया वा" में 'सेवा और कथा' मुख्य कल्प है जबकि 'सेवा अथवा कथा' गौण कल्प है.

अतः सभी पुष्टिजीवोको निश्चिन्त होकर यह निश्चित कर लेना चाहिये कि "भगवद्रूपसेवार्थं तत्सुष्टिर्नान्यथा भवेत्" अर्थात् भागवत-कथा भी वस्तुतः भगवत्सेवाका अंग ही तो उत्तम कल्प है अन्यथा गौण कल्प या अनुकल्प ही

है. इस तरह श्रीमहाप्रभु सेवागभूत अन्त करणकी शुद्धिका प्रकार उसे भग-
वान्की सेवामे अनन्यरुचि होनेकी प्रेरणाके द्वारा इस ग्रन्थमे दे रहे हैं

प्रस्तुत सस्करण वि. म. १९८१ मे प्रकाशित सस्करणका ऑफसेट प्रॉसेस
द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. श्रीमद्गोस्वामिकुलभूषण श्रीजीवनेशात्मज श्रीरण
छोडलाल महाराजश्रीके प्रबन्धमे श्रीचीमनलाल हरिशकर शास्त्रीजीने उस
सस्करणका सम्पादन किया था. आधिक सेवा अनेक वैष्णवोंने मिलकर की
थी. इन सभी महानुभावोका हम कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं इति शम्

है. इस तरह श्रीमहाप्रभु सेवागभूत अन्त करणकी शुद्धिका प्रकार उरो भगवान्की सेवामे अनन्यरुचि होनेकी प्रेरणाके द्वारा इस ग्रन्थमे दे रहे हैं.

प्रस्तुत सस्करण वि स. १९८१ मे प्रकाशित सस्करणका ऑफमेट प्रीसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. श्रीमद्गोस्वामिकुलभूषण श्रीजीवनेशात्मज श्रीरण छोडलाल महाराजश्रीके प्रबन्धमे श्रीचीमनलाल हरिशकर शास्त्रीजीने उस सस्करणका सम्पादन किया था आधिक सेवा अनेक वैष्णवोंने मिलकर की थी इन सभी महानुभावोका हम कृतज्ञताके साथ स्मरण करते है इति शम्

श्रीकृष्णः

श्रीमद्भृङ्गाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

अन्तःकरण मद्राज्यं सावधानतया भृशु ।
कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥
चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।
कदाचिदपमानेऽपि^१ मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥
समर्पणादहं पूर्वशुचयः किं सदा स्थितः ।
का मपापवता धाष्वा पथात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥
सत्यसङ्कलयतो विष्णुर्नान्यथा तु परिष्पति ।
अतौब कार्या सततं स्वाधिद्रोहोऽन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥
सेवकस्य तु धर्मोऽयं स्वापी स्वस्य करिष्पति ।
ध्याना पूर्वं तु या जाता गङ्गासाग(सङ्गमे ॥ ५ ॥
याऽपि पथान्मधुवने न कृतं तद्रूपं मया ।
देहदेशपस्त्यागस्तृतीयो लोकगोघरः ॥ ६ ॥
पथात्तापः कथं तत्र सेवकोऽहं न चान्यथा ।
लौकिकमधुवरकृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥
सर्वं समर्पितं भक्त्या वृत्तार्योऽसि सुखी भव ।
मौदाऽपि दुहिता यद्रस्तेहास्य ग्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥
तथा देहे न कर्तव्यं परस्तुष्पति नान्यथा ।
लोकवचेत्स्थितिर्भे स्पर्तिक स्यादिति विचार्य ॥ ९ ॥
अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं या गाः कथञ्चन ।
इति श्रीकृष्णदासस्य ब्रह्मस्य हितं श्रुचः ॥ १० ॥
चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्तनां व्रजेत् ॥ ११ ॥
इति श्रीमद्भृङ्गाचार्यविरचितोऽन्तःकरणप्रबोधः सम्पूर्णः ।

१' अपमाने वा ' इतिपाठः श्रीब्रह्मराजधीपुरयोत्तमचरणानां टीकायां ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनयल्लभाय नमः ।
श्रीनदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीगोकुलनाथचरणैर्विरचिता विवृतिः ।

दर्शयन् स्वस्य सौभाग्यं स्वीयानां भक्तिवर्षं च ।
स्वमनोबोधवाक्यानि प्रकटीकृतवान् प्रभुः ॥ १ ॥
प्रगम्य पितृपादान्नं चिन्तिताधिकदापकम् ।
स्वमनोबोधकाचार्यवचो व्याख्यातुमुद्यतः ॥ २ ॥
यद्यपीश्वरवाक्यानि दुर्बोधानि सदा स्वतः ।
तत्कृपैव तदीयस्य तदर्थविगमे गुरुः ॥ ३ ॥
भविष्यतीति निश्चित्य मूढतोहं न चान्यथा ।
अतः स्वाचार्यचरणौ शरणं मम सर्वदा ॥ ४ ॥

अयं भगवान् पूर्णपुरुषः पुरुषोत्तमः स्वस्वरूपं श्रीभागवतं द्वादशस्कन्धात्मकं प्रकटीकृत्य तदर्थमाकृत्ये स्वातिरिक्तस्यायोग्यतां ज्ञात्वा स्ववागधिशितिरूपश्रीवल्लभाचार्य-
माकृत्यं विधाय तदर्थमाकृत्ये आज्ञां च दत्त्वा तदर्थप्रकाशिकां सुबोधिनीं कारितवान् ।
तत्र क्रमेण स्क्रन्वयकरणे फालविजम्बादाचार्यविप्रयोगसहिष्णुः सन् श्रीभागवततत्त्वार्थ-
प्रतिपादकदशमस्कन्धविवरणार्थं विप्रोपाज्ञां दत्तवान् । तदाचार्यैः स्क्रन्धकर्म विहाय दशम-
स्कन्धविवृतिरेव कृता । तत्समाप्तौ स्वस्वाचार्यमिलनविलम्बं ज्ञात्वा तद्विलम्बासहिष्णुः शीघ्रं
स्वनिकटागमनार्थमाज्ञां दत्तवान् । तदाचार्याः स्वसौभाग्यमौदियवजम्ब्य स्वचिकीर्षित-
सम्पूर्णश्रीभागवतविवरणस्याजातत्वात् स्वस्य धर्मिणाम्पितृवत्तन्मार्गभावमोह्या बारुद्रप-
माज्ञोच्छ्वङ्गनं कृतवन्तस्तथापि भगवानाचार्यमिलनं स्वस्यात्यन्तावश्यमिति श्रीभागवत-
विवरणार्थं दत्ताज्ञाप्यन्यथाकृत्वातिक्रुपारीपपूर्वकं दुःखं स्वनिकटागमनार्थं तृतीयामाज्ञां
दत्तवान् । तदाचार्या अत्यन्तं भगवद्भक्त्यं दृष्ट्वा पूर्वपाद्मादोच्छ्वङ्गनपात्रमौदिस्यानं स्वकी-
यमन्तःकरणमेवेति ज्ञापनाय तदेव बोधयन्ति । अन्तःकरणं मद्भक्त्यमिति ।

अन्तःकरणं मद्भक्त्यं सावधानतया शृणु ।

कृष्णात्परं नास्ति देवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

यद्यपि, अश्रयं सर्वेन्द्रियोपयोगात्सर्वेन्द्रियप्रबोधं उचितस्तथापि तेषामन्तःकर-

शाधीनत्वाप्रया राजनि निष्पृहीते सर्वमेव राज्यं निष्पृहीतं भवति । तयान्तःकरणे प्रतोषिते सर्वाण्येवेन्द्रियाणि प्रबोधितानि भवन्तीत्यन्तःकरणमेव प्रबोध्यन्ति । मन्त्राख्यं सावधानतया शृण्विति । यद्यपि मन्त्राख्यं शृण्वित्येतावतैव प्रबोधसिद्धेयं सावधानतयेत्युक्तं, तस्यापमाशयः । यथा स्वस्य धर्मिणामाभिमानशौच्या व्रजसीमन्तिनीभिः फल-प्रकरणे भगवदाज्ञोद्बुद्धनेन स्ववीर्यसम्पत्तिः साधिता, तथाहमपि सम्पूर्णश्रीभागवतविद्वत्ति साधयिष्यामीत्याश्रदोऽस्मिन्नर्थे वैपरीत्यादनुचितः । वैपरीत्यं तु व्रजसीमन्तिनीभिः पितृ-वाक्यानि फले प्रतिबन्धकानीति भावशौड्या निराकृतानि, प्रकृते तु भगवदाज्ञां फलसाधिकेति तत्राश्रदो विपरीतफलकः, अनिष्टपर्यवसानादिति वाच्यश्रवणे सावधानतयेत्युक्तम् । कदाचिदतिशौड्या विद्वम्बकरणे वाचकमाहुः । कृष्णात्परं नास्ति दैवमिति । कृष्णात्कलरूपात्परमतिरिक्तं दैवं परमेष्ठरूपम् । दैवमिति पदादिबुधात्तुक्ताः सर्वेभ्यः अप्र विवक्षिताः । तव धर्मिणाम् क्रीडास्यानपिदमेव । (क्रीडाया) विनिगीयात्परैव । (भक्तेन सह) स्वमार्गाव्यवहारोपि । (भक्ताय स्वमाहात्म्यशोतनेन) द्युति-रप्यत एव, नो चेत्तत्रतिरेकेण शुष्कतैव । (भक्ताना) सम्यक्विशेषे स्तुतिरपि । (भक्ताय मोददानं यथा कालीपदभनेन) । मोदोऽपि तथा । भावविशेषमनितम्पदोपि । परमनिर्दृतिजनितं स्वप्नोपि । स्वप्नानन्तरं भावविशेषमूचककटाक्षसूचितरत्नेऽपि । तदनन्तरं स्वाभिलषितस्वप्नान्तरादपि, (भक्तसमीपगमनम्) इत्यादिकं सर्वमेव पूर्वभावशौड्या याध्यत इत्यनिष्टहेतुत्वात् शौडिस्वप्राज्येऽत उक्तं कृष्णात्परं नास्ति दैवमिति । ननु श्रीभागवतविचारः पुरुषोत्तमपर्यवसाय्येवेति कदाचित्शौडिकचिता भवेदिति शङ्कानिराकरणार्थमुक्तम् । वस्तुतो दोषवर्जितमिति । अत्राय भावः, यद्यपि श्रीभागवतविचारः पुरुषोत्तमपर्यवसायी तथापि विचारे क्रियमाणे स्वसिद्धान्तनिरूपणार्थं तद्वि-रुद्धशास्त्रान्तरीयसिद्धान्तनिराकरणमावश्यकमेव, भगवदाज्ञाहेतुकफलविचारे एतद्भावा-तिरिक्तभावमवश एव फलमार्थे दोष इति वस्तुविचारे क्रियमाणे फलस्यैव निर्दुष्टत्व भावान्तरमवशहेतुवस्तुनः सर्वात्मना न निर्दुष्टत्वमिच्छाप्राप्त्यापेक्षकं वस्तुतः स्वरूपतो न निर्दुष्टत्वम् ॥ १ ॥

एव प्रबोधनेपि पूर्वशौडिकताज्ञोद्बुद्धनेनानितापराधेन यदि भगवान्पराधेन फल-विलम्बं कुर्वाणोऽप्यभ्यासादेकमपि कार्यं न सिध्येदिति श्रीभागवतार्थविद्वत्समास्याग्र एव समीचीन इति मनःकलिल लौकिकदृष्टान्तेन कैमुतिकन्यायेन निरस्यन्ति, चापढाली चेदिति ।

† भगवतराजितरूपात् ।

* दिव्य क्रीडा-१ विनिगीता-२ स्ववहा-३ द्युति-४ स्तुति-५ शौड-६ यो-७ स्वप्न-८ वाचि-९ मवि-१० ।

१ तथेति पाठ ।

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।
कदाचिदपमानेपि मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

चाण्डाली चाण्डालजातीया राजपत्नी जाता राज्ञा पत्नीत्वेन परिगृहीता, इतर-
पत्न्यपेक्षयाधिकं मानिता कदाचित्कमपादतस्तस्या अपराधावेदपमानोपि कृतस्तदा मूलतः
राजपत्नीत्वतः का क्षतिर्भवेत् राजपत्नीत्वं न गच्छतीत्यर्थः । यद्यप्यस्यां यज्ञसंयोगा-
भावात्पत्नीत्वं न सम्भवति तथापि ऋभोग्मा जातेतिपदं विहाय पत्नीपदोपादानाद्यथा
पत्नी त्यागयोग्या न भवति, तथैवास्याम्पद्मिनीकाराभिधानो ज्ञापितः । तेन स्वातिरिक्ता-
दृश्यत्वस्यार्थयोग्यत्वान्यविनियोगाभावात्तयो घर्मा ज्ञापिताः । यदि मूलपदेन चाण्डालीत्व-
मुच्यते तदा मानस्य चाण्डालीत्वमेव हेतुः स्यात् न तु राजपत्नीत्वम् । अत्र तु सम्मानने
राजपत्नीत्वमेव हेतुत्वेनोच्यते न तु चाण्डालीत्वम्, अन्यथा पत्नी जातेतिपदं व्यर्थं
स्यात् । तस्मात्तच्छ्रुतापमानेपि तथा न रोदः कार्यः, राजपत्नीत्वरूपमूलस्य विधयमानत्वात् ।
यथा फाल्गुने मासि प्राचीनपञ्चाणमेऽपि समूलस्य वृक्षस्य नूतनपत्रवाद्युद्गमेन पुनर्वथा-
पूर्वत्वं तथा पत्नीत्वे सति पुनः पूर्ववदेव भविष्यतीति विचार्य रोदो न कार्यः । चेदिनि
पदादयोग्यतायामपि दैवतयाज्ञीकारं पि यत्रैवं व्यवस्था लौकिके, तत्र सर्वयाज्ञीकारयोग्ये,
अज्ञीकर्तुरलौकिकत्वे, अज्ञीकारस्य च निरपत्वे, तथेयं फलविलम्बचिन्ता सर्वात्मना नोचि-
तेति नाग्रहः कर्त्तव्यः । यदि विलम्बः सोपि रसस्य संयोगविपर्योगात्तद्वत्त्वादिबन्धस्य
विपर्योगरसात्मकत्वात् फलमध्यशक्त्येवेति सर्वप्रदातम् । एवमर्थोक्तिरूपकारेण स्वयनः-
प्रबोधनेनानुपद्विही स्वमार्गायाणामपि शिक्षा ज्ञापिता ॥ २ ॥

यद्यपि फलविलम्बजनितः स्वेदो नास्ति तथापि भावब्रौह्मभिधानदानिजनितः
पश्चात्तापो जात इति सिद्धयन्तःकरणं प्रबोधयितुमाहुः समर्पणादिति ।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा म्यितः ।

का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

मानदानिजनितः पश्चात्तापः स्वसमान एवोचितो न तु स्वोयत्नेन हितार्थं मह-
कृतमानदानौ । भावजनितमानोत्तमिचिपोग्यतापि तत्र मन्त्रभाषणसम्पन्नेनैव जाता न
तु ततः पूर्वपरीति विचारयेति ज्ञानार्थमुक्तं पूर्वमुत्तमः किं सदा सिद्ध इति । सदा,
असमर्पणदत्तायामपि उत्तमः पूर्वोक्तभाषणयोग्यः किमहं स्थितः ? । तस्मान्मय पूर्वोक्तभाष-
जननयोग्यताऽभावरूपाऽधमता, का भाव्या, का कीदृशी भाव्या, विचारणीया । कीदृशी-
तिपदादधमताया निरवधित्यमुक्तम् । यस्मात्सर्वान्मना पश्चात्तापहेत्यभावरूपस्यात्तत्रयास्मिन्नर्थे
पश्चात्तापो न कर्त्तव्यः ॥ ३ ॥

यद्यपि पश्चात्तापहेत्वभावात् पश्चात्तापत्याग उचितस्तथापि फले बहुकालविलम्ब-
येत्तदा किं कार्ययिति सन्दिहानमन्तःकरणं बोधयन्ति सत्यसङ्कल्प इति ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।

आज्ञैव कार्या सततं स्वःमिद्रोहोऽन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

सत्यः यथार्थः सङ्कल्पः मनोविचारो यस्य तादृशत्वादिष्णुः वायाभ्यन्तरभेदेन
रसव्याप्तः । अन्यथा फलदाने विलम्बं न करिष्यति । अस्मिन्नर्थेन्यथाभावशङ्कानि-
राकरणार्थं तु शब्दः । तस्मात्तथा फलविलम्बसन्देहमपि त्यक्त्वा प्रश्नाज्ञैव कार्या सततं,
न तु भावभौड्या कदाचिदप्यन्यथाभावः कार्यः । अकरणे बाधकमाहुः, स्वामिद्रो-
होऽन्यथा भवेदिति । अन्यथा आज्ञाया अकरणे स्वामिद्रोहो भवेत् । आज्ञैव कार्या
सततमित्येतावन्नैव आज्ञाकरणसिद्धावपि बाधकोच्चेरयमाशयः । यथा फलपत्ररणे
ब्रजसीपन्तिनीनां भावभौड्या प्रश्नाज्ञाया अकरणेपि कार्यं सिद्धं, तथा ममापि सेत्स्य-
तीत्यज्ञाननिवृत्त्यर्थमुक्तं स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेदिति । अस्याप्यर्थः, ब्रजसीपन्तिनीनां
भावभौड्या आज्ञोलङ्घनं प्रभोः स्वस्य च पुरुषार्थसाधकं जातम् । तद्गृह्यन्तेन तवैरङ्करणे
उभयोरपि विपरीतफलफलशापनाय बाधकत्वमुक्तम् । बाधकत्वं हेतुः, तातां प्रश्नाज्ञो-
लङ्घनं फलमतिरन्धकनिराकरणे उपयुक्तं जातं, तेन प्रभोस्तासां च निरवधानन्दः
सिद्धः । तव त्वाज्ञोलङ्घनं प्रभुदितिसतफलमतिरन्धकत्वेन प्रभोः क्रोधब्रजनेन, तेन
क्रोधेन तव फलविलम्बेन च, प्रभवपराधस्तव चानिष्टं भवेदिति तत्तत्साधना नैव कार्य-
मित्येतदर्थमुक्तं, स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेदिति ॥ ४ ॥

एवं सौम्यनिकमायदाभाश्मुष्णाश्च कदाचित्पूर्वकृताप्रहेण प्रसुकोपे कथं स्वामिल-
पितसिद्धिरिति सन्दिहानमन्तःकरणं प्रबोधयन्ति सेवकस्य त्विति ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥

यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्रथं मया ।

देहदेशपस्त्रियागस्तृतीयो लोऋगोचरः ॥ ६ ॥

मया यत्पूर्वश्लोक उपपादितं, तत्र सेवकस्यासाधारणसत्त्वाविकर्षणत्वेन तथेत्तयि
भविष्यति तदासाधारणधर्मं दृष्ट्वा प्रभुरपि स्वस्वामित्वासाधारणधर्मं सेवकज्ञानागोचरमपि
सेवके करिष्यति । ननु हृदयशायामपि मयि सेवकत्वस्य विद्यमानत्वात् स्वामिन्यपि सहज-
स्वामित्वासाधारणधर्मस्य विद्यमानत्वात् कथं फलविलम्ब इति सन्देहनिवृत्त्यर्थं फलविल-

स्वहेतुं सेवकपर्यं निरूपयन्ति, आज्ञेति । आज्ञा प्रश्नाज्ञा पूर्वं प्रथमतो गङ्गासागरसङ्गमे या जाता पश्चाद्द्वितीया या आज्ञा मधुवने मथुरायां जाता तदाज्ञाद्वयमपि मया न कृतम् । ननु तदाज्ञाद्वयं किं विषयकं यत्र कृतं तत्राहुः, देहदेशपरित्याग इति । पूर्वाज्ञाया विषयो देहपरित्यागः । द्वितीयाज्ञाया विषयो देशपरित्यागः । ननु बलात्कारेण देहपरित्यागस्य दोषरूपत्वात् कथं तदाज्ञासम्भवः । तदकरणे च कथं दोषसम्भव इति चेत्सत्यं, कर्माधीनदेहे प्रारब्धभोगसमाप्तिव्यतिरेकेण बलात्कारेण देहत्याग एव दोषसम्भवः । यत्र केवलं भगवदिच्छाधीनायेव देहग्रहणपरित्यागौ तदेहस्यालौकिकत्वाच्चदाज्ञया परित्यागो न दोषायेति ज्ञात्वापि यत्तदकरणं तस्याज्ञोल्लङ्घनहेतुत्वात् प्रतिबन्धकत्वमित्युक्तम् । देशपरित्यागः स्पष्टः । एवमाज्ञाद्वयाकरणेऽनिष्टहेतुत्वं ज्ञात्वा तृतीयाज्ञा कृतेत्याहुः, तृतीयो लोकगोचर इति । तृतीयः परित्यागः लोकपतिद्वस्मृत्यादिशास्त्रेषु गोचरो विषयः संन्यासग्रहणपूर्वकं श्रद्धपरित्यागः स कृतः । यद्यप्यत्र कृत इति शब्दो नास्ति तथापि पूर्वाज्ञाद्वयाकरणनिषेधादत्र च कृत इति शब्दाभावेऽपि कारणमायाति । यद्यपि पूर्वोक्ताज्ञाद्वयाकरणापराधः सम्भवति, तथापि तृतीयाज्ञाकरणेन तयोरप्याज्ञयोः करणं जातमिति नापराधः । तथापि, आज्ञोल्लङ्घनजनितापराधेन यदि फलविलम्बं कुर्यात् मधुस्तादा तज्जनितः पश्चात्तापो भवत्येवेति कथमपराधनिवृत्तिरितिसन्देहे सप्ताधानमाहुः, पश्चात्ताप इति

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।

लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

फलविलम्बेऽपि विलम्बस्य दण्डस्यानीपत्वात्सेवकेन पश्चात्तापो न कर्तव्यः । तत्र हेतुः, सेवकोहमिति । अहं सेवकः सेवाकरणयोग्यः । आज्ञाद्वयाकरणस्य सेवावतिपन्थकत्वं ज्ञात्वा शीघ्रं सेवार्थं विलम्बजनतापेन शिक्षामिव प्रतिबन्धनिवृत्तिं विधाय पुनः सेवार्थमेव विलम्बं न कृतवान् इति न मम पश्चात्तापः । यतोहं सेवकः, न चान्यथा । यदि अपि सेवकत्वं न मन्येत तदापराधेनोपेक्षामेव कुर्यात्, न तु स्वीयत्वं ज्ञात्वा विलम्बजनतापरूपशिक्षां कुर्यादित्यत उक्तं, न चान्यथेति, अस्मिन्मध्येन्यथाभावो नास्तीत्यर्थः ।

ननु यथा लोके 'राजा मित्रं केन हृष्टं भुवं वे'ति लौकिकमधुन्यायेन तापानन्तरमप्युपेक्षामेव कुर्यादिति चेत्तत्र बाधकमाहुः, लौकिकप्रभुवदिति । लौकिकाः माकृता जीवाः श्रमवो लोके मधुत्वेन व्यवहार्याः, तद्द्रव्यसम द्रष्टव्यः न ज्ञातव्यः । तत्र हेतुः, यतः कृष्णः फलात्मा मधुश्च । लौकिकप्रभूणां माकृतत्वाच्चेपामद्गीकारस्यानित्यत्वाद्द्वि-कृतस्याप्युपेक्षा सम्भवति, प्रकृते ममोरलौकिकत्वेन तद्द्विगीकारस्यापि नित्यत्वेन अद्गी-कृतोपेक्षैवाप्तसम्भावितेति ज्ञाननायोक्तं, न द्रष्टव्यः कदाचनेति । अत एव सिद्धचरणेशुरक्तं 'अद्गीकृतजनननितापराधपूटसमाविनीदोस्य । अद्गीकृतिश्च नित्या वदन्तु

कोन्योस्य साम्प्रतिया'चेनाह्नीकारस्य नित्यत्वे न सन्देहः । कदाचनेति भूतपरिण-
द्र्वमानकालेषीत्यर्थः ॥ ७ ॥

यद्यप्युपेक्षां न करिष्यति, तथापि, अपरापस्य जातत्वाद्युनः पूर्ववत्तार्थी दृष्टा
न करिष्यतीति मनःसन्देहनिवृत्त्यर्थमाहुः, सर्वं समर्पितमिति ।

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखी भव ।

रत्रपि पूर्वं कृपासीदेव, यतस्तथा सर्वमेव समर्पितं, तथापि भक्त्या भक्तिमार्गात्तु-
सारेण, न तु विहितत्वाद्युपाधिना, तस्मात्त्वं फलरूपभक्तिमार्गाह्नीकारेण कृतार्थ एवासि ।
मध्ये मौढ्यासोद्वह्ननजनितपाराधेन अन्तराये सति क्लेशं माप्तवानसि । अतस्तप्राप्तं
परित्यज्य प्रभ्याज्ञा कृत्वा पुनः पूर्ववदेव सुखीभव यथापूर्वं सुखं प्राप्नुहि । ननु, अह्नी-
कारस्य नित्यत्वात्फलमार्गीयं सुखं यद्यपि दास्यति तथापि पूर्ववत्तर्वात्मना दास्यति
न वेति सन्देहजनितक्लेशप्रवृत्त्यान्तेन दूरीकुर्वन्ति । प्रौढापीति ।

प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥

तथा देहे न कर्त्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

फले मधुः तारतम्यं तदा कुर्याद्यदि त्वदपेक्षा न स्यात्, यस्यापेक्षास्यवती तस्य
दोषमप्यनङ्गीकृत्य पत्वं ददात्येव । पूर्वोक्तं दृष्टान्तमेव विवृण्वन्ति । यथा मौडा रमणयोग्या
स्वर्गीया दुहिता तस्यां स्नेहाधिरमात्रं तस्या वरे भोक्तुरि भोगावश्यकदृष्टारागये यदि
न प्रेष्यते तदा वरः स्वाभिलाषाया अपूर्त्यांसन्तुष्टो भवति । प्रेष्यते चेत्सन्तुष्ट एव
भवति । अपि जन्मेन यद्यपि पाणिग्रहणमारभ्यैव तस्य योगेन्द्रास्त्येव, तथापि तस्यां
स्नोपपदांसिद्धिस्तुतेन विलम्बमपि सद्यते । सिद्धिस्तुतरशायां विलम्बरुचरि असन्तुष्ट एव
भवति । तथा मधोः सर्वात्मना स्नापेक्षास्येव यदि अपेक्षां ज्ञात्वा कार्यसंपत्तिर्न त्रियते
तदा प्रभुरसन्तुष्ट एव भवति । तस्मादयं विलम्बः मधोः स्वाभिलाषितसिद्धयभावेतुक्
इति, विलम्बामात्रे पूर्ववदेव सर्वात्मना स्वाभिलाषापूर्वमेव पत्वं दास्यत्येवैवसिद्धिर्मे
विलम्बरस्याज्य पश्यत उक्तम् । तथा देहे न कर्त्तव्यमिति । देहे देहन्यागविषये
सर्वात्मना मधुसन्तोषाभावाद्द्विग्नो न कार्यः । यथा दृष्टिवृत्तेष्वपि विलम्बे स्नेहो हेतुः ।
तन्निराकरणपूर्वकप्रेषणे वरसन्तोषेणोभयकार्यसिद्धिस्तयाराग्याग्रहेतुत्वात्पूर्वमाश्रय-
णेनोभयकार्यसिद्धिरिति सर्वात्मना मधुसन्तोषार्थं देहन्यागविलम्बेहेतुर्देहस्याज्य एव ।

ननु यद्यप्यस्मिन्नर्थे दहोऽनुचित्तथापि मयत्प्रभिमैत्रीमागवतार्थमात्रेण स्नेहं
परमोत्कर्षः सिद्धयतीति कदाचिद्यदिद्विग्नोऽस्यैन्द्रा सम्भवति । तस्या अपि पत्न-
विग्नमेतुतेन तां निराकुर्वन्ति, लोकावदिति ।

लोकवचेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥

यद्यपि भगवदभिप्रेतश्रीभागवतार्थभाष्येन जैमिनिव्यासादिवत् श्रुयविरुद्धालौकि-
कशास्त्रार्थभाष्येन लोक एवोत्कर्षः सिद्धयेत् । नत्वलौकिकत्वसिद्धान्तफलानुभवहेतु-
त्कर्षः सिद्धयति । लोकोत्कर्षसिद्धौ जैमिनिव्यासाद्युत्कर्षवृद्धौकिक एवोत्कर्षः सेत्सपत्ति, न
तु स्वमार्गीयोत्कर्षोपि । तस्माच्चतुत्कर्षसिद्धौमे मय स्वमार्गीयफलभोक्तुः पूर्वोत्कर्षफल-
विचारस्य स्वमार्गीयफलविलम्बहेतुलार्तिक फलं स्याच्च किमपीत्यर्थः । स्वमार्गीयफलविचारे
यत्र गुतयादीनामपि निःफलत्वं यत्र पूर्वोक्तलौकिकस्यापि फलत्वगणना सधाम्भना द्रा-
पास्तेति ज्ञापनायोक्तम्, किं स्यादिति । अत एतत्फलतारतम्यविचारेण त्वयापि सर्वा-
त्मना फलसिद्धिविलम्बाभाव एव विचारणीयो न त्वन्योपि विचारः कर्तव्य इति ज्ञाप-
नायोक्तम् । विचारयेति ॥ ९ ॥

यद्यपि फलविलम्बाभाव एव विचारणीयत्वयापि बलात्कारेण शरीरत्यागस्य
स्वतोऽश्वक्यत्वात् कथं सम्भवतीति सन्देहनिशरणप्रकारमाहुः । अशक्य इति ।

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ॥ १० ॥

यद्यपि बलात्कारेण शरीरत्यागः स्वकर्तृकचेत्स्यात्तदाऽशक्यः स्यात् । प्रकृते
शरीरत्यागस्तु भगवदिच्छाकर्तृक इति न स्वस्याशक्यत्वम् । पतोऽश्वयादिसर्वदुःख-
हर्चा यो हरिः स एव सर्वपुरुषार्थसाधकत्वेन स्थित एवास्ति । अत्र हरिपदोक्त्या
देहत्यागोपि फलान्तरापदुःखदूरीकरणार्थमेव । अतो लोके अशक्यस्याप्यन्यापासेन
साधकत्वमुक्तं भवति । तस्मात्फलविलम्बाभावाप्येतावदकर्तारि मोहं मा गाः, मोहं
चित्तविशेषं मा गा, न प्राप्नुहि, कथञ्चन केनापि प्रकारेण आशोऽहङ्गनगनिशपराध-
फलविलम्बविषये आशोऽहङ्गनात्पूर्वसामयिकफलानुभवे, आशान्तरणानन्तरं फलानुभव-
वारतम्यविषये च सर्वात्मना वैयम्यभावशोघनायोक्तम्, कथञ्चनेति । अतः पर-
मुक्तार्थगुणसंहरन्ति ॥ १० ॥

एवं प्रशोघनेन सर्वात्मना वैयम्यनिवृत्तिरिति ज्ञापनापाहुः । इतीति ।

इति श्रीकृष्णदासस्य बलभस्य हितं वचः ।

चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीबलभाचार्यविरचितमन्तःकरणप्रशोधः समाप्तः ।

इतीति समाप्तौ । श्रीकृष्णदासस्य धीहृष्यवदेन भक्तसहितस्त्रीनारसाविवृत्तं
ज्ञापितं, तदासत्वेन शुद्धपुष्टिमार्गीयफलरूपदास्यं माहस्य तत्रापि बलभस्य ममोः शुद्ध-

पुष्टिमार्गीयफलरूपदास्यभासानां च बल्लभस्यात्यन्तं प्रियस्य तादृशस्य स्वचित्तं मति
 हितं वचः, हितं हितकारि । वचसि हितमिति पदोपादानेन वचनस्य आत्मवाक्यत्वेन
 मामाण्यावधारणेन चित्तस्य सर्वात्मना वैयर्थ्याभावः सिद्ध इति ज्ञापनायोक्तम् । चित्तं
 प्रतीति । एवं प्रबोधनेन स्वचित्तस्य शुद्धपुष्टिमार्गीयपरमफलानुभवयोग्यतां निःसन्दि-
 ग्नामुपपाद्य एतच्छ्रवणेन स्वमार्गीयाणामपि स्वाधिकारानुसारेणापि भक्तिमार्गीयफलं
 सिद्धयतीति ज्ञापनायाहुः, यदाकर्ण्येति । यद्वच आकर्ण्य आसमन्ताच्छ्रुत्वा । यत्रपि
 वचः श्रुत्वेत्येतावतैव श्रवणसिद्धावपि आसमन्तात्कथनेन साभिप्रायश्रवणं ज्ञापितम् ।
 साभिप्रायश्रवणस्य फलपाहुः, भक्त इत्यादि । भक्तो भगवति स्निग्धो भवति । तदन-
 न्तरमाचार्याणां फलविलम्बहेतुदूरीकरणसामर्थ्यं ज्ञात्वा स्वस्वापि फलविलम्बहेतुचिन्तां
 दूरीकरिष्यन्तीति चिन्तापरित्यागेन निश्चिन्तयां ब्रजेत् मामोतीत्यर्थः ।

चित्तप्रबोधकाचार्यवचांसि विवृतानि वै ।

तेनाचार्याः प्रसीदन्तु स्वीये मयि सदा स्वतः ।

इति श्रीपितृपादान्तरपरागधनिना मया ।

श्रीबल्लभेन विरचिता विवृतिः पूर्णतामियात् ॥ २ ॥

अर्पिता श्रीमदाचार्यपदाब्जेषु मया स्वतः ।

तेनैव कृतकृत्योस्मि इति मे निश्चिता मतिः ॥ ३ ॥

इति श्रीबल्लभविरचितान्तःकरणप्रबोधटीका समाप्ता ।



श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीरघुनाथचरणनिर्मितं विवरणम् ।

ब्रजस्त्रीनेत्रनलिनवनालीषु परिभ्रमन् ।

लिप्सैस्तन्मधु योऽलित्वं माप सं कृष्णपाश्र्वे ॥ १ ॥

अयं भगवद्गीयानामनवरतभगवद्भजनसिद्ध्यर्थं तत्प्रत्युद्भूतितज्जितचित्तान्ताम-
द्वददहनदमनोपायमन्तःकरणप्रबोधमन्तःकरणं संमुखीकृत्य प्रतिमानते । अन्तःकरणम-
द्वाक्यं सावधानतया शृण्वति ।

अन्तःकरणं मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।

कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

अत्र स्वान्तःकरणव्यपदेशेनान्येषामन्तःकरणं प्रबोध्यत इति हेतुम् । कृष्णात्परं
नास्ति दैवमित्यादिवक्ष्यमानं मदीयं वाक्यं सावधानतया प्रमादरहित्येन शृणु आक-
र्षयैत्यर्थः । तदेवाहुः, कृष्णात्परमिति । वस्तुतः परमार्थतो विचार्यमाणे 'कृपिर्भूवाचक'
इत्यादिनिश्चितबलात्कृष्णात्परमन्यदोषवर्जितं दैवं देवः सर्वोपास्य ईश्वरो नास्तीत्यर्थः ।
अत एव गीतायां 'न त्वत्समोऽस्त्वभ्यधिकः कुतोऽन्य' इति । एवं बुध्यस्विति वाक्यशेषः ।
ननु भगवद्गीयानामपि कदाचिच्चोक्तवस्तुव्यतिरिक्तमिदं दृश्यतेऽतथाभिमानेन सावधान-
माशङ्क्य, अहं भगवति कृतात्मनिवेदीति सर्वे मपि भगवदेककर्तृकमिति विमृश्य मद्प-
मानमपि भगवतैव कृतमिति भगवत्परि दोषस्त्वृचौ सद्यष्टान्तं समाधानमाहुः ।

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।

कदाचिदपमाने वा मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

अत्र चाण्डालीतिपदं महादोषोपलक्षणपरं, तेन सदोषा या काचन राजपत्नीत्वेन
परिदृशीता जाता राज्ञा च सत्कृता, कदाचिदस्या अपमानेपि मूलतः स्वरूपाक्षतिः
इति भावः । अयं भावः । भगवन्ताम्बन्धं विना सर्वेषामन्तःकरणं
स्वभावतो दुष्टमेव । इत्यर्थस्तु भगवत्सम्बन्धक एव, तेन यत्सम्बन्धात्स्वयमुत्पद्ये इत्य-

भिगन्धने, तच्छाणभानेषु स्वरूपं तु स्वस्य पूर्वं सदोपमेवेति कुवस्वरां दोषावकाश इति ।
चकारादन्पैरपि राश्रीत्वेन मानिता पूजिता । दृष्टान्ते एवं द्वेषं, सदोपाया अपि चाण्डा-
ल्या रात्रपरिग्रहात् मानिताया अपि कदाचिद्राजकृततिरस्कारे स्वजातीयपतिकृतसंमान-
ननो वरं रात्रकृतनिरस्कार इति, यथा सम्बन्ध्युत्कर्षात्स्वोत्कर्षः । एवं भगवत्कृता-
पमानैपि स्वस्य लाभ एव न हानिरिति भावः ॥ २ ॥

स्वस्यान्तःकरणं स्वयमेव कथं बोधनीयमित्यपेक्षापाबाहुः ।

समर्पणादहं पूर्वंसुत्तमः किं सदा स्थितः ।

कामाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

योहमिदानीमुद्यमत्वाभिमानेनावमतोस्तीति मन्ये स एनाहमात्पसमर्पणात्पूर्वमपि
किं सर्वकालमुत्तम एव स्थित आसम्, प्रत्युत तद्विपरीत एवासमतो मम पूर्वापेक्षयाऽधमता
का भाव्या भविष्यति । यतः पूर्वावस्थामनुस्मृत्य पश्चात्तापो भवेदित्यर्थः ॥ ३ ॥

नन्वेवं बहुशः समाधानेरीदानीन्तनात्मनक्तकलदशायापमन्येवं कुर्याचेत्तदानीं कथं
समाहिवित्पेक्षापाबाहुः ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।

आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोन्मथया भवेत् ॥ ४ ॥

सत्यो यथार्यो यः सङ्कल्पो यत् तस्माद्विष्णुः सर्वत्र वर्त्तमानः फलदशायापम-
न्यथा न करिष्यत्येवेति श्लेषम् । तुशब्दो निन्दारणे च । स च सङ्कल्पो यथा । ' द्विःशरं
नाभिसन्धत्ते द्विःस्थापयति नाभितान् । द्विर्ददाति न चार्यभ्यो रामो द्विनैव भावते ' ।
' सङ्कदेव मयश्चो यो यस्ववास्तीति याचते । अमर्षं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्गतं मम ' ।
' कौन्तेय प्रतिजानोहि न मे भक्तः प्रणश्यती'त्येवमादिषु श्लेषः । येन भगवताहं सर्वतः
पृथक्त्वय स्वभजने योजितः स कथमग्रे त्यक्ष्यतीति भावः । स्वस्यावश्यकर्त्तव्यपाबाहुः ।
आज्ञीयेति । सततं निरन्तरमाचार्यद्वारा या आज्ञा तैव कार्या न तु कदाचिदुपनाङ्ग-
मन्यमतसिद्धं वा । अन्यथा एवमकरणे स्वामिद्रोह एव भवेत् ॥ ४ ॥

नन्वाज्ञातिरिक्तकार्यमात्राकरणे शस्ते चिकीर्षितकार्यस्य कथं सम्पत्तिरित्याहुः ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

सर्वस्वनिवेदिभक्तस्यापमेव धर्मो यद् स्तावी मधुरेव सर्वभेदिकामुष्मिकं स्वस्य
स्वीयभक्तस्य करिष्यतीत्यर्थः । एवमनुसन्दधानेन स्पेयमिति भावः ॥ ५ ॥

अत्र विश्वासार्थमाचार्याः स्वातुभवमुज्जावपन्त्याज्ञा पूर्वमित्यारभ्य श्लोकद्वयेन ।

आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ।

यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तदयं मया ॥ ६ ॥

देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ।

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।

लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

आज्ञापूर्वमिति । मां प्रति पूर्वं मयमयाज्ञा देशपरित्यागविषयिणी गङ्गासागर-
सङ्गमे जाता । यापि पुनरन्या देहपरित्यागविषयिणी मधुवने मधुरायां जाता तदाज्ञा-
द्वयं मया न कृतमेव । तृतीया या लोकगोचरा लोकविषयिणी लोकानुद्धरस्वेत्येवंख्या सा
कृतेचि शेषः ।

तत्राज्ञद्वयभङ्गरूपेणैव सति कर्यं मम पश्चात्तापो, यन्मया न कृतमित्येवं रूपः, स न
कथमपि सङ्गच्छत इति । अकरणे हेतुः, सेवकोहमिति । सेवकरूप सर्वस्वनिवेदिनो या
काचन कृतिः सा भगवद्विच्छदैवेति निश्चयात् । न चान्यथा अन्यसहस्रो नास्मीत्यर्थः ।

ननु लौकिकमभूणामिवाज्ञाभङ्गस्यादोषत्वे भगवतोपि तथात्वापत्तिरित्यत्र आहुः ।
लौकिकप्रभुवदिति । कदाचिदासुरव्यापोहारं लोकवदाचरणेपि लोकवद्गवाच कदा-
चिदपि द्वेष इत्यर्थः । लोकवदाचरणं तु रामायणपौसलादिषु प्रासिद्धम् ॥ ७ ॥

कस्मिन्नप्येव चिन्ता न कार्येत्याहुः ।

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखीभव ।

श्रीदापि दुहिता यदत्लेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥

तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

लोकवचेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥

सर्वं लौकिकालौकिकसाधारणं स्वीयं भक्त्या श्लेषपूर्वकं समर्पितमेवास्ति, अतः
कृतार्थोसि कृतकृत्योसि सुखी भव, सुखैर्नैवं कर्तव्यं, न प्रियया चिन्तयेन्मर्षः । आहस्या-
दिना भगवदर्थं प्रियास्पदं स्वशरीरनुपयुज्जानं प्रति सदृशान्तं दोषमाहुः । श्रीदापीति ।
श्रीदा वृद्धा, अपि शब्दाद्मौढ्यपि दुहिता यदा श्लेषवशाद्दरे वदन्वरेण न प्रेष्यते न याप्यते
तदा तत्त्वामी वरस्तां विना प्रकारान्तरेण न तुष्टो भवतीति, यदयपास्ति तथा
निवेदिते देहेऽप्यतिश्लेषवशादनुपयोगो भगवदसन्तोषकारक इत्यर्थः । लोकवदिति ।

साधारणलोकवन्द्ये यदि स्थितिः स्याच्चदेदानौतनावस्थापेक्षया तदधिकं लोके वेदे च किं
स्यान्न किमपि, प्रश्रुत सर्वनाश एव भवेदित्येवं त्वमेव विचारय, इदमुपपन्नं न वेति ।

ननु सर्वथा शरीरायन्नक्तौ भजनासम्पत्ते कथं निस्तव इत्यत आहुः ॥

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ॥ १० ॥

सर्वमकारेण कृत्यऽसाध्येषु हरिरेवास्ति मम शरणमिति बुद्धिमवलम्बस्व । अस्मि-
न्नर्थे कथमपि मोहं वैचित्यं मा गाः, मा प्राप्नुहि ॥ १० ॥

उपसंहरन्ति ।

इति श्रीकृष्णदासस्य बल्लभस्य हितं वचः ।

चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्तता व्रजेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीकृष्णे दास्यं गतस्य बल्लभस्य, श्रीकृष्णदासस्येति जात्यभिप्रायेणैकवचनं वा ।
श्रीकृष्णदासस्य चित्तं प्रति हितमभीष्टसम्पादकं बल्लभस्येदमभिरुतं वचो ज्ञेयम् । कथं
तदित्यत आहुः, यदाकर्ण्येति । यद्वचः श्रुत्वा भक्तो नैश्चित्त्यं प्राप्नुयादिति ॥ ११ ॥

इति * श्रीबिह्लेश्वरारामजञ्जीरगुनाथविरचितमन्त्रःकरणप्रबोधविवरणं
संपूर्णम् ।

* केनचिद्व्येसकेन श्रीमद्वल्लभाचार्यं विवृत्यापिनिमित्तं, परमपुत्र श्रीखुनाथाविद्यानङ्गलम्ब्येन
श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितटीकाप्रकाशक इतिरिषे श्रीखुनाथामेवेति विधीयत ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनघट्टनाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीबलुभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।



श्रीमन्महानुभावश्रीहरिरायचरणविरचितविद्युत्तिसमेतः ।

अथ श्रीबलुभाचार्याः कृष्णेतातिदयालुना । निःसाधनजनोद्धृत्यै पुष्टिप्रकटनेच्छुना ॥
स्वास्यरूपाः स्वतस्तेन प्रभुणा मफटीकृताः । जिवोद्गाराय विद्वत्तिं चक्रुर्भागवते मुदा ॥
तथा स्वतन्त्रमजनप्रकारस्योपदेशनम् । तत्रश्च भगवान्पत्वा स्वभागोद्गाढनं हि तैः ॥
आचार्यविप्रयोगं चासहमानोखिलेश्वरः । आज्ञाद्वपमदादेहदेशरपागैकबोधिकम् ॥
ततः स्वभौदिवशतः फरुणावशतोपि च । तद्वयोल्लङ्घनं चक्रुः पथाचापस्ततोऽभवत् ॥
दोषस्फूर्त्या हरौ सद्बलिलम्बास्यागजाद्रपात् । अङ्गीकृतिगतेश्यापि धर्मत्यागाच्च दुःसहः ॥
चालवत्पूर्वमाज्ञप्तः पथान्नेति यद्व्रवीत् । यां तेनास्थिरवास्त्वं हि हरौ दोषस्तदास्फुरत् ॥
ततः समादधुश्चिचं वचनैः स्फूर्तिभागतैः ।

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।

कृष्णात् परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

अन्तःकरणपदतो पहिरज्ञानबोधनम् ॥

दोषसम्बन्धतश्चित्ते* स्वभिक्षत्वं हि मन्वते । आज्ञोल्लङ्घनतो दोषो भगवदोपभावनात् ॥
अत एव तदास्मीयं कर्तुमत्र सप्ताहतिः । अन्वया मोदिदार्दर्यं तु सर्वभावाच्छ्रुतिर्भवेत् ॥
मद्वाक्यमिति वाक्येषु स्वसम्बन्धो निरूपितः । निर्दोषभगवद्ज्ञानबोधकत्वात् सर्वथा ॥
अत एव समाप्तो हि पदयोरेव बोधितः । वाक्यमित्येकवचनं सर्वैरकार्यबोधनात् ॥
स्ववाक्यस्य दुरुहत्वाद्भावमौडरूप चेतसः । अर्थावगमस्तस्मात्सावधानत्वबोधनम् ॥
श्रवणोक्त्या सतात्पर्यमर्थावगमनं मतम् । श्रवणेनैव हि स्वीयविचारान्तरवारणम् ॥
एतदश्रवणे दोषोपीति विध्यवतारणम् । पथाचापो द्विधा जातः प्रभुदोषसमागतेः ॥
आज्ञारूपस्यधर्मस्य परित्यागात्स्वदोषतः । तत्र तु प्रथमं दोषः मभौ नास्तीति कथ्यते ॥
तदारोपणतश्चित्ते भ्रान्तत्वपि चोच्यते । न हि कृष्णं सदानन्दे दोषसम्भावनोद्भवः ॥
सच्छब्देन यतस्तत्र दोषाभावश्च रूप्यते । सर्वस्यैव तदात्मत्वाच्च परं विद्यते ततः ॥

अतो वैषम्यनैर्घृण्ये अपि दोषो न कर्तरि । नास्तीत्युक्त्या तदन्यस्य सत्ताभावो विबोध्यते ॥
 दैवशब्देन पूज्यत्वं सर्वेषां ज्ञापितं हरौ । तस्यैव च परत्वेन सर्वोक्तप्रत्यबोधनम् ॥
 जगत्पूज्ये भगवति दोषसत्ता कथं भवेत् । अन्येषामपि पूज्यत्वं तदिभूतित्वतोपि हि ॥
 भृगवे हरिणा स्वस्य दोषाभावो विबोधितः । निर्दोषपूर्णगुणता सर्वत्रैव निरूपिता ॥
 सर्वेषां भाग्यरूपत्वं दैवशब्देन चोदितम् । यथा भाग्यं विना सर्वसाधनं विकलं मतम् ॥
 तथा तत्रातिकूल्ये न देवानां फलदावृता । अत एवास्मदाचार्यैर्घृण्ये सेवाफलाभिषे ॥
 तदान्पद्मेवसेवापि व्यर्थेति विनिरूपितम् । प्रायश्चित्तानि चीर्णानीत्यादिवाक्यानि सन्ति हि ॥
 स्वसम्बन्धेन सर्वेषां फलदे दोषवारके । स्वरूपतोपि निर्दोषे कथं दोषनिरूपणम् ॥
 ननु भ्रुण्यवतारे तु क्रोधादि दृश्यते हरौ । दैत्यमारणतोन्नत्युपवीनां परिमहात् ॥
 क्रोधोपि देवस्येत्यादिवाक्यं च खलु दृश्यते । इति चेन्न हरौ दोषः प्रतीत्या न हि वस्तुतः ॥
 विचार्यमाणे क्रोधादि हितं पर्यवसानतः । श्रुक्तिदानाभिमानन्दानाचदधिकारतः ॥
 दोषा एव न जीवैस्तु मयुक्तास्तं स्पृशन्त्यपि । अभिकारा वैष्णववदवस्तहोपवर्जितम् ॥
 एवं सतीदृशो नाथे दोषारोपणतः स्वतः । पूर्वं जातोपि चोत्कर्षो नश्येचदपमानतः ॥
 स्वामिसम्बन्धराहित्याद्भवेत्तु महती क्षतिः । इति चेत्तत्समाधानमग्निपश्लोकरूपितम् ॥

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।

कदाचिदपमानेपि मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

संभावितस्य चाकीर्षिरिति गीतोक्तवाक्यतः । उक्तप्रस्य पुरा पश्चादपकर्षे क्षतिर्भवेत् ॥
 पूर्वं स्वरूपे दृष्टान्तस्तथा हीनो निरूपितः । तादृशस्य तयोत्कर्षे मूलं तु मगच्छन्तः ॥
 पुष्टिभार्गवद्वतौ नैव जीवोत्कर्षो नियापकः । भक्तिर्दसे तथा चोक्तं मधुभिर्विद्वलेभ्यैः ॥
 पूर्वं जीवगतोत्कर्षोऽप्यन्योन्येन इत्यपि । मूलतस्त्वपमाने तु न हीनस्य क्षतिर्भवेत् ॥
 अपमानमदुःखं तु क्रियते स्वविचारतः । दास्यं स्मर मनः स्वीयं दासानां नाग्रमानम् ॥
 चेदित्यनेन दौर्लभ्यमङ्गीकारे निरूपितम् । जातं पद्माश्रयणीत्वं तत्र याति कथञ्चन ॥
 अन्यैर्वा सा न दुर्गावपैवेकुं शनया वञ्चान्वितैः । न वा तदुपभोगोन्मैः पश्चात्कर्तुं हि शक्यते ॥
 अपमाने विलम्बस्तु विरहातुभवार्थकः । बहिः संवेदने पश्चाद्दैन्यपात्रपसाधकः ॥
 तदनन्तरमन्येपि माहृत्यमतपो ध्रुवम् । मानयन्ति यतस्तत्रां हि नापकर्षस्तवो मतः ॥
 कदाचिदित्यनेनात्र नित्यता नाममानने । मनःपूर्वकृतित्वेन नित्यताङ्गीकृता हरैः ॥
 नापमाने यतस्तत्र हरिरिच्छा न तादृशी । शिष्याय दण्डनार्थं वा कुर्वते न भित्तेच्छया ॥
 इच्छापूर्वकृतित्वे हि भवेदेव हि नित्यता । दण्डोऽप्यनुमदः शोकः सर्वत्रैवाव एव हि ॥
 अपि शब्देन तस्यापि मानसाम्यं निरूपितम् । एवं वाक्यैर्बोधयित्वा दृष्टान्तेन च बोधनम् ॥
 क्रियते वदता यस्मात्कृतबोधस्य सिध्यति ।

समपर्णादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।

का ममाधमता भान्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

अहं समर्पणात्पूर्वमुत्तमः किं स्थितो मनः॥

यतो दोषा निवृत्तास्तु सर्वेषां तत्समर्पणान् । सदेत्यनेन हृदये तदावेशात्कवित्कचित् ॥
जाताप्युत्तमता नैव निरन्तरमभून्मयि । यथा श्रावणशुद्धैकादश्यां कृष्णे पुरःस्थिते ॥
साक्षात्समर्पणे सर्वोत्तमत्वं न तथा पुरा । नन्वास्परूपाचार्याणां कथनं नैव युज्यते
ईदृशं कृष्णरूपवशात्सर्वस्योत्तमता यतः । इति चेन्न रसात्पश्चात्स्वरूपं च तत्तथा ॥
यथा भगवतो लीलारसानुभवसिद्धये । मानिनीषु तथारूपं महं तादृशत्वोपि हि ॥
तथावतारे भक्त्यास्वरसानुभवेतुक्तम् । रूपं तथा वचश्चापि स्थाचार्यचरणोदितम् ॥
अतो रसात्पश्चे रूपे न कार्यः संशयस्तथा । यतो रसस्वरूपं हि यत्र यादृक् तथैव तत् ॥
किञ्चापुना व्याधमता का वा भान्या मम त्वया । यतोऽधमतरतश्चित् पश्चात्तापो भवेत्तवा ॥
नतु सत्यं तथाप्येष कृष्णः सर्वोत्तमः स्वतः । कर्तुं चापि तथाऽऽर्तुमन्यथा कर्तुमीश्वरः ॥
अतः कदाचिद्वरणं कुर्याद्वेदन्यथा तदा । का गतिः कुत्र गच्छामि गत्वा वान्यं कमाश्रये ॥
इयं चिन्ता न कर्तव्या—

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु कस्मिन्ति ।

आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

सत्यसङ्कल्पतो हरिः । स्वाह्नीकृति कृपापूर्णां न कुर्यादन्वया क्वचित् ॥
केषां सत्या कृतिः केषां वाक् सत्या न विचारितम् । विचारितं हरेः सत्यमतस्तु कथनोन्यथा ॥
कदाचिदासदोषेण नान्यथा तद्विचारितम् । अतो वचःश्रुतौ नैवं विप्रैर्यं भयमन्यथा ॥
विष्णुः सर्वत्र सत्येन रक्षकः कथमन्यथा । कारिष्यति यतो रक्षा साधारण्या कृतिः प्रभोः ॥
तुशब्देन न भक्तेषु क्वचिदप्यन्यथा कृतिः । करणं वाप्यकरणं गुणार्थोस्तु विशुद्धये ॥
नन्येवं चेत्स्वतन्त्रत्वं किं दासानां न वाचकम् । स्वतन्त्रा गतचिन्तास्तु कुर्वुराज्ञाविलोपनम् ॥
तथासति महान् दोषस्तदर्धमिदं चोच्यते । आज्ञैव कार्या दासेन न प्रभो न विचारणम् ॥
एवकारेण धर्माणामाज्ञात्वेनैव वै कृतिः । कार्यन्वाच्यकत्वार्थमत्ययान्तपदोक्तितः ॥
सेवकस्नामकुर्वन् वै प्रत्यवायी हि जायते । निरन्तरं तत्कृतिस्तु स्वधर्मत्वेन योधिता ॥
स्वधर्मो यादृशस्तस्याऽऽकृतौ दोषोपि तादृशः । नाम्पदेधर्मस्याऽऽकरणे वाञ्छनिरूपितः
नरकादिः, स्वल्पात्प्रधर्मस्याऽऽकरणे हरेः । स्वामिद्रोहो महान् दोषः स्वरूपेण विरोधतः ॥
आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणामिति लौकिकशासकतः ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।
 आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥
 यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तदयं मया ।
 देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥

सेवकस्य हरेः सेवां कुर्वतो मार्गवर्तिनः ॥

धर्मोपमेव नान्योस्ति यदाज्ञाकरणं प्रभोः । तुशब्देनान्यथा धर्मः पुष्टिस्थेषु विलीयते,
 तदाज्ञालोपमानादि तद्वरेर्धर्मवेशनात् । तथैवात्रापि विज्ञेयं न, धर्मोपमितीरितम् ॥
 अत एवार्जुनेनोक्तं करिष्ये वचनं तव । न चापमीदृशो धर्मः सन्दिग्धफलसाधकः ॥
 यत आज्ञाभिधं धर्मं हरिः स्वीयं करिष्यति । 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यः' इत्युक्तं हरिणा यतः ॥
 अन्ये सर्वेपि ये धर्मास्ते विभूतिपराः कृताः । फलदानं विभूतिभ्यस्तेषु सर्वत्र निश्चितम् ॥
 ईदृग् धर्मपरित्यागं स्वस्मिन्नाहुर्मनः प्रति । पश्चात्तापोप्यतो योग्यः सर्वयेति निरूपितम् ॥
 तदेवाहुर्निजाचार्या मत्प्रभाज्ञात्रयं हरिः * अदात्, तत्र स्थलं पूर्वाज्ञायां च तन्निरूपितम् ॥
 यत्र देहपरित्यागः कर्त्तव्य इति सोऽब्रवीत् । तत्र बीजं तु साविध्याद्भोर्भावात्प्रकृत्य हि ॥
 साक्षात्तद्भावसम्बन्धो विना मार्गोपदेशनम् । ततः स्वरूपप्राकट्यं पुष्टिमार्गस्थितप्रभोः ॥
 *ज्ञानं च नाभिलषितं गूढभावस्य वै हरेः । सर्वत्र सर्वजीवानां *तेनैवं प्रभुवत्कृतम् ॥
 ततः प्राकृतवत्कृत्या गार्हस्थ्यदादौ विमोहनम् । सम्प्राप्य स्वीयसाविध्यं भक्तानामेव कारितम् ॥
 उपदेशनमारब्धभाचार्यैः पुष्टिमार्गगम् । ततो मधुवने सर्वा गूढलीला प्रकाशिता ॥
 उपदेशेन भक्तेभ्योऽनभीष्टं तदपि प्रभोः । लीलाधारत्वात् स्वस्य तद्गारैव प्रकाशनात् ॥
 तद्व्यं न कृतं कृष्णाऽऽज्ञाया रसविशेषतः । श्रीभागवतगूढार्थप्रकटीकरणानया ॥
 लीलास्यलक्षणासक्तेर्न भयं प्रौढितो स्तैः । तुशब्देनाधुना नैव तादृगाज्ञां ददाति हि ॥
 स्वास्थ्यवाचये न संन्यासे कुलते भावप्रदानम् । 'स्वास्थ्यवाचयं न कर्त्तव्यं' इत्यतोऽस्वत्वभोर्वचः ॥
 स्थलं च प्रथमाज्ञायाः स्वसंयोगप्रबोधकम् । गङ्गायाः सागरेणात्र यथा योगस्यथा मया ॥
 एकीभावेन सम्बन्ध इति स्वामिप्रलोभनम् । पथे द्वितीयं यः प्रोक्तोऽपिशब्दस्तेन बोधितम् ॥
 एतदाज्ञापनमपि स्वसम्बन्धनलीभकम् । पश्चात्सन्देशैतदाज्ञा विलम्बेन समुद्रता ॥
 स्थलं मधुवने प्रोक्तं दुष्टसम्बन्धतस्यया । तत्र नैवंविधं कार्यं कार्यमित्याशयो हरेः ॥
 तत्रत्यानाञ्च विप्रणामतः प्रौक्तैव दुष्टता । एतद्व्यं तु न कृतं तृतीयोऽर्थाल्लोभो मतः ॥

* अदात्तत्र च त्र पूर्वाज्ञायां तत्र निरूपितम् । इति पाठः ।

* एतादृशं प्रभुप्राकृत्यात्मकं ज्ञानं सर्वत्र सर्वजीवानां स्वादिती गूढभावस्य हरेर्निरूपितम् ।

* एव देहत्यागकथम् ।

त्यागो लोकैकविषयो नापदानादिकर्जनात् । सेवाप्रदर्शनाभावात् सहनादुःखदस्य च ॥
नन्वेवं धर्मगमने पश्चात्तापस्तु संभवेत् । इति चेन्न; यतः सेवाकरणात्सेवकोऽस्म्यहम् ॥

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।

लौकिकप्रसवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

सेवा तु स्वाम्यभिहितकरणेन भवेत्पुनः । स्वापिनैव यदुक्तं मे श्रीभागवतवर्णनम् ॥
पुष्टिर्भाग्यप्रकटनं तदैव क्रियते मया । तदुत्तरं चैत्स्यास्यापि तदा दोषो भविष्यति ॥
न चाज्ञापातसेवायाः करणे धर्मनश्रुतिः । सेवाकृतेरज्ञापि स्थितेरन्यत्रिभवेत् ॥
तदा केन प्रकारेण पश्चात्तापो भवेन्नम । ननु मभूयां लोके तु दृष्ट्वा सेवाकृतावपि }
परित्यागकृतिः स्वीयोचराज्ञापरिपालने । अत्रापि चेत्तथाभावे पश्चात्तापस्तु सर्वथा }
इति चेन्न हरिः कृष्णो द्रष्टव्यो लौकिकेश्वरः । स भावाऽज्ञो हरिर्भावेत्तास्य क्षणिको हरिः
न तथा, स तु दोषादग्नौ हरिर्दोषविवर्जितः । सोऽनिरास्यस्वीकृतिः कृष्णो नित्याङ्गीकरणो मतः ॥
स दुःखरूपः कृष्णस्तु पूर्णानन्दो निरूपितः । सोऽत्यदः पूर्णपरमानन्दसन्दोहदो हरिः ॥
फटाचनेति शब्देन सोऽस्थिरः स्थिरता हरेः । अतस्त्यागपथाऽभावाद्दुतापो निवारितः ॥

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोऽसि सुखी भव ।

किञ्च, सर्वं लौकिकं हि वैदिकं च समर्पितम् । अहन्तामपते चापि स्वया तत्र समर्पिते ॥
अतः कर्तव्यताऽभावात् कृतार्थत्वमभूत्तत्र । किमर्थं कुरुषे दुःखं किं तवास्ति सुखी भव ॥
भ्रमादेवाभवद्दुःखं स्वजाश्रितिश्रममाश्रयः । सेवावशाद्गमने नातोपोऽलौकिकप्रभोः ॥

प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहात् प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥

तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

सेवाविषयस्य करुणाकरस्य मृदुनेतसः । देहाध्यासाद्गमने स्वसन्तोषो भवेत्प्रभोः ॥
अतो विदधते चित्तसमाधानं निदर्शनात् । देहे न सत्ता स्थाप्या हि यथा दुहितरि स्वतः ॥
आमात्रयं पोषणं तु हर्षयं तद्दृश्य हि । अयोग्यतायां तन्निन्ता कर्तव्या रक्षणविधि ॥
प्रौढा चेतसकला चिन्ता तस्मैवेति विदुःश्रुत्याम् । अतो न देशध्यासेन देहाद्यपेक्षं हसौ
उचितं तद्गतस्नेहात्स न तुष्येद्यतो वरः प्रत्यग्रभोक्ता, नाऽज्ञातरसस्यायोग्यवस्तुनः ॥
अतः स तु कथं तुष्येद्येत्तायाप्रनर्पणात् । तदाशयपरिज्ञानमात्राच्चेदर्थते स्वतः ॥
तदा विशेषसन्तोषस्त्वाज्ञापार्थं मध्यमः स्मृतः । आद्यायामपि वैलोभो देशदेस्तोषणं कथम् ॥
यद्यं सकलापेक्षा तदभावेऽखिलं दृष्ट्या ।

लोकवचेत्स्यतिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ॥ १० ॥

ननु देहादिलोभस्तु लोकोत्पन्नस्य जायते ॥

स्नानभिन्नेतद्व्ययने प्राज्ञोपि भवति म्रिये । मदीरि मियसौभाग्यात्सासाधारण्यबोधकः ॥

जायते दोषभावश्च मयौ प्रौढिवशात्पुनः । अतः किञ्चित्प्रमिति चेन्नैवं चित्तोचितं मयि ॥

अहं तदास्वरूपोस्मि भक्त्यात्मा वदिरूपपृक् । निर्दुष्टः केवलानन्दरूपादादिसङ्गतः ॥

कृष्णापरसुधासागरः परमानन्दरूपवान् । भक्तिदाता समस्तानां स्त्रीयसान्निध्यमाश्रितः ॥

श्रीकृष्णरसभावात्मा ब्रजस्त्रीहृदयस्थितः । लीलाशतसयाकान्तसर्वाङ्गो विस्मृताखिलः ॥

हृदयस्वामिसहितो ह्याविर्भूतस्तदाज्ञया । एतादृशो मयापि स्याद्दोक्तवचेत्स्थितिर्मनः ॥

ह्यहि किं स्यादिति पुनः स्वयं ह्येव चिन्तय । तदास्यस्य स्थितौ चैवं प्रभोरपि तथा स्थितिः

इत्यज्ञानं न तद्युक्तं हरेरानन्दरूपिणः । अवाच्यत्वादेवमुक्तं स्वयमेव विचारय ॥

ननु जातेऽपराधे तु किं विधेयमशकितः । अज्ञात्वा वायवा ज्ञात्वा यत्कृतं नाकृतं हि तत् ॥

अतः कथं सोनुतापो हृदयाद्यु निवर्तते । इतिचेन्न हरिः सर्वदुःखहर्ता ह्युपेक्षते ॥

अज्ञानव्यये निनभक्तानां स्वयं सर्वत्र साधकः । यतो मजेन्द्रस्याज्ञवये स्वयमाविर्बभूव ह ॥

कार्यं च कृतवान् सर्वपतो हरिपदं यतः । एतेन साधनाभावे दैन्यमावोऽन्वे पुनः ॥

निःसाधनकलारभासौ मादुर्भवति निश्चितम् । एवकारेण नान्येषां निःसाधनकलात्पता ॥

न वा कृपाकृता पूर्णानन्दाभावात्प्रसास्थितेः । अस्तीति पदतः स्वाग्ने मादुर्भूतो निरूपितः ॥

अतो मोहं स्वैककल्पं मा प्रामुहि मनो मम । एवं सान्त्वःसमाधानं विषाय स्वसदुक्तिभिः ॥

इति श्रीकृष्णदासस्य ब्रह्मस्य हितं वचः ।

चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीब्रह्मभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः समाप्तः ।

सम्पाद्य स्वस्वनेश्चिन्त्यं स्वीयान्मति वदन्ति हि । एवं प्रकारकं वाच्यं हितं फलदशुभं हि ॥

स्वचित्तं प्रति यत्प्रोक्तं तदाकर्ण्य भजनं हरिम् । स्वदोषेष्वपिस्थियापीं प्रहृष्टित्वबोधतः ॥

परित्यागभयाभावाज्जनो निश्चिन्ततां व्रजेत् । नन्वेवं कथनादेव नैश्चिन्त्यं तु कथं भवेत् ॥

स्वानुभूतैरभावे तु वाङ्मात्राच्च हि सिध्यति । इति चेदुच्यते स्वीयान्तमापातुं स्वदासता ॥

आविर्भूतस्वरूपस्य प्रोक्तानुभवबोधने । अनुभूयैतदखिलं मयाव विनिरूपितम् ॥

नात्र कार्यो ह्यविश्वासो भवद्विः सफलादिभिः । ननु दासत्वकृष्णत्वे विरुद्धे भवतः कथम् ॥

किं वा विषाय काण्ड्यं तथात्वं स्वस्य कथ्यते । महारूपवचनं कृष्णत्वं चैष्वचारिकम् ॥

अथवा भाववञ्चतः स्वस्वरूपस्य विस्मृतिः । विरुद्धधर्मता वापि ब्रह्मवच्चर रूप्यते ॥
यद्वा व्याप्तोद्दिशिध्यैर्मेवं रूपनिरूपणम् । एवं हि संशये कार्यां सन्निरैवं समाहितिः ॥
यथा रसात्मनो रूपं हरेर्धत्र यथाविधम् । वचः क्रियापि सर्वैवानुरूपा यत्र यादृशी ॥
तत्र तादृग्विधं रूपमुच्यते न प्रदर्शनम् । अन्यथा न रसात्मत्वं स्याद्बोद्धृतं रसवत् ॥
लोकैपि यत्र नाव्यादौ मादुर्भवतिचेद्रसः । स्त्रीवेशादिद् तत्रैवमुच्यते सेव वर्तते ॥
एवं हि भगवान् कृष्णो रसात्मा यत्र यादृशः । तद्रसानुभवार्थं हि विविष्टस्तत्र तादृशः ॥
रसात्मत्वात्तदास्यं च भन्तव्यं तादृशं पुनः । अतो दास्यरसार्थाप मादुर्भूतं तदात्मना ॥
भक्त्यात्मकं मुखं तत्र रूपमेव हि तादृशम् । वचोपि तादृशं तत्र सत्यमेव न चान्यथा ॥
यथा वचो हरेः स्वीयदैर्न्यभावनिरूपकम् । मानापनोदसमवेज्जस्रत्वभोस्त्वरसात्मनः ॥
तथाचार्येषु वाक्यानि नात्र कश्चन संशयः । बह्वृभस्येति नामोक्त्या विश्वासस्थानमुच्यते ॥
हरेः स्वरिभस्तया नास्ति नित्या मीतिर्निरूपिता । ईदृक्स्वरूपविश्वासे नैधिन्त्यं निश्चितं भया ॥
गायभाजां हि विश्वासो भवेच्छ्रीवल्लभप्रभौ । यथा निवेदने चिन्ता नवरत्ने निवारिता ॥
एवमत्र फले चिन्ता स्व हीयानां समुद्धृता । संयोगस्थानविरहाभियभावत्रयं स्वतः ॥
अनुभूतं तु संयोगः सेवथा त्यागतोऽपरः । आज्ञाकरणतो मानवाबोत्र सफलीकृतः ॥
स्वरूपस्फूर्तितः पश्चात्पश्चात्तापो निवारितः । इति श्रीवल्लभाचार्यपदाम्बुहरेणुषु—
सक्तचित्तस्य विद्वतिर्हरिदासस्य पूर्णताम् । अगमत्तेन ते स्त्रीयं दृष्टं कुर्वन्तु मां सदा ॥
अवद्यमन्वद्यं वा विचारयतु मे भञ्जुः । यत्प्रसादिदं सर्वं पूर्णतां याति सर्वथा ॥
सन्तोपि कृपया युक्तं मदीयं मूर्खजल्पितम् । श्रीमदाचार्यसम्बन्धात्तद्वश्यन्तु परमादताः १५१

इति श्रीहरिदासोक्तान्तःकरणप्रबोधविद्वितिः

समाप्ता ।



धीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीश्यामलात्मजश्रीब्रजराजकृतविवरणम् ।

नत्वा स्वाचार्यपादाब्जं सर्वाभीष्टमदायकम् ।

तदुक्तबोधवाक्यानि व्याख्यास्ये बोधसिद्धये ॥ १ ॥

* (अथ) श्रीमदाचार्यधरणाः (स्त्रीयान् प्रति न्वत्रे 'चिन्ता कापि न क्षार्पा' इत्याज्ञाप्य तस्या अन्तःकरणधर्मत्वादनन्तःकरणस्य च स्वभावचञ्चलत्वाद्वाध्यानादिसंप्रभे पूर्वोक्ताहामद्गसम्भवाभिवेदनं कृतमप्यकृतं स्यादिति तदभावाय प्रमेयवलेन यथा भगवान् भक्तान्तःकरणसम्बन्धी सन् फलप्रकरणे प्रदमाननिवारणं कृतवीक्षतयात्र) स्त्रीयान्तःकरणबोधार्थं (तद्भिषुस्त्रीकृत्य) सपौडिस्वस्वरूपज्ञानपूर्वकमन्तःकरणबोधं निरूपयन्त्येकादशश्लोकैरेकादशोन्द्रियबोधकत्वेन । अन्तःकरणेति ।

अन्तःकरणं मद्राक्ष्यं सावधानतया शृणु ।

कृष्णात्परं नास्ति देवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

हे अन्तःकरण ! मदीयानामिति शेषः (समाप्तौ 'मत्को निश्चिन्ततां प्रवेदित्युपसंहाराद्बोधः) मद्राक्ष्यं सावधानतया सावधानीभूय शृणु भृणुष्वेत्यर्थः । स्वभाववत्येनाप्तोक्ता । अथपि सावधानत्वोक्तिः अथवावन्तरं तथाकरणार्थम् । अन्तःकरणस्यैकवचनं स्वगतौ सर्वेषामेकरूपत्वज्ञानाय जात्यभिप्रायेण । (अत्र सर्वं भावः स्वान्तःकरणमेव बोधनीयत्वेनाह्नीचक्रुः । तदपि श्रीवल्लभाष्टके रूपद्वयेनावतारबोधनास्त-बोधने 'स्वास्यं मादुर्भूतं चकारे'त्युक्तेषु, मुख्यान्वयवताराभिप्रायेण सद्ब्रह्मेव,) एवं स्त्रीयानामन्तःकरणं सम्भुलीकृत्य बोधमारपमेवाहुः । कृष्णात्परमिति । कृष्णात् 'कृषिर्भूवाचक' इत्यस्य भावान्द्राव्यकतया विवरणेन प्रप्रवरवल्लभाणां भावात्मकात् (परब्रह्मकृष्टं देवं देवानां क्रीडाकृतां समूहो वा, 'देवं दिष्टं भागधेयं भागधेमि'तिक्रीडा-सासां भाग्यरूपं वा । नास्ति इतरं) नास्तीत्यर्थः । ननु किं सुविरेयेपमित्याज्ञापामाहुः, वस्तुत इति । तत्रोक्तदत्ताया वास्तव)त्यार्थं विशेषणमाहुः—दोषवर्जितमिति । दोष-वर्जितं रहितमित्यर्थः । (तथा चेदं तद्भास्तत्रने पीनम् । किञ्च,) कृष्णपदात् सदानन्द

कस्तेन यथा गोपिकार्थं कोटिकन्दर्पलावण्यं प्रकटीकृत्य प्रकटस्तथा सर्वत्रापि तदर्थं कृत्यो भविष्यतीति ज्ञापितम् । तेनान्यत्र क्रीडारूपत्वं नास्त्येवेति जीवानामन्यत्र नायकभावेन भजनं दोषरूपमेवेति भ्रमो दोषवर्जितमित्यनेन ज्ञापितः । अत एव 'वीरयोपिता'मित्यत्र 'व्रजनितम्बिनी'वाक्यव्याख्याने श्रीमदाचार्यैर्न हि कृष्णादन्य एवं सम्बोधनपर्यतीति निरूपितम् । आद्य धीमहिषीभिरपि 'स्वकृष्मशुरोमे'तिषयेनान्यत्र कान्तभावस्य दोषरूपता निरूपिता । (तथा च स्वकीडानुरोधेन स्वीयमाग्यरूपतया च स्वयमेवास्माकं करिष्यतीति निश्चित्य चिन्ता न कार्येत्यर्थः ।)

(ननु सत्यमेवं तथापि भगवतो ब्रह्मश्रुत्यादिदुराचरणशुल्ले स्तुतुञ्जले च स्फुरिते सोत्पद्येतैवेति कथं तन्निवृत्तिरित्याकाङ्क्षाया तन्निवृत्त्यर्थमेवं) दोषरहितस्वरूपं विचार्य तत्र मानापेक्षादिदोषराहित्येनाज्ञेयं कार्येति सादृश्याभिर्वदन्तः प्रथमं (तुच्छत्वस्फूर्तरकिञ्चित्करत्वाय निर्दर्शनमाहुः) चाण्डाली चेदिति ।

चाण्डाली चेदाजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।

कदाचिदपमाने वा मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

चाण्डाली चेत्कदाचिद्राज्ञा मानिता सती राजपत्नी च जाता । चक्रारेण स्वस्यापि तथाभिमानोत्पत्तिर्जातेति ज्ञाप्यते । (तदा) तादृश्याः कदाचिदपमाने वा मूलतो राजपत्नीत्वतः का क्षतिर्भवेत् ? न कापीत्यर्थः । माने कारणं राजपत्नीत्वं न तु चाण्डालीत्वम् । राजपत्नीत्वेषु कारणं राजसम्माननं न तु स्वधर्मः कोपि । तस्मात्तदुत्पत्तापमानस्यापि न राजपत्नीत्वान्यथाकारित्वशङ्के । यथा राजपत्नीत्वसम्पत्त्यनन्तरमपमानेषु न तद्धानिस्तथात्र समर्पणानन्तरं (परीक्षापर्यं) द्विवीरसंपूर्ण्यर्थं वा भगवतापमानेषु कृते स्वस्य पुनरन्यभावो न भविष्यति । समर्पणेन यो भावो जातः स तु जात एव, (पुनर्यदा परीक्षादिपूर्वः) संयोगरसदानेच्छा (वा) भविष्यति तदा पुनस्तथैव मानप्राप्तिरपि भविष्यतीति विचार्यम् । (तथा द्वितीयव्याख्यानरीत्या राजपत्नीत्वमिव समर्पणानन्तरं स्वस्य सेवायोग्यत्वमेव विचार्य, न तु चाण्डालीत्वमिव स्वतुच्छत्वमपि विचार्यम् । भगवता दुष्टिपार्श्वस्य स्वार्थं प्रकटितत्वेन स्वोरीचिकीर्षितवर्जीव-दोषानादराण्युदसरे तदङ्गीकरणे अन्तरा च जीवदोषादासक्तौ भगवानेवेति न्यस्येन विलम्बेपि पूर्वात्परावलीयस्त्वन्यायेन भाङ्गीकारतिरस्कारो, नापि दोषप्रावण्यमिति न तुच्छत्वाजस्रर इत्याशु)येनाहुः । समर्पणाद्दहमिति ।

१ (किञ्च यथा राजसम्पन्नवरं पूर्वस्वरूपं न विचार्य, तद्विकारे सति स्वहीनत्वे लक्षिते तस्य रसदातिः स्वात्म्या तत्पर्ये कृतेपि स्वत्वकारविचारेण प्रभुत्वा नस्तिपति य वेति हीरस्य न विचार्यम् ।) इति श्रीदशपापलात्मनश्चीत्रनराजकृतविवरणम् ।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।

का ममाद्यमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

समर्पणात् पूर्व किमहं सदा उत्तमः स्थितः ? अपि तु न । तथा च सपर्णात् पूर्व येन भगवद्वक्तमानापेक्षा स्यात्वात्क्यावयुक्तस्तु न स्थितः । तदनन्तरमेव तपानातस्ते-नापमानेपि (मय) कावशता भाव्या (प्राविनी, विभावनीया वा) । यतः सपर्णा-नन्तरं पश्चात्तापो भवेत् ? ।कदाचित्कर इत्यनेनाश्वासार्थं स्वसहजवर्ष आगन्तु-कवर्षश्च स्मारितः । अतः परमर्द्धेन नित्याङ्गीकाररूपं भगवद्दर्पं तदर्थं स्मारयन्तस्तेन, प्रत्युत्तमानकरणात्मकस्वरूपसम्बन्धिर्विष्यति, पुनरन्यथा सा न भविष्यत्येव, भगवद्ङ्गी-कारस्य नित्यत्वादित्याहुः । सत्यसङ्कल्पत इति ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।

आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्व्यापकः, अन्यथा तु न करिष्यति । यथा 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते', 'द्भिः स्थापयति नाशिता(नि)त्यादिः सङ्कल्पः सत्पो विषयाव्यभिचारी, तथा) 'मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न (पूर्वोर्हति शोचितु)मित्यादि(रपि)भगवतः साय एव सङ्कल्पस्तेन पुनस्तं (प्रपन्नमन्य)या न करिष्यति । (शोकयुक्तं न करिष्य-तीत्यर्थः । किञ्च;) विष्णुर्व्यापकस्तेन विषयगतप्रयेपि रसदानं करिष्यति, 'मया परोक्षं भगवते'तिन्यायेनेति ज्ञायते । एवं (सास्वरूपधर्मं भगवद्दर्पं च स्मारयित्वा स्वीयसे-वकस्य रक्षणाय यतः) प्रपुनरन्यथा न करिष्यत्यतो भावात्परकं समर्पणमनुसन्धापापमा-नर्जं क्लेशं परित्यज्य, भगवान् यथैवेच्छापूर्वकमाज्ञापयति तथैव कार्यमित्याहुः । आज्ञै-वेति । सततं निरन्तरमाज्ञैव कार्या । अन्यथा तदकरणे स्वापिनः प्रभोर्द्रोहो भवेत् । भगवता स्वकार्यकरणार्थं (स्वदासीय)देहकरणात्तदाज्ञाया अकरणे वापरुमेव स्वादिति भावः । ('भगवद्दत्तं देहं भगवत्कार्यार्थं जीवो धृत्वा तिष्ठती'ति पुरश्चनोपाख्यानाज्ज्ञेयम् ।)

सिद्धमाहुः । सेवकस्येति ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

सेवकस्यापमेव धर्मो यदाज्ञाकरणम् । तु शब्देनान्यधर्मनिवृत्तिः सूच्यते (एवं पादत्रयेण स्वाज्ञापनिराज्ञानरूपो दासधर्मो भगवत्चोपदेहतिरिति, तुना पशान्तरनिरासपूर्वकं सङ्कल्पतपोपसाञ्जये ।) एवं सेवकधर्मप्राप्तत्वा प्रभुधर्मस्वरूपमाहुः । स्वामी मनुः स्वस्य इच्छतः करिष्यतीति स्वपनोभिलषितकरणं मनुधर्म एव । सेवकधर्मस्तु तदाज्ञाकरण-

मेवेति तुसन्धेन ज्ञाप्यते । (संयोगपृथक्त्वेनात्रापि तु शब्दस्यानुपहङ्गः । यद्वा, स्वामी भगवान् स्वस्याल्पीयस्य दासस्य करिष्यति, स्वाज्ञापलनाग्रहं विलोचय दयया तं धर्मं निर्वाहयिष्यतीत्यर्थः । अतस्तदर्थमपि न चिन्तावसर इति भावः । एवं सार्धैस्त्रिभिराज्ञैव कार्येति सम्यगुपदिश्य,) एवं भगवदाज्ञाप्रकरणसंज्ञप्रत्यक्षसम्पादितेन स्वस्योत्तमत्वेन कदाचिदाज्ञान्यथावत्करणेपि स्वस्य तादृक्सेवकत्वमेव भाव्यं, न त्वन्यथा विचारणीयं, पश्चात्तापो वा कर्तव्यो, यतः प्रभुरेव स्वेच्छावस्तथाकारयतीत्याशयेन स्वदृष्टान्तमाहुः । आज्ञेति ।

आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥

यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्वयं मया ।

देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥

या आज्ञा पूर्वं गङ्गासागरसङ्गमे गङ्गासागरसमीपे जाता, पश्चात्त्या मधुवनेपि जाता, तदाज्ञाद्वयं मया न कृतम् । तु शब्दस्त्वाज्ञाद्वयाकरणस्य भगवदिच्छाविषयरूपत्वज्ञापनार्थः । ननु, आज्ञाद्वयं किं विषयकमित्यपेक्षायामाहुः । देहदेशपरित्याग इति । गङ्गासागरसङ्गमेऽप्यत्र गमनकृतस्वनिःकटस्थित्यभावप्रकोपेन देहपरित्यागविषयिणी । सापि पूर्वोक्तप्रकारेऽजनिताज्ञानवियोगासङ्घिण्युत्था जाता । (एवं मधुवने मधुरायां देशत्यागविषयिणी ।) स्वानार्थैस्तु स्वीयशिक्षार्थकविषययोगज्ञापानुभवार्थं दूर एव स्थितिः कियते । भगवता स्वार्थं तथाज्ञाप्यु । श्रीपदानार्थः स्वसौभाग्यज्ञापनाय तदाज्ञाद्वयमपि न कृतम् । तृतीया लोकगोचरा लोकपरित्यागविषयिणी जाता, सा कृतेति भावः । (.....यादे, तृतीय आज्ञाविषयः, स चोभयसमुदायरूपः सन्यास इति व्याख्येयम् । तथा च द्वयं न कृतमप्येवं कृतं, तदपि मया तदन्वारेण । अतो मन्दिदर्शनेन पुरस्कृत्य अन्येन तथा न कार्यम्, किन्तु यथा मन्वाज्ञा तथैव कार्यमिति भावः । यद्वा, न कृतमित्यत्र काकुः । 'दिह' उपचये, 'दिश' अतिसर्जने, देह उपचयः, देशो दानम् । अयमर्थः, भगवता श्रीभागवतार्थपकटनाय पूर्वमाज्ञाप्तं, तादृक्स्मटीकाकरणेन कृतम् । ततः सुबोधिन्यामुपनयो ग्रन्थबाहुल्यात्मा आरन्वस्तदा देहपरित्याग आज्ञाप्तः । ततस्तद्विषय निरोध एव विवृतः । ततो मुक्तीं विव्रीयमाणायां देशपरित्याग आज्ञाप्तः । तदा विषोचने स्वाश्रयमापणे च विवृते फलं दत्तमेव स्यादितितद्भावाय तादृक्प्राज्ञाद्वयं मयापि स्वाग्रहत्यागेन कृतञ्चेदन्वेन तु सर्वदा कर्तव्यमेवेति भावः ।)

(एवमाज्ञाया अकरणकरणे वचना) स्वस्याज्ञाद्वयाकरणजपश्चात्तावाभावापमाहुः । पश्चात्ताप इति ।

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोर्हं न चान्यथा ।

लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

तत्राज्ञादयाकरणे पश्चात्तापो मया कथं कर्तव्यः ? । यतोर्हं सेवकोऽस्मि । तदपि स्वस्य सेवकत्वमौञ्जैव कृतम् । न चान्यथा, न केवलं स्वपौष्ट्येति । तथा च ममेर्दं (शोभते न त्वन्यस्येति भावः । यद्वा, आज्ञादयाकरणान्यथापि पश्चात्तापस्येदन्वस्य त्वत्पन्त एव स्यादतस्तथान्येन न कार्यमिति भावः) । ननु सेवकत्वे सति स्वपौष्ट्या आज्ञाया अकरणे भगवानप्रसन्नो भवेदिति कथं भवतां शोभाकरं, यदि शोभाकरं कथ-
मन्येन न कार्यमिति तथा प्रकृत्य भगवतोऽलौकिकत्वेन तदभावाद्वाहुः । लौकिकप्रभुवदिति ।
लौकिकप्रभुवत् कृष्णः सदानन्दः फलरूपः कथञ्चन केनापि प्रकारेण न द्रष्टव्यः ।
तथा च, यथा लौकिकप्रभूणां स्वोक्ताकरणे क्रोधो भवति भगवत्तथा न भवति ।
यतस्तदसातुमवार्थं प्रयुजेव तथा भेरपति । अत एव भगवता शर्षं प्रत्युक्तं "कर्तुं नेच्छसी"-
त्यारभ्य 'मायये'त्यन्तम् । लौकिकानामतथाभावात् क्रोधो भवति । (भतो भगवदप्रसन्न-
ताया अभावाद्दसातुं शोभाकरम् । अन्यस्य तु तादृग्योग्यताया अभावेन भगवद्विच्छा-
ज्ञानाभावाद्दनुचितमेवेत्यर्थः) ।

(एवमाज्ञाकरणतदकरणव्यवस्थामुक्त्वा तेन यत् सिद्धं तद् वदित्यन्तो,) भगवति सर्वसमर्पणं जीवशर्मः, पश्चात्तु प्रहः संच्छया यत्करिष्यति तत्करोतु, तथापि कथैव शर्मः कृतोस्तीति नैधित्येन स्वीयतापित्वाहुः । सर्वमिति ।

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोऽसि सुखी भव ।

प्रौढापि दुहित्वा यद्रत्नेहान्न प्रेष्यते वरं ॥ ८ ॥

तथा देहे न कर्त्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

भक्त्या स्नेहेन सर्वं समर्पितमः कृतार्थोऽसि सुखी भवस्तुनेनैव स्वीयताम् । परिणामे सुखमेवेति सुखी भवेत्युक्तम् । सर्वपदेन लौकिकरसाधिकरणदेहेतम्यन्यमाव-
रूपमलौकिकमेति हापितम् । समर्पणे कृते देहेपि सम्बन्धस्य जातत्कारेणैव सेवा कर्त्तव्येति लौकिकरसात्मकनिदर्शनपूर्वकं (तत्कर्त्तव्यत्वावयवकत्वमाहुः) । प्रौढापीति ।
प्रौढापि रसयोग्यापि दुहित्वा स्वस्य स्नेहात्मस्य वरं यद्गत् प्रेष्यते तथा देहे न कर्त्त-
व्यम् । स्वस्य देहेनैव भगवत्सेवायां देहस्याविनियोगो न कर्त्तव्यः । किन्तु देहेन लौकिकेन भावात्मकेन च भगवद्दसपोग्यसेवैव कर्त्तव्या । तदकरणे वरः प्रहुरन्वया न तुष्यति । यथा स वरः स्वस्त्रीं विना न तुष्यति तथा प्रहुरपि न तुष्यति । अत्रापि

समर्पणाऽनन्तरं मुख्यो भावः स एवोच्यते । एतज् ज्ञादनार्थमेव पूर्वं निदर्शने रा नपत्नी-
त्वमुक्तम् । द्वितीयेनापि तथैवोक्तम् ।

(एवं वेद्वेदवेदत्यागपूर्वकं वेदेन सेवैव कारणीयेति निर्दार्प्यं पूर्वं भगवता परीक्षार्थं
कृते विलम्बे मम कथं गतिर्भवितीति या चिन्ता कृता, सा ते गुणायैव जाता, न तु
दोषाय । न वेदान्हीकृतौ चिन्ता भवति, किन्त्वहीकृतावेवेत्याश्वासनाय दृष्टान्तमुखेन
परिचायकान्तरं वदन्त) एतत्सेवाग्रभावे सर्वं व्यर्थमेवेत्याहुः । लोकवदिति ।

लोकवचेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ॥ १० ॥

चेत्, समर्पणाभावे मे स्थितिर्लोकवत् सर्वसाधारण्येन स्यात्तदा किं स्यात्,
फलमितिशेषः । इति विचारय । किं स्यात् ? न किमपीत्यर्थः । (तथा च, तथा
स्थित्यभाव एव गुणपरिचायक इति भावः) । नन्वेतद्भावस्य सर्वफलरूपत्वमस्तीति
सत्यम्, तस्य परं भावस्याशक्यत्वात्तस्मात्तिः कथं स्यादिति चिन्ता तु भवतीति चेद्विभेदि
तदा तादृशभीते भगवानपि दयालुरेव)त्याहुः । अशक्य इति । अशक्ये सति हरि-
रकारणसर्वदुःखहर्चाऽऽस्त्वेष, शरणमिति शेषः । अतस्तदभावे सर्वं व्यर्थमिति लौकिकेन
विचारेण कथञ्चन तत्प्राप्त्यर्थं मोहं मा गाः, मा मामुदि ।

एवं प्रबोधं निरूप्या(तः परं शङ्कापिशाच्यनुदयाद्)पतंहरन्ति । इतीति ।

इति श्रीकृष्णदासस्य बल्लभस्य हितं वचः ।

चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्बल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

इतीति समाप्तौ प्रकारे वा । श्रीकृष्णे दास्यं गतस्य बल्लभस्य रसस्वत्वेन
मिपस्य चित्तं (स्मृतिजनकप्रतःकरणं) प्रति हितं हितकरं वचोस्तीत्यर्थः । यद्यच्चः
आकर्ण्य, आसमन्तात्तत्पर्यपूर्वकं श्रुत्वा भक्तो भूत्वा, निश्चिन्ततां निश्चिन्तस्य
भावमलौकिकत्वं व्रजेत् ।

चित्तप्रबोधवाक्यानि स्वाचार्योक्तानि सर्वदा ।

तिष्ठन्तु हृदये येन मतीदति हरिः स्वयम् ॥ १ ॥

इति श्रीमत्प्रभुचरणरेणुधन(श्रीश्यामलात्मजश्रीव्रजराज)-

कृतम् अन्तःकरणप्रबोधविवरणम्

सम्पूर्णम् ।

धातुष्पाप नमः ।

श्रीगोपीजनबहुभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यां नमः ।

श्रीबलभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रशोधः ।



श्रीदशादिगन्तजैत्रश्रीपुम्पोत्तमचरणकृतं विवरणम् ।

बन्तुस्वभावदोषोत्पत्तेरुचिन्ताकुलान् स्वकान् ।

अन्तः श्रीपदाचार्याः सन्तु मत्त्वान्तगोचराः ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणो उपदिष्टसेवाया निर्दोषत्वाय सिद्धान्तरहस्ये ब्रह्मसम्बन्धेन सेवाकर्तृणां २ पूर्वेषां देरजीवयोः दोषाणामकिञ्चित्करत्त्रयमे दोषासंसर्गोपायं च भगवदुक्तं निरूप्य, सेवाया आधिदैविकीत्वाय नवरत्ने चिन्तानिष्ठसुरायक्यनसुखेनोद्देशाख्यमति-बन्धकनिष्ठचिप्रकारश्च निरूप्य तथा सेवाकरणे भगवत्प्राकृत्यस्यानुभावप्रदर्शनस्य चावश्यंभावात्तस्मिन् सत्यपि यदा मारणादिवशात्पूर्वदोषोपोद्भूतं तदा पात्रस्य स्वत्व-त्वान्महत्पाः कृपायास्तस्मिन्न माने तत्र स्वोदकैर्स्फूर्तां भगवद्वाङ्महत्पादावस्थापे जाते भगवतोऽप्यसन्नता भवेत्तापि भगवद्दर्परूपायाः सेवाया निरर्थं क्रियमाणत्वात् 'न छद्मोपक्रमे धंसो मद्दर्पस्योद्वाप्सपि,' इत्येकादशे भगवद्वाङ्महत्पादावस्थापे जाते पराभजनितपश्चात्तापोत्पत्तौ चिन्तासम्भवे क्रियमाणकरिष्यमाणसेवयोरनाधिदैविकीति-स्यादिति तच्चिद्व्ययमस्मिन् ग्रन्थे विचारात्त्वं साधनमुपदेष्टुं तत्र विश्वासाय स्वाख्या-यिकां मये वदिष्यन्तो 'मनोरसेन्ये छभवंस्य देवा मनस्तु नान्पश्य वशं समेति, भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान् युञ्जहसे तं स हि- देवदेव' इति भिष्मगीताशाक्तपान्थनस एव दुष्टदुष्टुत्पादकतया तस्यैव साधनीयत्वं निश्चित्य स्ववाक्यध्वनार्थं स्वीयानामन्तःकरण-मेवाभिगृह्णीकुर्वन्ति । अन्तःकरणेत्वादि ।

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।

कृष्णात् परं नास्ति देवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

यद्यप्यन्तःकरणपरं स्वपरान्तःकरणसाधारणं तथाप्युपसंहारं 'भक्तो निश्चिन्तत। प्रजेदि'विकलकयनेन ग्रन्थकरणस्य तादृश्यं निश्चायिते परान्तःकरणबोधन एव तात्पर्यावगत्या स्वीयानां भक्तानामेव यदन्तःकरणं तद्ग्रहणस्यैवोचितपात्तदेव प्राथम्य । श्रीगो-

१ (अन्तः-अपरत्तर) २ 'पूर्वेषां देरजीवोपयो ' इति स्वदत्ताधरपाद । पूर्वेषां देरजीवो-
संवाणाम् ' इत्य-व्यतिषत्तकेतु पाद ।

कुलनायास्तु स्वसौभाग्यमदर्शनार्थं स्वीयानां भक्तिमार्गप्रदर्शनार्थञ्च श्रीमदाचार्यचरणैः
 स्वान्तःकरणमेव बोध्यत इत्याहुः । तथैवान्येषु सर्वे । शीरघुनायास्तु स्वान्तःकरणव्य-
 पदेशेनान्येषामेवान्तःकरणं बोध्यत इत्याहुः । ममत्वदिमेव रोचते । सौभाग्यमदर्शनस्य
 सुबोधिन्यारम्भस्येन 'अर्थं तस्य विवेचितु'मिति श्लोकेनैव कृतत्वात्ततोधिकदर्शनस्य
 भक्त्यानुपयोगात् । भक्तिमार्गप्रचारार्थमाविर्भूतत्वेन भक्तान्तःकरणस्यैव साधनीयत्वा-
 दिति । तथाचार्यमर्थः । हे अन्तःकरण ? इन्द्रियान्तरदुर्जय ? त्वं मद्भाक्क्यं 'योन्तर्व-
 दिस्तनुभूतामि'त्येकादशीगवाचपाद'चार्यनैत्यवपुषा' द्रुताशनरूपेण स्वर्गमि ध्वजतो
 वस्तुतः कृष्णत्वेन चाक्षतमस्य मम चाक्यं वक्ष्यमाणं त्वद्धितकरं ग्रन्थरूपं सावधानतया
 शृण्वन्कार्ष्येति । एवमभिमुखीकृत्य ब्रह्मसम्बन्धकरणपूर्वकसेवया स्वस्य व्रतभक्तमार्गी-
 यत्वेन भगवदनुभावदर्शित्वादिना च स्वस्मिन्नुत्कर्षस्फूर्त्या भगवदाज्ञादौ ब्रह्मस्यदृष्टान्तेन
 प्रमाणन्तं प्रति तदभावाद्य तेष्योपि भगवत उत्कर्षं पूर्वं भावयितुमाहुः । कृष्णादि-
 न्यादि । वस्तुतः श्रुत्यादिरूपतया निर्गुणसेवया च लोकवेदोक्तदोषवर्जितं दैवं प्राह-
 गसक्रीडानां देवीनां कदम्बकं कृष्णात्परं भिन्नं न । उत्कृष्टं वा न । 'तस्मान्न भिन्ना
 एतास्तु' इति तापनीयभूतेः, उत्कर्षस्य निरवधिसदानन्दरूपं भगवत्यैव विश्रान्तेथ ।
 अतस्त्वदीयतया तद्दृष्टान्तेन स्वोत्कर्षं विभाव्य प्रौढ्या भगवदनभिषेकं न कार्यम् । तास-
 मप्यागन्तुकदोषोत्पत्तौ ताः प्रत्यपि पञ्चाध्यात्म्यां 'प्रज्ञादाय प्रसादाय तत्रैवान्तरस्थीयते'ति-
 वाक्येन भगवत्तिरोधानस्योक्तत्वादिति । अत्र गावनार्थकक्रियापदाभावाद्यपि वाक्यस्य
 साकाङ्क्षत्वं तथाप्यग्रे उपान्त्ये विचारयेति क्रियाया वक्ष्यमाणत्वादेतेष्वान्तरवाक्येष्वपि
 दूरतरापि सैव योज्या, न तु क्रियान्तरमध्याहार्यम् । 'दूरान्त्ववापेक्षयाऽध्याहारस्य
 गुरुत्वात्' । तथा नेति विचारयेत्यर्थः । एवमग्रे यथायोग्यं बोध्यम् ॥ १ ॥

एवं प्रौढिहेतुं निवर्षितस्य जीवस्य पुनस्तपालाभावाद्य दैन्यसिद्धयर्थं स्वभावतो
 निरूपं शोषयितुं दृष्टान्तमाहुः । चाण्डालीत्यादि ।

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।

कदाचिदपमानेपि मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

मारण्यवशादतिदुष्टकुलोत्पन्नापि, केनचित्कृणेन कयमिद्राजपत्नी, राजा पतिर्पस्या-
 स्तादृशी, राज्ञः पत्नीव पत्नी, पतनात् पत्नी, राज्ञो भोग्या सती राज्ञा मानिता च जाता ।
 तस्याः कदाचित् कालविशेषे अपमाने; अर्थाद्राज्ञ कृते वाशान्दादनपमानेपि मूलतो
 अपमानहेतुभूताचाण्डालीत्वादनपमानहेतुभूताद्राजपत्नीत्वाद्य का क्षतिः का हानिर्भवेत् ?
 न कापीति विचारयेत्यर्थः । एतस्य वाक्यस्याऽऽचार्यविययत्वं वैरज्ञीकृतं; तस्यैव तु

* मृगयुरिव कपीन्द्रमित्यादौ तेष्ववशाद्यथा भक्तैर्भगवति टोप आरोपितस्तथाऽऽचार्यैः स्वस्मिन्निति बोध्यम् ॥ २ ॥

एवं दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिके तन्साम्यं वदन्तस्तादृजिवारकलयद्गुः । समर्पणा-
दित्यादि ।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।

का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

समर्पणाद् भजनार्थकर्मस्काररूपात् स्वसर्वतद्वितात्मनिवैदनाद्वाजपरिमहस्यानी-
यात् प्रथमहं प्राकृतः, चाण्डालीवत्सदनागन्तुसटोपदुष्टः, किं सदा सर्वकालमभिव्याप्य;
उत्तम उल्लूकः स्थितः ? । किं शब्दः वाक्कुं स्फोरयति । अपि तु न स्थितः । किन्तु;
समर्पणादेवोरदृष्टां राजपत्नीत्वाचाण्डालीवदुत्कर्षवान् जातः । अतः स्वपूर्वस्थितिचिन्तारं
राजकृतापमानतुल्यभगवदपसन्नतायां जातायां मम चाण्डालीवदुष्टस्याधमता निकृष्टता
का भाव्या ! । कतमा भवन्ती ! । यतो यथा कृत्वा; पश्चात्तापरतज्जनितस्तेद्विदोषो
मे भवेत् ॥ । नहि प्राकृतरूपा; तस्याः सहजतात् । नाप्यभगवदीयरूपा; भगवता
अत्यक्तत्वात् । अङ्गीकारात्मकस्यापि भगवद्दर्मस्य निरत्यत्वात्; संसारावेदरूपस्य भगव-
त्प्रागुक्त्याभावेनात्यागनिश्चयाच्च; तेनैवाग्निमात्यागानुमितेभ्यः । अतो जातायाप्यपस-
न्नतायां पूर्वदशात् उच्यते दशास्ति; नत्वपमेति पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं विचारय । तथा
चैवं विचारे भगवत्पसादसाधनं दैन्यमप्युदयुद्धं भविष्यतीत्यमसन्नतापि निवर्त्यत
इत्यर्थः ॥ ३ ॥

एवं जीवधर्मपुरस्कारेण विचारमुमदिश्य भगवतोऽस्मिन्निदोषत्वानुसन्धानाय भग-
वद्दर्मपुरस्कारेण तमुपदिशन्ति । सत्येत्त्यादि ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।

अज्ञिव कार्या सततं स्वामिदोहोन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

विष्णुर्धर्मापकः, अन्तर्गामिता सर्वान्नः प्रविष्टश्च यो भगवान् सत्यसङ्कल्पतः
सत्यो विषयाल्पभिचारी यः सङ्कल्प आलोचनमिदमेवं करिष्यामीत्यारारु तस्मादन्यथा
प्रकारान्तरेण न करिष्यति । तुः शङ्कानिरासे । भगवान्निवेदितात्मनाम् आत्मैः स्वमदधि-
मेतमेव करिष्यतीति शङ्का न कर्तव्या । यतः स तेषामोशरो नियापकोपि; अतस्तेषां
विक्रान्तेन्द्रायां तदुदरोधं न करिष्यति, किन्त्वप्योपसङ्कल्पत्वात्स्वालोचितमेव करिष्यति,
तद्विद्यार्थम् । अयं तुशब्दोक्तः शङ्कानिरास उत्तरवाक्ये हेतुत्वेन प्रविशति । अत एव

शङ्कानिरासाद्धेतोः सततं ममादराहित्येन निरन्तरं; आहैव कार्या । अन्यथा ममा-
देनाकरणे स्वामिन्द्रोहो महान्पराधो भवेत् । अत्रापि 'इति विचारये'ति पदं सम्बन्ध्यते ॥४॥

सेवकत्वपुरस्कारेण पुनर्विचारान्तरगुपदिशन्ति । सेवकस्येत्यर्द्धेन ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

तु पुनरयं वक्ष्यमाणः सेवकस्य धर्मस्तं व्यक्तीकुर्वन्ति । स्वामी स्वस्य करि-
ष्यतीति । स्वामी भक्तो स्वस्वामीयस्य मम करिष्यति, ममर्थं यद्यदालोचितं तत्
करिष्यति । अत्रापि तथा सम्बन्धः ।

सेवकत्वविचारस्यावश्यकत्वाय तेनोपदेशे विश्वासार्यं स्वाख्यायिकानुपदिशन्ति
द्वाभ्याम् ।

आज्ञा पूर्व तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥

यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तदयं मया ।

देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।

आज्ञेत्यादि । तुरवधारणे । पूर्वमेव गङ्गासागरसङ्गमपदेशे सर्वापि वा या
आज्ञा जाता पश्चात्तदुत्तरकाले मधुवने पथुरायामपि याज्ञा जाता, तदयं मया
भगवता स्वात्मानुभावमकटनार्थं श्रीभागवतगूढार्थमकटनार्थं चाज्ञानेन न कृतम् । तयोर्विषयः
क इत्याकाङ्क्षायां तयोर्विषयमाहुः । देहदेशपरित्यागः । इन्द्रान्तो श्रूयमाणस्य परित्या-
गशब्दस्य मत्येकमभिसम्बन्धः । तथा च पूर्वा देहत्यागविषयिणी, द्वितीया देशत्याग-
विषयिणीति सिद्धयति । तदकरणे बीजन्तु नाभिमानो न वा ज्ञानविरोधः । किन्तु;
श्रीभागवतार्थमकटनार्थं ज्ञानकार्यसम्पत्तिरेव । नहि देहे त्यक्ते साक्षा सिद्धयति; वाग्व्या-
पारस्य तदेतुकत्वेन तदभावे तस्याप्यभावात् । प्रकारान्तरेणोक्तौ च कलिप्रस्तानां
विश्वासाभावात् । नापि भगवदेशे त्यक्ते देशान्तरस्यानीदशत्वेनैतद्विचारमतिबन्धकत्वात् ।
तदेतदवधार्य आचार्यैराज्ञाद्वयं न कृतम् । भगवत्स्वपमाशयः । देह उपचयः; देशो
दानम्; 'दिह उपचये,' 'दिश अतिसर्जने' इति धातुनिष्पन्नत्वाद्यौगिकामेतौ शब्दा-
वाज्ञायामुक्तौ । तथा च, उपचयो वाहुस्य दानञ्च परित्यक्तम् । न च पूर्वाज्ञास-
म्पूर्विदोषः । यावदुक्तमेतावत्कृत्वैव साक्षा कृतास्तु; अधिकं न कार्यम् । रहस्यमकाश-
स्थानभिमतत्वात् । अधिककरणेनामधिकारिणामपि तज्ज्ञानसम्भवेन कृतार्थतामसक्ताव-
धिकार्यनधिकारिविभागभङ्गादयान्नोः । इदञ्च सूक्ष्मटीकातिरोधानस्फुटमन्यारुपात्या-
जनदशमस्कन्धव्याख्यानानन्तरसामयिकमाथवभट्टकाञ्जीरिशरीरशररहितमभूतिभिः कार्य-

४६ मृगपुरिव कपीन्द्रमित्यादौ हेतवशाद्यथा भक्तैर्भगवति दोष आरोपितस्तथाऽऽचार्यः स्वस्मिन्निति घो-यम् ॥ २ ॥

एवं दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिके तत्साम्यं वदन्तस्तादृशिवारफलमाहुः । समर्पणा-दित्यादि ।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।

का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

समर्पणाद् भजनार्थकसंस्काररूपात् स्वसर्वसहितसन्निवेदनादानपरिग्रहस्यानी-यात् पूर्वमहं प्राकृतः, चाण्डालीवसहजागन्तुः प्रदोषदुष्टः, किं सदा सर्वकालमभिव्याप्य; उत्तम उत्कृष्टः स्थितः ? । किं शब्दः वाकुं स्फोरयति । अपि तु न स्थितः । किन्तु; समर्पणादेवोत्कृष्टां राजपत्नीत्वाच्चाण्डालीवदुस्वर्णान् जातः । अतः स्वपूर्वस्थितिविचारे राजकृताप्रमानतुल्यभयवदपसन्नतायां जातायां मम चाण्डालीवदुष्टस्याधमता निकृष्टता का भाव्या ! । कतमा भवती ! । यतो यथा कृत्वा; पश्चात्तापस्तज्जितस्येदविशेषो ये भवेत् ! । नहि प्राकृतरूपा; तस्याः सहजत्वात् । नाप्यभगवदीयरूपा; भगवता अत्यक्तत्वात् । अङ्गीकारात्मकस्यापि भगवद्दर्शय नित्यत्वात्; संसारावेषद्वरूपस्य भगव-त्प्रागकार्यस्याभावेनात्यागनिश्चयाच्च; तेनैवाग्निमात्यागानुमितेय । अतो जातावामप्यवस-न्नतायां पूर्वदशात उत्तमैव दशास्ति; नत्वधमेति पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं विचारय । तथा चैवं विचारे भगवत्पसादसाधनं दैन्यमप्युदुमुदं भविष्यतीत्यप्रसन्नतापि नित्यस्येन इत्यर्थः ॥ ३ ॥

एवं जीवधर्मपुरस्कारेण विचारमुपदिश्य भगवतोऽपतिष्ठतेऽज्जितानुसन्धानाप मय-वद्दर्शपुरस्कारेण तदुपदिशन्ति । सत्येत्यादि ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।

आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

विष्णुर्व्यापकः, अन्वयांमित्रण सर्वान्तः प्रविष्टश्च यो भगवान् सत्यसङ्कल्पतः सत्यो विषयान्यभिचारी यः सङ्कल्प आलोचनमिदमेवं करिष्यामीत्याचारकं तस्मादन्यथा प्रकारान्तरेण न करिष्यति । तुः शङ्कानिरासे । भगवान्निवेदितात्मनाम् आत्मैक्यसदमि-त्रेतमेव करिष्यतीति शङ्का न कर्तव्या । यतः स तेषामीश्वरो नियायकोपि; अतस्तेषां विकृतैः प्रायां तदनुरोवं न करिष्यति, किन्त्वभोगसङ्कल्पत्वात्स्वालोचनमेव करिष्यति, तद्धितार्थम् । अयं तुशब्दाक्तः शङ्कानिराम उत्तरवाक्ये हेतुत्वेन प्रविशति । अत एव

शङ्कानिरासाद्धेतोः सततं प्रमादराहित्येन निरन्तरं; आज्ञैव कार्या । अन्यथा प्रमा-
देनाकरणे स्वामिन्द्रोहो महानपराधो भयेत् । अत्रापि 'इति विचारये'ति पदं सम्बध्यते ॥४॥

सेवकत्वपुरस्कारेण पुनर्विचारान्तरमुपदिशन्ति । सेवकस्येत्यर्द्धेन ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

तु पुनरयं वक्ष्यमाणः सेवकस्य धर्मस्तं व्यक्तीकुर्वन्ति । स्वामी स्वस्य करि-
ष्यतीति । स्वामी भर्ता स्वस्यात्मीयस्य मम करिष्यति, मदर्थं यद्यदालोचितं तत्
करिष्यति । अत्रापि तथा सम्बन्धः ।

सेवकत्वविचारस्यावश्यकत्वाय तेनोपदेशे विश्वासार्थं स्वाख्यायिकामुपदिशन्ति
द्वाम्याम् ।

आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥

यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्वयं मया ।

देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।

आज्ञेत्यादि । तुरस्वधारणे । पूर्वमेव गङ्गासागरसङ्गमपदेशे सर्वापि वा या
आज्ञा जाता पश्चात्तदुत्तरकाले मधुवने मधुरायापि याज्ञा जाता, तद्वयं मया
भगवता स्वत्याप्तुभावप्रकटनार्थं श्रीभागवतगूढार्थप्रकटनार्थं चाज्ञेन न कृतम् । तयोर्विषयः
क इत्याकाङ्क्षायां तयोर्विषयमाहुः । देहदेशपरित्यागः । द्रुन्दान्ते श्रूयमाणस्य परित्या-
गशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धः । तथा च पूर्वा देहत्यागविषयिणी, द्वितीया देशत्याग-
विषयिणीति सिद्ध्यति । तदकरणे वीजन्तु नाभिमानो न वा शास्त्रविरोधः । किन्तु;
श्रीभागवतार्थप्रकटनार्थाज्ञाकार्यसम्पत्तिरेव । नहि वेहे त्यक्ते साज्ञा सिद्ध्यति; वाग्या-
पारस्य तज्ज्ञेयकत्वेन तदभावे तस्याप्यभावात् । प्रकारान्तरेणोक्तौ च कल्पिग्रस्तानां
विश्वासाभावात् । नापि भगवदेशे त्यक्ते देशान्तरस्यानीदृशत्येनैतद्विचारप्रतिबन्धकत्वात् ।
तदेतद्वच्यार्थ आचार्यैराज्ञाद्वयं न कृतम् । भगवतस्त्वयमाशयः । देह उपचयः; देशो
दानम्; 'दिह उपचये,' 'दिश अतिसर्जने' इति धातुनिष्पन्नत्वाद्यौगिकत्वापेक्षौ शब्दा-
वाज्ञायाद्युक्तौ । तथा च, उपचयो बाहुल्यं दानञ्च परित्यक्तव्यम् । न च पूर्वाज्ञास-
म्पत्तिदोषः । यावदुक्तमेतावत्कृत्यैव साज्ञा कृतास्तु; अधिकं न कार्यम् । रहस्यप्रकाश-
स्यानभिषेकत्वात् । अधिककरणेनानधिकारिणामपि तज्ज्ञानसम्भवेन कृतार्थतामसक्ताव-
धिकार्यनधिकारिविभागभङ्गाद्यापत्तेः । इदञ्च सूक्ष्मटीकातिरोधानस्कन्धक्रमव्याख्याख्यात्या-
जनदशमस्कन्धव्याख्यानानन्तरसापयिकमाथवभट्टकाश्यामिरीशरीरशराहतिमभृतिभिः कार्य-

रतुमीपते । सोयमाचार्यैर्नविभारितः । न वाचार्थाणां भगवद्भाष्यार्थान्वयशरणकथनमयुक्त-
मिति शङ्क्यम् ; भक्तानां पश्चाध्यायीस्यस्कन्धारोहणशक्त्यर्थान्नानवत् सम्मवात् । तदा
तृतीयाज्ञा जाता । तद्विषयस्तृतीयपरित्यागः स लोकगोचरः । 'लोकस्तु भुवने
जन' इति कोशाज्जनविषयः । स च संन्यासेन भवत्येकचार्यनिकेतः स्यादित्यादिवाचयैः
संन्यासे तथात्वात् । तत्र तादृश्याप्याज्ञायां जातायां पश्चात्तापो मम जात इति शेषः । स
कथं केन प्रकारेणेति विचार्यमाणे, सेवकोहं; अहं सेवक इति सेवकत्वप्रकारेणाज्ञाभ-
ङ्गकरणदेतुकः । च पुनरन्यथा न, स्वचिकीर्षितकार्यात्संपूर्णविहेतुको न । अतो
मत्कृत्यादिविचारेपि मत्सेवकत्वपुरस्कारेण विचारात् पश्चात्ताप एव युक्त इत्यर्थः ।

* 'आज्ञा पूर्वन्तु या जातेत्यत्र । अत्रेदं बोध्यम् । माकथ्यात् पूर्वं हि 'अर्थ
तस्य विवेचितुम्' इत्यत्रोक्ताज्ञा जाता, तदनन्तरमाज्ञादयं देहदेशपरित्यागविषयं गङ्गासा-
गरसङ्गमे मधुरायाश्च जातमिति । एवमाज्ञात्रयं सिद्धम् । तत्र श्रीमद्भाष्येति करुणत्वमस्ति
न चेति लोकानां संशयनिवारणार्थं पुष्टिपार्थस्यत्वात् स्वस्य वा तदर्थं प्राकृत्यान्तरमाज्ञाद-
यमतिकरुणत्वनिरोधिनातम्, तदाज्ञादयं स्वस्य भगवत्तत्र स्वाङ्गीकृत्येपु अतिकरुणत्वव्या-
पनार्थं न कृतम्, तत्कृतौ हि सर्वमाज्ञातं न स्याचेन च स्वाङ्गीकृतानामनुद्धारः स्यात्,
तेन चोभयस्य करुणत्वं न स्यात्, यदि तदेव न स्यात्तदा पूर्वं तदर्थं नाज्ञापयेत् ।
भगवान् स्वयं च नाविर्भूयात् । नत्वेवम् । अतः परोक्षार्थत्वात्तान्तःकरणगोचरा । अतो न
विशेषणत्वादि कृतमित्यर्थः । न च पूर्वयैव तत्सम्भवे ईकं देहत्यागविषयिण्या तदेति
वाच्यम्, क्रीडादेशे त्यक्ते विरहेण स्वयमेव देहं त्यक्ष्यन्तीति तेनातिकरुणत्वमेव परी-
क्षितं न भविष्यतीति भगवद्भिषायः । श्रीमद्भाष्येस्तु तदपि तथैव ज्ञातमिति सापि न
कृतेति भावः । नन्वयमेवाज्ञयो भगवतः श्रीमद्भाष्यार्थाणाञ्च तथैव ज्ञानं जातं, इत्यत्र किं
वानमित्येषेसायां भगवद्भाष्ये सर्वसम्भवं हेतुमाहुः । तृतीयो लोकगोचर इति । तद्व्यापे-
क्षया पूर्वमाज्ञातः सर्वोद्धारः लोकगोचर इति न किञ्चिद् अलौकिकं मानं वाच्यम् ।
किन्तु सर्वलोकप्रसिद्धमेव मानमित्यर्थः । एवं कृते पश्चात्तापः कथम् ? न कथमपि ।
यतः सेवकधर्मान्तःकरणकृमाङ्गप्रकरणम्, न चान्यथा तद्विरुद्धमित्यर्थः । अत एव
श्रीमद्भाष्येराज्ञातं विवेकधर्म्याश्रये 'विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादित्यनेनेतिदिक् । (इति
स्वप्नत्रलेखः) ॥ ५-६ ॥

ननु युक्तोऽयं विचारस्तथापि पूर्वापराभनितभगवद्भयसम्भवाया अनित्यत्वौ भय-
रूपोयमुद्देशः, स कथं निवर्ततामित्याशङ्क्यायां तदर्थं विचारान्तरमुपदिशन्ति । लौकिक-
प्रसुवदित्यादि ।

लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखी भव ।

लौकिका हि प्रभवोपराधेनाशसन्नाः कस्यचित्प्रसीदन्ति, कस्यचिन्न मसीदन्ति, तद्वत् कृष्णो भगवान् कदाचन अवतारकालेऽनवतारकाले च न द्रष्टव्यः । अवतारकाले 'अहो षकीपमि'तिवाक्येन अनवतारकाले च वरणश्रुत्या 'महादाय यदा दुःखेदनिष्येपि परोर्जितमि'ति देवान् प्रति भगवद्वाक्येन चापराधसन्तुल्यपूर्वकसत्कल्पादृत्वस्य भक्ते कृपावस्य च सिद्धत्वात् । त्वया च सर्वं भक्त्या भगवते समर्पितमतो भक्तत्वात् कृतार्थोसि । 'एवं यैर्मनुष्याणामि'तिवाक्ये भगवता भक्तौ जातायां निरवशेषायां सिद्धयनात् सर्वं साधनरूपं फलरूपं चार्थं प्राप्तवानसि । अतः सुखी भव, दौर्भनस्यनिवारणेन निवृत्तो भवेत्यर्थः । इयं चोक्तविचारात्मकाऽऽकर्तुः प्रभुभिराशीरेव दीयते ।

अतः परं विद्यमानेषु दैहिके सेवासामर्थ्ये पूर्वोक्तसेवेन वा देहाध्यासेन वा कार्यान्तराभिनिवेशादिना वा दैहिकसेवायां प्रपाद्यन्तं प्रति पुनर्विचारान्तस्सुपदिशन्ति । प्रौढापीत्यादि ।

प्रौढापि दुहिता यदस्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥

तथा देहे न कर्त्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

प्रौढा भर्त्सकलकार्ययोग्या तत्समर्थापि दुहिता यद् यथा, स्नेहाद् इयं बाला पतिगृहे महत्कार्यं कर्त्तव्यं तत् कुर्वन्ती श्रान्ता क्लिष्टा च भविष्यतीति ज्ञात्वा वरे भृत्समीपे न प्रेष्यते, तथा तद्देहे स्नेहात् सेवां विना स्थापनं न कर्त्तव्यम् । तत्र हेतुः । वरस्तुष्यति नान्यथेति । अन्यथा प्रेषणविरुद्धे प्रकारान्तरे चरो न तुष्यति; तथा शरीरेण सेवाया अकरणे भगवानपि न तुष्यति । एतस्य देहस्य भगवता स्वसेवार्थमेव दत्तत्वात्; 'भवाय नाशये'ति पञ्चमस्कन्धीये वाक्ये तथैव मतिपादितत्वात् । अत एव विचारेण पूर्वोक्तदोषान्कृत्याऽऽसत्सर्वैव कार्यैत्यर्थः ।

अयापराधेन प्रतिबन्धादिना वा देहस्य तदर्थतायां सन्देहे विचारान्तस्सुपदिशन्ति । लोकवचेदित्यादि ।

लोकवचेस्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचास्य ॥ ९ ॥

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ।

लोका यथा संसारासक्ता नानास्यभावास्त्वत्र तत्र तेन तेन शास्त्रादिना प्रवर्त्तन्ते, तद्देहन्मे स्थितिः स्यात्; उक्तीत्या पश्चात्तापो न स्वात् तदा किं स्यात्? लोकस्तुपतैव स्यात् । सा तु मे न जाता, अतो मदुपरि भगवान् दयां करोतीति विचारय ।

तथा चैवं विचार्य देहस्य सेवार्थत्वं निश्चितुहि; निश्चित्य चाज्ञातं कुर्वित्यर्थः । एवमुच्यते
 क्तवया सेवाकरणेऽपि पुनः प्रतिबन्धसम्भवश्चेत्तत्राप्युपायमाह । अज्ञातं इत्यादि ।
 पूर्वोक्तं कर्तुमशक्यं चेद् भारतं तदा हरिः स्मृतिसर्वापहर्ता भगवानेवास्ति । 'सर्वपर्याप्त
 परित्यज्ये'तिवाक्ये स्वस्य मपन्नसर्वपापनिवारकत्वं वदन् रक्षकोस्तीति विचारय । कथ-
 श्चन, केनापि पूर्वमुक्तेन कृतैनामुक्तेन भाविना सम्भावितेन वा प्रकारेण मोहं वैचित्यं
 पमानः परं किं भविष्यतीति मौढ्यात्मकमुद्देशं मा गाः । एवं भगवतः अणतविचारेणैव
 सर्वोद्दिगनिवृत्त्या भगवत्कृपाया अभिव्यक्तेरित्यर्थः ।

एवं सर्वं विचारनामयमुक्तोपसंहरन्ति । इतीत्यादि ।

इति श्रीकृष्णदासस्य ब्रह्मस्य हितं वचः ॥ १० ॥

चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥

चित्तं प्रति अन्तःकरणं लक्ष्मीकृत्य उदिस्य श्रीकृष्णदास्य हितं मुखसम्पा-
 दकं ब्रह्मस्य भगवतो भक्तानां च प्रियस्य वचः विचारोपदेशवाक्यम्; इति एता-
 वत् अरण्योपदेशान्तमेव नाधिकं; यदाकर्ण्य भुवरा भक्तः पूर्वोक्तः कृतापराधोऽपि निश्चि-
 न्तामुद्देशनिवारणेन चिन्ताराहित्यं व्रजेत् प्राप्तुवादित्यर्थः ।

अत्रेनत् सिद्धम् ।

(१) भगवान् समाभ्यधिकराहित्यात् स्वतन्त्रः ।

(२) मार्गप्रवर्तका भक्ताः स्वरूपतो दोषरहिता भगवतोक्तभक्तवश्यतायामपि
 भगवदधीना एव भगवदभिज्ञाश्रितः स्वस्य तन्मागोयत्वेऽपि मार्गप्रवर्तकभक्तवत् स्वस्य
 भगवदाज्ञाभङ्गोऽनभिषेवकरणं च न युक्तम् ।

(३) स्वस्य स्वभावतो दोषसत्त्वेऽपि समर्पणादुत्कृष्टवर्तीति कृपाबाहुल्येऽपि
 स्वोक्तार्थो न भावनीयः ।

(४) भगवतः सत्यसङ्कल्पत्वात् किं चिकीर्षतीति तदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वात्
 सर्वदा तदाज्ञैव कर्तव्या । तदकरणे 'आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणामि'तिवत् स्वामिद्वोहात्मको
 महान् अपराधः स्यात् ।

(५) किञ्च, अहं तेनैव इति मदनु रूपं यत् तन्न स्वामी एव कस्मिन्पतीति विचारः
 सेवकस्योचित इत्यतोऽप्याहैनं कार्या । नाप्याचार्यकृतिहृष्टान्तेन स्वयं मौढिः कर्तव्या ।
 तैरपि स्वमौढ्या तथाकृतौ पश्चात्तापस्वैवोक्तत्वत् पश्चात्तापस्यापि सेवकत्वमप्युक्तान्ताया
 एवोक्तत्वाच्च ।

(६) किञ्च, भगवान् न लौकिकमहत्त्वम् अपराधेन कुपितः परित्यजति । भग-
 वदर्थरूपस्याह्नीकारस्यापि नित्यत्वात् । स्वस्य चाह्नीकृतौ समर्पणादिनास्तुमितायां

भगवदुक्ततद्धर्माचरणे उपकपदशायापि फलतः साधनतश्च वैगुण्याभावस्योद्धवं प्रति स्वयमेवोक्तत्वात् कृतार्थतैव भवतीति भावनीयम् । न तु सन्देग्धव्यम्, 'अज्ञथाश्रद्धानश्चे'ति वाचयेन भगवता दोषस्यैवोक्तत्वात् ।

(७) किञ्च; देहोपि प्रौढदुहियप्रेषणन्यायेन देहार्थं स्वार्थं न संरक्ष्यः । किन्तु, येन केनचिदुपायेन भगवति एव विनियोक्तव्यः । भगवतास्य देहस्य स्वसेवार्थमेव दत्तत्वात् । तदकरणे लोकतौल्यमेव स्यात् । यदि पुनरतस्य तत्र विनियोजने प्रतिबन्धराम्यवस्तदा भगवानेव शरणत्वेन भावनीयः । एतदतिरिक्तस्योपायान्तरस्याभावात् । प्रतिबन्धो हि भगवन्भायया, तस्यास्तत्राधिकृतत्वात् । तत्तरणोपायश्च श्रयतिरेव नान्य इति भगवतैव गीतायामाज्ञापनादिति ।

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमकृतौ
अन्तःकरणप्रबोधविवरणं सम्पूर्णम् ।



तथा चैवं विचार्य देहस्य सेवार्थत्वं निश्चितुहि; निश्चित्य चाज्ञातं कुर्वित्यर्थः । एवमुक्तवशा सेवाकरणेऽपि पुनः प्रतिबन्धसम्भवश्चेत्तत्राप्युपायमाहुः । भक्षक्य इत्यादि । पूर्वोक्तं कर्तुमशक्यं चेद् भारतं तदा हरिः सर्वसर्वापहर्ता भगवानेवास्ति । 'सर्वधर्मान् परित्यज्ये'तिवाक्ये स्वस्य पपदसर्वापनिवारकत्वं वदन् रसकोस्तीति विचारय । कथञ्चन, केनापि पूर्वमुक्तेन कृतैनामुक्तेन भाविना सम्भावितेन वा प्रकारेण मोहं वैचित्यं ममातः परं किं भविष्यतीति पौरुष्यात्मकमुद्वेगं वा गाः । एवं भगवतः शरणत्वविचारेणैव सर्वद्विगनिवृत्त्या भगवत्कृपाया अभिव्यक्तेरित्यर्थः ।

एवं सर्वे विचारनाशयमुक्तोपसंहरन्ति । इतीत्यादि ।

इति श्रीकृष्णदासस्य ब्रह्मस्य हितं वचः ॥ १० ॥

चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥

चित्तं प्रति अन्तःकरणं लक्षीकृत्य उदिश्य श्रीकृष्णदस्य हितं सुखसम्पादकं ब्रह्मस्य भगवतो भक्तानां च प्रियस्य वचः विचारोपदेशवाचयम्; इति एतावद् शरणोपदेशान्त्येव नाधिकं; यदाकर्ण्य भुत्वा भक्तः पूर्वोक्तः कृतापराधोऽपि निश्चिन्ततामुद्वेगनिवारणेन चिन्ताराहित्यं व्रजेत् प्राप्नुयादित्यर्थः ।

अथैतत् सिद्धम् ।

(१) भगवान् समाभ्यधिकारादित्यात् स्वतन्त्रः ।

(२) मार्गप्रवर्तका भक्तः स्वरूपतो दोषरहिता भगवतोक्तभक्तवश्यतायापि भगवदधीना एव भगवदभिप्रायातः स्वस्य तन्मार्गापत्तेः मार्गप्रवर्तकभक्तवत् स्वस्य भगवदाज्ञाभङ्गोऽनभिप्रेतकरणं च न युक्तम् ।

(३) स्वस्य स्वभावतो दोषसत्त्वेऽपि समर्पणादुत्कृष्यतीति कृपाबाहुल्येऽपि स्वीकृत्यो न भावनीयः ।

(४) भगवतः सत्यसङ्कल्पत्वात् किं चिकीर्षतीति तद्विच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वाद् सर्वदा तदाज्ञैव कर्तव्या । तदकरणे 'आज्ञाभङ्गो चरेन्द्राणामि'ति च स्वामिद्वोहात्मको महान् अपराधः स्यात् ।

(५) किञ्च, अहं सेवक इति मदनुरूपं यत् तत् स्वामी एव करिष्यतीति विचारः सेवकस्योचित इत्यतोऽप्याज्ञैव कार्या । नाप्याचार्यकृतिदृष्टान्तेन स्वयं मौढिः कर्तव्या । तैरपि स्वबोद्ध्या तथाकृतौ पश्चात्पत्यस्यैवोक्तत्वात् पश्चात्पस्यापि सेवकत्वप्रयुक्ततायाः पूर्वोक्तत्वाच्च ।

(६) किञ्च, भगवान् न लौकिकमनुवद् अपराधेन कुपितः परित्यजति । भगवद्दर्शयपरयाङ्गीकारस्यापि नित्यत्वात् । स्वस्य चाङ्गीकृतौ समर्पणादिनाहुमितायां

भगवदुक्ततद्दर्मावरणे उपरुपदशायामपि कल्पतः साधनतश्च वैगुण्याभासस्योद्धव प्रति स्वपमेवोक्तत्वात् कृतार्थतैव भवतीति भावनीयम् । न तु सन्देहगव्यम्, 'अज्ञश्चाथदधानश्चे'ति वाक्येन भगवता दोषस्यैवोक्तत्वात् ।

(७) किञ्च; वैदोपि मौढ्यदुहित्प्रमेपणन्यायेन देहार्थं स्वार्थं न संरक्ष्यः । किन्तु, येन केनचिदुपायेन भगवति एव विनियोक्तव्यः । भगवतास्य देहस्य स्वतैवार्थमेव दत्त-
त्वात् । तदकरणे लोक्तौल्यमेव स्यात् । यदि पुनरतस्य तत्र विनियोजने प्रतिबन्धसम्भव-
स्तदा भगवानेव शरणत्वेन भावनीयः । एतदतिरिक्तस्योपायान्तरस्याभावात् । प्रतिबन्धो
हि भगवन्मायया, तस्यास्तत्राधिकृतत्वात् । तत्तरणोपायश्च प्रपत्तिरेव नान्य इति भगवतैव
गीतायामाज्ञापनादिति ।

इति श्रीमद्ब्रह्मसंह्याचार्यचरणैकतानपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमकृतौ
अन्तःकरणप्रबोधविवरणं सम्पूर्णम् ।



श्रीमद्-वल्लभाचार्यं-महाप्रभु-विरचित-खोडग-ग्रन्थान्तर्गतो-अष्टमो

विवेकधैर्याश्रयः

चतसृभिष्टीकाभिः समलंकृतः

१. श्रीरघुनाथाना दीपिका
२. श्रीगौपीशाना विवृतिः
३. श्रीगोकुलोत्सवानां विवृति
४. श्रीद्वजरायाणा विवृति

श्रीमद्-वल्लभाचार्यं-महाप्रभु-प्रवर्तित-शुद्धावृत-सम्प्रदायस्य-सप्त-
पीठान्तर्गत-सप्तम-पीठाधिष्ठित-नित्यलीला-रिधत-
गोस्वामिश्री १००८ श्रीरमणजी-महाराजश्रीत्पेतेषा-
-स्मृतौ-तदात्मजे -गोस्वामिश्री १००८
श्रीरघुनाथलाल-महाराजश्रीत्पेते
प्रकाशित

प्रकाशक

गोस्वामिश्री १००८ श्रीरघुनाथलालमहाराज
मनुभवन, भगतसिंह मार्ग,
पाल्ले (पश्चिम) बम्बई ४०० ०५६ भारत

साधारणसस्करण २,००० प्रति

राजसस्करण १,००० प्रति

श्रीवल्लभाब्द ५०३

ग्रन्थ-परिचय लेखक गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक

स्टूडियो बहार, २३-ए, सेण्ट्रल चौपाटी बिल्डिंग, चौपाटी,
बम्बई-४०० ००७.



गोस्वामिजी १००८ श्री रमणजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

कब कहां और किस प्रसंगमें विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थका प्रणयन हुआ यह पता नहीं चलता।

वैसे तो विवेक धैर्य तथा आश्रय का सम्बन्ध प्रपत्तिमार्गके साथ अधिक घनिष्ट है किन्तु भक्तिमार्गमें प्रवृत्त होनेवाले पुष्टिजीवोके लिए विवेक धैर्य तथा आश्रय भगवत्सेवामें भी उपयोगी होते ही हैं वास्तविकता तो यह है कि इन तीनोंकी कम ज्ञान एवम् भक्ति रूप तीनों ही मार्गमें अपेक्षा रहती है, 'विवेक' 'धैर्य' या 'आश्रय' शब्द सामान्य अर्थोंमें श्रीमहाप्रभुको विवक्षित नहीं हैं अपितु एक निश्चित पारिभाषिक अर्थमें ही विवक्षित हैं।

यथा :

(१) विवेक = हरिः सर्वं निजेच्छतो करिष्यति

(२) धैर्य - त्रिदुःखसहनमानृते सर्वत सदा

(३) आश्रय = ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरण हरि

इन्हीं पारिभाषिक अर्थोंमें विवेक धैर्य तथा आश्रय पुष्टिमार्गीय कृष्णसेवामें उपयोगी बनते हैं

कृष्णसेवामें प्रवृत्त पुष्टिभक्त किन्-किन परिस्थितियोंमें कृष्णसेवाकर्ताके लिए आवश्यक विवेक धैर्य या आश्रय को सो सकता है तथा किन् उपायोंसे इनकी रक्षा सम्भव है आदि विषयोंका निरूपण इस ग्रन्थमें हुआ है।

सिद्धान्तमुक्तावलीमें उपदिष्ट सेवाके बाह्य अंगोंका निरूपण हमें सिद्धान्तरहस्यमें तथा आभ्यन्तर अंगोंका निरूपण नवरत्नमें मिलता है, इन्हीं बाह्य तथा आभ्यन्तर साधनोंकी सांगोपागता विवेक-धैर्य-आश्रयके सम्पन्न होनेपर सम्भव होती है, अन्तःकरणप्रबोध ग्रन्थद्वारा जो अन्तरात्माका प्रबोधन किया गया उस प्रबोधनके लिए भी विवेक-धैर्य-आश्रयकी निरतिशय अपेक्षा है।

इन विवेक धर्म तथा आश्रय का परस्पर सम्बन्ध विलक्षण है जिसे भगवत्कृपा में आश्रय सिद्ध हो जाता है उसे विवेक और धर्म ही स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं, अन्यथा विवेक और धर्म के बिना आश्रय दृढ़ नहीं हो पाता। हमारे अविवेक और अधर्म हमें भगवदाश्रयसे विचलित कर सकते हैं अतः अपने जागृत विवेक तथा धर्म के द्वारा अदृढ़ आश्रयकी रक्षा आवश्यक होनी है इस तरह विवेक धर्म एक कोटी है तथा आश्रय दूसरी कोटी है

यह आश्रय पुष्टिभक्ति का आवश्यक अंग होनेपर भी केवल पुष्टिभक्ति ही नहीं अपितु कर्म-ज्ञान-भक्ति सभी मार्गोंका अनुकूल है कर्म ज्ञान भक्तिने अनेकविध उपायोंको दिखानेके बावजूद भगवान्ने गोताके अन्तमें— "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" के महान् उपदेशद्वारा एक पृथक् शरणमार्गके रूपमें इसी आश्रयको समझाया है भागवतके एकादशस्कन्धमें भी इसका स्पष्टीकरण मिलता है— "तस्मात्स्वमुद्धवोत्सृज्य चोदना प्रतिचोदना प्रवृत्ति च निवृत्ति च श्रोतव्यं श्रुतमेव च मत्प्रेक्ष्येव शरणमात्मानं सर्वदहिना याहि सर्वात्मभावेन मया स्यात्सुकृतोभयम्" अर्थात् श्रुतिस्मृतिमें उत्सर्ग अपवादके रूपमें कहे गये विधि निषेध और तत्परित्त विविध कर्मोंमें प्रवृत्ति और निवृत्ति तथा विविध ज्ञानमार्गीय श्रोतव्य श्रुत विषयोंके श्रवण-मनन-निदिध्यासन आदि किसी भी प्रणालीकी अपेक्षा रखे बिना केवल एकमात्र भगवान्की शरणमें सर्वात्मभावके साथ जाना चाहिये यहाँ भी इसी आश्रय या पृथक्शरणमार्ग का विवेचन अभीष्ट है

एवमाश्रयणं प्रोक्त सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥

अर्थ इस तरह आश्रय सभीके लिए सर्वदा हितकारी सिद्ध होता है क्योंकि कलियुगमें भक्ति आदि मार्ग दुःसाध्य हो गये हैं

कर्म ज्ञान या भक्ति के मार्गपर चल सकनेवाले जीवोंके लिए विवेक धर्म आश्रय अच्छी तरह चल पानेमें सम्बल बन जाते हैं जो इन मार्गोंपर चल नहीं पाते उनके लिए आश्रय ही मार्ग भी बन जाता है और चल पानेका बल भी ।

आश्रयका सुलभतम स्वरूप श्रीमहाप्रभुने इस तरह समझाया है •

यथा कथंचित् कार्याणि कुर्याद्विच्चावधान्यपि ।

किंवा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद् हरिम् ॥

अर्थ: जैसे भी जो भी छोटे-बड़े या अच्छे-बुरे कार्य व्यक्ति करता हो परन्तु किसी भी समय श्रीकृष्ण ही मेरे एकमात्र सहारा-शरण है, यह भावना मनसे दूर नहीं होनी चाहिये.

मूलतः गीतामें जिस तरह—“अहं त्वा सर्वं पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः” या भागवतमें जिस तरह—“मया स्या ह्यकुतोभयम्” में भगवान् ने अपने श्रीमुखसे शरणागतोंको अभयदान दिया है वही इस आश्रय या प्रपत्ति की क्रिया एवम् भाव को पृथक्-शरणमार्गकी पदवी प्रदान करता है. अतएव श्रीमहाप्रभु भी यहा षोडशग्रन्थके अन्तर्गत विवेकधर्मश्रयमे भगवत्सेवाके अग्र-रूपसे तथा अनुकल्परूपसे आश्रयका निरूपण करते हैं जो स्वयम् अनुकल्प हो सकता हो वह यदि अंग बन जाये तो भगवत्सेवाके स्वरूपमे एक विशिष्ट निखार आना स्वाभाविक ही है. अतएव श्रीमहाप्रभु उपदेश देते हैं विवेक धर्म की रक्षा सतत करनी चाहिये इसी तरह आश्रयकी भी.

विवेक

विवेकके धर्मे तो अनेक अर्थ तत्तद् शास्त्रोंमे उपलब्ध होते हैं. यहा परन्तु 'विवेक'का विवक्षित अर्थ इनना ही है कि जो कुछ जहा जब जैसे घटित हो रहा है वह सर्वदु खहारी भगवान् श्रीहरिको अपनी इच्छासे ही हो रहा है ग्रह्याण्डके सारे क्रिया-कलाप भगवान् की क्रीडाके अंग हैं. भगवान् जो कुछ करते हैं उसमें किसी न किसी तरह हमारा हित ही निहित होता है, हमारे हृदय और बुद्धि में यह भावना और धारणा सर्वदा ही बनी रहनी चाहिये यही 'विवेक' कहलाता है.

“भगवान् सर्वसमर्थ है सर्वान् तथा सर्वान्तिप्रामी है” ऐसे भाव भगवद् धर्मके विचारमें 'विवेक' कहलाते हैं मैं भगवान् का अंग हू, दास हू, भगव-त्क्रीडाका अंग हू तथा मेरी अहन्ता-ममताका कोई अर्थ नहीं है इत्यादि मनोभाव जीवधर्मके विचारसे 'विवेक' कहलाते हैं. इस तरहके विवेकसे सम्पन्न होनेपर हममें से चतुर्विध अविवेक दूर हो जायेगा हमारे भीतर चार प्रकारकी

वृत्तियां अविवेकके कारण घर कर जाती है. वे अविवेकजन्य वृत्तियां इस तरह हैं :

- १) प्रार्थनाकी वृत्ति
- २) अभिमानकी वृत्ति
- ३) हठकी वृत्ति
- ४) आग्रहकी वृत्ति

१) हमें थोड़ा सा कष्ट होने लगता है या कोई कामना उत्पन्न हो जाती है तो हम अपने कष्टोको दूर करनेके लिए अथवा हमारी क्षुद्र कामनाओकी पूर्तिके लिए भगवानसे प्रार्थना करने लग जाते हैं. मानो भगवान् सर्वज्ञ सर्वान्तर्गामी या सर्वविद्या ही न हो ! भगवान् तो हमारी प्रार्थनाके बिना भी सब कुछ जानते हैं कि हमारी क्या अपेक्षाएँ हैं तथा किन कामनाओकी पूर्तिमें हमारा हित निहित है और किनमें अहित हम पहचान नहीं पाते पर परमात्मा तो हमारी आत्मामें निवास करते ही है अतः हमारे स्वामी हमें क्या और कितना देना चाहते हैं उसे जाने बिना हम मागनेकी भूल कर बैठते हैं हमारे हितमें ही परमात्मा कुछ हमें देता है या नहीं देता परन्तु हम हमारे हित-हितके ज्ञानके बिना ही मागनेकी बेसज्जी कर बैठते हैं! अतः भगवान् सर्वज्ञ है सब कुछ देनेमें समर्थ है पर देगे वही जिसमें हमारा हित निहित हो, ऐसे वृद्ध विश्वासको मनमें रख कर प्रार्थना—कष्टनिवृत्ति या कामनापूर्ति की याचना—न करना विवेकका प्रथम लक्षण है

२) यह प्रार्थनात्याग पूर्वोक्त भावभूमिपर किया जाये तभी 'विवेक' कहलाता है. अन्यथा पुरुषार्थवादी अहंकारयुक्त मनोवृत्तिसे अथवा अनीश्वरवादी अश्रद्धाकी मनीवृत्तिसे या कि कर्तव्य-विमूढ बुद्धिसे प्रार्थना न करना विवेकका लक्षण नहीं है. अतः प्रार्थनात्यागकी तरह अभिमानका त्याग भी आवश्यक है अभिमान केवल हमें अपने स्वामीका होना चाहिये—अपने पुरुषार्थपर या परमात्मामें भिन्न किसी जडशक्ति यथा प्रकृति काल कर्म स्वभाव माया गैतान आदिका नहीं क्योंकि इनके कारण यदि कुछ सुख-दुःख हमें होता है तो वह भी परमात्मामें बैसी इच्छा होनेके कारण ही अन्यथा ये सभी प्रभावहीन होते हैं यह विवेकका द्वितीय लक्षण है

३) मित्याभिमान तथा प्रार्थना रहित जीवनप्रणालीमें यह सहज सम्भव है कि हमारे अन्दर अकर्मण्यताका एक ऐसा हठीलापन पनप जाये कि सामान्य-विशेष परिस्थितिके विवेकके बिना केवल हाथपर हाथ धरके बैठे रहना ही हमें आदर्श लगने लग जाये अभिमानत्याग तथा प्रार्थनात्यागके साथ ही साथ विवेकरहित अप्रवृत्तिकी हठका त्याग भी अतएव आवश्यक होता है भक्तकी प्रवृत्ति किन्तु अपने देहिक स्वार्थोंकी पूर्तिसे प्रेरित नहीं होती। भक्तकी प्रवृत्ति होती है जब उसके अन्तःकरणमें विशेष भगवदाज्ञाका अनुभव होने लगे ऐसी विशेष भगवदाज्ञायें अवसर—विशेषपर किसी भक्तविशेषमें किसी विशेष भगवत्कार्यको पूर्ण करानेके लिए होती हैं भगवदाज्ञाके अनुसार यह कार्य मुझे ही पूर्ण करना है ऐसे भगवदीय अभिमानके साथ तथा अकर्मण्यताकी हठको छोड़कर उस विशेष कार्यको सम्पन्न करना चाहिये

सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार होता है इस सिद्धान्तकी सहज स्वीकृति तथा असहज हठीलापनसे उसमें साथ चिपक जानेमें बहुत अन्तर पड़ जाता है अवसरविशेषपर स्वधर्म — भगवन्तेवा या उसमें सम्बन्धित किसी कर्तव्य -- को विशेष आयास-प्रयाससे पूर्ण करनेकी भगवदाज्ञायें प्रेरणा जब हमारा अन्तःकरणमें उठती हो, तब जो होगा सो भगवदिच्छाके अनुसार होगा, ऐसी अकर्मण्यताकी हठ रखते समय हम यह भूल जाते हैं कि उक्त प्रेरणा भी तो विशेष भगवदाज्ञासे हुई है, अतः हठवादितापूर्ण सिद्धान्तके दुष्प्रयोगका त्याग विवेककी तीसरी पहचान है

(४) एक बार किसी अवसर विशेषपर “सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार होता है” इस सिद्धान्तको हठवादितासे न लेनेका तात्पर्य यह नहीं हो जाता कि सिद्धान्तिक आग्रहसे सर्वथा मुक्त ही हो जाना चाहिये व्यवहारमें सिद्धान्ततः क्या धर्म है तथा क्या अधर्म है इसका विचार प्राथमिक होना चाहिये, तदनुसार ही किसी कार्यमें प्रवृत्त या निवृत्त होना चाहिये अतः आपद्धर्म या अवसरोपात्त किसी विशेष कार्यसैतिकी सार्वदिक माननेका आग्रह भी नहीं रखना चाहिये अतः हठत्याग भी आग्रहरहित होना चाहिये, आग्रहसहित नहीं !

यही विवेकका वास्तविक एवम् परिपूर्ण स्वरूप है इस ग्रन्थके एक व्याख्याकार श्रीगोपीबन्धुके अनुसार श्रीमहाप्रभु नवविध विवेकका यहाँ उप-

देना करते हैं, जिसे इनकी व्याख्यामें इन्होंने भलीभाँति समझाया है यहाँ विस्तारभयसे हम अनुवाद नहीं दे रहे हैं
धैर्य

जन्ममें मृत्युपर्यन्त सभी तरहके दुःखोंको सहन कर लेना धैर्य है। दुःखोंको सहन करनेका मतलब होता है उन्हें स्वीकार लेना—उनका प्रतिकार न करना कभी एकाद दुःख सह लेना और कभी विचलित हो जाना धैर्यका स्वभाव नहीं है निरन्तर सभी तरहके दुःखोंको सबंदा सहना ही पूर्ण धैर्यका स्वभाव है

दुःख अनेक प्रकारके हो सकते हैं यथा—रोगादिजन्य कायिक या भौतिक दुःख होते हैं कामक्रोधादिजन्य—इन्द्रिय और मन से सम्बन्धित आध्यात्मिक दुःख होते हैं। सेवायें उपयोगी वस्तुओंके अभाव अथवा ऐसे अन्य भगवत्सम्बन्धी दुःखोंका आधिदैविक दुःख कहा जाता है इस तरह धर्म अर्थ और काम पुण्यादिके सम्पादनके लिए लौकिक आयास आधिभौतिक, वैदिक आयाम आध्यात्मिक तथा भगवद्धर्म आपाम आधिदैविक दुःख माने जाते हैं कभीकभी काल कर्म-स्वभाव-जन्य दुःखोंसे भी हम पीड़ित हो जाते हैं इन सभी तरहके दुःखोंको सहन करना धैर्य कहलाता है

धैर्य धारण करनेके चार उपाय होते हैं

- १) अनाग्रह
- २) सहन
- ३) त्याग
- ४) असामर्थ्यभावना

१) दुःखोंको सहन करना चाहिये पर स्वयम् चलाकर दुःखी होनेके काम नहीं करने चाहिये अपने प्रयत्नके बिना स्वतः भगवदिच्छासे दुःख दूर हो जाते हैं तो जान-बूझकर दुःखी बने रहनेके अस्वस्थ दुराग्रहकी भी कोई महत्ता नहीं है अतएव समागत दुःखोंका प्रतिकार सहज-सरलतया हो जाता हो सहनेकी कोई आवश्यकता नहीं और न होता हो तो विचलित भी नहीं होना चाहिये यही धैर्यका वास्तविक स्वरूप है

दुःख सहनेको उद्यत रहनेपर भी दुःखी बने रहनेके अस्वस्थ दुराग्रहसे बचनेका उदाहरण भद्रोलिखित कथाश्लोक द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है

तत्रवत् धैर्यधारण

हत्वा नृप पतिमवेश्य भुजगदष्ट

देशान्तरे विधिवशाद् गणिकास्मि जाता ।

पुत्र पति समधिगम्य चिता प्रविष्टा

शोचामि गोपगृहिणी कथमद्य तत्रम् ॥

अयं मुझे हठात् रनिवासमे पकड रखनेवाले राजाकी हत्या करके अपने सच्चे पतिके पास जब पहुँची तो सर्पदशके कारण उसे भी मृत पाया देश देशान्तरोंमे भटकती हुई वेश्यावृत्ति अपनातेको बाधित हुई तो एक दिन स्वयम् अपने पूर्वपतिसे जात पुत्रको सम्पन्न ग्राहक मानकर आमन्त्रित कर बैठी. वास्तविकताका ज्ञान होनेपर अपने पुत्रके साथ प्रायश्चित्त हेतु आत्मदाहको उद्यत हुई तो पुत्र जलकर मर गया परन्तु मैं कथञ्चिद् बच गयी बचानेवाले ग्वालेकी पत्नी बनकर छाछ बेचती हूँ सो आज वह भी डुल गई अब बताओ कि कितने दुःखोंको रोऊँ! इस छाछके डुल जानेके दुःखको कहाँ तक रोऊँ ?

जीवनमे एकसे बढ़कर दूसरे कष्ट आते हैं किन किनको रोया जाये और कब तक रोया जाये ? ग्वालेकी पत्नी अपने पूर्वानुभूत कष्टोंका विचार कर नित-नये आनेवाले दुःखोंको झल जाती है जब भी जैसे जीवन यापनक अवसर सामने आते हैं, उन्हें स्वीकार लेती है न तो दुःखसे विचलित होती है और न दुःखी बने रहनेकी निराशा या कुप्टा से ग्रस्त ही होती है न दुःखोंके आनेका कोई आग्रह और न दुःखोंके जानेका कोई आग्रह । 'प्रतीकारो यदृच्छातो सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत्'

२) धैर्य धारण करनेका दूसरा उपाय है — दुःखोंको कष्टोंको या तिरस्कारोंको सह लेना हमे यह सोचना चाहिये कि जो हमे कष्ट है वह अन्य किसीका भी हो सकता है हमारा कष्ट किसी दूसरेके लिए सुख भी हो सकता है हमारी सुख दुःखकी अनुभूतिके हम अकेले ही दायेदार नहीं हैं परन्तु अनेक दायेदार हैं फिर अकेले हमारे उद्दिग्ध होनेकी क्या तुक है ?

देहवत् धर्मधारण

देहं किमत्रदातुर्वा निपक्वतुर्मात्रुरेव वा ।
मातुर्पितुर्वा वलिनः श्रेयुरने सुनोपि वा ॥

अर्थ इस देहपर सच्चा अधिकार किसका है ? क्या उसका जो हमें अन्न देता है, या हमारे जनक पिताका, या गर्भधारण करनेवाली माताका, या बलपूर्वक जो अधीन कर ले उसका, या धन देकर जो हम खरीद ले उसका, या देहको भस्मसात् करनेवाली अग्निका, या उसे खानेके भूखे कृमी-कीट-पशु-पक्षियोंका !

जब हमारे देहके दावेदार अकेले हम ही नहीं — इतने सारे हैं सभीके किसी न किसी तरहके कष्ट और आनन्द हमारे देहके साथ जुड़े हुए हैं ऐसी सार्वजनिक सम्पत्तिसे अकेले हमारे दुःखी होनेकी क्या आवश्यकता है ?

इसी तरह हमारे सुख-दुःखमें भी हमारे परिवार समाज राष्ट्र मानव-मात्र और प्राणिमात्र का कुछ न कुछ या किसी न किसी तरहका हिस्सा तो है ही फिर अकेले हमें ही अपने कष्टोंको असह्य नवो मानना चाहिये ? किसीका कष्ट जैसे हमारे लिए सुख बन जाता है, इसी तरह हमारा कष्ट किसी दूसरेके लिए सुख होगा वनस्पतीका कष्ट वकरीका सुख है—वकरीका कष्ट सिंहका सुख है—सिंहका कष्ट शिकारी मानवका सुख होता है इत्यादि अल हमारे पारिवारिक सदस्य पत्नी आदि या अन्य भी अनाधु पुरुषों द्वारा किया गया तिरस्कार हमें सह लेना चाहिये

३) धर्म धारण करनेका तीमरा उपाय है त्याग त्यागका अर्थ है अपनी ओरसे सभी इन्द्रियोंके व्यापारोंको त्यागित कर देना. उन्हें काया वाणी और मन के अभिविवेकसे मुक्त करना

जडवत् धर्मधारण

जैसे जडभरत अपनी मस्तीमें बैठे हुए थे जब राजाके सैनिक उन्हें पालकी ढोनेके लिए ले गये तो आनाकार्णा किये बिना पालकी ढोने लग गये ठीकसे न ढो पानेके कारण राजा माली देने लगा तो वह भी मरतीम मुग ली. पूछनेपर बुद्धिमत्ता पूर्ण उत्तर दिया और राजा चरणोभ पड गया तो उसी पुरानी मस्तीसे ज्ञानोपदेश भी कर दिया !

इस तरह जड़वत् व्यवहार करके भी धैर्य धारण किया जा सकता है

४) धैर्य धारण करनेका चौथा उपाय है स्वयम् अपनी असमर्थताकी भावना करना

गोपभायवत् धैर्यधारण

कृष्णके विरहमें गोपिकाओंने तथा अन्य भी ब्रजवासियोंने अपनी असमर्थताके बोधद्वारा धैर्य धारण किया था, रासके प्रकरणमें तथा मधुरा-गमनके प्रसंगमें भी भगवान्पर जब बस नहीं चलता तो अपनी असमर्थताकी भावनाद्वारा धैर्य धारणके अलावा और कोई उपाय भी नहीं रह जाता है

इस तरह भगवदिच्छाका और अपनी असमर्थताका विचार कर आधि-दैविक दुःखोंको सहन कर लेना चाहिये

ये सारे उपाय जो शक्य या सुकर नहीं लगते हो तो सर्वदुःखहर्ता हरिको आश्रय ग्रहण करना चाहिये. क्योंकि भगवान्के आश्रयसे अज्ञान भी सुशक्य हो जाता है सारी दुर्लभ बातें भी सुलभ बन जाती हैं इस तरह धैर्यका निरूपण किया गया. अब आश्रयका स्वरूप समझना चाहिये

आश्रय

ऐहिक पारलौकिक सभी बातोंमें सर्वथा एकमात्र हरिको ही सहाय स्वीकारना आश्रय कहलाता है आश्रमको दृढताके भी चार उपाय हैं

✓ १) मन और वाणी से निरन्तर शरणभावना

✓ २) कायिक वाचिक और मानसिक रूपमें अग्याश्रयका त्याग करना

३) मेघपर चातकके दृढ विश्वासकी तरह भगवान्पर सर्वदा दृढ विश्वास रखना—स्वयम् प्रयुक्त ब्रह्मास्त्रपर स्वयमेव मेघनादकी तरह भगवान्पर कभी अविश्वास न करना.

✓ ४) सुखसे या दुःखसे जो भी मिल जाये उसका भ्रमतरहित उपभोग करना

१) हमारे जीवनमें अनेक प्रकारकी विषम स्थितियां सामने आती रहती हैं जिन उद्वेगजनक परिस्थितियोंमें हम विचलित हो जाते हैं, उन परिस्थितियोंमें यदि हमारे मन और वाणी ने हम शरणभावना बनाये रखें तो आश्रय दृढ हो जाता है जीवनमें अनेकविध आधिभौतिक आध्यात्मिक एवम् आधिदैविक कष्ट आते हैं ऐसे समय ब्रह्मा हम विवेक और धैर्य

निमा नहीं पाते. पर मन और वाणी में यदि शरणभावना बनाये रखनेमें सफल हो पायें तो आश्रय दृढ़ हो जाता है

चाहे कोई भी परिस्थिति हमारे सामने आ पड़े—पापकी, भयकी, अपूर्ण कामनाओंकी, भयतद्रोहकी, भक्ति-अभावकी या भक्तोंसे तिरस्कृत होनेकी—मभी स्थितियोंमें भगवद्शरणभावना एक कारगर उपाय है जब किसी असह्य कार्यको सम्पन्न करनेका उत्तरदायित्व हमपर आ पड़ता है तब उद्वेग आसका एवम् कुण्ड के कारण हम भगवान्को भूल जाते हैं जब कोई सुशान्त कार्यको सम्पन्न करनेका उत्तरदायित्व हमपर आ पड़ता है तब सफलताकी आशा उत्साह और अहंकार के कारण हम भगवान्को भूल जाते हैं कार्य चाहे असह्य हो या सुशान्त भगवान्की शरणभावना सर्वदा मन-वाणीपर बनी रहनी चाहिये हमारा अहंकार जब प्रबल हो रहा हो—हमपर जो आश्रित हो उनके रक्षणपोषणके समय अथवा हमपर आश्रित व्यक्ति या साम्रन्धी जन जब हमारे अहम्को ठस पहुँचा रहे हो अथवा हमारे शिष्य भी जब हमारा तिरस्कार कर रहे हो, तब शरणभावनाको बनाये रखना बहुत आवश्यक होता है

मानसी सेवा, व्यवसयदसा, निरोध या सर्वात्मभाव के अनुभव योग्य अलौकिक मनकी सिद्धिके लिए भी एकमात्र श्रोत्रि ही हमारी शरण होते हैं मनवाणीसे निरन्तर अप्टाकार मन्वका अनुसन्धान बनाये रखना चाहिये यह आश्रयको दृढ़ करनेका प्रथम उपाय है

२) काया वाणी और मन में अन्याश्रयका त्याग करना चाहिये श्रुतिमें तित्वकर्मके रूपमें विहित न हो तब भी किसी अन्य देवादिका स्वतः चलाकर—निष्काम या सकाम भजन करना अन्याश्रय है कही जाते समय मार्गमें किसी अन्य देवका मन्दिर मिल जाये तो दूसरी बात है. अन्यथा स्वयम् अपनी ओरसे चलाकर किसी अन्य देवके दर्शनार्थ उनके मन्दिरमें जाना अन्याश्रय है भागत जाते हुए अन्य देवका मन्दिर मिल जाये तो नमनद्वारा आदरभाव प्रकट करना अन्याश्रय नहीं है किसी लौकिक या अलौकिक प्रयोजनवश किसी अन्य देवताकी प्रार्थना करना अन्याश्रय है 'अन्यदेव' का अर्थ है—भगवान्के ऐसे देवस्वरूप कि जिनकी पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणालीमें मान्य नहीं किया गया है अन्याश्रयके त्याग करनेसे भी आश्रय दृढ़ हो जाता है

३) भगवान् पर अविश्वास कभी नहीं करना चाहिये—सर्वदा चातकका सा दृढ़ विश्वास रखना चाहिये लकामे हनुमानजीको जब ब्रह्मास्त्रसे बाधा गया तब स्वयम् बाधनेवाले राक्षसको ही ब्रह्मास्त्रपर अविश्वास हो गया था. अतः वे जब ब्रह्मास्त्रके अलावा रस्सी या अगंला से बाधने लगे तब उनके अविश्वासको जानकर दोनों ही बन्धनोको तोड़कर हनुमानजी मुक्त हो गये. अतएव अविश्वास कदापि नहीं करना चाहिये जल बरसे या न बरसे पर चातकका विश्वास स्वातिविन्दुके वारेमे कभी खण्डित नहीं होता ऐसा दृढ़ विश्वास प्रभुपर रहना चाहिये दृढ़ विश्वाससे भगवदाश्रय दृढ़ होता है

४) हमे जो कुछ जैसा और जितना प्राप्त होता है, उसके ममतारहित उनभोगका व्रत यदि हम लेलें तो न प्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे हर्ष होगा और अप्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे विषाद ही इस तरह प्राप्त वस्तुके ममतारहित उपभोगसे भी भगवदाश्रयकी दृढता सिद्ध होती है.

उपसंहार

किसी भी तरह हो आश्रयकी दृढता अपेक्षित है. छोटे-बड़े अच्छे-बुरे किसी भी तरहके कार्योंकी करते हुए यदि हम शरणभावनाकी हृदयमे जगाये रखनेमे सक्षम हो जाते हैं तो अन्य सारी बातें शनै शनै स्वतएव सिद्ध होने लगेगी. इस तरह हमने देखा कि कलिपुगमे भक्ति आदि मार्गपर चल पाना दृ साध्य हो गया है, फिर भी भगवान् श्रीकृष्णका आश्रय सभीके लिए सर्वदा हितकारक होता है.

एक दृष्टिसे देखा जाये तो मार्ग तो कम ज्ञान और भक्ति रूप तीन ही है परन्तु जो जीव इन मार्गोंपर चक्र नहीं पाते या चलने हुए थक कर बैठ जाना चाहते हैं, उनकी साधना अपूरी रह जाती है पर थके हुए या बिन थके जो जीव भगवान् के चरणोमे बैठ जाते हैं, वे बिना चले भी गन्तव्यतक पहुच जाते हैं. भगवान् के चरण या शरण अपने आपमे मार्ग भी हैं और गन्तव्य भी "एवमाश्रयण प्रोक्त सर्वथा सर्वदा हितम् "

प्रस्तुत विवेकधर्याश्रय ग्रन्थ वि स १९८३ मे प्रकाशित सरकारणका ऑनसेट प्रॉसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है वह संस्करण श्रीमद्-गोस्वामिकुलभूषण-विद्यानिधि-श्रीब्रजरत्नलालजी महाराजकी श्रीबालकृष्ण गुदाईत महासभा (सूरत) द्वारा प्रकाशित हुआ था सम्पादन श्रीबीमनलाल ह शास्त्रीजीने किया था इन दोनों महानुभावोके प्रति हम हार्दिक गुज्रता प्रकट करते हैं

उपकारस्मरण.

— ० —

आ विवेकधर्याश्रय भाटे नीये प्रभाजे प्रति उपलब्ध थर्छ हुती.

(१) धीरधुनायवरणविवृति—

१ क	गो० श्रीछन्दसायःपारमण श्रीरञ्जोऽसायलु	कोटावा	
	तरङ्गी भये ती-मुद्रञ्जुर्मा भास उपपोऽपी		शुद्ध छे. पायेली
२ ख	"	"	अने प्राचीन छे
३ ग	गो० श्रीनन्दनसायलु महाराज, सुरत	तरङ्गी भये ती	प्राय शुद्ध
४ घ	श्रीमदुसासायली सरधानी		व्यपूर्व अशुद्ध
	श्रीधुत भूखन्त्र तेवीवाणा तरङ्गी		प्राय शुद्ध प्राचीन

(२) श्रीधनदयामात्मज-धीरगोपीराजरी महाराजकृतविवृति

१ क	गो० श्रीरञ्जोऽसायलु महाराज तरङ्गी	शुद्ध पायेली, नूतन
२ ख	"	" प्राचीन
३ ग	लुनपदनी, गो० श्रीगोपुनःपलु महाराज तरङ्गी	नूतन, प्राय शुद्ध
४ घ	गो० श्रीरञ्जोऽसायलु महाराज तरङ्गी स १८५८	प्राचीन प्राय शुद्ध
५ ङ	गो० श्रीनन्दनसायलु महाराज सुरत तरङ्गी	व्यपूर्व
६ च	"	प्रायेसी शुद्ध
७ छ	"	व्यपूर्व
८ ज	श्रीमदुसासायली, श्रीधुत भूखन्त्र तेवीवाणा तरङ्गी	प्राय शुद्ध
९ झ	"	"
१० ञ	गो० श्रीगोपुनःपलु महाराज मुम्बई तरङ्गी	अशुद्ध
११ ट	"	नूतन प्राय शुद्ध
१२ ठ	गो० श्रीनन्दनसायलु महाराज सुरत तरङ्गी	प्रायेसी शुद्ध

(३) धीरगोविन्दरायामात्मजधीरगोकुलोन्सवविवृति.

१ क	गो० श्रीरञ्जोऽसायलु महाराज मुम्बई तरङ्गी	प्राय शुद्ध प्राचीन
२ ख	"	शुद्धतर प्रायेसी
		प्राचीन
३ ग	गो० श्रीरञ्जोऽसायलु महाराज मुम्बई तरङ्गी	शुद्धतर स १७७०
४ घ	"	"
५ ङ	गो० श्रीनन्दनसायलु महाराज सुरत तरङ्गी	"
६ च	"	शुद्ध-नूतन

विवेकधैर्याश्रयः ।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।
विवेकस्तु हरिः सर्वं निवेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥
प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात् ।
सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥
अभिमानश्च संत्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावात् ।
विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥
तदा विशेषेणेत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।
आपद्दस्तादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ॥ ४ ॥
अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ।
विवेकोऽन्यं समारूपातो धैर्यं तु विनिरूप्यते ॥ ५ ॥
त्रिदुःखसहनं धैर्यमा मृतेः सर्वतः सदा ।
तक्रवहेहवद्भाष्यं जडवद्गोपभार्यवत् ॥ ६ ॥
प्रतीकारो यदच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत् ।
भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥
स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।
अश्रेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावात् ॥ ८ ॥
अश्वये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।
एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोऽतो निरूप्यते ॥ ९ ॥
देहिके परलोके न सर्वथा शरणं हरिः ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥१०॥
 भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तेश्चातिक्रमे कृते ।
 अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥११॥
 अहंकारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।
 पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥१२॥
 अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वार्था शरणं हरिः ।
 एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥१३॥
 अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।
 प्रार्थना कार्यमात्रेऽपि ततोऽन्यत्र विवर्जयेत् ॥१४॥
 अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।
 ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥१५॥
 यथाकथंचित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।
 किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भारयेद्हरिम् ॥१६॥
 एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।
 कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥१७॥
 इति श्रीबल्लभाचार्यविरचितो विवेकधैर्याश्रयः समाप्तः

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनघट्टभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमदखण्डभूमण्डलाचार्यवर्यश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितः ।

विवेकधैर्याश्रयः ।

श्रीरघुनाथचरणप्रकटिना दीपिका ।

स्वगोकुलपरित्राणसम्भ्रमेणोद्धृताचलम् ।

क्रीदहोपाङ्गनावाङ्गसङ्गिगोपालमाश्रये ॥ १ ॥

मन्मानसेऽस्तु सततं श्रीविट्कृष्णदाभ्युजम् ।

संसारमयभीतानां यस्मृतिर्धैर्यनाशिनी ॥ २ ॥

अथ भगवन्मार्गप्रवृत्तानामेकान्तिकभक्तानां भक्तिं सिसाग्निपूणां तत्साधनो-
पायान् विवेकधैर्याश्रयान् स्वस्वासाधारणलक्षणलसितान् विवेकमादौ तानसाधारणस्वभा-
व्येन निर्दिशन्ति ।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।

विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥

रक्षणीये स्वीकार्ये । तत्र विवेकादयः कीदृशा इति स्वरूपजिज्ञासायां मयमो-
दितस्य विवेकस्य फलितस्वरूपमाहुर्विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यतीति ।
तुदाब्दः प्रसिद्धिद्योतनार्थः । अन्वयात्प्रमाणिकत्वं स्यात् । हरति त्रिविधमपि भक्तदुःख-
मितिव्युत्पत्त्या सरुलदुःखहारिसमधिच्युत्पत्त्याहारिहरिपदेन, 'भगवान् करिष्यति न ये'स्यवि-
श्रातो निरस्तो वेदितव्यः । हरिपदनिर्वचनन्तु महाभारते स्फुटम् । तद्यथा, 'हराम्यघं
हि स्मर्तृणां हविर्मासिं क्रतुगृहम् । वर्णश्च मे हरिश्चेष्टस्तस्माद्धरिर्हं स्यूत' इति । सर्वमैहिकं
पारलौकिकं निजेच्छातो जीराहृष्टप्रयत्नादिनिरपेक्षात्लौकिकरुस्वेच्छात इत्यर्थः । एवं
वाक्यार्थानुसन्धानेन श्लेषविवेकतात्पर्यम् ।

'न्तु लोके भगवद्भक्तानामपि शौदुःखदूरीकरणार्थं भगवान् धैर्यनीय एव ।
तस्मादशक्यार्थोपदेश एवार्थं पद्मोर्गिरिलङ्घनवद्विवेकोपदेश इत्यत आहुः ।

प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात् ।

सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥

वेति विकल्पे विकारकृत्सिद्धशायाम् । ततः प्रार्थनातः किं स्यान्न किमपी-
त्यर्थः । कुत इत्यपेक्षायां, स्वाम्यभिप्रायसंशयादिति । स्वामी मनुः, तस्यापि प्रा-
यस्य चिकीर्षितस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् संशयो भवत्येव । यत्र 'कलानुमेयाः पारम्भाः
संस्काराः प्राक्तना इवे'त्यादिषु लौकिकप्रभन्धिप्रायोपि पूर्वं ज्ञातुमशक्यत्वात् किं वाच्य-
मलौकिकमभोरभिप्रायस्येति । ननु भक्तेच्छापूर्णाया भगवाननङ्गव्यवस्थार्थं सम्पादयति,
तत्र, वहायाससाध्यप्रसदादिवद्भगवतोपि कदाचित् स्यादिति तदर्थं पुनः पुनः प्रार्थ-
नया भगवान् स्मर्यते । (भगवत्सन्तु कार्यं स्मर्यते) इत्यत्र आहुः सर्वथेति । सर्वस्मिन्
काले देशे च यदिकञ्चिद्भुक्तुमात्रं तत्सर्वं तस्य भगवत एवेत्यर्थः । हिमन्दः प्रसिद्धौ ।
सा च 'अहं सर्वस्य जगत्स्य मभय' इत्यादिषु श्लोका । ननु भक्तार्थं भगवतोप्यकालवस्तु-
सम्पादनशायसत्साध्यं भविष्यतीति चेत्त्राहुः सर्वसामर्थ्यमेव चेति । न हि भगवतोपि
कालमपेक्ष्यैव कार्यकरणं सम्भवति, प्रत्युत कालस्यैव भगवदधीनत्वाच्चान्यत्वाच्च तत्सा-
पेक्षत्वम् । अकारात् कर्तुमशक्यव्यवस्थाकृतं सामर्थ्यमपि शोच्यते ॥ २ ॥

कदाचिदत्यन्तापेक्षितमपि कार्यं भगवान् करोति, तेन भक्तपनस्यभिमानो भवेत्प्रया-
भजनार्थमपि मयत्नो न कर्तव्य इति, तत्र कार्यमित्याहुरभिमन्यन्तश्च सन्त्यज्य इति ।

अभिमानश्च सन्त्यज्यः स्वाम्यधीनत्वभावात् ।

विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥

तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु देहिकात् ।

आपन्नत्यादिकार्येषु ह्यस्त्याज्यश्च सर्वथा ॥ ४ ॥

चकारात् कार्यानिवृत्तिनिमित्तमलानिरपि । समित्यनेन याथाभ्यन्तरेभेदराहि-
त्येन त्यागः सूचितः । ततो हेतुः, स्वाम्यधीनत्वभावात् । सर्वस्वनिर्देहेनान्तः-
करणमपि निवेदितमेव । अभिमानयान्तःकरणार्थः । स च सुतरां न कार्य इति भावः । एव
स्वतः कार्यमात्रं न कर्तव्यमिति मांसे भगवदाज्ञायां विशेषमाहुर्विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादिति ।
देहसम्बन्धि देशनिर्वाहकं कार्यं देहिकमित्युच्यते । तत्र, सर्वेदाप्यातिपिद्धमेव ।

विशेषतो विशेषनिमित्तत्वात् विशेषकार्यकरणार्थमिति यावत् । सापि न वाच्यता,
किञ्चान्तःकरणगोचरान्तःकरणपूर्विका यदि स्यात्, तदैव देहिकाभिन्नं विशेषग-
त्यादि भाव्यं कार्यमित्यर्थः । गतिपदेन क्रियामात्रं लक्ष्यते । आदिपदेन प्रार्थनमपि
कार्यमध्ये क्वचित्सम्भवति चेत् तत्र कर्तव्यमेवेति शक्यते । ननु विशेषज्ञायामपि ययि-

स्कालादिवशाद् भगवदाज्ञकार्यानिष्पत्तिस्तदापि किं भगवदाज्ञमिति कृत्वा प्राणादि-
भयं सोढुमिच्छति इतिनाशक्यपि कार्यं कर्त्तव्यमेवोक्तं नेति प्राप्तं आहुरापह्नत्त्यादिकार्ये-
ष्विति । भगवदीयानामेवैविविधशक्त्यासौ भगवानेव हेतुरिति भगवदाज्ञोल्लङ्घनदोषोपि न
भवतीतिज्ञेयम् । 'गति'शब्देन प्राप्तिरुच्यते । 'आदि'पदेनाशब्दार्थं उच्यते । तेनाऽऽत्का-
लीनाशक्यकार्येष्वपि सर्वेषु ऋत् आग्रहः सर्वथा सर्वप्रकारेण स्याज्जः । अकारादापश्चि-
दृत्तौ पुनराग्रहः स्वीकार्यं एतेत्यर्थः, । यद्वा, आपह्नतिरादियेषु कार्येषु कृतेषु भवति
तेष्वग्रहो न कार्ये इति । भगवदनुक्तेष्वपि कार्येष्वनापश्यति स्पृहा न कार्येत्पाहुरमाग्रहश्च
सर्वत्रेति । कर्तव्यान्तरमप्याहुर्धर्मो धर्माग्रहदीनयिति । धर्मो धर्मश्च तयोरयं पर्यवसि-
तफलं तद्दर्शनमपमत्तेन तदनुसन्धानम् । विहेतेपि कार्ये यस्मिन् कृते स्वपर्यवस्यः सम्भा-
व्यते, तत्र कार्यम्, स्वपर्यवस्यस्यार्थहेतुत्वात् । स्वपर्याविरोधिनश्च धर्महेतुत्वात् तत्कार्य-
मिति भावः ॥ ४ ॥

उपरसंहरन्ति—

विवेकोयं समाख्यातः

क्रममात्रं धैर्यं निरूपयन्ति—

धैर्यं तु विनिरूप्यते ।

त्रिदुःखसहने धैर्यमाच्यतेः सर्वतः सदा ।

तत्रवदेहवद्भाव्यं जडवद्गोपभार्यवत् ॥ ६ ॥

अपाणां दुःखानां समाहारस्त्रिदुःखम् । दुःखस्य त्रिविधत्वं त्वाधिभौतिकादिभे-
देन कापिकादिभेदेन वा कालकर्मस्वभावैर्वा । तस्य सहनं कर्मवीर्यं विनातुभवः ।
तदप्याच्यते । मृनिर्मरणं वर्तमानदेहस्यस्यः, तं ययादीकृत्य । तदपि न यत्किञ्चिन्
परिगणितनिमित्तात्, किन्तु, सर्वतो भगवद्विच्छानो यद्यदुपस्थितं तत्तत्सर्वं सोढव्यमे-
वेति भावः । तदपि न कालनैपर्येण, किन्तु सर्वदा । आच्यते'रिति धेनेन सार्धकाली-
नत्वे तिद्धेपि सर्वदेति धुनः स्पष्टार्थं वचनम् । नन्वनवरतदुःखसहनेन शरीरशोषात्
तन्नाशोपि स्यात्, तन्नोचिभिमिति न दुःखं सोढव्यमिति चेत्प्राहुस्तत्रवदेहवद्भाव्य-
मिति । देहान्नो शोको न कार्यं इत्यर्थे प्राक्तनं दृष्टान्तधर्मं ज्ञेयम् । तत्र धर्मं, तत्र-
जडवद्गोपभार्यवदिति । अन्यस्यस्तु, देहवता भाव्यं देहवद्भाव्यम् । तत्र देहवता पुरुषेण
शरीरादिक्रमेवात्मीयत्वेन भाव्यपनुसन्धेयं द्रव्यते, तादृशन्तु न कार्यम् । तत्र कीदृ-
गतनुसन्धानं कार्यमित्यपेक्षायां तत्रादिषु यथा तेषामनुसन्धानं तथा स्वदेहेपि कार्य-
मित्यर्थः । तत्राख्यायिका तु, "इत्या द्यं पतिमपेक्ष्य भुक्तदृष्टं देशान्तरे विधिवशाद्-

गिनापि जाता । पुत्र पति समधिगम्य चिता प्रविष्टा शोचामि गोपवृहिणी कथमत्र तक्रमम्" इत्यादौ प्रसिद्धा । जडो जडभरतस्तदाख्यायिका पञ्चपस्तन्यतोऽन्यन्तन्या । गोर्षेभिर्पते धार्यते पोष्यते वेति गोपभार्यो, (देहः) गोपीना भगवत्सम्बन्धात् पूर्वकालीनः प्राकृतो देहस्तद्वगमे यथा गोपीना न शोक्रस्तथा स्वदेहेपि वार्षमिर्त्यर्थः । अत्र गोपभार्याशब्दे उच्यमाने पुत्रप्राप्तानुपपत्तिः तेनान्यथा व्याख्यातम् ॥ ६ ॥

भगवदिच्छातः प्राप्ते दुःखे यथाऽपत्तिकारस्तथा तद्विच्छामाप्ते स्वपथ न विनैव दुःखप्रतीकारेपि मम सुख पास्त्विति बुद्ध्या द.खाभावसम्प्रादकहेतुनिवृत्तावापद न कुर्यादित्याहुः प्रतिकारो यद्विच्छात इति ।

प्रतिकारो यद्विच्छातः सिद्धश्चेन्नाप्रही भवेत् ।

भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥

भार्यादीनामिति । भार्या आदिर्येषां पुत्रादीनां तथैवान्येषां पोष्यवर्गाणां, असत्तत्र भार्यादियध्ये स्वतोऽन्यन्तनिकृष्टस्य सदोषस्याप्याश्रय तत्कृततिरस्कारमपि सहेत्तैत्यर्थः । अत्र सहेदिति परस्वैपद 'सह मर्षण' इत्यात्मनेपदिनो न सद्गच्छते यत्रपि, तथापि सहन सह इति व्युत्पत्त्या 'अच्'प्रत्यये कृते, पश्चात्सहकरोतीत्याचरतीति वा परस्वैपद द्वेषम् ।

तथा पूर्वं भगवदिच्छया प्राप्तस्य स्वपत्न्य विनैव सुखद.खादेः सहनमुक्तयिदानीं स्वकृतिताप्य सुखादिक न कार्यमित्याहुः स्वयमिति ।

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।

अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ॥ ८ ॥

इन्द्रियकार्याणि । तत्तद्विन्द्रियसामर्थ्यविषयभोगः । त त्त कायेन वाचा मनसा त्यजेदित्यर्थः । कायवाङ्मनसेत्यत्र द्वैतवद्भावादेकवचन द्वेषम् । दुःख शोभमदकेनापि तदर्थं वृद्धसेवनवैराग्यादिक कर्तव्यं, न त्वादत्य धैर्यमेव । तत्र हेतुः, स्वस्यासामर्थ्य-भाचनादिति । भावनं परिदृश्यमानत्वमिति ।

कर्तव्यान्तरमाहुरशक्य इति ।

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।

सर्वप्रकारेणाश्रयेर्ष्ये हरिरेवास्ति मम नरणमिति बुद्धिमाश्रित्य तिष्ठन् सर्व-वैहिक पारलौकिक च भवेदित्यर्थः ।

उपसहरन्ति-एतदिति ।

एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

क्रममाप्तमश्रयं निरूपयति-आश्रयोत इति । अत इति धैर्यनिरूपणानन्तरमित्यर्थः ।
आदौ कलित रूपमाहुः-ऐहिकेति ।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥ १० ॥

भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तेश्चातिक्रमे कृते ।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥

अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।

पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

इत्यस्मिन् जन्मनि तदुपलक्षिते काले वा भवदैहिककार्येषु च्यते । परोऽस्मादन्यः, अन्तरिक्षलोकपारम्भे ब्रह्मलोकपर्यन्तः । चराराज्ञवदिऽथवा कदाचिद्वरकृपणः सम्भाव्यते चेत्तत्रापि सर्वप्रकारेण कान्येन वाचा मनसा च हरिरेव शरणं गमेति चित्ते निश्चित्य स्थेयमित्यर्थः । भगवदीयानां नरकः स्वर्गादिवेव ननु तामिस्रादिः । अत एव विष्णुपुराणेऽप्युक्तम् “वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु, तस्यान्तरायो वैश्व देवेन्द्रत्वादिक फलम्” साभान्यतः सर्वकार्येषु शरणगमनमुक्तम्, इदानीं तदेव पुनर्नमित्तविशेषेष्वप्युच्यते । तानि निमित्तानि ‘दुःखहानौ, इत्यारम्भे ‘सर्वथा शरणं हरिः’ इत्येतत्पर्यन्तोक्तानि हेतवानि । दुःखस्य हानौ माप्तावामपि हर्षवशेन शरणविसरणं न कार्यमित्यर्थः । एवं सर्वत्र योज्यम् । पापे मारम्भशान्ताने, भये शत्रुवादिः कृते, काम इच्छा लौकिकालौकिकसाधारणी, आदिपदेन पर्मादिरपि, तेषामपूरणेऽनिष्पत्तौ भक्तेषु द्रोहे जातेषु, अन्यत्र भक्तिदृष्टा स्वस्य भक्तिराहित्येन स्पृहापात्रेषु, भक्तैः स्वस्वानिक्रमे कृतेषु तेषु मातिहृत्यं न कार्यमित्यभिप्रायः । अशक्ये स्वयमप्यद्वारा वा कर्तुं प्रयोगेऽर्थे, सुशक्येऽनापासेन कर्तुं योग्येऽर्थे, उभयत्रापि वा शब्दोऽप्यर्थः । अहङ्कारेण कृतेऽहङ्कारकृते, पोषणस्य रक्षणस्य पोषणरक्षणे । पोष्याणां पोष्यवशांसां पोषणरक्षणे अहङ्कारेण कृतेऽपि । चकारः सर्वत्र समुच्चयार्थः । पोष्यवर्गेषु दैववशादतिक्रमे सति । अन्तेवास्यो भगवन्मार्गतिश्रावुः शिष्यः । सर्वार्थे सर्वत्रिभ्यस्तुल्यत्वेऽपि इतिरेकशरण्येऽप्युच्यते ॥ ११ ॥

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं चात्मा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

अलौकिकमनःसिद्ध्याविति निमित्तमहर्षी । तेनालौकिकमनःसिद्धयर्थमेव सर्वार्थं हरिरेवाश्रय इत्यर्थः पर्यवसितः । एवमिति । विवेकदांता इत्येव वादशक्तं वाट्टं

णिनापि जाता । पुत्रं पतिं समधिगम्य चितां प्रविष्टा शोचादि गोपगृहिणी कथयन्
तन्मम" इत्यादौ मसिद्धा । जडो जडभरतस्तदाख्यायिका पञ्चपस्कन्धतोऽवगन्तव्या ।
गोपैर्भ्रियते धार्यते वोप्यते वेति गोपभार्यो, (देहः) गोपीनां भगवत्सम्बन्धात् पूर्वकालीनः
प्राकृतो देहस्तदपगमे यथा गोपीनां न शोऽस्तथा स्वदेहेपि कार्यमित्यर्थः । अत्र गोपभा-
र्याशब्दे उच्यमाने पुंवद्भावानुपपत्तिः तेनान्यथा व्याख्यातम् ॥ ६ ॥

भगवदिच्छातः प्राप्ते दुःखे यथाऽप्रतिकारस्तथा नदिच्छामाप्ते स्वयमने विनैव
दुःखप्रतीकारेपि मम सुखं मास्त्विति बुद्ध्या दुःखाभावसम्पादकहेतुनिवृत्तावाग्रहं न
कुर्यादित्याहुः प्रतिकारो यदृच्छात इति ।

प्रतिकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत् ।

भार्यादीनां तयान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥

भार्यादीनामिति । भार्या आदिर्येषां पुत्रादीनां तथैवान्येषां वोप्यवर्गाणां,
असतश्च भार्यादिमध्ये स्वतोऽत्यन्तनिकृष्टस्य सदोपस्थाप्याक्रमं तत्कृतनिरस्कारमपि
सहेतेत्यर्थः । अत्र सहेदिति परस्मैपदं 'सह मर्षण' इत्यात्मनेपदिनो न सङ्गच्छते यद्यपि,
तथापि सहनं सह इति व्युत्पत्त्या 'अच्' मत्पये कृते, पश्चात्सहकरोतीत्याचरतीति वा पर-
स्मैपदं ज्ञेयम् ।

तथा पूर्वं भगवदिच्छया प्राप्तस्य स्वयमने विनैव सुखदःखादेः सहनमुक्तमि-
दानीं स्वकृतिसाध्यं सुखादिकं न कार्यमित्याहुः स्वयमिति ।

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।

अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावात् ॥ ८ ॥

इन्द्रियकार्याणि । तत्तदिन्द्रियसाध्यविषयभोगः । तं तु कायेन वाचा मनसा
त्यजेदित्यर्थः । कायवाङ्मनसेत्यत्र द्रन्दैकवद्भावादेरुचनं ज्ञेयम् । दुःखं शोडुमशक्तेनापि
तदर्थं दृढसेवनवैराग्यादिकं कर्तव्यं, न त्वाहत्य धैर्यमेव । तत्र हेतुः, स्वस्यासामर्थ्य-
भावनादिति । भावनं परिदृश्यमानत्वमिति ।

कर्तव्यान्तरमाहुरशक्य इति ।

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।

सर्वप्रकारेणाश्रयेश्च हरिरेवास्ति मम शरणमिति बुद्धिमाश्रित्य विष्टनः सर्व-
मैहिकं पारलौकिकं च भवेदित्यर्थः ।

उपसंहरन्ति-एतदिति ।

एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

क्रममाप्तमाश्रयं निरूपयन्ति-आश्रयोन इति। अत इति धैर्यनिरूपणानन्तरमित्यर्थः।
आदौ फलितं रूपमाहुः-ऐहिकेति ।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥ १० ॥

भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते ।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥

अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।

पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

इहास्मिन् जन्मनि तदुपलसिते काले वा भवदैहिककार्यमुच्यते । परोऽस्मादन्यः,
अन्तरिक्षलोकमारभ्य ब्रह्मलोकपर्यन्तः । चकाराद्भगवद्विरुद्धा कदाचिन्नररुभोगः
सम्भाव्यते चेत्तत्रापि सर्वप्रकारेण कायेन वाचा मनसा च हरिरेव शरणं ममेति चित्ते
निश्चित्य स्थेयमित्यर्थः । भगवद्दीयानां नरकः स्वर्गादिरेव नतु तामिस्रादिः । अत एव
विष्णुपुराणेऽप्युक्तम् “वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु, तस्मान्तरायो मंत्रेण देवेन्द्रत्वा-
दिकं फलम्” सामान्यतः सर्वकार्येषु शरणगमनमुक्तम्, इदानीं तदेव पुनर्निमित्तविशेषेष्वप्यु-
च्यते। तानि निमित्तानि ‘दुःखहानौ,’ इत्यारभ्य ‘सर्वथा शरणं हरि रित्येतत्पर्यन्तोक्तानि
हेयानि । दुःखस्य हानौ माप्तावापि हर्षवशेन शरणविस्मरणं न कार्यमित्यर्थः । एवं सर्वत्र
योग्यम् । पापे भारव्यवसाजाते, भये शत्र्वादि कृते, काम इच्छा लौकिकालौकिकसाधा-
रणी, आदिपदेन धर्मादिरपि, तेषामपूरणेऽनिश्चयौ भक्तेषु द्रोहे जातेपि, अन्यत्र भक्ति
दृष्टा स्वस्य भक्तिराहित्येन स्पृहाप्राप्तेपि, भक्तः स्वस्वातिक्रमे कृतेपि तेषु मातिकृत्यं न
कार्यमितिभावः । अशक्ये स्वयमन्यद्वारा वा कर्तुमयोग्येऽर्थे, सुशक्येऽनायासेन कर्तुं
योग्येऽर्थे, उभयत्रापि वा शब्दोऽप्यर्थः । अहङ्कारेण कृतेऽहङ्कारकृते, पोषणञ्च रक्षणञ्च
पोषणरक्षणे । पोष्याणां पोष्यवर्गाणां पोषणरक्षणे अहङ्कारेण कृतेऽपि । चकारः सर्वत्र
समुद्यपर्यः । पोष्यवर्गस्य स्ववशादतिक्रमे सति । अन्नेवाग्नी भगवन्पार्श्वजिज्ञासुः शिष्यः ।
सर्वायं सर्वस्मिन्शुक्लानुक्तरूपेऽपि हरिरेवाश्रयणीय इत्यर्थः ॥ १२ ॥

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

अलौकिकमनःसिद्धाविति निमित्तमस्मी । तेनागौशिकमनःसिद्धयर्थमेव सर्वायं
हरिरेवाश्रय इत्यर्थः पर्यवतिथः । एवमिति । विवेकादीनां स्वल्पं पाठनमुक्तं तादृशं

सदा चित्ते सम्पगनुसन्धयेत् । वाचा च वचनेनापि परबोधनार्थं स्वार्थमेव वा परि-
कीर्तयेत् परितः सर्वतः कीर्त्तयेत् । चकारात् कायव्यापारयोग्यं कुर्यादपि ॥ १३ ॥

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।

प्रार्थना कार्यमात्रेपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।

ब्रह्मास्त्रचातको भान्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥ १५ ॥

यथाकथञ्चित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।

किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ॥ १६ ॥

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥ १७ ॥

श्रीमद्ब्रह्मभाचार्यचरणविरचितो विवेकधैर्याश्रयग्रन्थः सम्पूर्णः ।

अन्यस्य भजनं तत्रेति । तत्र तस्मिन्नाश्रयरूपेण सम्पन्ने, अन्यस्य भगवत्-
कल्पतिरिक्तस्य भजनं सेवनं स्वतो गमनं स्वस्यानाकारितस्य स्वस्य तत्समीपे गमनम् ।
चकारात्चेन सह शरीरसम्बन्धोपि न कार्यः । कार्यमात्रेपि कर्तुं विहिते स्वधर्माविरो-
धिनि कर्तव्ये प्रार्थना कार्यतिशेषः । प्रार्थनीयो भगवान् तद्रक्तो वा । अत एव विष्णु-
धर्मोचरे शङ्करगीतासु “अपृष्टा यस्तु यां काश्चित् क्रियां नारभते हरिम्, अतस्मिन्नार्य-
मर्गादस्तस्य तुष्यति केशव” इति । तथान्यत्रेति । यथा भगवति प्रार्थना तथाऽन्यत्र
विरोधिनि विशेषेण (ता) वर्जयेत् । यद्वा, भगवति विहिते कार्ये स्वधर्माविरोधिनि प्रार्थना,
तथा अन्यत्र स्वधर्माविरोधिनि (कार्ये) न कार्यति । ननु भगवत्प्रार्थनायापि भगवोस्तु
साक्षात् वदत्येव किमपि, किन्वाचार्योक्तसङ्केतग्रहेणानुपीयते, इदमुक्तमिदं नोक्तमिति । तत्र
जीवानामविश्वासः सम्भावित इति चेत्तवाहुरविश्वासो न कर्तव्य इति । आचार्योक्त-
मार्गं यद्यविश्वासस्तदा कृतं सर्वं व्यर्थं भवेदित्यर्थः । अविश्वासस्य महाबाधकत्वाद्-
सन्धानेन सर्वथा स न कार्यं एवेत्यर्थः । विश्वासदाह्यार्थं किञ्चित्स्पर्णीयमाहुर्ब्रह्मास्त्र-
चातकाविति । ब्रह्मास्त्रश्च चातकश्च तौ भान्यौ, विश्वासायै स्पर्णीयौ । अत्रापं धारः ।
यथा हनुमान् ब्रह्मास्त्रेणापतिकार्येण बद्धोपि बन्धकानामविश्वासेन मुक्तः । पश्चादुद्यमः
सर्वोपि व्यर्थो जातः । अत्राविश्वासस्य महादोषहेतुरेव ब्रह्मास्त्रं दृष्टान्तः । विश्वासमात्रस्य
सर्वकार्यसम्पादकत्वे चातको दृष्टान्तः । स यथा चातकः कश्चन पत्नी यथा वर्षासु पर-
ज्जलप्रप्यनास्वाद्य स्वातिजलमल्पमपास्वाद्य पुनर्वर्षपर्यन्तं तत्पत्नीसया जीवन् यथा पूर्वमेव

तिष्ठति । तस्य तु सर्वं स्वातिबिन्दुविश्वासेनैव योगक्षेमादिनिर्वाहो यथा, तथा सर्वं विहायाचार्योक्तमार्गविश्वासेन सर्वं भवेदेवेत्यत्र तात्पर्यम् । प्राप्तं स्वमार्गपर्याद्या कर्तव्यत्वेन प्राप्तं सेवेन कुर्यादित्यर्थः । निर्भयो निरहङ्कार इत्यर्थः । स्वयं बहुज्ञत्वाद्यपि-मानेनाचार्योक्तौ कुसृष्टिरूपत्वं न कार्यमिति भावः । यथाकथञ्चिदिति । लोकरुवेदकुला-चारमाप्तानि कर्माणि येन केनापि प्रकारेण कुर्यान्न तु परित्यजेत् । उच्चञ्च, अवनञ्च, उच्चावनं, तानि उच्चात्रचानि, उःकृष्टनिकृष्टानि । यद्यपि भगवद्भ्रमपिप्तया सर्वाण्यन्यानि कर्माणि हीनान्येव, तथापि लोकानुसारेणोत्तमाधमत्वं ज्ञेयम् । ईदृशानपि सर्वथा करणं भगवानेवाह, 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोपमपि न त्यजेत्' । आश्रयस्य विवेकधैर्यापिप्तयाऽत्या-वश्यकत्वं कर्मज्ञानोपासनादिभ्योपि सर्वथा माधमत्वञ्चाहुः किं वेति । वेति पज्ञा-न्तरे । विवेकधैर्याद्यसप्तस्य यदापापपतितस्यापि यथोक्ताश्रयाश्रयणेनैव सरुलपुरुषार्थसि-द्धिरित्यर्थेन बहूना मोक्तेन पुनः पुनर्वचनेन किम् ? न किमपीत्यर्थः ।

उपसंहरन्ति एवमिति । एवमप्युना प्रकारेण यदाश्रयणं तत् प्रोक्तम् । आश्रय-णरूपं वस्तु प्रोक्तमित्यर्थः । सर्वेषां पतितापतितस्त्रीशूद्रसाधारणापम् । अत एव भगवता-प्युक्तम्, 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनयः, स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिमि'त्यादिना । सर्वथा समयानियमेन । हितमवित्सोरूपसम्पादकम् । ननु भक्तिज्ञानरूपादिषु सखु सर्वं विहाय यथं तदेकरतया स्थेयमिष्यत आहुः कलाविति । भक्तिरादिर्येषां, कर्मज्ञानादयो दुःसाध्या देशकालद्रव्यादिसाधनैर्गुण्येन कर्तुं न शक्या इत्यर्थः । हिंशब्दो लोकरुपेऽसिद्धिद्योतनार्थः । ननु लोके भवतु मक्यादीनामस्माकं तदकारणे किमायावम् ? इति विशेषज्ञासायां स्वप्नमनिपत्तिमन्त्र्ये विश्वासाधैर्याहुर्मं मतिरिति । मतिः सम्प्रतिरित्यर्थः ।

न शक्यं मे विवेकादिनिरूपणमयापि तु ।

स्वसदाभ्युत्थसन्धानाभरतानीः कृतवानहम् ॥ १ ॥

इति श्रीमदल्लभनन्दनचरणशरणाश्रीमदल्लभानुनाथकृता

विवेकधैर्याश्रयदीपिका

समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवह्नुनाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्भगवद्दानलावतारश्रीवृद्धभाचार्यचरणविरचितः

विवेकधैर्याश्रयः ।

श्रीगो० श्रीगोपीशविरचिता विवृतिः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

हृदि प्रविश्य यद्भवान्ते निर्धूतं मे यथा स्वयः ॥ १ ॥

यत्कृपातो विवेकादिधर्मैः स्वीये भरति हि ।

तथाद्भुतसम्बन्धिरेणुः क्षरणवस्ति मे ॥ २ ॥

अथ भक्तिमार्गाद्वीकारेण भगवतो द्वातत्वं प्राप्तस्य सेवायां प्रवृत्तस्य सेवानिराहण
मत्तिदाश्रयार्थं नवरत्नोक्तकविन्तातवागकथने विवेकधैर्याश्रया एवपि तद्भूतेषु उक्तास्त-
थापि विवेकादीनां विशेषविश्रानाभावे सेवायां तादृशी दृढता न भविष्यतीति स्वीयानां
वितोषेण तदाश्रयार्थं श्रीमदाचार्यचरणैः विवेकधैर्याश्रयान् विस्मरतो निरूपयन्ति विवेकेति ।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।

विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥

सेवायां प्रवृत्तस्य प्रथमे विवेकः सर्वथापेक्षितः । ततो धैर्यम् । एतद्भूयसिद्धपर्य-
नाश्रयमेति नमः । एवं सति सारान्यनाश्रय एव कृते सर्वं सेव्यतीत्यन्ते तद्विरूपणम् ।
तत्र प्रथमं विवेकसंज्ञकं निरूपयन्ति विवेकमित्यति । हरिः सर्वदुःखहर्ता । सर्वं लौकिकं
स्वप्नसत्ताद्यर्थं योगक्षेमादि । मनौकिकं भगवन्सेवोपपिचं च स एव करिष्यति, न
तु सेवां विहाय स्वपञ्चादिकं कर्षयन्ति प्रथमो विवेकः । यतः सर्वथापि दुःख-
हर्ता स एव । यत्र स्वरङ्गीकृतस्वापेक्षितं करिष्यायेति विधातेन सर्वत्र कार्या, न तु मय-
स्तादिकम् । तन्कारणे बाहिर्मुख्यं सेवासिद्ध्यादिकं भवतीति एतदेव "विन्ता
कापी" विस्मोके निरूपितं नवरत्ने । ननु मार्यनायावे कथं करिष्येति तत्राहुर्मिजेच्छात
इति । स अलौकिकः मद्भुः स्वस्वीयानामपेक्षितं जानाति । सेवासिद्धिं जानातीति

तथा न भविष्यतीत्युक्तं श्रीप्रभुचरणैः । किञ्च । यथा स्वदेहादिष्वभिमानस्त्याज्यस्तथा देहादिसम्बन्धिभार्यापुत्रादिव्यपि स त्याज्यः । तेषु स्वात्मना सह भगवतैवाङ्गीकृता इति तद्भीना इति तेषामपि योगक्षेपं प्रभुरेव करिष्यतीति सर्वदातुसन्धानेन तदर्थपि प्रयत्नादिकरणं न भविष्यतीत्यपि भावो ज्ञापितः । तत्राप्यभिमानः सम्पद् सवासनस्त्याज्यो यथा तद्वासनापि न तिष्ठति । एतदेव “चिन्ता कार्पी”तिश्लोके ‘लौकिक्यलौकिकी च सा त्याज्ये’त्युक्तम् ।

एवं श्रीमदाचार्यैरुपया विवेकादिना सेनाकरणे स्वापेक्षितवस्तुभाषिका भगवदाज्ञा, तं मर्याचार्याज्ञातो विशिष्टा चेज्जायते, तदा साक्षा कर्तव्या, तदाहुर्विद्रोघन इति ।

विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥

तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।

चेद्विशेषतः सेनाविषयिण्याज्ञा स्यात्तदा भगवदपेक्षितवर्णनेन तद्विशेषगत्यादि कार्यं कर्तव्यम् । नो चेदाचार्याज्ञातसारेणैव कृतिः कार्या सेवायापितिभावः । ननु साक्षा कथं ज्ञायते ? तत्राहुरन्तःकरणेति । भगवदीपस्थान्तःकरणे गोचरः, साक्षा भवति, स्वप्रद्वारा ता ज्ञापयतीत्यर्थः । अथवा, एवं सेवाकरणे यतः स प्रभुरन्तःकरणगोचरो भक्तानामन्तःकरणे मनस्यात्मनि वा, अन्तःकरणं ज्ञानादिकार्यकरणं येनेत्यन्तःकरणे आत्मा वत्र स्थितो भवतीति शेषः ॥ ३ ॥

एवं सति तादृशप्रकारेण सेवाकरणे भक्तस्य सर्वांशे जात्यस्वरूपत्वेन भगवानेव स्फुरतीति साक्षापि ज्ञापन इति । तदा विद्रोपगतिर्भगवत्स्वरूपीभ्योः सम्बन्धिनी या विशेषगतिः सेवाया ज्ञाना भवेत्, तदादि सर्वं खेदभारेण भाव्यं कर्तव्यं, नोचेदात्रानुसारेणैवेत्यर्थः । एतदेव “सेवाकृतिरिति”तिश्लोके निरूपितं मपरत्वे । ननु कदाचित् लौकिककार्येष्वपि भगवदाज्ञा विशेषेण मनेत्तत्राहुर्भिन्नमिति । दैहिकादेरसम्बन्धिपुत्रादिविराहोपनयनरूपाङ्घ्रिस्तं यथा भवति तथाज्ञा भवति, न तु लौकिककार्ये विशिष्टाज्ञा । तेन लौकिकं तु सर्वसमर्पणानन्तर सर्वस्य तदापत्त्वानुसन्धानेन तदचपत्सादरेण तावन्नात्रमेवावश्यकं यत्कर्तव्यं, न तु विशेषीतादेन एनादिव्ययादिक कर्तव्यमिदं दैहिकरूपः पष्ठो विवेको निरूपितः । अथवा, भिन्नमिति विशेषगत्यादिविशेषणम् । तेन दैहिकाङ्घ्रिभिविशेषयतिभरणकथनेन विशेषाज्ञापि दैहिकविषयिणी न भवत्येतेत्युक्तं भवति, अनर्थरूपत्वात् ।

ननु सेवायामपेक्षितपनादिसाधनाभावे सा कथं निर्वहति? तदा ऋणादिकमपि कृत्वा सामग्र्यादिकं कार्यं (सम्पादनीयं) न वेति, तत्राहुरापद्मत्यादीति ।

आपद्मत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ॥ ४ ॥

अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ।

विवेकोयं समाख्यातो धैर्यं तु विनिरूप्यते ॥ ५ ॥

आपद्मत्यागौ यानि कार्याणि भगवद्विषयकाणि, तेषु हठो न कार्यः । ऋणं कृत्वापि मया सर्वं कर्तव्यमेवेति हठो न कार्यः, किन्तु ययालाभसन्तोषेण मयत्नाभावेन यत्सम्यक् भवति, तदेव समर्पणीयम्, नान्यत् । मार्गस्थित्या यदेव समर्पयिष्यति तदेव साक्षादङ्गीकरिष्यतीति भावः । एतदेव 'प्राप्तं सेवेत निर्मम' इत्यप्रे वक्ष्यन्ति च । यत्र भगवत्कार्येष्वपि हठो न कार्यस्तत्र लौकिककार्येषु किं वाच्यमिति कैमुतिक्रियायोपि सूचित इति सप्तमो विवेकः ॥ ४ ॥

ननु वैदिकेषु का व्यवस्था? तत्राहुरनाग्रह इति । सर्वत्र स्मार्तश्रौतादिधर्मेषु अनाग्रह एव कर्तव्यः । भगवत्सेवापि विहाय स्मार्तश्रौतादिधर्माचरणं सर्वथा कर्तव्यमित्याग्रहो न कर्तव्यः । किन्तु भगवदाज्ञया प्राप्तमावश्यकं कर्म सेवानवसरे कर्तव्यमित्यर्थः । चकारात्साक्षाद्भगवत्सम्बन्धिव्यतिरिक्तसर्वेष्वप्यनाग्रह एव कर्तव्य इत्यष्टमो विवेकः । ननु वैदिकधर्मोऽनग्रहः कथं भवेत्तत्राहर्धर्माधर्ममिति । धर्माणां स्मार्तादीनामधर्माणां तत्तदकरणजनितानामग्रदर्शनं पर्यवसानविचारः कर्तव्यः, यस्मिन्कृते अपर्णो भवेत् स न कर्तव्य इति भावः । स्मार्तश्रौतभगवद्दर्मास्तु उत्तोरचरच्छिष्टाः, तत्र यथा श्रौतविधौ स्मार्तत्यागे न दोषस्तथा भगवद्दर्मकरणे उभयविषयापि त्यागे न दोषः, सर्वाधिकबलवत्त्वादिति विचार्य तद्दर्माणां गौणत्वात्स्वपर्येत्नाभावान्नाग्रह एव कर्तव्य इति नवमो विवेक उक्तः । यत्तु कर्मादिकरण तद्भगवदाज्ञया मार्गोऽप्राप्त्याग्यशुद्धाभावायेति ज्ञेयम् । एवं भगवत्सेवाविषयकविवेकानुसन्वोपसंहरन्ति विवेकोपमिति । भगवत्सेवायां प्रवृत्तस्यार्थं विवेकः सम्यक्प्रकारेण विस्तरेण आख्यातः । एतादृशविवेकेन प्रवृत्तस्य सेवानिर्वाहो भविष्यतीति भावः । एवं विवेकेन सेवायां प्रवृत्तस्य दधिर्भजनसिद्धिमकारमुन्वा धैर्यं विना सेवा न सिद्धयेदिति मुरूपमान्तरमिति तत्सिद्धयर्थं धैर्यं निरूपयन्ति धैर्यमिति । पूर्वमपि "चित्तोद्देशि" इत्यादिना धैर्यं निरूपितं, साम्प्रतन्तु विद्येयेन निरूप्यन् इति विश्वव्यायः । तुञ्जन्दः धैर्योपक्रमज्ञापकः ॥ ५ ॥ तद्भ्रमणमेवाहुः त्रिदुःखमिति ।

त्रिदुःखसहनं धैर्यमावृतेः सर्वतः सदा ।

तकवद्देहवद्वाच्यं जडवद्गोपभार्यवत् ॥ ६ ॥

त्रयाणामाविर्भौतिकादीनां दुःखानां सहनं धैर्यं गृह्यते, तत्र देहसम्बन्धजनितं दुःखं भौतिकं, कामादिजनितमिन्द्रियसम्बन्धि तद् आध्यात्मिकं, परीक्षार्थं प्रारब्ध-भोगार्थं वा भगवत्कृतं भगवदर्पस्वापेक्षितकरणविलम्बजनितं तदापिदैविकम् । तेषाम-सहने चित्तपाङ्कजतया सेवा न सिद्धयेत्तदभावे सेवकस्य स्वधर्महानिरेवेति सेनासिद्धयर्थं तत्सहनेव कार्यमिति धैर्यमुक्तम् । तदप्यामृतेः मरणपर्यन्तं, अपवा यावदायुरपि चेद्-येचावदपि धैर्यमेवै रसनीयम्, न त्वन्तर्निष्ठा हेया । तदपि स्वर्धनः देहेन्द्रियादिसर्वसम्बन्धि-ष्वप्येकस्य द्वयोर्वा सहनं तन्नास्ति, किन्तु सर्वतः । तदपि सदा निरन्तरं तत्सहनमिति धैर्य-लक्षणमुक्तम् । अतः परं देहाभिमानस्य विद्यमानत्वाद् दुःखसहनं दुष्करमिति दृष्टान्ते-न तदभिमानाकर्तव्यत्वनिरूपणात् तदुपपादयन्ति तत्र च दिति । तत्र यथा निःसारं भवति हेयत्वेन तत्र नाभिमानः । कदाचित्तन्नाशेपि न दुःखं भवेत् । नवनीतन्तु तत्सारं तत्राभिमानो जायते तन्नाशेपि दुःखमिति तद् युज्यते, तथा देहादिषु तत्सम्बन्धिषु च निःसा-रत्वेन हेयत्वबुद्ध्या तत्राभिमानस्तयाभ्यः । तत्राग्रेन तत्कृतमानापमानदुःखेषुपि अमि-मानत्याग्रेन दुःखं न भविष्यतीत्याशयेनोक्तं तत्र च देहवदिति, तत्र च देहवत्त्वा देहादिषु तत्सम्बन्धिषु च भाष्यमिति । अनेन भगवत्सम्बन्धिकार्येष्वेव नवनीतवदभिमानो रस-नीय इति सूचितम् । तेन भगवद्दीयानां प्रभुत्वाकारण एव सुखं, तदभावे दुःखम् । न तु देहादितत्सम्बन्धिकृतं तद्भवतीति ज्ञापितम् । एवं भौतिकदुःखसहने दृष्टान्तं निरूप्याध्यात्मि-कतत्सहने दृष्टान्तमाहुः, जडवदिति । आध्यात्मिकं दुःखं इन्द्रियादिसम्बन्धिकामक्रोधा-दिजन्यम् । तत्सहने जडस्य भावना कार्या । जडस्य यथा सकलेन्द्रियाणां भगवत्त्वा-विष्टत्वाद् न तदिन्द्रियजन्यदुःखमानम्, जडत्वं च जातम् । तथा सेवार्थं महत्तस्यापि सकलेन्द्रियाणां तदीयात्वानुसन्धानेन स्वाभिमानाभावात् भगवत्सेव विनियोगकरणे निरन्तरं तत्सेवागुणकीर्तनस्मरणवेशेन न कायादिजनितदुःखं भवेदित्याशयेनोक्तं जडवदिति । एवं सति यावत्पर्यन्तं जडवद्भावनया निरन्तरं भगवदाविष्टत्वं भवेत्ता-वत्पर्यन्तं तच्चिन्द्रियदुःखसहनेन सेवा कार्या । न तु विषयभोगादिकं कार्यमिति । अतितुच्छत्वात्तद्देशेन भगवदावेशाभावाच्च । एवमाध्यात्मिकं निरूप्याधिदैविके दृष्टान्त-माहुर्गोपभार्यवदिति । प्रारब्धभोगार्थं परीक्षार्थं वा प्रभुधेद्विलम्बते तदा गोपभार्यानां भावना कार्या । यथान्तर्दृष्टगतानां जारत्त्वबुद्धिहेतुकप्रारब्धभोगार्थं विलम्बः कृतस्तद्भो-गानन्तरं त्वयाप्तिजाता तथा मयापि प्रारब्धभोगानन्तरं भगवान् दास्यत्येवेति धैर्येण दुःखं सोढव्यमिति भावः । अत एवामृतेरित्युक्तम् । तासां गुणमपदेहत्यागानन्तरमेव फलं

जावमिति तद्दत्रापि परीक्षार्थं चेद्विलम्बते, तदा तत्रतिरिक्तानां भावना कार्या । यथा तासां रासराम्भे आगमनानन्तरं निषेधवान्यध्वरणेषु यज्ञपत्नीवदन्ययाभावो न जातः, किन्तु स्वापेक्षिताभावजनितदुःखभरणेन स्याणुवदित्यतानां व्याकुलसकलेन्द्रियाणामपि तदुःखं सोढ्वा धैर्यमवलम्ब्य तच्छरणागतिभक्तिमार्गानुसार्युत्तरदानमेवाभूत्, न तु गृहादिषु प्रत्यागमनेच्छा जाता । तथास्यापि तादृग्भावनया विलम्बनमितदुःखसहनेन निरुपधिस्नेहेन मार्गस्थितौ भगवान्कलं दास्यतीतिदुःखं सोढव्यमित्युक्तं गोपभार्यवदिति । किञ्च, गोपानां भार्याः, भार्यापदेन भर्तु योग्या यद्यपि तथापि तासां तत्कृतभरणपोषणादिकं नापेक्षितं किन्तु भगवत्कृतमेव । भगवत्कृतमेव तासां जीवनमेव न भवति । एतस्तदुपयोगाभावे सर्वमेव भरणपोषणादिसाधनं गृहादिकं रूपकं भवति । एतदुपयोग एव तद्गोप्यत्वेन गृहीतो भवतीति । तथा मधुविलम्बकारण्यपि तद्व्यतिरिक्तदेहादिसम्बन्धि पूर्वोक्तं किमपि न भावनीयं, किन्तु मधुः मय भरणपोषणादिकं करिष्यस्वेवेतिभ्रमेन धैर्येण स्यात्तव्यमिति गोपभार्यपदेन ज्ञाप्यते । किञ्च, श्रीपदाचार्याणां सासात्पुरुषोत्तमास्पत्वेन तदुक्तवाचनानामुपनिषद्रूपत्वाद्भ्रं भार्यापदे "हसम्भान्दसो ज्ञेयः । स्वकीयानामेतादृश्येन पुद्भिर्भविष्यति, परन्तु कस्य चिद्भ्रान्तस्याशङ्का भवेत्तदभार्यापदान्त-स्युच्यते । यद्वा, गोपानां भार्याः भरणपोषणयोग्यः, अर्थात्तेषामेव भार्यजन इति धावत् । यद्वा, गोपभार्याः भार्यानां समूहो भार्याः, गोपानां भार्यास्तत्समूह इत्यर्थः । एवं दृष्टान्तरयभावनया तच्चदुःखसहनेन फायमनोवाक्स्वपचिर्भवेत् । तथा च देहसम्बन्धिभौतिकदुःखसहने मयमं सेवायां महत्तया कायिकी प्रवर्तिष्येत्, इन्द्रियसम्बन्ध्याप्यात्मिकदुःखसहने मनो भगवद्विष्टं भवेदितित्यपत्तिः । ततो भगवत्सम्बन्धितसहने भगवत्कृतविलम्बस्य विरहात्मकत्वेन तत्स्वभावात् निरन्तरं गुणगानकरणे वचोपि तद्विष्टं भवतीति त्रिधा मयचिर्निरूपिता । अत्रैवं ज्ञेयं, देहेन्द्रियादिसङ्गन्धिनश्चेत्तद्विदुःका भवन्ति, तदा सेवान्तापत्वेन तेषां परित्यागः कर्षव्य इति सेवासकरणे तत्कार्यदीप्ते निरूपितं "भार्यादिस्तुल्लभे"दिति, तेन तत्प्रागे स्तोत्रयोगाभावात्वे तिरस्कारादिकं दुर्बन्तीति लोके दृश्यते । तथा सति भगवदीयस्य तु तेषु क्रोधादिकरणे धार्ष्ट्युत्पन्नं सेवासपत्तिरन्यो भवेदिति तत्सर्वं महत्सेवार्थं सोढव्यमित्यत्र तत्सहनमुक्तमन्यया तद्भारे दुःखस्यैवाभावात् किं सहन स्यादिति भावः ॥ ६ ॥

ननु तिरस्कारदिना ते चेद् दुःखं न मयन्तेयुस्तदापि किं तेषां त्याग एव कर्तव्य इति चेच्चत्राहुः प्रतीकार इति ।

प्रतिकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाप्रही भवेत् ।

भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७

भगवद्विच्छया प्रतीकारः सिद्धश्चेद्भार्यादयो बलुक्या ददासीना वा भवेयुः-
 स्तदा तस्यामे आग्रहवान् न भवेत्किन्तु अनुकूलत्वे भार्यादिभिरपि सेवां कारयेदु-
 दासीनत्वे स्वयं कुर्यात् । परन्तु तेषां तथापि योगक्षेममात्रं कर्तव्यं न तु त्यागः ।
 प्रतिकूलत्वे त्याग एव कर्तव्य इत्याशयेनोक्तं नाग्रहो भवेत् । प्रतिकूलत्वाभावेपि
 सर्वथा त्याग एव कर्तव्य इत्याग्रहवान् न भवेत् । दृढेन त्यागकरणे सतीचीनातामपि
 भार्यादीनां क्रोधावेशेन स्वस्मिन्नेपकर्तृत्वं संभवतीति तेन सेवामतिबन्धकः स्वयमेव भवतीति
 तत्र कर्तव्यमितिभावः । भौतिकदुःखप्रतीकारे परिमितं व्यरस्या । आध्यात्मिकदुःख-
 प्रतीकारेपि व्यरस्योच्यते । सकलेन्द्रियाणां स्वस्वविषयभोग्यवस्तुत्यागे दुःखं भवति ।
 तद्वगवद्विच्छया स्वभोगार्थं तेषु पुरैव प्रवृत्तिरेव न भवेत् चेत्तदा तज्जनितसेवान्तरायाया-
 वात्तस्यामे आग्रहवान् न भवेत् । यतस्तादृशस्य स्रक्वन्दनादिसकलभोगसाधनी स्वमनु-
 निमित्तत्वेनावश्यमपेक्षितेति तदुपयोगे जाते तद्वत्तद्व्यवसादनेन स्वसौभाग्यव्यवहारेण तदुप-
 भोगकरणे वाद्याभ्यन्तरशुद्धया भगवद्दर्शविष्टत्वं भवतीति न तस्यागः । एवं सति विष-
 यभोगार्थं सर्वस्यापि त्यागस्वदभावे तस्यालौकिकत्वे फलकल्पपातित्वान्न तस्याग इति
 सूचितम् । इदमेवोक्तं सेवाफले, 'अलौकिकभोगस्त्वित्यादि, आधिदैविकदुःखप्रतीका-
 रणवस्थायाः । प्रारब्धभोगानन्तरं परीक्षानन्तरं वा भगवान् कृपया सेवोपयोगि घनादिकं
 दातुमिच्छेच्चदा साक्षात्परम्परया च तद्विच्छया स्वमपत्तं विनैव तत्प्राप्तं भवति,
 तदपि निरुपाधिकं विहितं शुद्धं चेद् भवेत्तदा तस्यागे आग्रहो न कर्तव्यः । जन्मान्तरे
 प्रतियन्थाभावात् मम प्रारब्धादिभोग एव भवतीति, प्रारब्धस्यापि तदधीनत्वात् । किन्तु
 भगवता सेवोपभोगार्थमेवेदं दत्तमिति मत्ता सर्वं भगवदर्थमेवोपयोक्तव्यं न तु स्वार्थ-
 मिति भावः । तथा चोक्तमपि, 'निजेच्छातः करिष्यतीत्यत्र स्वीयानामविक्रमेच्छात
 इति । सिद्धान्तश्रुक्तावल्यामपि 'भजनोपयोग्यथापेक्षायापि मभुणैव सर्वं सम्प्राप्त इति,
 तथा "कृष्णं परं ब्रह्मे"त्यस्य विवरणे । एवं सामान्यत आधिभौतिकदिदुःखसहनमुद्देशत
 उक्तम् । अतः परं देहादिसम्बन्धिनः क इत्याकाङ्क्षायां मयमं देहसम्बन्धिनो विशेषत आहुः
 भार्यादीनामिति । भार्यादयो भरणपोषणयोग्यास्ते देहसम्बन्धिषु स्वसमानास्तेषां
 भरणपोषणमेवापेक्षितं न तु धर्मः, भरणपोषणं नाम सर्ववस्तुनो देहादिपर्यन्तस्य स्ववि-
 पक्षको विनियोगस्तदकरणे तैतिक्रमं कुर्वन्ति, तदा तत्सर्वं सहनमेव कुर्यान्नतु क्रोधादि,
 तत्करणे तदावेशेन सेवान्तरायो वाशिर्मुख्यं स्यादिति । तथान्येषां बान्धवानां मिया-
 दीनामुदासीनानां बहिर्मुखानां च पूर्वसामयिकनित्यविलम्बव्यवहाराचकरणेनेर्षया तेष्यवि-
 कर्म कुर्वन्ति, तस्यापि सहनमेव कर्तव्यम् । अपवा मकलैपि बान्धवानां बन्धुत्वसत्त्वात्
 विभागादिजनितद्वेषाणि अतिक्रमः सम्भवति । अथ च, असन्तस्य स्वदासतोपि, यथा
 भार्यापुत्रादयो देहसम्बन्धिनस्तथा दासो घनसम्बन्धी पोष्येभ्यन्तर्भवति, तेषां सहने

सोपि चेदतिक्रमं कुर्यात्तदपि (दुःखं) सखमेवेत्यर्थः । एते तु प्रतिकूला धर्मविरोधिन उक्ताः । चकारात् स्वधर्मानुरोधिनः शिष्ययत्नादयोपि ज्ञेयाः । प्रयादतो जीवस्वभावात् शिष्योप्यतिक्रमं चेत्करोति, भक्तोपि तदा स्वपारम्भादिभोग एवायमिति भावनया धैर्येण तदुःखसहनमेव कर्तव्यं, न तु क्रोधादि । क्रोधादिकरणे तु आसुरावेशेन सेवाप्रतिबन्धो वादिर्भूत्पश्य स्यात् । किञ्च, शिष्यभक्तयोरपि प्रभुसम्बन्धो वर्तते स्वकृत एव, पुनस्तत्र क्रोधकरणे तदनिष्टं कृतं भवेत्, न हि भगवदीयानामयं स्वभावो यत् (स्वकीयानां) स्वाङ्गीकृतानामनिष्टं कुर्वन्ति इति तत्सहनमेव कर्तव्यमिति भावः ।

एवं सेवाप्रतिबन्धकत्वेन भार्यादीनां तपागेन तत्कृतातिक्रमसहने निरूप्य सेवाप्रति-
बन्धकत्वेन भोगत्यागेपि तत्तद्विन्द्रियजनितस्याध्यात्मिकदुःखस्य सहनमाहुः स्वयमिति ।

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।

अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावेनात् ॥८॥

स्वयं स्वभोगार्थं इन्द्रियकार्याणि त्यजेत् सेवायां प्रतिबन्धकत्वात् । तानि च धिया, क्वचित् कायिकानि, क्वचिद्वाचिकानि, क्वचिन्मानसानि भवन्ति । तत्रागक्रयनेन प्राकृतविषयांस्त्याज्यित्वाऽलौकिकेषु तेषु तानि योजनीयानीति भावः । एवं सति याव-
त्यर्थन्तमलौकिकेषु युक्तानि भवेयुस्तावन्पर्यन्तं तत्रागमनितदुःखं भवतीति तत्सहनयुक्त-
मिति ज्ञेयम् । एवमाध्यात्मिकं निरूप्यापिदैविकं तदाहुरशूरेणापीति । शरणाभो-
गार्थं परीक्षार्थं वा विलम्बकरणे स्वापेक्षितवस्तुमाह्वयभावाच्चदुःखं सोढुं पश्यन्प्रभो धैर्य-
रहितः, यथा दन्दिः प्रात्यङ्गिकमहाभामे, तयाप्यशूरेणापि तद्वैर्ष्यं कर्तव्यम् । तत्र हेतुः,
स्वस्येति । स्वस्यासान्दर्भं भावनीयं, पूर्वोक्तदुःखसहने स्वयत्नोप्युक्तः । भगवत्कृत-
विलम्बे मयत्न एव न, तत्करणेपि विग्रः प्रभुकृतो भवेदिति, स्वययःनसाभ्यत्नाभावात् ।
स्वस्यासामर्थ्यभावनया 'तथैव तस्य लीलेत्यनुसन्धानेन धैर्यमेव कर्तव्यमिति भावः ।

ननु स्वययमपि पूर्वोक्तदुःखसहनपश्यं, दुतस्तरां यत्र स्वस्य साधनार्थमेव नास्ति
तत्सहनमिति किमर्थमज्ञाप्योपदेश इत्यत आहुरशूरेण इति ।

अशक्ये हरिसेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।

एतत्सहनमत्रोक्तम्,

सेवायां महत्तस्य विरेकधैर्याद्विषयो चेदशक्तिर्भवेच्चदा हरिरेव शरणमस्ति
नाग्य इति मनसि भावनीयम् । विरेकधैर्याद्विषयानकरणेपि चेदशक्तिरसदा तस्य
प्रभुशरणगमने दयया स एव सर्वं सम्यादयिष्यतीति भावः । यतः स हरिः सर्वदुःखहतां,
सदेवाहुः सर्वमाश्रयण इति । आश्रये कृते सर्वं सौम्यति । अशरयपि शरणं भवेत् । विरे-
कोपि भविष्यति, धैर्यमपि भविष्यतीति भावः । यद्वा, तस्मिन्कृते सर्वं हरदायकं सर्वथा

यदशुभं च तत्सर्वं भवेद्व्यया तद्भावे स्वशुभमपि न भवेदित्यर्थः । किञ्च, प्रयत्नरू-
पेऽपि तदेव सिद्धयेन्नान्यत् । निःसाधनत्वेन शरणागतौ तरुणया सर्वं प्राप्तदेव सिद्धये-
दित्यपि ज्ञापितम् । अनेन सर्वसिद्धयर्थमाश्रय एव कर्तव्यो नान्यत् किञ्चिदिति निश्चितम् ।
एतदेवोक्तं कृष्णाश्रये 'विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्ये'ति । एवं धैर्यलक्षणमुत्सवोपसंहरन्ति
एतदिति । अत्र भक्तिमार्गे पूर्वोक्तप्रकारेणोक्तं मदनस्वरूपमेतत् । अतः परमाश्रयो निरूप्यते ।

आश्रयोतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

नितरां विशेषेण रूप्यते स्वरुतः कथयत इत्यर्थः । यद्वा, यत्र एतद्वि-
षेकादिकं सर्वमाश्रयं विना अशक्यमत आश्रयो निरूप्यते । यस्मिन्कृते सर्वं
भवतीति प्रथमं समुदायेनाश्रयस्वरूपाहुर्ऐहिक इति । भक्तिमार्गाङ्गीकृतस्य सेवायां
प्रवृत्तस्य प्रभुसेवाव्यतिरिक्तकर्मकरणस्यास्वधर्मरूपेनैवैहिककारणलौकिकतापनकरणाभावात्
सेवायामप्यन्तरायकाहुत्वेन तथात्वाभावाच्च तदुभयमपि कथं सेत्स्यतीति तत्सिद्धयर्थं शर-
णमेव सर्वोत्पन्ना भावनीयं न तु सेवां विहाय किञ्चित्साधनान्तरं कर्तव्यम् । शरणगतौ
प्रभुः स्वयमेव सम्यग्दयिष्यति । यतो हरिः सर्वदुःखहर्ता, स्वकीयानां निरुपाधिभगव-
त्सम्बन्धपेक्षिताभावजनितदुःखं हरिष्यत्येवेति भावः ।

एवं समुदायेनाश्रयमुक्त्वा तथापि प्रत्येकभेदेन विशेषत आश्रयस्वरूपाहुर्दुःख-
हानाविति ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामार्थपूरणे ॥ १० ॥

भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तेश्चातिक्रमे कृते ।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥

भक्तिमार्गावस्य सेवायां प्रवृत्तस्य पूर्वोक्तदेशेन्द्रिपादिसम्बन्धाधिभौतिकादि-
दुःखहानौ धैर्येण तत्कृतविचोद्रेगाद्यभावार्थं शरणमेव भावनीयं, तेनैव सर्वं सेत्स्यतीति
प्रत्येकं तत्तत्कार्यं भावनीयमित्यर्थः । तथा पापे पापनिवारणे पूर्वसाधनिके प्रमादाज्जा-
यमाने च, सेवायां भगवद्विषयके देहेन्द्रिपादिभगवदपरापादिरूपे च तदेवोक्तं "महं त्वां
सर्वपापेभ्यः" इति । न तु तदर्थं प्रायश्चित्तादिकं कर्तव्यं, तत्करणे शरणधर्मो गच्छे-
दित्यर्थः । तथा भये राजचौरादिजनिते, पापादिविषये प्रभ्वपरायणविषये च आधिभौ-
तिकादित्रयं सर्वत्र ज्ञेयम् । कामार्थपूरणे इति । कामानामभिजापायां देयाः पदार्थाः,
ऐहिका भगवत्सम्बन्धिनश्च । तत्रापैहिकं द्विविधं, दैहिकमैन्द्रियप्रकञ्च, तत्पूरणे च, तथापि
विशेषमाहुर्भक्तद्रोहे इति । प्रमादतो जीवस्वभाववशात्कृतस्य द्रोहो जातश्चेत् सोपरायः

केनापि दूरीकृत्तु न शक्यते पर्यादापामपि, किं पुनः पुष्टिमाणं । यथा दूर्वाससोम्बरीष-
विषये तथास्यापि । तथा सम्भवे शरणमेव भावनीयं नत्वन्यत् । अकल्पभावे सेवायां
महत्तस्यापि स्वरूपे ज्ञेयो न जायते, तदर्थं भक्तैश्च स्वस्यातिक्रमे कृते सति, नदि
भगवद्दीवानामयं स्वभावो यन्निमित्तं विना यस्य कस्याप्यतिक्रमं कुर्वन्ति । तत्करणे तु
स्वदीपमेव विचार्य शरणं भावनीयं तद्दीपनिवृत्त्यर्थम् । किञ्च, अज्ञाक्ये वेति । स्वस्य
कर्तृमन्त्रण्ये कार्यं शरणं भावनीयम् । अज्ञाक्य इत्युक्ते शक्यत्वे स्वपमेव कार्यमिति न ज्ञेयं,
तत्राहुः सुज्ञाक्य इति । सर्वथा शरणं हरिः । स्वस्य सुतरां शक्यमपि, तथापि शरण-
मेव भावनीयं, प्रभुशरणेनैवेदं सिद्धं नान्यथेति । मधोर्विपातकरणे स्वस्य साधर्माभा-
वात्स्वकृतेनाभिमानान्तरणवर्षोपि गच्छेदिति सर्वात्मना तदीपत्वानुसन्धानेन शरण-
मेव भावनीयम् । यत्र प्रभुः हरिः सर्वदुःखदृचां अज्ञानवादिदुःखं हरिष्यत्येतेत्यर्थः ।
अथवा, अज्ञाक्ये भगवत्सम्बन्धिनि साधनासाध्ये, सुज्ञाक्ये साधनसाध्ये लौकिकेपि
तदेव भावनीयं, न तु स्वमयजः कर्तव्यः, तत्करणे शरणमर्णो नश्येदिति ॥ ११ ॥

अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।

पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

किञ्च, अहङ्कारकृते चैव जीवस्वभाववशात्केनापि उदासीनेन भक्तेन च साहा-
हङ्कारः कृतस्तदा तेनासुरावेशो भवत्येवेति, यथाद्विवेके जाते यथात्तापो जायते मयाऽसमी-
चीनं कृतमिति, तद्दीपपरिहारार्थं शरणमेव भावनीयम् । यदा, प्रभुकृपाभरणे मौज्या प्रभुणा
सर्वैवाहङ्कारः कृतस्तदापि दीपपरिहारार्थं तदेव भावनीयम् । किञ्च, पोष्याणां पोषणं रक्षणं
च, तत्करणेपि तदेव भावनीयं, न तु प्रपन्नः कार्यः । पोष्यातिक्रमणे चैव । पोष्यादीनां
भाषादीनां चकारादन्वेषां चन्धुदासपर्यन्तानामप्यतिक्रमे, तथान्तेवासी स्वशिष्यस्तत्कृते-
प्यतिक्रमे शरणमेव भावनीयं, न तु क्रोधादिवम्, तत्करणे आसुरावेशसम्भवात् । किञ्च,
तदुपरि स्वस्य क्रोधकरणे शिष्यस्थानिष्ठं भवेत् इति मुक्तिना नायं स्वभावो यदहीकृतं
त्यजन्तीति । तस्य दण्डादिकं प्रभुरेव करिष्यतीति तत्राभिमानेन न स्वपर्यहानिः
कार्येति भावः ॥ १२ ॥

ननु प्राकृतानां चित्तादीनामध्यासनिवृत्तिरतिशयिना, तदभावे सर्वमेव कठिन-
मिति चेन्नशाहुरलौकिकेति ।

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वार्थं शरणं हरिः ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

मन इत्युपलक्षणम् । किन्तु सर्वेषां देहिन्द्रियादीनां प्राकृतान्तरितया यत्र
अलौकिकत्वं भवति तत्सिद्धौ तदनन्तरं सर्वार्थेऽर्णौकिकमन्त्रद्वयमन्त्रापर्यपरि हरिरिप

शरणं भावनीपो नान्यत्, तदेवाद्भुदेवमिति । एवं प्रकारेण चित्ते ज्ञानरूपे, न तु जडे, सदा निरन्तरं भावना कार्या । अप्यस्य चाद्यापि परितः कीर्त्तयेश्चिरन्तरं ध्रुवैः कयवेदित्पर्यः । क्षणपात्रारूपेण तदैवागुरभावप्रवेशः स्यादित्युक्तं सदेति । चित्तस्य ज्ञानरूपत्वाभावेपि कीर्त्तनपर्याश्रयमिति कोर्त्तनमुक्तम् । एतदेवोक्तं नवरत्ने 'तस्मात्सर्वात्मने'स्वधा'न्तःकरणे तथाभावेऽतथाभावे वा षट्ममावश्यकमिति । यद्वा, स्वकारात् कायेन सेवापि कर्त्तव्या, मनसा भावना, वाचा कीर्त्तनमिति त्रिविधापि प्रपत्तिरिह-विता । एवं सति सर्वमेव पूर्वोक्तं शक्यं भविष्यतीति भावः ॥ १२ ॥

नन्वेवमपि सति महत्प्रशक्य एवार्थे इतिः शरणं भावनीयः स्वशरणापे भगवति भारः स्मिर्ष देय इति तदर्थं देवान्तरभजनं चेत् कुर्याच्चरादुरन्यस्येति ।

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।

प्रार्थनाः कार्यमात्रेपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥

अन्यस्य देवान्तरस्य भजनं स्वतस्तदर्थगमनमपि वर्जयेत् कुर्यात् । चरारा-
दन्वेषेणयापि तत्र न गच्छेत् । यदि न वर्जयेत्तदा शरण्यदार्यो गच्छेदित्यर्थः । इदमे-
नोक्तं 'न्यासादेशेषु' इत्यथ 'मदितरभजनापेक्षगमि'ति । ननु ममो मर्थ्यताया अनुचितत्वाद्
कदाचिरदार्यापेक्षायां देवान्तरादौ प्रार्थना मारं कुर्यात्तु भजनगमनादिकं तत्राहुः
प्रार्थना इति । यथा अन्यस्य भजनगमनादिकं न कुर्यात्तथा कार्यमात्रे महति स्वल्पेपि
वा प्रार्थना अपि विवर्जयेत् । विशेषेण सर्वथा न कुर्यात्, कापि प्रार्थना न कार्येति
बहुवचनमुक्तम् । * अत्र केचन पूर्वपक्षं कुर्वन्ति, प्रार्थनारहिता न वेपीति, यतो लौकिकं
पारमार्थिकं वा सर्वेषां प्रार्थनीयमस्ति । परमविरक्ता अपि पारमार्थिकं प्रार्थयन्त्येव ।
केचन मूलपादिकमपि न वाञ्छन्ति, तथापि भगवच्चरणारविन्दानुसाररूपां भक्तिं प्रार्थय-
न्त्येव । तु सादृश्यकयुरारचनन्तरं किमपि न प्रार्थयन्तीति चेत्सादृश्यत्वे परममेवासक्ति-
व्यसनवन्तो ब्रजवासिनस्ते तु स्थले स्थले प्रार्थितवन्तः । अन्ये तु मूलपादिकं प्रार्थयन्ति ।
ब्रजवासिनास्तु दामानल्लुहृष्ट्यादिजनितलौकिकप्रार्थना तिष्ठतीति तद्विहितभक्तमनाभावात्
प्रार्थनानिषेधः कथं क्रियते ? तत्रोच्यते । रे दुर्दिग्ध ! सन्दिग्धमैव चिदर्थेपन्नोसि,
यतो यद्ब्रह्मादीनां मनसाप्याकलयितुं न शक्यं तस्वरूपे ये शुक्तिगणः प्रेसासक्तिप्रदानिनः
येषां तद्विहितं लौकिकं पारमार्थिकं वा न किञ्चनस्ति । तेषां लौकिकप्रति-
पत्तयार्थनादिकं प्रतीति । यदि वदसि शशुकीकृतं, तत्रोच्यते । एतत्स्वरूपानार्थिः ।
स्वरूपनिष्ठः सन् शृणु । येषां तदन्तरस्ये बुद्धिर्गुणयते तेषां तदन्तरापर्यायमहिष्णुत्वान्

* अत्र पूर्वजोतरे सधुपलयेऽ प्रार्थनिष्ठ नपठ इत्येकेऽ मतः । अर्थाधीनान्तरादये वसेते । अत्र
नेमाप्याशुनिकेन विदुषा प्रकिते ते स्वताप ।

इहानिष्टे सम्भवे सम्भवतीति मार्थेन ज्यसनस्वभावेन न तु स्वनिष्टं भवतीति कुतो लौकिक-
 फलिपिचमार्थेनसम्भावनापि । यद्यपि तादृशानां मध्ये अनिष्टं न सम्भवति, तथापि तत्र
 क्रीडारसापेक्षेन यत्किञ्चिदपि प्रभौ स्वसाम्पाधिकव्यक्तौ तन्निरोधार्यं प्रयुणैव क्रियत
 इति हेतुम् । अन्यथा तन्निरोधो विशेषरसानुबन्ध न भवेत् । एतदेव दावानलपस्त्रावे
 गोपेषु भगवति लौकिकभावेन स्वसाम्येनैव क्रीडासक्तेषु, गोषु च तृणलोभेन भगवन्तं
 विस्मृत्य वनगच्छरं प्रविष्टानु पपत्तिहीनैः सह भगवत्क्रीडा न भवतीति तन्निरोधार्यं प्रयुणैव
 वनाभिरुत्थापितः । अन्यथा तादृशप्रभुक्रीडायां विप्रकरणे कः समर्थः । अत एव
 तत्पश्यन्तरमेव तस्य या शान्तिः कृता सापि प्रयुणैव कृता न तु साधनैः । तत्केवलं
 स्वीपत्वं ज्ञापनाय, इतरमश्मभे स्वीयत्वापानात् । अत्रै तैरपि तथैव विज्ञापितम् तदा,
 'नूनं त्वद्ब्रह्मन्वाः कृष्ण न चाहंन्व्यवसीदितुं, वयं हि सर्वधर्मज्ञ त्वन्नायास्तत्परायणाः इति ।
 अस्वार्थस्तु ये केवलं त्वद्ब्रह्मन्वा एव तेषि नावसीदन्ति, किं पुनः प्रवृत्ता इति । स्वधर्मि
 ज्ञापयन्ति वयमिति । अत्रायं गृहाभिसन्धिः । केरलं चयुत्वेन तत्स्वभावात् कदाचित्
 स्वसाम्येनापि प्रयुगा सह क्रीडादिकं संभवति, एवमिदं तत्पञ्चानामनिष्टकारकं तद्वरमाकं
 पूर्वं ज्ञानमिति स्वापराधनिवेदनं, तथापि सा क्रीडास्माकं त्वां पिना न भवति, किन्तु,
 त्वया सहैव, त्वद्यतिरेकेण जीवनमेव न मयेदिति विशेषणद्वयेन धोतयते । अतः सर्वस्वना
 मपन्नानां नो वनाधिभयं न भवति, किं तर्हि, पूर्वोक्तापराधेन महदनिष्टे सति स्वस्वरूपा-
 न्तरायस्तु ततोप्यमद्य इति मार्थेनपि कुर्वन्तः स्वापराधं प्रपत्तिं च ज्ञापयन्ति । अत एव पूर्व-
 श्लोके सर्वथा मार्थेनाया अनौचित्यमित्यभिप्रायेणैव प्रातुमर्शयेत्युक्तं, न तु "व्रात्री"ति । पूर्व-
 मपि कालियसङ्घानन्तरं दावानलोद्गमे 'न शक्तुमस्त्वचरणं सन्त्यक्तुपकुतोभयमि'त्येवोक्तम् ।
 दाहरतु सोढुं शक्तो न तु चरणविद्योग इति विवरणे विवृतं, न हि व्यसनव्यतिरेकेणैव
 वचनं सम्भवतीतिभावः । ननु पूर्वमेवं कथमेतादृशी प्रपत्तिर्न कृता तत्राहुः 'सर्वधर्मज्ञे'ति ।
 सर्वे धर्म त्वमेव जानासि, वयं तु गृहा अवोस्पाकं तदुपदेशाभावेन तदहानात् क्रीडारसा-
 पेक्षेन स्वस्वतिपचिनिस्मृतिर्भवतीत्यर्थः । इदानीं प्रमेयवत्त्वादेव तज्ज्ञानं ज्ञातमिति सर्वथा
 प्रपन्नानामस्पाकं तत्स्वरूपान्तरायो मा भवन्निति स्वरूपाशक्तिस्वभावेनैव मार्थेनपि
 कुर्वन्तः स्वचरणगतिरेव ज्ञापितेति सर्वमनवद्यम् । नन्वेतावदपि मार्थितमिति चेत्त्रोच्यते ।
 रे कुतर्कानितिष्ठितमते ! शृणु । श्रीगोकुलं तु केवलं तदेकपरं, तेषां भावोपि तादृश एवेति
 तादृशस्य तस्य प्रभुगपि स्वयं तदेकपर एषेत्युभयोः परस्परैकपरत्वेन लोके ज्ञापयितुं
 तन्निपन्तरेण प्रयुणैव तथा प्रेरितं यथा तैः प्रार्थितं, तदनन्तरं तदैव स्वयमेव साक्षाच्छि-
 ष्टिं च कृत्रानिति न तत्कृतप्रार्थितेतिनिर्गर्भः । प्रकृतेषु प्रपत्त्यभावे कृतेषु प्रार्थिते तत्र
 फलोतीति स्वस्य तादृशं प्रति तत्प्राप्तभाव एव ज्ञाप्यत इति भासः । प्रार्थनादिनिपेक्षस्तु
 सापन्नदशायां न तु फलानुभवे । तथा च, श्रीगोकुलं तु फलरूपं फलोपयोगिसर्वरसात्मकं

भगवता स्वलीलार्थं स्वस्वरूपेणैव साक्षात्पञ्जीकृतम् । सा लीला बहिलोकानुसारिणी, अन्तस्त्वलौकिकी, बहुप्रयोजनगर्भितेति यथा यथा तत्तद्रसात्मिकास्ताराणां लीला भवेयुः, ततः स्वमाहात्म्यगुणादिकं सर्वजनीनं च भवेत्तथा तथा भगवानेव सर्वं करोति, न तु तेषां तत्स्वरूपव्यसनवतां तदन्यदिकञ्चिदपेक्षितम् । अन एव दिनव्यन्यनुसरं कर्तुं मनसैव तादृशानां क्षुधामुत्पादितवान् । अन्ययाऽऽकस्मिन् तादृशी दृःसहा सा कथमुत्प्रेत । एवं सति श्रीगोकुले तत्तन्निरोधार्थं सर्वं भगवानेव करोतीति न विश्विपूर्वपक्षावसरः । किञ्च, तेषां स्वरूपापेक्षापि आसक्तिव्यसनस्वभावन एव न तु कृत्रिमा । तादृशी चेद् प्राप्तौ शक्येत । इयं तु तत्प्राप्तावपि उत्तरोत्तरं वर्द्धत इत्येतथाः सर्वतो भिक्षैव रीतिर्नान्य-मार्गापिपूर्वपक्षादिना बहुपयितुं योग्येति दिक् । किञ्च, प्रार्थनं तु यावन्मनोरथं पश्यति, प्रकृते मनोरथान्तमानन्दं दत्तवान् इति प्रार्थनानपेक्ष एव सर्वं कर्त्तव्येति किमर्थं प्रार्थनं भवेत् । यत्र दृश्यते तत्र हेतुः पूर्वमुक्त एवेति सर्वं सुरथम् । एवं सति धीगोकुलस्वरूपास्त्रीलाहरी-नामज्ञानान् तत्प्रार्थनावलीकनेन तदितरस्यापि प्रार्थना कर्त्तव्येतिगमो निरस्तः ।

प्रस्तुतमाहुः । ननु सर्वेषां देशानां धर्माणां च त्यागेन केवलं भगवत्प्रणयतावपि को वेद भगवानपेक्षितं दास्यति वा न पेति चेत्तत्रादुरविश्वास इति ।

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।

ब्रह्मास्त्रचातकौ भाल्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥ १५ ॥

अस्मिन् प्रणयामनेऽविश्वासो न कार्यः, यः सर्वथा बाधकः । बाधकान्त-
रापेक्षयाऽप्यधिकबाधक इति सर्वधेत्युक्तम् । यतोऽविश्वासेन धर्मान्तरसम्बन्धे प्रण-
ययो गच्छेद्, इदमेवोक्तम् 'अन्यसंमेलने वा प्रणयगन्धाय उक्त' इति तेन विश्वास एव
कर्त्तव्य इतिभावः । अतः परं विश्वासे कर्त्तव्यं भगवन्विश्वासे नेत्यत्र दृष्टान्तं निरूपयन्ति
द्वयपत्रेति । अविश्वासे प्रणयार्थं भाष्यं भावनीयमित्यर्थः । यथा हनुमद्विषये प्रयुक्त-
मपि तेषामविश्वासेन धर्मान्तरसम्बन्धे ततो निर्गमनापीत्यत्राप्यविश्वासेन धर्मान्तरस-
म्बन्धे प्रणयमन्त्रो यास्यति प्रणयधर्मो न निर्गतीति स न कर्त्तव्य इतिभावः ।
विश्वासे पातको भाष्यः । स्वातिजलविश्वासेन वेद्यं त्रिष्टुति तदा मेयो वर्षयेव, स
च विवर्तीतिभावतया विश्वास एव कर्त्तव्यो नन्वविश्वासः । प्रणयगतौ विश्वासे भगवान्
सर्वं करिष्यतीतिभावः । एवं विश्वासेन प्रणयस्थितौ भगवद्विच्छया मयत्रं विना यदेव
प्राप्तं भवेदनायासेन स्वल्पमपि तदेव प्राप्य, नत्रापि निर्ममः भगवद्दीपनाशत्रापि
ममकारहितः सन् प्रभुमेवां वृषाम् तु विशेषार्थं यन् वृषाणदेवादः प्राप्तमिति । नये-
नेतिपदेन तन्मर्षं भगवदुपपुनमेव वृषाम् तु स्वार्थपिण्डं सूचितम् ॥ १५ ॥

ननु धर्मान्तरसम्बन्धे प्रणयदायो गच्छतीत्याद्यप्येवमेव किञ्चिद्विद्वद्वर्त्मनापि
स्यामे कदाचिदमापान्यशङ्का स्यान्मार्गे, तद्भावायै तत्प्रणयनकारपादुर्पपाकभङ्गिदिनि ।

यथाकथञ्चित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।

किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ॥ १६ ॥

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

यथाकथमपि पापे लोकानामपामाण्यशुद्धा न भवेत्तथोच्चावचान्यारभ्यलौकिक-
कवेदिकसम्बन्धीनि कार्याणि मार्गप्राणार्थार्थं प्रभोराज्ञां ज्ञत्वा तानि कार्याणि, न तु
स्वधर्मत्वेनेति । यथा "करिष्ये वचनं तमे"ति पार्थिव भगवदाज्ञा कृता तथोत्तरार्थः । एवं
सति शरणपदार्थो न गच्छेत् । इति पूर्वोक्ता शुद्धा निरस्ता । नदेवोक्तं, पुष्टिपत्राहमर्पादायां
"लौकिकत्वं वैदिकत्वं नाप्यत्रापि नान्यथे"ति । अथवा, तदर्थमपि फर्मादकरणे न
दोषः, शरणपदार्थस्यैव तावद्रूपत्वात्तदाहुः किं चेति । बहुना प्रोक्तेन क्रिम्, न
किञ्चित्तद्वयमिति, किन्तु सर्वत्र शरणमेव भावनीयं न तु लोकासङ्ग्रहार्थमपि कर्मकरणम् ।
तदर्थमपि विधिरूपत्वेन कर्मकरणे शरणपदार्थाभाव इति भावः । एतदेवोक्तं 'पन्थसम्पन्ने
वेत्यत्र । एवं सति प्रभोराज्ञां यत्वा कर्मकरणमायानं नान्यथेत्यर्थः । नन्वेवं सर्वात्मना
ज्ञानेन कदाचित्पापं सम्पन्नेत्तराहुर्हरिमिति । स हरिः सर्वदुःखहर्ता तत्सम्भावनाया स
एव पापादिक दूराकरिष्यतीतिभावः । एतत्सर्वं 'सर्वेषां' इत्यस्य निरूपणे न्यासादेतोक्ति-
त्यत्र द्रष्टव्यम् । अतः परमुपसंहरन्ति एवमिति । एवं प्रकारेणाश्रयणमाश्रयस्वरूपं
पकृष्टेन साङ्गमुक्तम् । तावता क्रिमिति चेत्तत्राहुः सर्वेषामिति । सर्वेषां जीवानामाश्र-
माणा वर्णानां सर्वदा क्रियमाणं सत् कृतं हितकारि, साधनं विनाप्यैहिकपारलौकिक-
सम्पत्तिसाधकमित्यतः परं कियवतिष्यते ।

ननु सर्वयुगेषु साधनैरेव फलं भवतीत्यधुना तानि विद्याप केवलं शरणमेव
कथमुच्यते, तत्राहुः कलाविति ।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥ १७ ॥

श्रीमद्ब्रह्मभार्यचरणविरचिनो विवेकधर्मशास्त्रप्रणयः सम्पूर्णाः ।

अन्ययुगेषु धर्मस्यैव मायान्याद्विहितभक्त्यादीनां साधनसाध्यत्वात् तैरेव विहि-
तभक्त्युपासनाकर्मादीनां फलं भवति । कस्मिन्तु पापमयान इति साधनानामपामा-
द्विहितभक्त्यादिमार्गा दुःसाध्याः, अप्युत यद् रिश्चि'करणेपि पापमयमेतेन पाप-
मपि जायत इति सर्वथा दुःसाध्याः, यतो यत्र साधनसाध्यं अपि भक्त्यादिमार्गाः
कलौ दुःसाध्यास्तत्र कृत्वाद्युगेषुचपि यो भक्तिमार्गः साधनसाध्यः वैचञ्चभवदनु-
सर्कलभयनस्य कलौ सुतामेव साध्यतामाश्रय्येन दुःसाध्यत्वमिति सर्वोपना शरण-

गतौ भगवान् वादशे भक्तिमार्गेऽप्यनुग्रहं करिष्यतीति, सर्वात्मना शरणमेव भावनीयं, नान्यत्कर्त्तव्यमिति स्वसिद्धान्तज्ञापनायोक्तं मे मतिरिति । मे मतिरिरयेव । तेन स्वगार्गीयागामिदमेव कर्त्तव्यं नान्यदिति भावः ।

श्रीमदाचार्यशरणशरणस्मरणेन मे ।

हृद्यायाता प्रणालीयं ग्रन्थस्याऽऽनुसारिणी ॥ १ ॥

भक्तिमार्गे स्वकीयस्य दाढ्यार्थं सर्वथा इमे ।

अपेक्षिता विवेकायास्त्वेतदर्थं तदाश्रयः ॥ २ ॥

श्रीमदाचार्यशरणैरिति ते वर्णिताः स्फुटम् ।

अतस्त एव चरणास्तदर्थं शरणं मम ॥ ३ ॥

॥ इति श्रीधनहृद्यामात्मजश्रीगोपीशरणविरचित

विवेकधैर्याश्रयविवृतिसमेतः

सम्पूर्णा ।



श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीभागवतप्रतिपदमणिवरभावांशुभूपितश्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितः ।

विवेकधैर्याश्रयः ।

श्रीगोविन्दरायात्मजश्रीगोकुलोत्सवविरचिता विवृतिः ।

यत्पादाग्नाश्रयादासन् सर्वे पूर्णमनोरथाः ।

तमेव गोकुलापीशं सर्वसिद्धये सपाश्रये ॥ १ ॥

अथ सकलकर्मादिमार्गाधिकारेषु सत्सु भक्तिमार्गानुसारेण भगवदाश्रय एव सर्वपुरुषार्थसाधकस्तदाश्रये च विवेकधैर्यं हेतु । तथाहि । विवेके सति सर्वोत्पत्तं भगवति ज्ञात्वा तदाश्रयं करोति जीवः । धैर्यं च सति दार्ढ्यं भवति, तेन विवेकधैर्याभ्यामविरतं भगवदाश्रयो भवति तत्र स्वीयानां भक्तिसिद्धयर्थं विवेकधैर्याभ्यान् आचार्या निरूपयन्ति विवेकधैर्यं इति ।

विवेकधैर्यं सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।

विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥

विवेकधैर्यं निरन्तरं रक्षणीये । आश्रयो भगवदाश्रयः सोऽपि तथा निरन्तरं रक्षणीय इत्यर्थः । एतेषां रक्षणञ्चैतदनुसन्धानपूर्वकमेव तदनुकूलकृतिकारणम् । मुरुषो भगवदाश्रयः । तदङ्गे च विवेकधैर्यं इति ज्ञापनाय विवेकधैर्ययोरेकपदेन निरूपणम् । आश्रयनिरूपणं चान्येन । तत्र विवेकरूप प्रथमोद्दिष्टत्वात्मयमं विवेकं रक्षयन्ति विवेकस्त्विति । विवेकस्त्वधनेव, नत्सन्ध इत्यप्ययोगव्यवच्छेदार्थस्तुत्पत्तः । विवेकस्वरूपमाहुः हेरिरिति । हरिः सर्वदुःखहर्ता, तेन यत्करिष्यति तद्द्रव्यमेव करिष्यतीति भावः । तदपि कियत्कार्यं कृत्वा निर्वर्षिष्यत इति नास्तीत्याहुः सर्वमिति । निजेच्छातः । तथा च न प्रार्थनीय इत्यर्थः । अत्र एव प्रवृत्तादवचने, 'नान्यपातेऽग्नितु-रोर्मद्वे करुणात्मनः' । 'यस्तु आदिप आजास्ते न स भृत्यः स वै वणिहः,' अत्र एव

‘नकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्वादसेवाभिरता मदीयाः, येन्योऽप्यतो मागवन्-
मधानाः सभाजन्यन्ते मम पौरुषाणीत्यादिवाक्यानि ॥ १ ॥

ननु सेवकैः प्रभुः प्रार्थनीय एवेति चेत्तत्राहुः पार्थिते वेति ।

पार्थितेपि ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात् ।

सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥

प्रार्थितेपि ततः प्रार्थनात् किं स्यात्तत्र विमपीत्यर्थः । तत्र हेतुः स्वाम्यभिप्रा-
येति । यतः प्रभोरभिप्रायः पूर्वं ज्ञातुमशक्यः, प्रभुश्च स्वाभिप्रेतमेव करिष्यति । लौकिका
अपीश्वराः स्वतन्त्रा भवन्ति किं पुनः सकललोत्सवेश्वरः । ननु निजेजानस्तदा करि-
ष्यति यदि सामग्री सङ्घटिता स्यात् । नद्यसम्भृतसामग्रीरुः किमपि कर्तुं शक्नोतीति
चेत्तत्राहुः सर्वत्रेति । तस्य भगवतः सर्वत्र सर्वैरिन्द्रैर्वायोर्येपि देवो सर्वयोनिषु च
सर्वं वस्तु सिद्धमेवास्ति, अमतिदृतेच्छत्वात् । अत एव किमन्ध्रं भगवति मत्प्रे
श्रीनिवेतने’ इत्यादि । ननु सम्भृतसामग्रीरूपि यदि स्वयमसमर्थः स्यात् तदा कथं बुधा-
न्त्राहुः सर्वेति । ‘यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति श्रुतोः । सर्वैकारकं सामर्थ्यं विद्यत इति
साधनन्यूनत्वे साधनमपि सम्प्राप्य फलं दातुं समर्थः । साधनं विनापि फलं दातुं समर्थ
इत्यर्थः । अत एव धर्मवासिभ्यो निःसाधनेभ्य एव फलं दत्तवान् । ‘तेनार्थानश्रुति-
गणा नोपासितमहत्तमाः । अत्रतातमृतपसः सत्सङ्घान्मातृमुपागताः । वैशलेन हि भारेण
गोप्यो गावः खगा मृगाः । येन्ये मूढभियो नागाः सिद्धा मामीशुरजमे’त्यादिवाक्यात् ।
अत एव भिद्धारक एवकारः । चकारादिच्छापि । नदीच्छा विना कोपि किमपि
करोति ॥ २ ॥

भगवद्दर्मान् विविच्य जीवधर्मान् विवेचयन्त्यभिमानश्चेति ।

अभिमानश्च सन्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावेनात् ।

विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥

सर्वकैः सर्वदा स्वाम्यधीनत्वमेव मनसि भावनीयं दासधर्मत्वात् । स्वर्गोपे-
पञ्चमी । तथा च स्वाम्यधीनत्वभावनं प्राप्य अभिमानः सर्वथा सम्पद त्याग्यः ।
सत्वात्मनस्त्याज्य इत्युपसर्गः । अथवा, लौकिकस्वाज्यो नत्वलौकिक इति विनेकार्प-
सुपसर्गः । चकारादन्त्येपि कामक्रोभादप्य । ननु भगवद्दीपानां लौकिकं वैदिकं वा यदि
विशेषतः कार्यं कर्तव्यं स्यात् तदा केन प्रकारेण कर्तव्यमिति चेत्तत्राहुर्विशेषतश्चेति ।
यदि विशेषतो भगवाद्ज्ञाता स्यात्, तदा विशेषतः प्रकारः सर्वोपि कर्तव्यः । न तु

भगवदाज्ञां विना । साध्यन्तःकरणपूर्विका न तु क्रोयेन परिहासेन वा, तदाहुरन्तः-
करणमोचर इति । अजहृद्विदं पदम् । तेन लौकिक आवश्यके व्यवहारे नाज्ञापेक्षा,
वैदिकेषु नित्यकर्मणि वेदरूपसामान्याज्ञयैव उत्करणम् । तस्माद्भगवदीयानां लौकिके
वैदिके वा विशेषकार्ये कर्तव्ये भगवदाज्ञापेक्षा ।

तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।

आपन्नत्यादिकार्येषु ह्यस्त्याज्यश्च सर्वथा ॥ ४ ॥

अत एव राजगृहोद्यतेन धर्मराजेन विज्ञापितं 'यज्ञे विभूतीर्भवत' इति । लौकिकेषु
यावदावश्यकं तावदेव कर्तव्यमधिकन्तु भगवदाज्ञातः । गतिर्गमनम्, तेन विशेषमतिस्ती-
र्यादिषाम्ना । आदिषदादन्यदुपपागन्तुकम् । तथा च, यत्किञ्चिदुपपागन्तुकं कार्यं,
तत्र भगवदाज्ञापेक्षा । उत्पत्त्यर्थस्य* भूषातोष्ये, तस्य भात्यलुत्पादयतीत्यर्थः । तथा च
भाव्यते क्रियत इति भाष्यं कर्तव्यमित्यर्थः । ननु पुत्रादीनामुपनयनविवाहाद्याज्ञाप-
पेक्षेत न वेत्याशङ्क्य, नेत्याहुर्भिक्षन्तु दैहिकादिति, दैहिकाद्भिन्नं विशेषकार्यमाज्ञाप
कर्तव्यं नतु दैहिकमित्यर्थः । तु शब्दः सन्देशकारकः, तेन पुत्रादीनामुपनयनविवाहादिकरणे
नाज्ञापेक्षा, किन्तु निर्वाहमात्रं कर्तव्यं । न त्वधिको वृथा व्यव्यादिः कर्तव्यः । ननु विप-
दादौ कथं व्यवहर्तव्यमितिचेत्त्राहुरापन्नत्यादीति । आपन्नतिरापत्याग्नित्त्र यानि
कार्याणि तेषु हृष्टो न कार्यः, किन्तु यथा सौकर्यमेव विशेषम् । आदिषदाद्भगवदाज्ञा,
आचार्याज्ञा, भगवदीयानामाग्रहः । तेष्वपि स्वकीयो ह्यो न कार्यः । नतु विपदादौ ह्येवमपि
का सतिः, भगवतैव तद्द्वन्द्वनिर्वाहात् । न हि भगवान्कदाचिदपि स्वह्येयानुपेक्षते, 'ये यथा
यां पश्यन्त' इति भगवत्त्वविज्ञानादिति चेत्, सत्यम् । परन्तन्वयैव कार्यसम्पत्ते प्रभो
सङ्कोचदानस्यानुचितत्वात् । इदविषयस्य भगवदनभिप्रेतत्वे निर्वाहभावाच्च । ननुक्रमेव
यथा भगवान् कदाचिदपि मपन्नं नोपसृत इति तद्व्यपनिर्वाह इति चेत्, सत्यम् । यदि
सर्वथा मपन्नः स्यात्, परन्तु भगवदनभिप्रेतस्य कारणे मपत्तरेव न्यूनत्वात् । न हि सर्वथा
मपन्नो यः स भगवदनभिप्रेतं कदाचिदपि करोति । तेन सर्वथा मपत्तभावे भागवतोपि
नारश्यको ह्यनिर्वाहः । नन्वनभिप्रेतस्य तेन कथं ज्ञातव्यमज्ञाते तु न तस्य दोष इति चेत्,
सत्यम् । तथापि सन्देशेपि ह्यस्यानुचितत्वादित्यन्ते विस्तरणे । एतत्सर्वमभिसन्धापाहः
सर्वथेति । सर्वथा सर्वैः मकारैः । तथा च केनापि मकारेण ह्यो न कर्तव्य इत्यर्थः ॥४॥

एवं भगवत्कृत्येषु विचार्य लौकिकेषु व्यवस्थामाहुरनाग्रहोऽपि ।

अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ।

विवेकोऽयं समाख्यातो धैर्यन्तु विनिरूप्यते ॥ ५ ॥

सर्वत्र लौकिके व्यवहारोऽनाग्रहेण कर्त्तव्यः । किन्त्वौदासीन्येन व्यवहर्त्तव्यं, न केवलमौदासिन्यैव कर्त्तव्यं लौकिके, किन्तु भक्तिविरोधिलौकिकांशस्य त्यागोपि कर्त्तव्य इति चकारार्थः । किञ्च, धर्माणां धर्माणां च पर्यवसानविचारेण तदनुसारेण व्यवहर्त्तव्यमित्याहुर्धर्माधर्माद्यदर्शनमिति । एके स्मार्त्तधर्मा अपरे श्रौतधर्मा अन्ये भगवद्दर्माः, ते सर्वेपि सम्यदापत्तिभेदेन द्विविधाः उत्तरोत्तरवलिष्टाः । तत्र स्वाधिकारो विचार्यः । यदि भगवद्दाज्ञा भवति, तदा सापि विचार्या, भगवदिच्छा च विचार्या, आचार्याज्ञा च विचार्या । तथा च धर्माधर्माणां बलाबलमेतत्सर्वं च विचार्य यथा क्रियमाणे पर्यवसाने उत्तम भवति तथा करणीयम् । तेनैवं पदयोजनिका । धर्माणां धर्माणाञ्च यद्यं पर्यवसानं तस्य दर्शनं विचारः कर्त्तव्य इति शेषः । उपसंहरन्ति, विवेकोपमिति । अयमेव विवेको नस्त्वय इति ज्ञापनायायमिति । सविस्तरमवान्तरभेदनिरूपणपूर्वकमिति समिति । आख्यातः कथितः । उद्देशानुसारेण धैर्यं लक्षयन्ति धैर्यमिति । विवेकानन्तरं धैर्यं विलम्बो न कार्य इति ज्ञापनाय अग्रधानेन पूर्वोपसंहारोत्तरोपक्रमयोर्निरूपणम् । तुशब्दः प्रकारभेदज्ञापकः विशेषणविस्तरप्रकारेण निरूप्यते ॥ ६ ॥

धैर्यस्वरूपमाहुस्त्रिदुःखेति ।

त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृतेः सर्वतः सदा ।

तत्रवद्देहवद्भाव्यं जडवद्गोपभार्यवत् ॥ ६ ॥

श्रमणाणामाधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदेविकानां दुःखानां सहनम्, लौकिकायास आधिभौतिको, वैदिक आध्यात्मिको, भगवद्दर्थ आधिदैविकः । मरणपर्यन्तं सहनमित्याहुरामृतेरिति । तत्रापि मध्ये मध्ये विच्छिद्य सहनं न साधकमित्याहुः सदेति निरन्तरमित्यर्थः । सर्वस्मात्सहनं न तु तत्र हीनमध्यमत्वादिकं भावनीयमित्यर्थः । अन्यासनिवृत्तौ धैर्यं सुकरमिति देहाद्यध्यासनिवृत्तिप्रकारमाहुस्तन्वदिति । देहवदिति, देहवता सहनं तत्रवद्भावना कार्या । तथाहि, अत्रैवमाख्यायिका । काचिद्राज्ञी केनचित्पामरेण सम्बद्धचित्ता सती तेन सह सङ्केत कृतयनी राजानपहं मारयिष्यामि, तत्र भार्या भविष्यामिति । ततः कस्मिंश्चिदने तं स्थापयित्वा स्वभवन्मगत्य राज्ञौ राजानं हत्वा तद्वनं प्रतिष्ठा । तत्र च पतित्वेन कल्पितं तं पुरुषं सर्पेदृष्टं दृष्टवती । तदन्तरमितस्ततो भ्रष्टा सती कुत्रचिद्देशे गणिका बभूव । तत्र चाज्ञानात् स्वपुत्रेण सम्भुक्ता । तदन्तरं च मसद्भान् ज्ञातवती ममाप्यं पुत्र इति । तदन्तरमत्यन्तग्लानिमाह्या शरीरं त्यक्तुं चिता प्रविष्टा । तत्रापि, वद्वितापमसहमाना ततो निर्गत्य दुःखचिद्देशे कस्यचिद्गोपस्य भार्या बभूव । तत्र च,

गोरसधिक्येण जीविकां चकार । सा नैकदा स्वसमानाभिर्बहुभिः सह तत्र विक्रयाय निश्चक्राम । मध्येमार्गे केनचित्पत्ययुद्धेन पतिनानि सर्वासां माण्डानि भग्नान्पञ्चभक्तम् । तदान्याशुभुभुः, सा तु जडास । तदा इसन्तीं तां सर्वाः पपञ्चुः, कथं त्वं न क्षुभ्यसि किमिति च इससीति । तदा सा स्वटचान्तरूपेण न पयनेकेनोचरमदात् । तथाहि,

इत्या वृषं पतिभवेक्ष्य भुर्भङ्गदृष्टं देवान्तरे विधिवगाद्रणिक्कास्मि जाता ।

पुत्रं पतिं समधिगम्य चित्तां प्रविष्टा शोभापि गोपट्टिणी कथमयं तक्रमि"ति ॥

तदाहुस्नक्रयदिति । साहस्येयं वति, तेन यथा तस्यास्तत्रे उदासीनभावना नराभिमानः, तथा सहजाते भावनीयमित्यर्थः । इयमाख्यापिकानान्तर प्रसिद्धेति सुप्रसिद्धपौराणं दृष्टान्तमाहुर्जडवदिति । तृतीये जन्मनि परतो जडस्तस्य यथा सहजाते नाभिमानस्तथा भावनीयमित्यर्थः । यथानदः स्वबन्धुपु सद्गं स्वतःशानुदासीनेपि रहगणे च सद्गं कृतवान्, तथा श्रीमत्सुखरगारविन्दानुपपुकेषु बन्धुपरि सद्गो न कार्यः, श्रीमत्सुखरगारविन्दानुपपुकेषुदासीनेष्वपि सद्गः कार्य इति जडदृष्टान्तेन सूच्यते । अत एव फर्दमे मति विहाययन्त्या देवहत्या सहो यः 'संग्रतेर्हेतुरसत्सु विहितो धिया । स एव साधुपु कृतो निःसद्गतायः कवते' (भा० ३-२३-५५) इत्युक्तम् । अत एव कपिलदेवनाप्युक्तम्, 'मसद्गमनं पाशमालनः कवपो विदुः । स एव साधुपु कुनो गोशशास्त्रमनष्टतपित्युक्तम् (भा० ३-२५-२०) । अत एव दृष्टेणापि मार्गितम्, "ममोचमद्गो कृतनेषु सख्य"मिति (भा० ६-११-२७) । यथा च मयत्रवकुर्वाणेपि जडे भट्टाजीसम्बन्धी चित्रो न जातस्तथा सर्वेष्वेव भगवदीयेषु देवान्तरकृतो चित्रो न भवतीत्यपि सूच्यते । अत एव गर्भस्तुतौ, "द्वेषाभिगुमा विचरन्ति निर्भया विनायकानीकष मूर्द्धसु प्रभो" इति देवचरने गीयते । किं चहना, काचोपि न प्रभुर्भर्तुमिष्टे । अत एव कपिलदेवेनोक्तम्, "न कर्हिचिन्मतराः शान्तरूपे नृपति नो मे निमिषो लेटि हेतिरिति" (भा० ३-२५-३८) । अनिमेषो हेतिः काचः । अत एव यमेनाप्युक्तम् 'ते देवसिद्धपरिगीतवचिन्नाया ये साधवः सपदशो मयत्रवपमाः । तावोपसीदत हर्येदयाभिगुमाक्षयां वयं न च वयः मभवामदः' इति (भा० ६-२-२७) वयः कान्तः । अत एव द्वितीयस्कन्धे द्वितीयाध्याये । न पर कान्तेति । (भा० २-२-१७) एवं मध्ये सुप्रसिद्धं पौराणं दृष्टान्तमुक्त्वा पूर्वोक्तविहायाः सायन्तजरायापुनस्तमम्बन्धिनमेव दृष्टान्तमाहुर्गोपिभार्ययदिति । गोपेन त्रिपते सोप्य इति गोचमार्थः, तस्या देहस्तद यथा तस्या उदासीनपुद्गिस्त्रया देहादौ भान्पनिर्भयः । ननु तत्र विषयत्रयोक्ताभावकयनात्तत्रविषयसौदासीन्यं तस्या मातादिन्दुक्तं, परन्तु देहादौ तस्या उदासी-

नमावः कथं निर्धारयति चेत्, सत्यम्, यदि देहादानासक्तिस्तस्याः स्याच्चदा तद्वि-
 क्रयेण जीवन्त्यास्तस्या देहादिपोषके तत्रै कथमौदासीन्यं स्यात् ? तेन ज्ञायते तस्या
 उदासीनयुद्धिरेव देहादौ । ननु प्रतिकाराश्रया कृतोपि शोको व्यर्थ इति शोकं न कृत-
 वती, नत्वनासक्तिर्देहादाविति चेन्नैवम् । प्रतीकाराशक्तिं ज्ञात्वा प्रतीकारोपमं मा कुर्वात्,
 शोकाभावस्तु दुर्निवारः । यो देहो राज्यदशायापन्नेरुदेहपोषकः सर्वसम्पत्तिसम्पन्नः
 सर्वसुखसन्दोहनिधानमासीत्स एव देहः पश्चात्पारमेण गोपेन पोष्यः, सर्वसम्पत्ति-
 शुन्यः, सर्वदुःखनिर्धानमजनीति ज्ञापनाय गोपभार्यत्वेन निर्देशः । तथा च, पदार्थ
 धैर्यं त्यक्तव्यं ताः सम्पदश्चञ्चला इव चञ्चला इति । किमिति । सर्वदा स्यायिसकलपुरु-
 पार्थमत्तिसंरणपोषकं मनुष्यादपन्नं (कथं) परित्यक्तव्यमितिभावः । तथा च देहवता तद्वत्त-
 वद्वोपभार्यवत् स्वदेहादौ भाव्यमित्यर्थः पर्यवसन्नः । देहवता भाव्यमिति तृतीया-
 समासः । देहावता देहाभिमानवता तेन यत्किञ्चिदभिमानोपि संरक्ष्यः । तथा च
 भगवत्सेवादिविषयकः सर्वथा संरक्ष्यो, लौकिकविषयकस्तथाव्य इति भावः, यदा, देह-
 वतेति मनुष्याधिकारकत्वनियमो व्यावर्तितः । तेन पश्चादिशरीरेषेव भाव्यमितिभावः ।
 अत एव भरतस्य हरिणजन्मन्यप्यध्यासनिवृत्तिः । तदुक्तम्, तस्मिन्नपि काले समीक्ष्यमाणः
 सद्वाच भृशमुद्रिप्र आत्मसहचरः शुष्कतृणपर्णवीरुषावर्षमानो मृगत्वनिमिच्छावसानमेव
 गणयन्मृगशरीरं तीर्थोदकं किञ्चिदुत्ससर्जेति तस्मिन्पुण्ड्राभ्रमे । अथवा । त्रिदुःखसह-
 नमिति । भक्तिविरोधिदुःखनिवृत्त्युपायाकरणेन त्रयाणां कायिकवाचिकमानसिकानां
 दुःखानां देहापातपर्यन्तं सर्वेभ्यः सहनं धैर्यमित्यर्थः । स्वशरीरस्वीयवस्तुनोरासत्त्वा-
 धिक्ये दुःखाधिक्यसम्भवाद्दैर्यमशक्यं स्यादिति तादृश्यासक्तिर्न कार्येति दृष्टान्तेराहु-
 स्तकचदित्यादि । जडेन तुल्यं जडवन, तृतीयासपर्यादितिः । देह इव देहवत्, सप्तमी-
 समर्यादितिः । जडभरतेन स्वदेह इव देहेष्वासक्तिः कार्येत्यर्थः । गोपभार्यवद्वोपभार्यया
 तुल्यं, गृहे स्थितायाः स्त्रिया भरणीयत्वात् । भार्यात्वाभावाद्दस्तुत्वेन नपुंसकतानिर्देशः ।
 तद्वत्त्वदिति सप्तमीसमर्यादितिः । गोपभार्यया स्वतक इव स्वस्तुप्तासक्तिः कार्येत्यर्थः ।
 तेन स्वशरीरवस्तुनोनिर्वाहार्थमासक्तिं कृत्वा जडभरतेनेव भगवत्परतया स्थेपमितिभावः ।

ननु यदुक्तं त्रिदुःखसहनं धैर्यमिति तत्र यदि फदाचित् स्वत एव दुःखप्रतीकारः
 सिद्धस्तदापि किं तं प्रतीकारं निवार्य दुःखं सोढव्यमेवाहोस्वित्प्रतीकारेण तद् दुःखम-
 पोषम् ? इति सन्देहे निर्णयमाहुः प्रतीकार इति ॥

प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाप्रही भवेत् ।

भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥

पदछातः, अनापातेन चेद् यदि प्रतीकारः दुःखप्रतीकारः सिद्धः सम्पन्नः

स्वात्तदा आग्रही भवेदं दुःखं सोढव्यमेवेत्याहवाच भवेत् । इदमत्राकृतम्, अत्र हि भगवदाश्रयसिद्धयर्थं विवेकधैर्यं उच्यते । तेन त्रिदुःखसहनरूपं यद् धैर्यं निरूपितं तदपि यदि भगवदाश्रयनिमित्तं तदा कर्तव्यं, नोचेत्ययोजनं विना किमिति तत्कर्तव्यं ? 'न हि प्रयोजनमुद्दिश्य पन्तोपि प्रवर्त्तते' इति न्यायात् । अत एव केनचिदुक्तम् 'अनिषिद्धसुखत्यागी पशुरेव न संशय' इति । न केवलं प्रयोजनाभावमात्रं, प्रत्युत विपरितत्त्वमासुखस्य च । अत एव गीतासु भगवताप्युक्तम्, 'अशास्त्रविहितं धीरं तप्यन्ते ये तपोजनाः । दम्ब्यादङ्कारसंप्रुक्ताः कामरागबलान्विताः । कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्रामपचेतसः । माञ्जैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्वद्यासुरनिश्चयानि'ति । यदुच्यते इति, स्वयं तदर्थमापासो न कर्तव्य इति सूचितम् । तदर्थमापासकरणे स्वसर्वस्वप्रभुचरणारविन्दविस्मरणं यतः । 'भूमिनिन्दाप्रशंसा नित्ययोगेतिशयाने । संसर्गेरित्वति विवतापां भवन्ति मातृबादय' इति वाक्यान्विन्द्यायामिति प्रत्ययोत्र । तथा चासदाग्रहवात्र भवेदित्यर्थः । तेनायमर्थः पर्यवसतः । यदि किञ्चिदपि भगवतो भगवदीपानां वा कार्यं सिद्धयेत्, तदा स्वतः सिद्धेपि भतीकारे दुःखं सोढव्यमेव । तत्राप्रदस्यासत्त्वाभावात् । न हि येन भगवतो भक्तानां वा सेवा सिद्धयति, तस्य कदाचिदप्यसत्त्वं भवति । यतो नन्मनो लाभः स एव यत्रभगवतो भक्तानां वा कार्यसाधनम् । इदमपि ज्ञेयस्यापरिप्राकृद्देशाद्युत्पत्तेः । परिप्राकृद्देशायां यथा यथा स्वयं क्लेशं सोढ्वा भगवतो भक्तानां वा साधयति, तथा तथा परमसन्तोष एवेति दुःखमेव नास्ति किं सोढव्यम् ? । अभिपानस्यैव संसारत्यादपमानननितदुःखसहनमतिकठिनम् । तत्रापि स्वापेक्षाया हीनैः कृतोपमानसुतरां सोढुमशयः । तत्रापि स्वस्वाधीनैः कृत्वस्ततः सुतरां सोढुमशयस्तेन तत्सहने कदाचित्कस्यचिच्छिष्यकृता स्यादिति "त्रिदुःखसहनमि"ति सङ्क्षेपेणोक्तमपि पुनर्विशेषत आहुर्भाष्यादीनामिति । भाष्यां आदिर्येपामिति । सर्वे एव वाच्यवास्तेषामाक्रमं तच्छतविरस्कारं सहेत् । आसपन्वात्मजः पादमित्येव, शिरसि पादमहारपन्तमपि विरस्कारं सहेदित्यर्थः । पुत्रा अपि कदाचिद्दिभागादिना स्वतन्त्रा भवन्ति । भाष्यां तु केवलं भर्त्राधीनेति तद्वृत्तस्तिरस्कारो भर्तुरतिदुःसहनादद्योपि सोढव्य इति ज्ञापनाप प्रथमं भाष्याया निर्देशः । यथैतादृग्दुःसहोपि विरस्कारः सोढव्यस्त्वान्यसहने किं यक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायोपमनेन सूचितः । तथा च, प्रभुचरणनखिनपुगलसमाश्रयणाप किं न कर्तव्यमिति भावोपपत्त्यर्थः । यतोत्राप्यपनिरूपणार्थं विवेकधैर्यं निरूप्येते । यन्पुत्रापि एकस्य द्वयोर्वा सोढव्यो नास्ति, किन्तु स्वर्त्तव्यमिति ज्ञापनाय यदुवचनम् । ननु "यद्"दर्शने, इति भातोरमुदात्तेत्वात्सहेदिति परस्मैपदं कथं चहास्तीति चेद्, इत्यम् ।

“वक्षिद् व्यक्तायां वाची”त्यत्रेकारसत्त्वेऽपि ङकारग्रहणं यत्, तत् ङितामेवात्मानेर्धं नित्यमनुदात्तेतान्तु अनित्यमिति ज्ञापयति । तेन अनुदात्तेतां कदाचिद् परस्मैपदमपि भवति, अत एव पण्डितप्रवणेन बोधदेवेन कविकल्पद्रुमपाठुपाठे अयम् उभयपदयुक्तः । अत एव महाकविना शाकल्यभङ्गेनाप्यधिपत्समंतुयसहस्रयन्ताविकलो भवेति मयवानमशासी-दिति प्रयुक्तम् । अत एवानुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः इतिप्रयोगः । ननु उदासीनाश्चेत् केपि निरस्त्युस्तदा किं करणीयम् इत्याशङ्क्य, तत्रापि यदि तदसहने आश्रये कथना-न्तरायः स्यात्, तदा सोढव्यमित्याहुस्तथान्येषामिति । यथातिदुःसहोपि बन्धूनां तिर-स्कारः सोढव्यस्तयोदासीनानामपि तिरस्कारः सोढव्यः इत्यर्थः । ननु नीचश्चेत् षोपि तिरस्कर्तात् तदा किं कार्यमित्याशङ्क्य पूर्ववदेवाद्गुरस्तन इति । असतो जात्यादिहीनस्ये-त्यर्थः । यदि भगवत्सेवादिकं निर्वहति तदा तदर्थं म्लेच्छादीनामपि तिरस्कारः सोढव्यः इत्यर्थः । न केवलं तेषां तिरस्कारमात्रं सोढव्यं, प्रत्युत यदि तैः प्रभुसेवादिकं निर्वहति तदा बान्धवा उदासीना म्लेच्छादयश्च त्रयोपि अनुसर्तव्या इति चकारार्थः ।

यथा भगवदर्थमतिदुःसहोपि तिरस्कारः सोढव्यः, तथा प्रभुवरणसमाश्रयणाय प्रतिबन्धरूपः सर्वोपि सुखभोगः सुदुस्त्यजोपि त्यक्तव्य इत्याहुः स्वयमिति ।

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।

अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनान् ॥ ८ ॥

“स्वयं”पदात् श्रीमशुपसादत्वेन प्राप्तस्य विहितत्वेन प्राप्तस्य च मिष्टाप्तादेः परित्यागाभावः सूचितः । अतएव “स्वयंपभुक्ते”त्यादि । इन्द्रियकार्याणि सर्वेन्द्रिय-विषयभोगात् कायेन वाचा मनसा च स्वयं प्रयत्नेन त्यजेदित्यर्थः । अयमभिसन्धिः, “तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशये”दिति सप्तमे जारदबचनाज्जिस्तरं भगव-ज्ञानादिरेव परमपुरुषार्थः । अत एव “तस्माद्भारत सर्वत्रिभे”त्यादि । “तस्मात्स-र्वात्मना रामन् हृदिस्थं कुरु केशव । सिषमाणोऽपरहितस्तनोवाति पराङ्गतिम् ” । अतस्तत्साधक एव परमलाभकरस्तद्विधानक एव परमदानिहरः । यतश्चिन्तनादि-विच्छेदक एव परमदानिहरः । अत एव सा हानिः “कालोस्ति पत्र आपूर्णरति वै पुंसावित्यादि । भोगय स्मरणादिविधानकः । अतः परमदानिहरत्वेन भोगा-स्त्यक्तव्या इत्यर्थः ॥

नन्विदमसह्यतम्, तथादि, अन्येषां यथा तथास्तु, भक्तानान्तु विषया न बाधकाः । यतः सत्स्वपि विषयभोगेषु भक्तिरेव सर्वमाधिनास्ति । अत एव “बाधमानोपि मङ्गलकः” “अपि चेलुदुराचार” इत्यादि । अत एव मियत्रमहादाम्बरीपादीनामपि

राज्यादिकरणम् । न हि स्पर्शादिविपातकेषु ते प्रवर्तन्ते । अतः कथं भगवद्भावि-
पातका विषया इति चेत् ? स्वातुभवं जानन्नप्येवं वदन् निरपेक्षोसि । न हि त्वया भोगं
भुञ्जानो भगवच्चरणारविन्दामिनिविष्टचिन्तः कश्चिद्दृष्टचरः श्रुतो वा । ननु श्रुता एव बहवः
मियत्रतमभृतय इति चेत् ? रे मूर्ख ! तेषु भोगस्य नाममात्रम्, न हि ते विषयेष्वास्त-
क्तचित्ताः, किन्तु, केवलं मनुचरणपरापणा एव । अतः प्रभोराज्ञया ते राज्यादिकं
कृतवन्तो न तु भोगं भुञ्जानाः । नन्वनुभवेन कथं निर्द्धारः प्रमाणसम्पत्तिं विनातुभवत्व-
प्रमात्वयोः सन्देहादिति चेत् ? वत्स ! विपलापतिस्ते, यतः प्रमाणसम्पत्तिमपि श्रोतु-
कामोसि । अवहितः शृणु । प्रपन्नं तावद्दीनासु श्रीपद्मकुलजलधिसमुद्भूतश्रीकृष्ण-
चन्द्रोक्तमवधारय । तथाहि, 'विषयान्ध्यायतः पुंसः सङ्गस्तोषूपनायते । सङ्गात् सङ्गापने
कामः कापात् क्रोधोभिजायते । क्रोधाद्भवति सम्मोहः-रामोहात्स्मृतिविभ्रमः । स्मृति-
भ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणयति' । सङ्ग आसक्तिः, कामोभित्तापः, क्रोधः
कोपः, सम्मोहो विवेकाभावः, स्मृतिविभ्रमो भगवच्चरणविस्मरणम्, बुद्धिनाशः
सुबुद्धिनाशः, प्रणाशः स्वरूपलाभाभावः । शुकौ लीलामयेने वा स्वरूपलाभस्तदभावाः
संसारः । अत एव कपिनन्दैरप्युक्तम्, 'चेतः स्वरूपस्य बन्धाय मुक्तये चात्यनो मतम् ।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तय, इति । (भा-३-२५-१५) गुणेषु
रूपरसादिषु पञ्चास्वपि विषयेष्विति यावत् । अत एव 'मन एव मनुष्याणां
कारणं बन्धमोक्षयोर्हि' इत्यपि । अत एव विषयाविष्टचित्तानां कृष्णायेशस्तु द्रव्यं
इत्यपि । भोगेष्वपि स्त्रीसंभोगः सुवरां वाषकः, तत्संगमेव बुद्धिविषयांसर-
त्वात् । अत एव कपिनन्दैरपि 'न तथात्प भवेन्मोह' इत्याद्युक्तम् । 'भोगान्स्-
न्यय्य यः सर्वांश्च जातु काम' इत्यादि यथातिरचनम् । 'महत्सेवाद्वास्था' रिरपादि ऋष-
भवारण्यम् । ननु तर्हि 'वाध्यमानोपि मद्रक्त, (भा. ११-१४-१८) इत्यादिना रिष-
याणाववाधस्त्वं कथमुक्तय इति चेद् ? अयं वदामः । केवलं भजनं कुर्वाणः कदाचिदि-
न्द्रियनिग्रहं कर्तुमशक्तनुवन्वियथैः स्ववशः क्लिश्यते, तस्याश्रयर्थे भगवान् सप्तम इति ।
न तस्य तत्वापभोगो भवति । अत एव कृपवाहं तथा सन्वाद्यामीति ज्ञापयितुं स्वग-
यातज्ञापकं 'मद्रक्त' इति पदमुक्तवान् । अत एव 'जिनेन्द्रिय' इति तस्याऽर्थात्
(दृष्टा) द्रवापां हेतुमुक्तवान् । अजिनेन्द्रियः इन्द्रियमयं कर्तुमशक्तः । ईश्वरः केनापि
न नियन्तुं शक्य इति कदाचिदेतादृशोपि न क्षपां करोति, तथा तेन पापेन सोभिभूयत
एवेतिशाय इत्युक्तम् । प्रायो काहुत्वेन नतु सर्वथा निषयः । भक्तिरपि प्रगल्भा चेद्दर्शय माता
भवति, नोनेत्र सप्तने । तेनैवं पदयोजना, इन्द्रियमयं कर्तुमशक्तः सन्निर्वयैवो यो मद्रक्तः स
विषयैः पराजितो न भवति परवशा मत्तया । तथा च अनेनापि भक्तिरचरोचरस्यपि फा फापां,
यावत्तदस्यमिन्द्रियनिग्रहश्च पदेष्व इति सूचितम् । यदा, पूर्वमजिनेन्द्रियः सन् त विषये-

वाध्यमानोपि, यदा तन्सर्वं परित्यज्य प्रगल्भमक्तिपान् भवति तदा नाभिभूयत इति । अथवा, प्रौढियकारमेव प्रसुराह 'वाध्यमानोपो'ति । तथाहि, प्रसुरेधाप्यङ्गीकरोति मर्षाद्या पुष्ट्या च । तत्र पुष्ट्या ययङ्गीकरोति स नाभिभूयते, प्रगल्भया पुष्टिभार्गीयया । एवमङ्गीकारे निमषामावात्प्राय' इति । यथा राजानोतिकृपाशानाय यत्किञ्चिदपि कार्ययकुर्वाणायापि सर्वस्वं ददति, तस्य सहस्रमप्यपराधान्न मन्पन्ते, गालिदानेषु परिडाप्तं मन्यन्ते । अन्यस्मै च कार्ययकुर्वाणाय किमपि न मन्पच्छन्ति, उच्चैर्भाषणेपि दण्डं विदधति, इत्तन्त्रा एतः, तथा भगवानपि यस्मै अतीव क्लृपयति तस्मै निःसाधनायापि सर्वस्वं ददति, तस्य सहस्रमपि दुराचारात्न मनुते । यत्र क्षुद्राः स्वम्बण्डलाधिपतयोपि स्वैरधारिणो भवन्ति, तत्र किं वाच्यं त्रिभुवनपरिवृष्टस्य पुरुषोत्तमस्य स्वच्छन्दाऽऽवरणे । यद्यपि मधुः कदाचित्साधनं नापेक्षतेपि, तथापि मर्षादा कदापि कस्वापि न हेया, किन्तु कार्यैव । सर्वेषां प्रभोरिच्छा दुर्ज्ञेया, एतः को वेद भगवान्कथं वा मनुते, कदाचित्मधुः लोकसद्बुद्धार्थमपि कारयति, कदाचिदेवमपि । अतः कल्पे न वाचकमकरणे तु कदाचित्मधुकोपोपि सम्भावितः । तस्मात् "पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय" इति न्यायेन करणीयैव मर्षादा । यदि च मर्षादात्प्रागे प्रभोरिच्छां जानीयाच्चदा त्यागेपि न क्षतिः । अत एव गुर्वादिइननं विदधानोपि पार्थो न दोषभाग् जातः । यदा च ज्ञानस्य भक्तेर्वा प्राजुर्येण देहायनुसन्धानमेव निवर्त्तते तदा त्यागे न दोषः । अत एव नृपभदेवजडभरतादीना तर्षनाऽऽचरणम् । यदा च भगवद्गार्वादिषु ष्यसनें स्याच्चदा ज्ञात्वापि मर्षादात्प्रागे न दोषः । अत एव "तावत्कर्माणी"त्यादि । यदा च तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते तदापि न दोषः । अत एव "पि चेदसि पापेभ्य" इत्यादि । तस्मात्पञ्चवपयिन्द्रियनिग्रहः कर्त्तव्य इति सिद्धम् । अत एव "सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च" ।

तत्र मगवदिच्छया यदा भविष्यति तदा भवत्विति प्रकारकमालस्यं न कार्यं, किन्तु स्वयमुग्रम्येन्द्रियनिग्रहः कर्त्तव्य इति ज्ञापनाय स्वयमिति ॥

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।

अशूरेणापि कर्त्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावात् ॥ ८ ॥

बहुवचनेन सर्वेन्द्रियभोगस्तपान्य इति सूचितम् । यदा, भोगान्त्यज्यन्तमन्यं दृष्ट्वा कदाचित्कथिदालस्यं कुर्यात्तत्राहुः स्वयमिति, अन्यस्तपन्तु, वा वा, स्वयन्तु स्वनेन्द्रियार्थः । न क्षन्त्यापकर्षं दृष्ट्वा स्वयमप्यपकृष्टेन भाव्यं, त्रिन्वन्यत्रोत्कर्षं दृष्ट्वा स्वयमुत्कृष्टेन भाव्यम् । अत एव तैत्तिरीयोपनिषत्पञ्चाचार्येण शिष्यशिक्षणकारे "यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणी"त्युक्तम् । भोगस्य सामर्थ्या सत्या र्थेप दुष्करमिति पूर्वमेव सामर्थ्यमेव न सम्भादयेदिति ज्ञापनापेन्द्रियकार्याणीति ।

अन्यथा "भोगोऽस्त्वजैर्दित्येवोक्तं स्यात् । अत्र एव "मात्रा स्वप्ने"त्यादि । तेन समूलपातं भोगं इत्यादिति पर्यवसितोर्थः । अत एव शब्दादीनिपर्यास्त्यतपेत्यादि । त्यागे प्रकाशमाहुः कार्येति । कायेन वाचा मनसा चेत्यर्थः । इन्द्रसमाप्तोयम् । "सर्वो हि इन्द्र" इत्येकवज्रावः । यद्वा, "कायवाग्म्यां सहितं यन्मन" इति षष्ठ्यमपदलोपी समाप्तः । तेन कायवाचोर्गौणत्वं तृतीयया सूच्यते । तथा च गुरुषो मानस एव त्यागः । कायिको वाचनिकश्च गौणः । अत एव गीतासु "कर्मेन्द्रियाणि संप्रमये"त्यादि । नन्विदमखिलमशत्रुमित्र भाति । यतः कठिनतम इन्द्रियनिग्रहः । अत एव गीतासु, "इन्द्रियाणि प्रमाथीनी"त्यादि । उपदेशश्चासम्पन्नः । न हि शास्त्रप्यशक्यमुपदिशति । अतः कथमुपदेश इति चैवज्ञाहुरशुरेणापीति । अशुर इन्द्रियनर्पं कर्तुमशक्तः । तादृशो-नापि यथाशक्तीन्द्रियदमनं कर्तव्यम् । तत्र हेतुः, स्वस्येति भावनात्, विचारणात् । अयमभिसन्धिः । यदि जीवः स्वपं सदोपाभिसाकर्तुं समर्थः स्यात्तदा पर्यादोल्लङ्घनेन जनितदोषाभिवार्य सुखी स्यात्, परन्तु, स्वयमसमर्थः न होश्वरपर्यादां मनसाप्यन्यथा भावयितुं कोपीति । अत एवेशस्य हि कोलोक-इत्यादि । तथा च, विचारे क्रियमाणे निग्रह एयेन्द्रियाणां कार्यः । अत ए"वेन्द्रियाभिविनिर्माह" इत्यादि विचारश्चावश्यकः । न हि विना विचारं कोपि कुत्रापि प्रवर्त्तते । "न हि मयो जनमनुदिश्य मन्द्रोपि प्रवर्त्तते" इति न्यायात् । ह्यस्तत्राख विवेकी । पदसम्बन्धस्तु, स्वस्यासामर्थ्यविचारणादशुरेणापीन्द्रियनिपयने कर्तव्यमिति ॥ ८ ॥

नतु निग्रहः सर्वथावश्यक इति सत्यं, परन्तु यदि कथमपि कर्तुं न शक्नोति तदा किं तस्य नाश एवाहोस्तिकथञ्चिन्निस्तार इत्याशङ्कायापाहाशङ्क्य इति ।

अशक्त्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।

एतत्सह नमत्रोक्तमाश्रयोतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

अशक्त्येर्षं हरिरेवास्ति । रक्षक इतिशेषः । तत्र हेतुः, सर्वमिति । आश्रयतः भगवदाश्रयं कुर्यातः पुरुषस्य सर्वं भवेत् । आश्रयन इति पद्यपी वा । इत्यत्राहुवत्, यदि सर्वपाश्रयं ज्ञाना केनने भगवत्कृपेनेन भावयति तदा दयया भगवनेन तस्य सर्वं साधयति, अतो भगवदाश्रयात् सर्वसिद्धिः । अत एव "पितृान-हृणे"त्यादि । अतो न तस्य नाशः । अत एव "बौतेष्य प्रतिनानां"त्यादि । सर्व-दुःखहरां हरिः । तेन दीने परमदयालुरित्यस्य कार्यं साधयतेति ज्ञानाय हरिप-दम् । एव वारिगान्यन्वयः । न शक्यः सर्वेषां सर्वदुःखानि निवार्य सर्वानन्दं दातुं शक्तः । एवं सर्वपाश्रयते रक्ष इत्येन भगवद्भावनमपि गौणः पक्षः । मुष्पयते तु भगवान् किमपि करोतु, एतेन तज्जावनमपि न कर्तव्यम् । न देशानपि सद्दोषः प्रयो

दातुमुचित इति ज्ञापनाय रक्षक इति विधेयपदस्याभययोग एव, किन्त्वध्याहारः ।
 “ब्रह्मवर्षेपकामस्त्वित्वादिवाचपात्मतिनियतकार्यसाधका अन्ये, भगवांस्तु सर्व
 साधयति, “अकामः सर्वकामो वे”ति वाक्यात् । तदाहुः सर्वमिति । अत एव
 “किमन्वभमि”त्यादि । आश्रयत इत्यासमन्ताद् श्रयतः सेवां कुर्वतः “श्रिञ्जेवापां,”
 सेवा च चित्तस्य तदेकपरता, “चेतस्तत्त्ववगमि”ति लक्षणात् । तदनुकूला च या काचन
 कृतिः, सा सर्वापि सेवैव । अत एव “मानसी सा परायते”ति । तादृश्येव च कृतिः
 सन्तोषजनिका, सेवा च सन्तोषजनिकैव । “यद्भवे”ति वाक्यात् । लोकेपि तात्पर्य-
 पूर्विकैव कृतिः सन्तोषजनिका । तथा च, स्वज्ञानानुसारेण मनुसन्तोषजनिकां ज्ञात्वा
 निरन्तरं कृतिः कार्येति सिद्धम् । शतृपत्पयेनाश्रयत्यागे किमपि न सिद्धपती-
 त्यप्यसूचि । अत एव “पतन्त्य गोऽनाहत युष्मदहम्रण” इत्यादि । अशक्य इति पदाच्छ-
 वयत्वेऽश्रयमिन्द्रियनिग्रहः कर्तव्य इति सूचिनम् । शकौ सत्यां भवार्दोलङ्घने मनुष्ये
 क्रुद्धयति । अशक्यत्वे दयाविष्टः सन्सर्वमेव साधयतीति निगर्वः । अत एव सकलदुःख-
 दूरीकरणज्ञापिनपरमदयालुत्वज्ञापकं हरिपदं प्रयुक्तवन्तः । अत एव “समस्तदुःखस्य-
 माशुभच” इत्यादि । मनुष्यक्रमे त्रिदुःखसहनं धैर्यमित्युक्तम्, उपसंहारे च विषयभोग-
 रूपसुखस्य त्याग उक्तः तथा चोपक्रमोपसंहार विरोध इत्याशङ्क्य निराकुर्वन्त उपसंह-
 रन्त्येनादिति । अत्र धैर्यप्रकरणे एतद्विदुःखसहनमित्यारभ्य यन्निरूपितं तत्सर्वं
 सहनमेतेतेकमित्यर्थः । न हि दुःखमसोद्भा भोगत्यागः कर्तुं शक्यते, तेन भोगत्यागे-
 नापि पर्यवसन्नं दुःखसहनमेतेतेकमिति नोपक्रमोपसंहारविरोधः । नन्विदं न सहच्छते ।
 तथा हि, भवद्भिः सहनमेव धैर्यमुच्यते, तथासङ्गतं, वचनविरोधात्, वचनेषु सर्वत्रोभयो-
 भेदात् । तानि च “तेजो बलमि”त्यादीनि । अत एव श्रीमदुद्धवैः पृष्क पृष्टं, श्रीमद्य-
 दुवंशजलधिरत्नेनापि तथैवोत्तरितम् । तस्मादुभयोरैव कथं घटत इति चेद्, अत्र वदामः ।
 अन्यत्र यथा तथास्तु, अत्रास्मिन्मध्ये एतद्वैर्षमेव सहनमुक्तं न तु भिन्नमिति पद-
 सम्बन्धः । वस्तुतस्तु द्वयोरैक्यमेव । उक्तप्रश्नोत्तरयोर्भिन्नतया कथनन्तु अवस्थामेदमा-
 श्रित्य । नतु क्षमाधृत्योर्भेदः । अत एवोत्तरे ‘तितिसा दुःखसम्भर्श’इति सामान्यतः
 सहनमुक्तम् । ‘जिह्वोपस्यजयोष्टतिरिति विशेषतः । न हि जिह्वोपस्ययोर्यस्तदुभय-
 सम्बन्धिदुःखसहनान्द्वयोस्ति । ये हि तदुभयजयनिमित्तं यन्ते ते तयोर्निर्महे क्रियमाणे
 जिह्वाविषयस्य सुखादन्नादेरुपस्यविषयस्य रुचादेरलाभेन यद् दुःखमापन्नते, तस्वीदश-
 मपि कठिनं सहन्ते नन्वभ्यत् किञ्चि कुर्वन्ति । यथा यथा चाभ्यासस्तथा तथाऽनायासेन
 सहन्ते । अत एव गीतासु क्षात्रस्वाभाविककर्मसु “शौर्यं तेजो धृतिर्दास्यमि”ति धैर्यं
 गणितम् । न हि जिह्वोपस्ययोर्ययः क्षत्रियाणां सहनो धर्मः, किन्तु, दुःखसहनमात्रम् ।
 अत एव गीतासु, (११) “धृति न विन्दामि गीतासु (१८) “धृत्या यथा” । उदेशकमासु-

सारेणाश्रयमाहुराश्रयोत इति । अत इति ल्यबन्धोपे पञ्चमी । अत इदं द्वयं निरूप्येत्यर्थः ।
 तेनैवं पदसम्बन्धः । अतः विवेकधैर्यं निरूप्य तदनन्तरमाश्रयो भगवदेकशरणत्वं
 नितरां विविच्य रूप्यते कथ्यत इति । तथा चातः परमाश्रयो निरूप्यत इत्यर्थः ।
 यद्वा, हेतौ पञ्चमी । अत आभ्यां विवेकधैर्याभ्यां हेतुभ्यामाश्रयो निरूप्यत इत्यर्थः ।
 यद्यपि भगवदनुग्रहं विना नाश्रयः सम्भवति, तथापि, यदा साधनद्वाराङ्गीकरोति
 तदा विवेकधैर्येण साधने । अत इति सदायं तृतीया । सार्वविभक्तिकस्तसिद्ध ।
 तथा च, विवेकधैर्याभ्यां सदाश्रयो निरूप्यत इत्यर्थः । तृतीयया विवेकधैर्य-
 योरमाधान्यं, प्राधान्यं चाश्रयस्यैवेति निरूप्यते । अथवा, एतद् विवेकसहितं सहनं
 धैर्यमत्रास्मिन्त्रये उक्तं कथितम् । अतो हेतोराश्रयो निरूप्यते अपमभिसन्धिः ।
 आश्रयनिरूपणार्थमङ्गत्वेन विवेकधैर्ये उक्ते, तेन यदाश्रयो न निरूप्यते, तदा विवेकधैर्य-
 निरूपणं व्यर्थं स्यात् । तथा चैवं पदसम्बन्धः । यतः कारणादाश्रयनिरूपणार्थमङ्गत्वेन
 विवेकधैर्ये उक्ते, अतो हेतोर्विवेकधैर्ययोनिरूपणस्य सार्थकत्वाय विवेकधैर्यनिरूपणान-
 न्तरमाश्रयो निरूप्यत इति । बुद्धिस्यवाचकत्वात्सर्वनाम्नां पूर्वं च विवेकसहितमेव धैर्य-
 मुक्तमिति विवेकसहितमेवैतत्पदेनोच्यते । यदा, एतद्विवेकसहितं सहनं धैर्यम्, अत्राश्रये
 उक्तमभिहितमतो हेतोस्तदुभयनिरूपणानन्तरं यत्रेदं द्वयं निरूपितं स आश्रयो निरू-
 प्यत इति । तथाहि, अत्र हि भगवदाश्रये क्रियमाणे यादृशे विवेकधैर्ये अपेक्षिते तादृशे
 निरूपिते, स आश्रयस्तदुभयनिरूपणानन्तरं निरूप्यत इति । आश्रयः आसन्नतात्
 श्रयः सेवनम्, श्रित्सेवायाम्, अस्मात् घञ् । सेवा च चित्तस्य तदेकपरत्वम्, अत एव
 “चेतस्तत्त्ववर्णं सेवे”ति लक्षणमुक्तमाचार्यैः । यद्यपि, मनोवाग्देहेः सेवा त्रिविधा,
 तथापि, मुख्यया मनोव्यसनरूपस्नेहात्मिका । अन्वा तु सेवा तत्साधनरूपा । अत एव
 “चेतस्तत्त्ववर्णं सेवे”तिलक्षणमुक्त्वा “तरितसद्द्वै तनुवित्तजे”ति सेवान्तरस्य तत्साधन-
 त्वमुक्तम् । मनोवचनरूपायास्तु “मनसी सा परा मते”ति लक्षणात् । अत एव
 भक्तिरिच्छुच्यते । श्राण्डिल्यसूत्रे “सा परानुरक्तिरीश्वर” इति लक्षणात् । अत एव
 गारदपञ्चरात्रे “स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्त” इति लक्षणमुक्तम्, तत्र माहात्म्यज्ञानपूर्वकं
 तु अपराधनिवृत्त्यर्थम्, न तु लक्षणे प्रविष्टम् । ध्वणादिलक्षणा तु भक्तिरस्याः साधन-
 रूपः, अत एव ‘भक्त्या सञ्जातया भक्तये’ति । अतः सेवामार्गो भक्तिमार्गश्चैव एव ॥९॥

प्रतिज्ञातमाश्रयं पश्यन्तुष्टयेन लक्षयन्ति, एहिक इत्यादिना ।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥ १० ॥

भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तेश्चातिक्रमे कृते ।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥

अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।

पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

एवं चित्त इत्यनेनान्वयः । “मुख्यो मानस” इति पूर्वमानसोक्तिः । तत्र सङ्क्षेपत आश्रयस्वरूपमर्द्धेन पद्येनाहुरैहिक इति, ऐहिके इह लोक सम्बन्धिनि, परलोके परलोकसम्बन्धिनि कार्यमात्रे सर्वथा सर्वैः प्रकारैः हरिः श्रीकृष्णः शरणं रक्षकोस्तु । एवं चित्ते सदा भाव्यमित्यग्निमेणान्वयः । रक्षणं चात्र हितकारित्वं, न तु प्राण-रक्षकत्वमात्रम्, लोकेपि महाशास्त्रुपस्थितौ धनादिमोषे वा उपस्थिते तस्माच्चिद्वारणे कृते अनेनायं रक्षित इति प्रयोगः । तेनैहिकपारलौकिकयोर्यथोः सर्वैः प्रकारैस्त्वमेवास्मद्वि-तकारी भवेति प्रार्थना । जीवाः प्रायेण स्वस्य हितमपि न विदन्ति । हितज्ञानेऽपि प्रबलेषु स्वदोषेषु विद्यमानेषु प्रबलेः प्रत्यूहेः कृत्वा स्वहितं कर्तुं न शक्नुवन्ति । तस्मात्त्वमेव सर्वान्दोषाच्चिद्वार्यं हितं साधयेति भावः कटाक्षितः । केचनैतादृशा ये किमपि न प्रार्थयन्ते, उच्यमानश्च त एवेत्यपि ज्ञापयितुमस्त्विति प्रार्थनार्थकक्रियापदस्याप्रयोगः । नन्वेतादृशाः के सन्ति, येयावैहिकं पारलौकिकं च किमपि न प्रार्थनीयमस्ति । न हि परमविरक्ता अपि पारमार्थिकाद्विरज्यन्त इति चेद्, अत्र वदामः । येषां प्रभुचरणारविन्दे व्यसनमस्ति ते मुक्त्यादिकमपि नेच्छन्तीति पारमार्थिकमपि न प्रार्थयन्ते । अत एव “न नाकण्ठं” “नैकात्मतामि”त्यादिवचनानि । ननु ये मुक्तिं न चाच्छन्ति, तेषि प्रभुचरणारविन्दा-नुरागरूपां भक्तिं चाच्छन्त्येव, न हि भगवदीयास्ततोपि निरपेक्षा भवन्ति । अतः सा भक्तिरेव परमार्थिनी प्रार्थनीयास्तीति प्रार्थनानिरपेक्षाः सर्वदुर्लभा इति चेत्, सत्यम्, दुर्लभा एव, कः सन्देहः, परन्तु, दुर्लभा एव, नत्वलभ्याः, तथाहि, ये चरणारविन्दे व्यसननिनस्ते ततोपि निरपेक्षाः । यदि तावदप्यपेक्षितं स्यात्तदा तद्व्यसनमेव न स्यात् । व्यसनं हि तदेव यत्र तद्दिना स्यात्तुमेव न ज्ञातोति, इदमेव (व्यसनं) तत्र प्रवृत्तिनिमित्तं, नत्वन्यत् किञ्चिद् । अत एव लौकिकेपि घृणादौ ये व्यसननिनस्ते स्या-तुमशक्ता एव तत्र प्रवर्तन्ते, नत्वन्यन्निमित्तमस्ति । ननु धनागैव निमित्तमस्तीति चेत्, रे हृदयशुन्य ? यदि धनागैव निमित्तं स्यात् तदा घृष्टुर्घृष्टुः पराजिता अपि कथं प्रवर्तेरन् ? । सन्देहादेव प्रवर्तन्त इति चेत्, ज्योतिर्विद्भिः समूल्यातं सन्देहे इतेपि प्रवर्तन्त एव । न ह्युपायसहस्रेणापि तत्तद्व्यसननिनः कथमपि तेभ्यो निवर्तन्ते क्वचित् । किञ्च, इदमपि घुते आर्थाङ्कितं स्यात्, व्यसनान्तरेषु का गतिः, न हि पापद्विपरायणा वैरेयमत्ताः परदाररताश्च धनाशया प्रवर्तन्ते, प्रत्युत शम्भलीशुक्तसर्वस्वास्ते । तस्माच्चरणारविन्द-

व्यसनिनोपि निमिचनिरिपेक्ष एव, अत एव ऋषिलक्षणेनापि “अनिमित्ता भाग-
वती”ति फलभक्तिलक्षणं युक्तम् । यदि किमपि निमित्तं तत्र विद्यते तदा अनिमित्तत्वं
कथं वदेत् ? अत्रे च “अहेतुव्यव्यवहिता या भक्तिः सुरुपोत्तमे” इत्युक्तम् । “कुर्वन्पदैतु-
किमपि” । अत एव कौण्डिन्यप्रभृतयस्तयाभूताः । अत एव ब्रजवासिनामपि तथा
भावः । ननु यदि व्यसनिनः किमपि न प्रार्थयन्ते, सर्वनिरपेक्षत्वात् तदा ब्रजवासिनः
कथं प्रार्थितवन्तः ? न हि तदपेक्षयाप्यन्ये व्यसनिनः सन्ति, “क्षणं युगशतमि-
वे”त्यादि वाक्यात् । प्रार्थयति च तेनारतमेव । ननु कैरुक्तं तैः प्रार्थयत इति ? शुक्ला-
दिभिरेव । कुत्र ? श्रीभागवतादावेव । तथाहि, ॥ १२ ॥ “राम ! राम !” ॥ १६ ॥
“कृष्ण ! कृष्ण !” ॥ २० ॥ “राम ! राम !” ॥ “कृष्ण ! कृष्ण !” ॥ २६ ॥
“मैवं विभो” ॥ ४४ ॥ “मनसो वृत्तयः” ॥ ७९ ॥ “आहुय ते,” इत्यादिषु
तत्कर्मकार्थना श्रूयते । न च तत्र प्रार्थनं किन्तु, कथनमात्रमिति वाच्यम्, “इति
विज्ञापितो गोपैरि”त्यादि शुकोक्तिव्याकोपात् विज्ञापनं प्रार्थनमेव, अपि च, अन्ये तु
मुक्त्यादिनिमित्तं प्रार्थयन्ते, न त्वैहिकनिमित्तम् । एते तु क्षुधादिनिवृत्त्यर्थमपि प्रभुं
प्रार्थयन्ते । अल्पतमे क्षुन्निवृत्त्यादावपि यदि प्रभुं प्रार्थयन्ते तदा किमुवाच्यं महति कार्ये,
यत्र निरूपमनिरूपधिनिरवधिसिद्धिधा ब्रजवासिनोऽसन्नप्रार्थयन्ते तत्रान्यः को वा सनाथः
स्वनाथं न नाथेत् । तस्मादपार्थः प्रार्थनारहितान्येवणमपास इति चेद्, अत्रोच्यते ।
प्रथमं वाक्यप्रार्थनास्वरूपं विचारय, प्रार्थना नाम कः पदार्थः । ननु ममेदमपेक्षितमित्यपे-
क्षितकथनं प्रार्थनेति चेत्, न, राज्ञः सेवकं प्रत्येवं वचनमपि प्रार्थना स्यात्, न हि सा
प्रार्थना, किन्त्वाज्ञा । तथा मित्रं प्रति अन्यं कश्चिदुदासीनं प्रति तादृग्वचनमपि
प्रार्थना स्यात् । न हि सा प्रार्थना किन्तु, कथनमात्रम् । ननु तस्य प्रार्थनात्वे
किं बाधकमिति चेत्, प्रयोमाभावा एव, न हि तत्र राज्ञा मित्रेण वा इदं प्रार्थयत
इति कश्चित्प्रयुञ्जे । ननु लाभहेतुकं वचनं प्रार्थनेति चेत्, न, प्रार्थनानन्तर लामे
तद्वचनस्य प्रार्थनात्वं न स्यात् । लाभरूपकार्याभावेन पूर्ववर्तित्वादिरूपकारणत्वा-
ऽभावात् । न च सा न प्रार्थनेति वाच्यम्, प्रार्थितमनेन न दत्तमिति प्रयोगात् ।
ननु लाभेच्छया वचनं प्रार्थनेति चेत्, न, प्रजाभ्यो धनं सुश्रुतामिति राजाज्ञाया
अपि प्रार्थनात्वमसद्भावात् । करादिसञ्ज्ञया प्रार्थने अद्याप्येति । न च तत्प्रार्थनमेव न
भवतीति वाच्यम्, इस्तेनायं याचत इति प्रयोगात् । शृङ्गीतमौनप्रवस्य भोजनादावपि
तथात्वात् । स्यादेतत् । न वयं वचनपर्यन्तं वदामः, किन्तु लाभेच्छया यत्क्रियते तत्सर्वं
प्रार्थनेति, तस्मात्प्रार्थयामः प्रार्थनेति चेत्, मैवम् । एवमप्याप्पासिन्वावर्चनेपि
राजाज्ञायामपिर्ष्यासिर्विजलेपायितैव । ननु दयोत्पादकं वचः प्रार्थनेति चेत्, मैवम् ।
शृण्वतां दयोत्पादकं “दुष्टमेनमाशु मारये”ति महादारुणवचसोपि याश्चात्वमसद्भावात् । ननु

सम्बोध्यस्य दयोत्पादकं वचः प्रार्थनेति चेत्, न, आत्रस्तस्य दयालुत्वे उक्तवचने-
ऽतिव्याप्तेः । निर्दयं प्रति प्रार्थने व्याप्तेश्च । अश्रवणे चाव्याप्तेः । न चेदं द्वयमपि न
याञ्चेति वाच्यम्, निर्दयोपमेतत्प्रार्थनां न मनुते, व्यग्रोपमेतत्प्रार्थनां न शृणोतीति च
प्रयोगात् । ऋञ्च, “अयं देवदत्तो भृशमक्लेशीदि”ति प्रासङ्गीकोक्तावप्यतिव्याप्तेः ।
अयं स्वस्मिन्सम्बोध्य दयोत्पादकं वचस्तथेति चेत्, न, “सखे भृशमहमक्लेशिपमि”-
तिवृत्तत्तान्तवचनेऽतिव्याप्तेः । न हि सुहृत्केश्रवणेपि नाजुकम्यते मनः । अयं दयार्थ-
शुक्तिः प्रार्थनेति चेत्, न, किं स्वस्मिन्दयार्थमाहोस्वित्तरस्मिन्नुत सामान्यतः । न
प्रथमः । परार्थं प्रार्थनेऽव्याप्तेः । न द्वितीयः । स्वार्थं प्रार्थनेऽव्याप्तेः । न तृतीयः ।
“निर्दयमेनं सदयं बुर्वि”त्युक्तेन देवदत्तेन पूर्वराजकयादिभिः कृते क्रूरराजप्रबोधनेऽति-
व्याप्तेः । न च या च नैव सेतित्राच्यम् । राजानमयं पुराणादिभिः प्रबोधयतीति
व्याचत इत्यपि प्रयोगापत्तेः । तस्मात् प्रीपांसितव्यमेवैतदिति चेत्, न, धात्वर्थविचारेण
याचनैव प्रार्थना, न च राजादिवचनादावतिप्रसङ्गः । तत्राप्यकर्पाद्यभावेपि प्रार्थना-
त्वस्येष्टत्वात् । अत्र निरपेक्षत्वमपि भगवत्स्वरूपभजनातिरिक्तनिरपेक्षत्वमेव । न हि
भगवदीया भगवति निरपेक्षाः, तथा सति ज्ञानमार्गीपातात् ॥ १३ ॥

शरणसिद्धयर्थमाहुरन्यस्येति ।

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।

प्रार्थनाः कार्यमात्रेपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥

देवान्तरस्य भजनं, तत्र देवान्तरसमीपे मार्गवशाद्यभावेपि स्वेच्छया गमनम्,
चकारात्तदर्थमन्यभरणं च विवर्जयेत् । भगवति च कार्यमात्रे अल्पेपि कर्त्तव्ये अथवा
सर्वेषु कर्त्तव्येषु प्रार्थना वर्जयेत् । अत्यशक्यार्थे प्रभो प्रार्थनायां कृतायामपि मुहुः प्रार्थना
न कार्येति बहुवचनम् । तथा प्रभुवद् अन्यत्र देवान्तरं प्रार्थना विशेषण वर्जयेत् ॥ १४ ॥
नन्वेवं सति कथमिष्टमिद्धिः? प्रभुरपेक्षितं कुर्यान्न वेति चेत् तत्राहुरविश्वास इति ।

अविश्वासो न कर्त्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।

ब्रह्मास्त्रचातको भाव्यो प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥ १५ ॥

भक्तिमार्गे अविश्वासो न कर्त्तव्यः, “ये यथा मां प्रपद्यन्त ” इति वाक्यात्,
सः सर्वथा बाधकः । विश्वासस्तु कर्त्तव्यः । जनयोः (विश्वासाविश्वासयोः) क्रमेण
बाधकत्वसाधकत्वयोर्ब्रह्मास्त्रचातको भाव्यावनुसन्धेयौ । लङ्कायां राक्षसैर्ब्रह्मास्त्रेण
बद्धो हनुमान् च नितवान्, ततस्तैरन्यैः पाशैर्बद्धमारण्यो ब्रह्मास्त्रे राक्षसानामविश्वासं दृष्ट्वा
स्वयमपि ब्रह्मास्त्रपर्यादाद्बद्धश्च ततश्चलितवान् । ततो ब्रह्मास्त्रं व्यर्थमभूत् । एवं भक्तिमार्गाऽ-

विश्वासे भक्तिमार्गीयं सर्वं व्यर्थं भवति । चानकः पक्षिचिरोपः, स्वातिर्वैर्षिष्यति स्वाति-
जलमेव मया देवमिति विश्वासेन महद्दग्धत्वं जलं विहाय तिष्ठति, तदर्थं स्वातिर्वैर्षि-
सं पिवति । एवं भक्तिमार्गे हरिः सर्वं करिष्यतीति विश्वासेन भक्तिमार्गमर्पादां
गृहीत्वा पस्विष्ठति, तस्य योगक्षेमनिर्वाहं प्रभुः करोति, “तेषां निस्थाभिपुक्तानां योग-
क्षेमं ब्रह्मायदमि”ति वाक्यान्न । सर्वं भगवत एव, अहं भगवदासो भगवदचमेव भगवते
समर्पणाधीति मत्त्वं स्पष्ट्वा प्राप्तं सेवेतेत्याहुः प्राप्तं सेवेत निर्मम इति ।

नन्वेवं मत्त्वाभावे भगवत्कार्यातिरिक्तं कार्यं न कर्तव्यमिति चेत्त्राहुर्यथा-
कथञ्चिदिति ।

यथाकथञ्चित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।

किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ॥ १६ ॥

उच्चावचान्यनेकप्रकारकाणि, वैदिकानि लौकिकान्यप्यविरुद्धानि कार्याणि ।
यथा कथञ्चिद् न विस्तारेण कुर्यात्, व्यवहारोपयोगित्वाद्, व्यवहारस्य परम्परया
भगवद्भक्तोपयोगित्वादिस्वार्थैः । क्रियन्तः प्रकाराः वक्तव्या इति सङ्क्षेपेणाहुः किं वा
प्रोक्तेन बहुनेति । सर्वभिर्न मम निस्तारः, किन्तु, भगवदात्मया कृतेः भगवान्यसक्तः
शरणं भवतिवति भक्तप्रेदित्वाद्येनाहुः शरणं भावयेद्धरिमिति ॥ १६ ॥

नन्वाश्रयनिरूपणेऽप्यस्य भजनवर्जनादिकं किमित्युक्तमित्याहुः घाहुरेवमाश्रय-
णमिति ।

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥ १७ ॥

इति श्रीमद्वैश्वानरश्रीबल्लभाचार्यचरणविरचितो

विवेकधैर्याश्रयः सम्पूर्णः ।

“यावदन्वाश्रयस्तावद्भगवानपि ते जनम् । आलोकयेत् कृपया, अनन्यजन-
वत्सल” इति महादवाक्याद् । अन्यमजने सम्प्रगाश्रयणमेव न सिद्ध्येदिति तदभाव-
स्याद्भवात् प्रथमाधिकाररूपत्वात् । अनेन प्रकारेण साद्धमाश्रयणमेव प्रोक्तं तत्सर्वेषां
वर्णानामाश्रयणां च सर्वकालं सुखकारि । ननु गुण्या भक्तिः कुतो नोच्यत इति
आशङ्क्य, “प्रायेणात्यायुषः भूत कलावस्तिन्युमे जनाः । मन्दाः शुभन्दपतयो मन्द-

४० विवेकधैर्याश्रयः श्रीगोविन्दरायात्मजश्रीकुलोत्सवविट्टतिसमेतः ।

भाग्या लुपद्रुता” इति कलावेतादृशा जनाः किं साधयेयुः ? अश्वत्थोपदेशे वाज्नासत्त्वं स्यात् । इत्येवमाश्रये क्रियमाणे भगवान्कृपया भक्तिमपि दास्यतीत्याशयेनाहुः कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिरिति । भक्तिरादिर्येषां ते भक्त्यादयः । तेन च ते मार्गाश्च भक्त्यादिमार्गाः । प्राचादिकभक्तिमार्गा मर्यादाभक्तिमार्गः पुष्टि-भक्तिमार्गश्चेत्यर्थः ॥ १७ ॥

विवेकधैर्याश्रयाणां विट्टतिः कृतिशर्मणे ।

श्रीगोविन्दसुतेनोक्ता गोकुलोत्सवमूरिणा ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीगोविन्दरायात्मजश्रीगो-
कुलोत्सवविरचिता विवेकधैर्याश्रयविट्टतिः सम्पूर्णा ।



श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीद्वैश्वानरावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचिनः ।

विवेकधैर्याश्रयः ।

श्रीश्यामलसुतश्रीत्रजरायचरणविरचिता विवृतिः ।

यथास्मिमात्रतो नूनं रतिः स्याद्रोकुलाधिपे ।

स श्रीमदाचार्यपादरेणुर्मेघं प्रसीदतु ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा निबन्धे वैदिकयोः कर्मज्ञानमार्गयोर्भक्तिमार्गस्य च सम्यक्प्रपञ्चितत्वेऽपि कलौ तेषां दुःसाध्यत्वं निमृश्य तत्रासमर्थानामर्थं सङ्क्षेपेण 'जगन्नाथे विह्वले चे'त्यत्रोक्तं मपचिमार्गं हृदि सिद्धबलकृत्वेदानीं तं मपञ्चयिष्यन्तस्तस्य मार्गस्य पूर्वोक्तमार्गत्रयोपकारकत्वञ्च बोधयिष्यन्तो विवेकधैर्याभ्यामाश्रयस्य सिद्धिं बोधयितुं गत्सापने विवेकधैर्यं रक्षितुं निपुञ्जन्ति, तद्रक्षणस्यावश्यकत्वं वा बोधयन्ति । विवेकेत्यादि ।

विवेकधैर्यं सततं रक्षणीये तयाश्रयः ।

विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥

सततं निरतरं रक्षणीये इति श्रेये प्राप्तकाले वा अनीयत्वेन नियोग आवश्य-
कत्वञ्च समञ्जसम् । रक्षणे नैरन्तर्पोक्त्या आश्रयोत्तरमपि तद्रक्षणभावश्यकत्वं बोध्यते ।
सन्धानपूर्वकतदनुकूलाकृतिकरणत्वेन च बोधितम् । तेन च फलमाहुस्ताप्याश्रय इति ।
तथाकृते आश्रयः सिद्धयेदित्यर्थः । यदा, ते तथा तेन प्रकारेण रक्षणीये यथा आश्रय
सिद्धयेदित्यर्थः । यच्चदोर्नित्यसम्बन्धात् क्रियापात्रस्वैराध्याहारः । आश्रये क्रियास-
म्बन्धस्य कण्ठतोऽनुक्या पृषणुपादानेन च स्वकृत्यसाध्यत्वं तद्व्यवहृदानसाध्यत्वञ्च ज्ञाप्यते ।
"सोऽहं तत्राहुपुपगतोऽस्म्यसनां दुरातं तद्याप्यहं मवदनुमरशीरामन्य" इत्यमूरस्तुतो
मुषोधिन्त्यां तथा मपञ्चान् । अत्र साम्प्रदायिकः । अध्याहारापेक्षयाऽनुसङ्गस्य
वचनविरिणामस्य च लघुलाचया आश्रयो रक्षणीय इत्येवं योजनं ज्यायो मन्ता केचन

श्यामां दण्डचक्रादिन्यायेन भक्तयुगापत्वसामान्यात् समनाधान्यं रोचयन्ते । केचन पूर्व-
 योरेकपदेन कथनात् तृतीयेषु पृथगेवोपादानात्पूर्वयोश्चरहेतुत्वं युक्तमुत्पश्यन्ति ।
 केचन श्यामां क्रमेणोक्तः सेवायां भक्तस्य पूर्व विवेक आवश्यकस्ततो धैर्यम्, आश्र-
 यस्तुभयनिर्वाहक इति तत्पर्यं प्रकाशयन्ति । यद्यप्येवं मतत्रयमप्युपपन्नं, तथापि, समा-
 स्तवाश्रयस्य फलसम्बन्धबोधनात् स्वस्वाभिसंहितरूपेणाश्रयस्यैव मुख्यत्वप्रकाशनाच्चा-
 ध्याहारेण योजनाप्यदुष्टैव । न च गौरवं शङ्कनीयम् । तत्प्रत्येक्यनुपपन्नविपरिणामयोर्द्वयो-
 रङ्गीकारेण तौल्यात् । किञ्चैवं “पृथक् शरणमार्गोपदेष्टे”ति नाप्यापि पुष्टार्थं भवति ।
 अन्यथा तु निबन्धे सङ्क्षेपेण निरूपणात्सुबोधिन्यामप्यन्यशेषत्वेन क्वचित् सङ्कीर्ण-
 त्वाच्च तत्र किञ्चित् किञ्चित् कथनेन विभक्तीर्णत्वाच्च “पृथक्”पदमप्युच्यते स्यात् ।
 न चैवं सति भक्त्यद्भुतभङ्गात् सुबोधिन्यादौ तथात्वेन निरूपणं विरुद्धधेतेतिवाच्यम् ।
 अपकारत्वेन गौण्यापि तस्मिन्भावात् । किञ्चाप्यं शरणमार्गो न भक्तिमार्गाद्विविक्तः,
 पुष्टिप्रवाहपर्यादाग्रन्ये पृथक् लक्ष्यते । किन्तु, प्रवाहादग्रतः विविक्तो भवति स्वस्वा-
 मित्वस्य सर्वदानुसन्धानान्मार्गादाया अपि विविक्तः, पुष्ट्या सङ्कीर्णः । तेन प्रयोजकै-
 क्यत्वाच्च मिश्रभेदेत्येतन्मिथ्यात्वानुक्तेरत्र च समास्तावाश्रयकथने “कलौ भक्त्यादिमार्गं हि
 दुःसाध्या इति” मार्गत्रयदुःसाध्यत्वस्य हेतुत्वकथनेनास्य भक्त्यादिमार्गानुक्तेरसम्बोधनाच्च
 स्वरूपभेदात् त्रितयसत्तावीयः स्वफलसाधनेन तत्तदुपकारकधेति सिद्धयति । तच्चातु-
 क्त्यत्वं “नामान्यनन्वस्ये”त्यत्र प्रथमसूक्त्यपष्टे प्रपञ्चितम् । यद्यपि, तद्विरक्ताधिका-
 रित्वं तथापि, गीताया द्वादशोऽध्याये “अथैनदप्यस्तोति कर्तुमुद्योगमाश्रित” इत्यत्र
 “सर्वधर्मानि”त्यत्र च, गृहस्थमर्जुने प्रति कथनाद् गृहस्थाधिकारिकत्वनपि सिद्धयति ।
 अनुकूलस्योपकारकत्वञ्च पूर्वतन्त्रसिद्धम् । एतावान्परं विशेषस्तत्र फलोपकारकत्वं
 सिद्धयत्र तु स्वरूपोपकारकत्वमप्यस्तीति । तेन येषां यथा भातस्तेस्तथा विवृत इति न
 कोपि कापि विरोधः । ननु निबन्धोक्तस्यैवायं विस्तार इति कथं हि निगमत्वमिति चेत्,
 इत्यम् । तत्र पूजाप्रवाहस्य भावतत्सान्निध्यमकल्पमुत्तवा तत्र तत्परत्वेन स्थितिः प्रपञ्चि-
 रितिभार्गोस्वरूपं मिष्कृष्टम् । परन्तु, तच्छरीरविष्टं तत्परत्वं न विचारितम् । तदत्र
 मिध्यतीति तथा विनिगम्यते । किञ्च, प्रपञ्चिपदार्थाः शरणमगमनम् । “कृष्ण कृष्णाम्भे-
 यात्पन्न प्रपन्नभयभङ्गन, वयं त्वां शरणं याम” इति मागधसंस्कृतामवाक्यसुबोधिन्यां
 प्रपन्नभयनिवारकत्वं नवावश्यकं, “अतो वयं प्रपन्ना भवाम” इत्याहुः “वयं त्वां
 शरणं याम” इति शरणमगमनस्य प्रपन्नभवनत्वेन व्याख्यानान् । तच्चात्र स्फुटमतोपि

१ अनुपकारस्योपकारकत्वं “अपि न्यन्त्रं सप्तमि” एतेषुकारभेदप्रपञ्चितम् । २ “अधिकारि-
 कम्” इति यावत् च ।

तयेतिदिक् । प्रकृतमनुसरामः । एवमुभयोर्विवेकधैर्ययो रक्षणं, तस्य फलसम्बन्धश्च
 बोधयित्वा तयो रक्षणमकारमाश्रयस्य च मार्गं वक्तुं तेन तत्स्वरूपञ्च वक्तुमुद्देशानुसारेण
 मयं विवेकस्य स्वरूपमाहुः विवेकस्त्वित्यादि । साम्प्रदायिकास्तु, 'विवेकोयं समा-
 रुगतः' 'एतत्सहनमप्रोक्तम्' 'एवमाश्रयणं प्रोक्तम्' इत्युपसंहारदर्शनात् सामान्यविशेष-
 भावेन विवेकधैर्याश्रयाणां स्वरूपस्यैव निरूपणमत्र ग्रन्थनाम्ना समासव्यासधारणस्य
 विद्विष्टत्वेन च तथा कथनस्यौचित्याच्चेत्याशयेन व्याकुर्वन्ति । तथा सति रक्षणमकार-
 स्यार्थात् सिद्धिः । एवन्तु वचनादिति शेषः । प्रकृतमनुसरामः । विवेकशब्दः पृथक्यु-
 त्तज्ञाने वा प्रसिद्धः । यथा नित्यानित्यवस्तुविवेक इति । शीलविशेषे च यथा उचित-
 सत्कारकचरि विवेकीति । "विवेकः पुनरेकान्ते जलद्रोणीविचारयो"रिति कोशात्रिपु-
 रुदक्ष । गदत्र किमपि न विवक्षितमिति ज्ञापनाय तुशब्दः । कस्तर्हि ? । हरिः सर्व-
 निजेच्छानः करिष्यति । हरिः सर्वदुःखहर्त्ता सर्वं स्वीयानां लोकिकालौकिकं,
 निजेच्छानः स्वतन्त्रेच्छातः, क्रीडेच्छातो वा, निजानामिच्छातो वा, करिष्यति ।
 अपञ्च निः-निर्देशस्तेनैतद्विषयकमनुसन्धानं विवेक इत्यर्थः । अत्र हरिपदेन गजेन्द्र-
 पोक्षकर्तृत्वस्फोरणात्पशुवदज्ञानमत्यन्तदुःखहारित्वं सूच्यते । निजेच्छात इत्यनेन
 "क्रीडाभाण्डमिदं विश्वं" "क्रीडार्यमात्मन इदं त्रिजगत्कृतमि"त्यादिवाक्योक्तं जगतः
 स्वस्वाह्वतो क्रीडाभाण्डत्वे वा स्फुरिते, "विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुरासौ योगेश्वर-
 रपि दुरत्यययोगमायः, क्षेमं विधास्यति स नो भगवांरुपधीशस्तत्रात्मदीपविमृशेन क्रिया-
 निहार्थं" इत्यादिरूपेणानुसन्धेयम् । विशेषतस्तदीपत्वस्फूर्त्तौ "अहं भक्तपराधीनः",
 "मयि नैतेषु चाप्यहं," "आत्मारामोऽप्यरीरमदि"त्यादिवाक्योक्तं भगवतो भक्ताधी-
 नत्वं परोक्षेण हितकारित्वं स्वनिकटवर्तित्वं स्वरूपमर्षादामप्यतिक्रम्य भक्ताभिन्नापूर-
 णत्वं यथापि कारमनुसृत्य भाविहितकारित्वमनुसन्धेयमिति तस्य तस्य तादृक्तादगनुस-
 न्धानं विवेक इति भावः । करिष्यतीति भविष्यदर्थकप्रयोगो भाग्यर्थचिन्ताया जाय-
 मानत्वात्तन्निवृत्त्यर्थो, न तु भूतवर्त्तमानयोर्भगवत्कार्यत्वानुसन्धानव्यावृत्त्यर्थः । तेन
 करोत्यकार्थत्वं करिष्यतीति श्रेयाप्यनुसन्धानं विवेक इति कथ्यते ॥ १ ॥

एवं स्वरूपं विवेकस्य निरूप्य रक्षणमकारं बदिष्यन्तस्तत्तज्ज्ञेन कामनापास्तत्सू-
 णसाधनस्य च तन्नाशकत्वं हृदिकृत्य गजेन्द्रस्य गजस्यवद् मासस्यापि मार्यनस्यवाप्यफलञ्च
 हृदिकृत्य ततो रसितुं मार्यनस्य फलव्यभिचारित्वं युक्त्या समर्थयन्ति प्रार्थित्वेति ।
 प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंश्रयात् ।
 सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥

चेत्यनादरे, अभ्युपगम्य दृष्यते, प्रार्थिते प्रार्थनकृते ततः प्रार्थनातः किं स्यात् ? न किमपीत्यर्थः । न हि गजेन्द्रस्य प्रार्थनातो मोक्षदानं, किन्तु स्वेच्छातः । यदि ततः स्यात् प्राग्जन्मन्येव स्यात्, “जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्यनुशिसितमि”ति वाक्यात्तदानीमपि प्रार्थनस्य तुल्यत्वात् । किन्तु, विचारितस्य मर्यादास्यापनस्य भक्त्या तोषस्य स्वसर्वात्मत्वज्ञापनादेश्च कार्यस्य जातत्वेन स्वेच्छात एव । अन्यथा “नय मामि”-त्यत्र नान्तर्दध्यात् । अयाज्येक्षितदानपापाततः प्रार्थनयैव चेदाद्रियते तदापि, काञ्चिल्लम्बेन फलव्यभिचारेण चान्यपासिद्धत्वम् । अप सापि चेत् कथञ्चित् परिह्रियेत तर्हि, सा भगवदभिप्रायनिश्चयकृता प्रार्थना, न तु स्वाम्यभिप्रायसंशयकालीना । तथा सति तत्रापीच्छैर कारणत्वेन पर्यवस्यतीति तत्र प्रार्थनाया व्यापारतामारां सेत्स्यति । संशयकालीनायास्तु तदपि न । पत्युताधीरत्वज्ञापकतया क्रोधोपेक्षावदतया वा वाषकत्वञ्च । एतेनैव भ्रमकालीनापि व्याख्यातव्ये । किञ्च, यथा तथास्तु, स्वस्य जीवत्वेनालाभत्वात् स्वमनोरयस्याप्यल्पत्वात्प्रार्थितस्तावदेव दास्यति कुम्भापा इव । कुम्भीपित्वञ्चाधिकं भविष्यति । अपार्थितस्तु पशुरलौकिकञ्चाचतो नन्तरुणं दास्यति । तदुक्तं “मनोरयान्तं श्रुतयो यथा यपुरि”ति । तदेतदुक्तं प्रार्थिते वा ततः किं स्यात्स्वाम्यभिप्रायसंशयादिति । तथा च प्रार्थनेन दाने विवेकस्य सामर्थ्यनाशः, अदाने रोदात् स्वरूपनाशस्ततोऽस्माद्वाचकादेवं विचारेण स रक्षणीय इति भावः । एतेन कामनायाः पूरकं माघनान्तरं कैमुतिकदेव निरस्तम् । प्रार्थनैव चेन्निष्फला काम्यकर्माणि किमुतेति । ‘सुखाय कर्माणि करोति लोको न तैः सुखञ्चान्यदुपारमं वा, चिन्दैत भूयस्तत एव दुःखं यदत्र पुक्तं भगवान्बदेज’ इति तृतीयस्कन्धे काम्यकर्माणां फलव्यभिचारस्यानिष्टहेतुत्वस्य च विदुरेणैव दर्शितत्वात् । न च साङ्गाद्वैदिककर्मणः फलावश्यंभावनियमात्फलव्यभिचारो न प्राप्तोऽवसर इति शङ्कयम्, दक्षयज्ञादिवत् साङ्गताया एव दुर्घटत्वात् । इदं यथा तथा “कर्मणां गहनागतिरि”त्यत्र निबन्धे प्रपञ्चितमिति ततोऽप्येयम् । नन्वस्त्वेवम्, तथापि निन्दावाक्यात्कुम्भादावप्यभिप्रायाज्ञानादेव प्रार्थनस्य तथात्वं, ज्ञाने तु न तथा दोष इति स्वाभिलाषपूर्त्यर्थं प्रशुर्बिज्ञापनीय एवेति चेचेत्याहुः सर्वज्ञेत्यादि । सर्वत्र ब्रह्माण्डे अन्तर्बहिश्च तस्य स्वामिनः सर्वं वस्तुमात्रमस्तीति शेषः । हीतियुक्तं क्रीडार्थत्वात्, सर्वसामर्थ्यञ्च तस्यैव, “यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः,” “सर्वस्य वशी सर्वज्ञेशान,” इत्यादि श्रुतेः । तथा च यदि दिस्तेत् सर्वज्ञत्वाद्स्पृह्यभिनापं ज्ञत्वा तदैव दद्यात् । यदि जीरे तत्फलानुभवासापर्थ्यं पश्येत्तदपि विदद्यात् । तन्मनो-भिच्छिपितप्रकारेणैव स्वस्मिन्नपि तथात्वं प्रकटीकृत्य वा तन्मनोरथं पूरयेत् । एतदपि, “एवं सन्दर्शितापङ्क हरिणा भक्तवश्यता, गोपीभिः स्तोभितोऽवृत्त्यत्,” दर्शयंस्तदिदं

लोक आत्मनो भृत्यवश्यतामि'त्यादिभिरुक्तम् । एवं सत्यपि यथा ददाति तस्मात्प्र
दित्सतीति निश्चितम् । निश्चिते चाभिभाषे प्रार्थना न प्राप्तवसरेति न प्रार्थनीय
इत्यर्थः । एतदेवाभिसन्धाय श्रीमत्प्रभुवरणोक्तं, “ यथा वयं तदीयाः स्मरन्तथा सोऽपि
निसर्गतः, अस्मत्प्रभुरतश्चिन्ता नैहिके परलौकिकः ” इति । एवं कामितपूरकाद्रक्षण-
प्रकार उक्तः । अतः परं कामनातो रक्षणप्रकारो बचन्यस्तं वक्तुमाहुरभिमान इत्यादि ।

अभिमानश्च सन्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावनात् ।

विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥

अभिमानो गर्वः । यौगिकार्थग्रहणे अभितः उपयतो मानोऽभिमानः, स्वतः
परतश्च निचसमुभतिः पूजा वा । तत्सर्वमत्राभिमान इत्यनेन सङ्गृह्यते । चकारात्तत्सा-
धनादिश्च । स सम्पक् लौकिकप्रकारेण त्याज्यः । तत्र हेतुः, स्वाम्यधीनत्वभावना-
दिति । उपब्लोपे पद्यमी । स्वस्य स्वाम्यधीनत्वं विभाव्य त्याज्य इत्यर्थः । कापनामूले
हि गर्वविद्योर्नतिः पूजा च । अहधीदसाः, ईदशकुलोत्पन्नः, ईदृग्भिः प्रशस्याः, इत्या-
द्यनुसन्धान एव । तदनुरूपाकापनादर्शनात् । तदनुत्पत्तिनिवृत्तिश्च स्वाम्यधीनत्वभा-
वनाया, तदूतां तददर्शनात् । किञ्च, गर्वादिजनकस्य स्वोत्कर्षस्यापि तदधीनत्वमेव, तस्य
सर्वकारणत्वाद्भावनोपम् । तथा सति ष्येदं सम्पादितवान् तथाऽप्यदपि सम्पादयिष्यती-
त्यपार्था कामना, तन्मूले गर्वादिभेदादिभाषनेन तद्विषयं विवेको रक्षणीय इति
भावः । एतेनेदपि ज्ञापितम्, यद्भक्तानां दासत्वात् स्वतोऽभिमानसम्पत्तः, किन्तु, दुःस-
हादिवशात् । सोऽपि दासधर्मस्य स्वाम्यधीनत्वस्य भावनाऽप्याज्यः । कदाचित्प्रभुः कृपया
तदधीनत्वं स्वस्मिन् प्रदर्शयेत्तया वा सेवां कारयेत्तदापि, तत्रावनात्त न कार्यस्त्या-
ज्यश्च । यदि वा स्वतन्त्रेच्छत्वाद्दण्डं कुर्यात्तदा खेदोऽपि त्याज्य इति चकारोऽनुक्तसमु-
द्यायकः । अत्र हेतुवचनादेहाभिमाननिवृत्तिस्तु न विवक्षितेति प्रतिपाति । अथ विव-
क्षिता तदा सेवनकारणागतवतिहृन्नेदाऽप्यासनिवृत्तिरिति न विवादलेशः । एवमानसो
रक्षणप्रकार उक्तः । अतः परं शब्दं वदिष्यन्त उक्तीन्त्वाभिमानत्यागेन रक्षणे तस्मि-
न्प्रथमिज्ञापकं मगवदाशारूपमवान्तरफलयमिव प्रदर्शयन्त्वस्वर्षां स्वाज्ञाविरुद्धाद्यग्न्यवपठः
पाशाञ्जलिरिति शङ्कामपि वार्यन्तः, प्रयोऽनरुचिभाषेन स्वरूपविभाषेन विषयविभाषेन
च व्यवस्थामाहुर्विदोरेत इत्यादि ।

विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ।

तदा विशेषगत्यादि भाष्यं भिन्नं तु देहिकात् ॥ ४ ॥

४६ विवेकधैर्याश्रयः, श्रीश्यामलसुतश्रीब्रजरायचरणविरचिता विवृतिः ।

उक्तदेहेतुत्वपक्षम्पा अत्राप्यन्वेति । अन्यथास्य मन्यस्याकरिपकता स्यात् । सेवादेहेतुत्वपक्षेऽपि स्वाम्पधीनत्वमाचनस्य तत्राप्याश्रयपक्षत्वात्सहकारित्वमदगृह्यवास्तवमेव । तथा च तस्मात्तसद्वृत्तसेवादेर्विशेषतः श्रीमदाचार्याज्ञातो विशेषपक्षाधिक्यं विषयीकृत्य घाऽऽग्रहयोधकमकारतो वा दैहिकादाधिक्यं वैकल्प्यं विषयीकृत्य वा चेद्भवत आज्ञा स्यात्, तदा कल्पयोजकं विचारणीयं, किमयमन्तःकरणमोचरो न वा । अजहङ्गिदम् । अन्तःकरणमभिप्रायस्तस्य मोचरः विषयभूता अभिप्रायपयुक्ता न वेति । किञ्च, अन्तःकरणस्य मोचरः, अन्तःकरणे विषयत्वेन याता, न तु स्वामी, न वान्यद्वारिकेतिस्वरूपमपि विचारणीयम् । न चैवं सहृद्धारितः शब्दः सहृद्दर्थं गमयतीति नियमपङ्क्त इति शङ्क्यम्, प्रायिकत्वात् । अन्यथा मिश्रणयोगोच्छेदमसद्भात् । अतोर्थद्वयमप्यत्र सद्भादम् । तत्र मन्तःकरणपयुक्तत्वेनान्तःकरणे भाता स्वामीभूतित उक्तवृत्त्येव च भाता, तदा तु दैहिकादेहसम्बन्धिनो भिन्नपाङ्क्तं विशेषपक्षत्वादि भाव्य-गुत्वायै कार्थमिति यावत् । तथा चायमर्थः । आज्ञाविषयविचारेण तत्त्वयोजकं निषेधम्, यदि दैहिकविषया तदा नाभिप्रायपूर्विका, किन्तु, परीक्षायां, तदा ततोऽवगतं विशेष-गतिसाधनादिकं न कार्यम् । यदि स्वसेवाविषया, यदि वा सेवामतिबन्धकनिर्वर्तक-विषया तदा साभिप्रायपूर्विका, ततस्तदवगतो विशेषः सामग्यादिविषयसदृशो गतिस्तीर्थदेशान्तरादिविषया, आदिपदेन तादृशं तत्साधनञ्च कार्यम् । तेन यावतो रक्षणमान्तरस्य स्वतुष्टित्वाभिज्ञानमाज्ञाद्वयं विशेषपरिहारश्चेति सर्वं सामञ्जस्यमिति यावः । पुष्टिपार्गस्य नानाविधस्यापि कृपा एव प्रकटनात् । “सर्वधर्मान् परित्यज्य,” “तस्मात्तमुद्धवोत्सृज्य,” “यत्र तयाखिलसंशयाधिभिः”त्यादिवाक्यैः शरणागतौ सेवायां च भगवत्प्राप्तयति । “अनन्वाधितयन्तो पापि”तिवाक्येन भगवत एव जीवस्याखिल-निर्वाहकत्वावगतेश्च नात्र कोपि शङ्काशेषः ।

ननु दैहिकातिरिक्तविषयाया भगवदाज्ञायां जातायां यदि तद्विरोधिनी काचिदा-पदन्तरा समागता, तदा आज्ञायाः करणे निर्वाहाभारादाज्ञाऽसिद्धिः, अकारणे तद्-ज्ञानं स्वामिद्वेह इत्युभयतः पाशात्सञ्जुतित्वतस्त्रोपायमादुरारपदित्यादि ।

आपन्नत्यादिकार्येषु हृष्टस्याज्यश्च सर्वथा ।

अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माधिदर्शनम् ॥ ५ ॥

विवेकोयं समाख्यातः

उक्तदेहव्याप्यनुवर्त्तते, आपदो गतिः प्राप्तिरापन्नतिः, सा आदौ येषां, तादृशानि यानि कार्याणि, अश्वतर्या इति यावत् । तेषु “स्वाम्पधीनत्वमाचनम्” हृष्टस्या-

ज्यश्चाग्रहस्त्याज्यः । चोप्यर्थे । अयमाशयः, निर्वाहो ह्यभिप्रायस्य लिङ्गम् । प्रतिबन्ध-
कापाते निर्वाहाभावत्साऽऽज्ञा नाभिमेता, परीक्षार्थेवेति निधेयेम् । नहि भगवतो
भक्ताऽऽपदभिमेता, न वा काठादयस्त्र प्रभवन्ति, “ये त्यक्तलोकधर्माश्च मर्दये तान्नि-
धर्म्येहमि”ति वाचयात् । अत आपत्पराभूताया आज्ञायाः परीक्षार्थत्वेनानभिमतत्वान्नोक्त-
दोषः । किञ्च, हेतुनिष्ठसम्भवात्सेवामतिबन्धः पर्यवस्यतीत्यतो इतो न कार्य इति ज्ञाप-
नाय सर्वथेति । उक्तसमुच्चयार्थश्च । एतेनैवङ्करणे हेत्वनुसन्धानप्राबल्यादधिमान-
नाशे विवेकपोषणम्, हेतु तु तन्नाश इति द्वितीयं कायिकं हठत्यागेन करणरूपं रसा-
साधनमुपदिष्टम् । अयं दैहिकादिविषये व्यवस्थाभाहुरनाग्रह इत्यादि । सर्वत्र दैहिके
तत्सम्बन्धिसम्बन्धिन्पन्त्यस्मिंश्च कार्ये अनाग्रहः, “कार्य” इति शेषः । चोक्तकार्या-
न्वरसमुच्चायकः । तथा च, स्वतःसिद्धावतिमुत्साध्ये च न विचारः । सायासम्पदोदा-
सीन्येन कार्यं, तेन विवेकपोष इति भावः । अत्र हेत्वनुष्ठतिर्वोध्या । नन्वस्त्वेवं लौकिके,
परं वैषय्यं तु सायान्याज्ञाविषयत्वादाग्रहः प्रसूज्येतेवेति चेत्त्रोपायपादुर्ध्वमेत्यादि
धर्मायर्मेयोर्विहितनिषिद्धयोरग्रं पर्यवसितं परिणामस्तस्य दर्शनं विचारस्तत्कार्यमिति
शेषः । पौराणस्मार्त्तध्रौतानामुत्तरोत्तरमुत्सर्गतो बलिष्ठत्वं, तथैव शारीरात्मभागवतधर्माणाम्,
तेषु स्वयं तादृशे भगवद्भर्मे निष्ठितस्तदविरोधिविपरिणामकः कार्यः, इतरो न कार्यः ।
तथा अधर्मोपि श्लेच्छसम्भवापणानुसरणादिरूपो बुद्धिमत्कृत्यपयन्स्वधर्मनिर्वाहाय चेषुज्या
कार्यः, इतरस्तु न कार्य इति । तथापि “स्वाम्पद्योनस्यभावनाद्यपातत्सिद्धिस्तथा
विवेकरक्षणमनुसन्धेयमिति भावः । एवं सपरिकरं विवेकं निरूप्योपसंहानि । विवे-
कोयं सम्प्राख्यात इति, अयं न त्वन्यो विवेकः । सम्पक्त् रक्षाप्रकारोपदेशपूर्वक-
माख्यातः प्रमाणयुक्तिगर्भाभिरुक्तिभिः कथित इत्यर्थः ।

एवं विवेको निरूप्याः परं प्राप्तवत्तरं धैर्यं निरूपयन्ति धैर्यन्तु विनिरूप्यते इति ।
धैर्यन्तु विनिरूप्यते ।

पूर्वोक्तरीत्या विवेकरक्षणे जिव्जोपस्थनपादिरूपस्य धैर्यस्य प्रसङ्गन एव सिद्धे-
स्तनिरूपणं न प्राप्तवत्प्रमिति शङ्कानिरासाय तु शब्दः । विवेकरूपे हृदयाहरे धैर्यं
स्वत एव भवेत्, परं यायान्येन स्वरूपे अज्ञानेऽक्षणे च कदाचिद्विधिद्वयेवादि, अन-
स्तदर्थं विशेषण निरूप्यते रक्षणोपायसहितं कथ्यत इत्यर्थः ।

विवक्षितं धैर्यस्वरूपपादुर्ध्वीदुःतेन्यादि ।

त्रिदुःखसहनं धैर्यमाप्नुतेः सर्वतः सदा ।

तत्रवदेहवद्भान्यं जडवद्भोपभार्यवत् ॥ ६ ॥

आमृतैः सर्वतः, “मृति”शब्दो मरणकाललक्षणः । “मृति”जनकं मर्षादीकृत्य सर्वस्मात् सदा सर्वकाले त्रिदुःखसहनं त्रयाणामाधिदैविकादिभेदभिन्नानां कायिकादिभेदभित्तानां कालरूपस्वभावानां “त्रैवर्गिकापासविधाते”ति वृत्राकवाप्तुं त्रिवर्गसम्भवावच्छिन्नानाञ्च सहनं मर्षणश्लेषणयतीकारयुक्तोऽनुभवो धैर्यभित्तयः । ननु भगवदीयानामाधिदैविकादिदुःखसम्भावनेव नास्ति, यतः कालादयोपि न, तदःखहेतवो भवन्ति इति कथं तत्सहनोक्तिः, इति चेत्—भोगवता धैर्यपरीक्षार्थं कात्रादयस्त्वेषा मेर्यन्ते, अतः पूर्वं भगवद्रयादेव न प्रवृत्तिस्ततस्तदाज्ञयाऽऽज्ञाभङ्गभयात्प्रवृत्तिरपि सम्भवति, पतो भगवत्तैवोच्यते “मत्रयादाति वातोयमि”त्यादि, श्रुतिश्च, “भीषास्मादि,”त्यादि । अयं न्यायः कालादावपि तुल्यः, भगवन्धियम्यत्वस्य तत्रापि समानत्वादिति । ननु भगवतः सर्वज्ञत्वेन परीक्षाकरणमपि न सम्भवति तत्कथं परीक्षार्थं तथा कारणम्, किञ्च, परीक्षार्थं भक्तेषु दुःखं ददातीत्यपि नोचितमिति चेद्, अत्रापि वदामः । भगवति सर्वज्ञत्वादिभ्यांस्तु ज्ञानादिमार्गैसाधारण्येन जायं यकटा । गृष्टिमार्गे विरोधपर्येषेच्छायां तद्रीत्यैव सर्वं करोतीति नानुपपत्तिः । पतः “स्वागतमि”त्यादिना अन्तर्ज्ञभक्तेष्वपि परीक्षैव कृता । द्वारकालीलायापमपि “अव्यक्तलिङ्गं मङ्गलित्पन्तःपुरहादिषु, क्वचिन्नत्वं योगेशं तत्तद्गवेषुभुक्तस्ये”ति लोकोदीत्यापि तयाकरणाद्युक्तम् । अपरञ्च, “मदन्यसे न जानन्ति नाई वेभ्यो मनःगपी”ति भगवता भक्तिमार्गरीत्या भक्तविरिकाज्ञानं स्वस्फोक्तम्, तेन ज्ञापते भक्तिमार्गे लौकिकदीतिमेव भूयः प्रदर्शयतीत्यतोपि नानुपपत्तिः काचित् । किञ्च, दुःखदानस्यायुक्ततायामप्युच्यते । साक्षात्स्वरूपात्मकाभयदानार्थमेव धैर्यपरीक्षा क्रियते इति बालाध्यापनार्थमाह नवह, पर्यवसानतः सुखरूपत्वमेवेतिनोकसङ्कालेव । प्रकृतपुनरागमः । धैर्यस्वरूपमुक्त्वा दृष्टान्तपुरः सरं तद्रस्यप्रकारमाहुरत्तत्राद्यदित्यादि । भाव्यमित्यस्य विषयमन्यः । तत्रचतो राजकलत्रस्य देहस्तकचदेहस्तेन तुल्यं स्वदेहादौ भाव्यमित्यर्थः । इयञ्चाल्प्यायिका—

“हत्वा नृपं यतियवेक्ष्य भुनक्तुदष्टं

देहान्तरे विधिवशात्प्रणिकारिण जात

पुत्रं पति सधिगम्य चितां प्रविष्टा

श्रोत्रामि गोपशृङ्घिणी कथमत्र तत्रमि”ति

श्लोके प्रसिद्धा । तथा च, तथा यथा स्वदेहादिपोषणसाधनीभूते तत्रे गते स्वदेहावस्थाभुक्तसन्धाव श्लोकाभावपुरःसरममतीकारेण दुःखमेव सोढं, तथा स्वस्याभि-

! इत्यनेन स्वार्थं, न चलायकात्पर्येव तथा, देहेरेष्यति वाच्यं, तत्रकथायात्तत् । भगवदीयानामप्युक्तम् । तत्र कथं त्रिदुःखसहनोक्तिरिति चेत् । इत्यपि क्वचापि ।

भौतिकलौकिकसाधनीभूतवनपुत्रायणमेषि शोकमहृत्ता अपतीकारेण दुःखसहनार्थं तथा भावनीयम् । वैष्णवस्तलाभाजन्तरं तेषां हेयतैव यतः । अत एव निबन्धेषु श्रीमदाचार्यैः “प्रतिहृत्ते शृदं त्यजेदि”त्यादिना रत्याण एव तेषामुक्तः । अपवा दृष्टान्तद्वयमिदम् । तत्र पूर्वो व्याख्यातः । द्वितीयस्तु, देहः किमसदातुर्वा निपेक्षुर्वातुरेव वा ? मातुः पितुर्वा बलिनः क्रतुरथेः शुनोपि वे”ति देहः साधारणो जात्मीयस्तथा सर्वेषु तत्तददृष्टसम्पादितत्वात्साधारणा इत्येवं तदर्थमनुसन्धेयमित्यर्थः । भौतिककायिरु-
 कर्मशार्थिकदुःखसहने दृष्टान्त उक्तः । आध्यात्मिकसहने दृष्टान्तपाहुर्जञ्ज्वदिति । यथा जटभारते मुक्तिसाधनसत्येपि तेन पूर्व मृगशरीरमाप्तिनाम्यं ततो धातृजायादिकुलं भद्रकालिबन्दिदानमपयपर्यन्तं, ततो रहृगणशिविकावाहनसामयिकं सोढं, तथा आध्या-
 त्मिककालमादिदुःखं सोढुं, तद्ब्रह्मण्यम् । किञ्चित्तरहानन्तरं ॐ साक्षात्सेवोरयोमिदं देहं विषयोमादिदुःखेषु तत्सोढुं अदृश्यदधुना भावनीयमित्यर्थः । रिञ्ज, भाव्यमित्यनेन अवश्यं भाव्यत्वमपि घो.पते । तेनाप्रतीकार्यत्वाच्चित्रारणार्थं यत्नो न कर्ष्य इत्यपि युज्यते । आधिदैविकस्वाभाविकादिसहने दृष्टान्तपाहुर्गोपन्नापेवदिति । भार्याणां समूहो भार्यम्, गोपानां भार्यं गोपभार्यं, तेन तुल्यं भाव्यम्, यथान्तर्गृहगतो गोपानां भार्यासमूहो भगवद्विरहेणादिदुःखं सोढुं ततो ध्यानप्राप्तपगवत्साञ्चिष्यसुखमनुभूया-
 दुपयुष्णोपरमे निर्गुणदेहेन भगवन्तं प्राप्तस्तथाहमपि प्राप्स्यादिसम्ममत्रुभयं सोढुं प्राप्स्यामीति दुःखसहनार्थमनुसन्धेयम् । एवं माते माविरत्वनिरासाय समूहदृष्टान्त इति सर्वं युज्यम् ॥ ६ ॥

अतः परं यदञ्जातः प्रतीकारोऽस्त्यितौ यदि सहनाग्रहरनदा विरेहानिराशा-
 पन्नय, यदि तूष्णीकृतं तदा दुःखनिवृत्त्यासहनाभारेण पर्येहानिराशापन्नभेत्सुषणनः
 पाशापां रज्जो समथानार्थमलुः प्रतीकार इत्यादि ।

प्रतीकारो यदञ्जातः सिद्धश्चेन्नाप्रही भवेत् ।

भार्यादीनां तथान्येषामसत्स्वाकर्मं सहेत् ॥ ७ ॥

यदञ्जातो भगवदिञ्जातः स्वष्टोपायं विदेति यावत् । आत्मनि निन्द्राया-
 विति । “ भूमिनिन्द्राप्रशंसामु नित्ययोगेतिज्ञायते, संगमैरितिरिवापायां भरन्ति मनुष्या-
 दय” इत्यभिपुक्तोक्तः । तथा च, भगवदिञ्जया सिद्धे प्रतीकारे निन्द्रायाऽऽग्रसत्त भवेत् ।
 परमान्नायदेऽभिमन्थनाभ्यासादैर्वर निद्रिर्भगवदिञ्जानुमन्त्रानादिर्वरप आशातः
 करणदात्रपोरपभङ्ग इति सर्वं सामञ्जस्यमिति यावः । एवं योग्यम् । जटयद्रोप-

ॐ इत्यादीनिदृश्यादिभयन तद्वचनं भाष्यं तेरेतिदिदि इति यथाज्ञाप्य ।

५० विनेरुधैर्वाश्रयः, श्रीश्यामलसुतश्रीव्रजराजचरणविरचिता विवृतिः ।

भार्यवत् प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेदिति । तथा च, यथा जडो भगवदिच्छया स्वरूपेण संबद्धं शिविकाकाहनार्थं नाग्रहवान् जातः । यथा च रासमण्डलमण्डनायितं गोपभार्यं विप्रयोगतापे भगवदिच्छया गुणगानस्मरणरूपदर्शनादिरूप-प्रतीकारोपस्थितौ भगवदिच्छानुरूपमेव व्यवहृतवत्, तथा स्वयमपि स्वाधिकारात्सारेणा-नाग्रही भवेदित्यर्थः । तस्मिन्मूहस्याऽनाग्रहोपि श्रीमदाचार्यैर्“गत्या ललितयोदारे”त्य-स्याभासे “यदा पुनरि”त्यारभ्य “स्वयमाविर्भूत”इत्यन्तेन “त्वयि धृतासव” इत्यत्र “त्वदर्थमेवे”त्यारभ्य “तदैव त्यक्षन्ती”त्यन्तेन, “दुस्त्वयस्तत्कार्य” इत्यत्र च स्फुटीकृतः । चेदित्यनेन तादृक्तापे शीघ्रं स्वाश्रयं दातुं प्रभुरेव प्रतीकारं सम्पादयति । न सम्पादयति चेदिति स्वयं तदर्थं न यतेत । तथा सति मभोरनभिनेतयेन कोपाद्विपरी-त्यापत्तिरित्यपि सूच्यते । अतः परं कायिकं रक्षासाधनमुपदिशन्ति भार्यादीनामित्यादि । भार्यादीनामिति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । तेन येत्यन्तस्वनिग्रह्यास्तेषाम् । अन्येषां विभक्ताविभक्तवान्शरीरादीनामुदासीनानाश्च, अस्तौ दुर्जनस्य, “दुःसहमिषं मन्ये आत्मन्यसदतिक्रममि”ति वाक्याद् दुःसहत्वात्पृथग्निर्देशः । एतेषामाश्रयं तिरस्कारं सहेत । आक्रमपदस्य योगेन पादप्रहारपर्यन्तता बोध्यते । सहेदिति अनुदात्तेत्-लक्षणस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वात्परस्मैपदम् । ब्रह्मचारिभृतीनामन्येपायेकाकिनाश्च भार्या-द्यभावाद्ब्रह्मचर्याभावाच्च त्रितयनिर्देशः । तेषां सेवापतिरूढत्वे त्यागरूपमेव सहनम् । स्वविवेकमात्रमातिमूल्ये च तदप्रतीकारेण तिरस्कारमर्पणमेव सहनं तदाचरेदित्यर्थः । अत्रोपायो निवन्ध उपदिष्टः । “सर्वे सहेन परह्यं सर्वेषां कृष्णभावनादि”ति । “एत-दन्तः स्थितः कृष्ण एवास्मानुपदिशती”ति च व्याख्यातम् ॥ ७ ॥

एवमाक्रमसहनोपदेशो गृहस्थितिरागत । तथा सतीन्द्रियकार्यकरणमर्षाक्षितं, तत्राऽऽसक्तौ च धैर्यस्वरूपस्य सामर्थ्यस्य वा नाश इति तच्चिरन्तरं साधनान्तरं रक्षण-स्वोपदिशन्ति स्वयमित्यादि ।

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।

अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावात् ॥ ८ ॥

स्वयमित्युच्यते आग्रहेणेति यावत् । इन्द्रियकार्याणि ज्ञानक्रियामधानात् भोगान् कायवाङ्मनसो कायवाग्भ्यां सहितं मनस्वेन सर्वान्तरात् त्यजेत् । श्रीह्यामपि नाद-दीत, तेषामत्यन्तबाधकत्वादित्यर्थः । बाधकत्वञ्च, “विपयान्ध्यापतः पुंस” इत्या-दिना गीतायां स्फुटमेव । कायेन त्यागो भोगानुपादानम् । वाचा त्यागः शुभा-

शुभत्वाकीर्तनम् । मनसा त्वागस्तन्निःस्पृहत्वम् । न चैवमुद्यम्य त्वागो आप्रहापतेन
 विप्रेकृद्धानिः प्रसज्येतेति शङ्कनीयम् । आग्रहस्योपभोग्यत्वाद्यंश एवोपस्येण विप्रेकृद्धानिः-
 समर्थत्वात् । ननु “स्वयं त्यजे”दित्यनेन यादृच्छिकस्यात्पापः प्राप्तः, उचितं चैतत् ।
 अन्यथा शरीरवात्रानिर्वाहाभावेन साधनस्याप्यनुष्ठानाशक्तिप्रसङ्गात् । अत्यक्ते च यादृ-
 च्छिके तस्यापि विपयत्वेन बन्धनस्वभावत्वादिन्द्रियाण्यारुर्षणीयानि, तथा सतीन्द्रियै-
 र्विपयाऽऽकृष्टैरिति प्रनाड्या सर्वनाशमसङ्गः । न च ततो रक्षार्थं स्वभावो विजेतुं
 शक्यः । आरम्भदशायां तादृक् सामर्थ्याभावान् । “स्वभावविजयः शौर्य”मिति यावदेव
 तस्य शूकार्यत्वात् । अतः कथं धैर्यरक्षेत्यतस्तत्रोपायमाहुरचूरेणापीत्यादि । स्वभाव-
 मिन्द्रियाणि च जेतुमसमर्थनापि स्वस्यासापथ्यं भावयित्वा इन्द्रियकार्यत्यजनं कर्तव्यम् ।
 किं करोषि, मन्दभागयोहमसमर्थ एतावत्यप्यात्रा मया पात्रयितुं न शक्यते, इत्यादि
 भावनीयम् । एवं मयतमानस्य भ्रान्ताविन्द्रियाणां कौड्ये, विपयैरपि तथा अनाकर्षाद्
 क्रमेण तत्सिद्धिरित्यर्थः ॥ ८ ॥

अत्राप्यशक्तौ पुनरन्यमुपायमाहुरशक्य इत्यादि ।

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।

एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

एवमप्यशक्ये हरिरेवास्ति शरणमिति शेषः । नन्वेवं शरणोपदेशेन कथं
 तत्सिद्धिरित्याहुः। तस्मात्सर्वमाश्रयतो भवेदिति, “सर्वधर्मान्परित्यज्ये”ति शर-
 णोपदेशवास्ये स्वस्यैव पापमोचनरूपत्वेन शोकनिवारणेन च आश्रयादेव सिद्धिबोध-
 नात्तथेत्यर्थः । एवं धैर्यं सपरिकरं निरूप्योपसंहारनोऽग्निमनिरुणस्य गन्तार्थं चपि वार-
 यन्ति एतदित्यादि । अत्र शरणमार्गं एतदुक्तसाधनरूपनान्तं धैर्यमुक्तम् । तथा
 च “अशक्य” इत्यादिना यदाश्रयणमुक्तं तदपि धैर्यासंगशोपसंहारधैर्यान्तःपाप्येव, नन्वा-
 श्रयणरूपमित्यर्थः । अतः परं धर्ममाप्तं प्रधानमाश्रयं निरुपयन्ति आश्रयोतो निरूप्यन्
 इति । अतः तावता चारितान्ध्याऽवासादावश्यं कृताप आश्रयो निरूप्यन् इत्यर्थः । आश्र-
 यणस्य आशारे योगरूढः । सेवने योगरूढः, आममन्वान् श्रयणं सेवनमाश्रय इति ।
 तत्र महते किं विवक्षितमित्याहाहायां तस्य स्वरूपमाहुरदृष्टिक इत्यादि ।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाक्ष्यपुरणे ॥ १० ॥

“ह्याश्रयं रि स्पर्तुर्गौ हरिर्मानं प्रमुच्यते, कथं मे हरिरेतन्मन्नाट्रिररं स्पृष्ट”
 इति भारते भगवद्गीतास्यैवार्थां पारतन्त्र्यवोर्थां सर्वदेवता तन्निपातकः “शान्तास्य-

बन्धि"ति श्रुत्या स्वतः श्यामवर्णः पुरुषोत्तमो हरिः, ऐहिके एतज्जन्मसम्बन्धिकार्ये फल-
भोगे स्वमनोऽभिलषितसेवादिसाधने तत्सम्पादने च, परलोके एतज्जन्मान्तराभाविनि
जन्मनि, चकारात्तत्र सुखदुःखफलोभोगे भगवदिच्छानुरूपसर्वादिसाधने तत्सम्पादने
सर्वथा "शरणं रक्षणे मेहे वध रक्षकयोरपी"ति कोशात् । ततस्ततः प्रमादादिभ्यो रक्ष-
णात्मा, तत्र तत्र गेहात्मा, तत्तत्प्रतिबन्धनिवृत्त्यात्मा, तत्र तत्र ततस्ततो रक्षकश्च, स्वयमे-
वास्तीत्यनुसन्धानमाश्रय इत्यर्थः । तेनात्र चित्तस्यैव भगवत्प्रवणत्वरूपसेवाविशेषात्मा
स्वीकृतः । अन्यैरपि "मायाश्रित्य यतन्ति ये," मां हि पार्थ व्यपाश्रित्ये"त्यत्र चित्तस-
माधानत्वेन इतरवैमुख्यपूर्वकशरणपागतित्वेन आश्रयतया ग्रहणत्वेन व्याख्यातः । शर-
णागतिश्च रामानुजाचार्यैस्तमेव शरणं गच्छे"त्यत्रानुवर्तित्वेन व्याख्यानात् । शङ्कराभाष्ये तु
"मामेकं शरणं ब्रजे"त्यत्र भगवदनतिरिक्तानुसन्धानत्वेन व्याख्यातः । मधुसूदनीये तु
"अस्यैवाहं" "ममैवायं" "स एवाहमि"ति त्रिधा, भगवच्छरणत्वं स्यात्साधनाभ्यासपाकत"
इति भक्तिपूर्वकमेवमनुसन्धानत्वेन । अत्राप्येतदेव स्वीकृतम्, परन्तु, मायावादनिरासाद्
ब्रह्मवादेनाऽविहितभक्तेराधिरयेन चेति विशेषः । एवं प्रकारेण सदा येषां भावो मवेक्षदा
तेषां भगवता आश्रयो दद्य इति ज्ञावण्यम् । कदाचित् कदाचिद्विच्छेदे तु साधनावस्था, कदा-
चिद्भवनेत्यारम्भज्ञाता, रक्षकत्वपात्रभावे त्वाश्रयस्य भावित्वमित्याद्युक्तम् । अपमेवाश्रयो
भक्त्याधिकारिणां भक्तिं पोषयत्युत्तमः । ता जनयन् भक्तिमार्गीयः जनयिष्यन् भक्ति-
मार्गानुकर्यरूपाः । एवमेव ज्ञानाधिकारिणां ज्ञानपोषणादि कुर्वन् तन्मार्गीयः । कर्मफलस्य
वैरमप्यस्य पोषणादिकं कुर्वन्स्तन्मार्गीय इति ज्ञातव्यम् । एवं स्वरूपं निरूप्याश्रयपरक्षणवकार-
माहुः दुःखेत्यादि । एवं चित्ते सदा भान्द्यमित्पादिना अभिमेणान्वयः । तथा
च दुःखहान्यादौ हरिः सर्वथा शरणं भाव्य इत्यर्थादार्थिके कर्मयोगे सिद्धे दुःख-
हानावित्यादौ क्वचिद् क्वचिन्निमित्तात् कर्मयोग इत्यनेन सङ्गपी । तेन दुःखहान्यर्थं
शरणं गतस्य शरणदानाज्ञानननितं जीवबुद्ध्या दुःखं, तद्दान्यर्थं तथेत्यर्थः । एव-
मप्येपि । साम्प्रदायिकाभिमेते विषयसप्तमीपक्षे तु दुःखहानिविषये तथेत्यर्थः । एव-
मप्येपि । दुःखनिवृत्तौ आश्रयविस्मरणाऽमावार्थेभ्युदयेन इति श्रीरघुनाथचरणाः ।
भक्तिमार्गीयस्य सेवायां मृत्तस्य दुःखपतीकाराङ्गणाद् दुःखहानौ धैर्येण चित्तोद्वेगादि-
सम्भवात् तदभावाय शरणभावनेन कर्तव्यमित्येव दर्शयति श्यामागोपीशतः ।
गोकुलोत्सनास्तु नात्र किमपि व्याचख्युः । एवं सर्वत्र तच्चङ्गन्यादिशेषोऽन्तरेणः ।
तत्रापि भक्तिं पोषयन् सपरिहर आश्रयो गोपीश्रीवित्तः । भक्तिजनयन् जनयिष्यै-
श्वेत्युपपत्तिः प्रकारमेदेन श्रीरघुनाथचरणैर्गोकुलोत्सवैश्च वित्तः । अत्र त्वापु-
निहाना श्रीमद्वाचार्थमार्गेष्विष्टानामपि स्वभावमेदेन तन्मद्विदर्शनात्तच्चक्षुषिकारानुसारेण
तत्फलसिद्धयर्थं सर्वकारको दिव्यान् मदर्शयन् इति न कोपि कापि विशेषः । तथा

पाप इति । सेवादिविषयभूतपापे देवाज्जाते वा भगवत्पापे परंपर्यः । भये, स्वस्य जीवस्य तुच्छत्वसकथं ब्रह्मादिदुरापचरणरेणोः प्राप्तिरिति भये, भयान्तरे च । कामाद्यपूरणे, काम आद्यो येषां, तद्गुणवैविधानः, अलौकिककाममुत्पामुत्पगुणज्ञानात्मक-
भोक्षणां पूरणे पूर्वार्थं कामादेरपूरणे वा ॥ १० ॥

भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तेश्चातिक्रमे कृते ।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥

स्वस्य कामादिपूर्त्तां तस्या अन्यत्रादर्शने पदाद् अज्ञापां, प्रकारान्तरेण वा द्रोहे, भक्तद्रोहापराधे मर्षादाशमपि न दूरीकर्तुं शक्यते, यथा दुर्वासतोन्वरीपयोः विषये, किं पुनः पुष्टिमार्गं । अतस्तन्नितृत्वर्थमयमुपदेशः । स्वस्य, स्वीयानां चोक्तानुत्कटभक्तपनु-
त्पत्तौ दुःसङ्गादिना तत्राक्षे च । भक्तेश्चातिक्रमे कृते नत्सहकार्यमयमुपदेशः । ते विना निमित्तं सर्वथा क्वपि नातिक्रामन्ति । अपातिक्रामन्ति कदा सस्मिन्कोपि दोषोऽस्ति । तवस्तन्नितृत्वर्थमयमिति आचार्योपीशाः । अशक्ये वा सुशक्ये, वा सुद्रोष्येः । स्वकृत्यसाध्ये स्वकृतिसाध्ये च सर्वथा व्याख्यातकारेण कापकाहनोभिर्वा सर्वदुःख-
हर्त्रेण शरणम् । सुशक्ये शरणोपदेशेऽङ्काराभार्य इति यावाः । एवं विदोषेणाप्यं सर्वोप्युपदेशो विवेकाभावेपि आश्रयस्यासहायशूरत्वार्थ इति मम प्रतिभाति । पैर्षाभावेपि तथात्वार्थेपरादुरहङ्कारेत्यादि ।

अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणशक्ये ।

पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

अहङ्कारकृते अपिवाग्नेन कृते, तद्रोपनिटृत्वर्थमभिसाननितृत्वर्थेऽप्युपदेशः । पकारः सर्वनामुक्तसनात्तोपसमुच्चयार्थः । एवकार उपायान्तरानुष्ठानेषुदासार्थः । पोष्यपोषणशक्येण सम्भावनेन तद्रक्षणस्य लौकिकत्वात्कारणे स्वस्य सेवादिविषयता-
दुरक्षणे भगवतोप्यानां हेतुदुर्भयसामञ्जस्यार्थमिदम् । पोषणवियोगपरिहरक्षणत्रिपापां वा पोष्यातिक्रमणे । पोष्यैः सह निरेदितैः कृते, स्वर्थं वा तेषां कृतेऽतिवशये आमुर्भवं विना कदाप्यसत्प्रतिष्ठाननितृत्वर्थं स्वयत्नन्यायार्थं वेदम् । तथान्तेवास्यतिक्रमे, अप्रापि तथा, । तस्मिन्स्वहृत्तोरकारानुत्पन्नानेन सर्वाननितृत्वममवापनितृत्वर्थं पृथगुपदेशः ॥ १२ ॥

१ संनिष्ठवासरपकारां पौर्णमे वेव तद् पोष्यपोषणद, अन्तरात्तनीदिचोरोत्पेत्तपानी तन्व
रत्ने, तत्परिच्छेदं ।

५४ विवेकधैराश्रयः, श्रीदयामन्त्रुतश्रीत्रनराजचरणविरचिता विवृतिः ।

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

अलौकिकमनः सिद्धौ, निमित्तात्सप्तमी । “मनो हि द्विविधं मोक्तुं शुद्धञ्च शुद्धमेव च । अशुद्धं कामसङ्कलं शुद्धं प्रापविवर्जितमि”ति ध्रुवेः । कामसङ्कलरहितमनःसिद्धयर्थं सेवाधयाशुक्लमनसिद्धयर्थमित्यर्थः । सर्वार्थेषु पुण्यादिपार्श्वगतकल्पपुरणार्थार्थम्, अतिदीनभावनसिद्धयर्थोपशुद्धयेशः । शरणं हरिः व्याख्यातमेतद् । एतद्विषयप्रदेश्य रक्षणप्रकारमाहुरेवमित्यादि । चित्ते भावनेन भगवानाश्रयं ददाति । एतन्मात्रमप्यासुरारोघभावार्षं सदैव । वाचा परितः कीर्तनेन मार्गः प्रवर्तते । तेनोभयोपदेशः ॥ १३ ॥

कापिरुपाहुरन्यस्येत्प्रादि ।

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।

प्रार्थनाः कार्यमात्रेपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥

अन्यस्य भगवदतिरिक्तस्य भजनं वर्जयेत् । अन्धं वेद्येन कापुत्रकृत्वादिदुःखाया वा न सीवेत् । तत्र स्वतो गमनमेव च, तदाराधनं तत्र तत्समीपे स्वतः उच्यते गमनञ्च वर्जयेदेष । “वाचदन्शत्रुपस्तावद्भगवानपि तन्ननुम्, विलोकयेत् दयया हनन्त्यननवत्सल” इति शक्यादन्त्याश्रये भगवानाश्रयमपि न दद्यादिति ज्ञानार्थैवकारः । कौतुकार्थमप्यम्बिकालपगमने नन्द्यामस्योक्तत्वात् । मध्येमार्गं समीप्ये जाते त्वज्ञानं कुर्वाद्, भगवत्सेवकत्वावगत्वादिकं भावयेदित्यपि सूचितम् । प्रार्थनाः कार्यमात्रेपि वर्जयेत् । तेन कार्यन्वयमोहे भगवति प्रार्थना ददाति सकृच्छ्र्यादपेति मूच्यते । श्रीरघुनाथचरणेषु प्रार्थनापदं प्रथमान्तं कार्यन्वयपाहृत्य व्याख्यातम् । “अपृष्टा यस्तु या काञ्चित्कवा नारभते हरिम् । असम्भवाथैवर्वादिदस्य तुष्यति केशव” इति विष्णु उर्मावशङ्करगीतावाक्येनोपपद्यते । तथा च प्रार्थनापदं विज्ञानप्राप्तपरमिति तेषामाशयः । एवञ्च न पूर्वग्रन्थविरोधोपीति युक्ततरमेव तैर्विपृष्टम् । पावनव्यवहारात्साधारणकारणीभूतः कायादिव्यापारोऽयं ददाति तत्प्रभिसन्धिपूर्वको वा सः प्रार्थना । तदकारणमनविमर्हितस्वज्ञातवस्तुस्वरूपदात्रयत्नं शिष्यमिति तपोः स्वरूपमेदादुचिरे चैतत् । स्वाम्पधीनत्वदाहो न विवेकोपपृम्भात् । आज्ञाया चित्तमे परैस्त्वाप्युपपृम्भादाश्रयराहोर्षेण तस्य शीघ्रं स्वकार्यमन्त्रसिद्धेरिति । तथान्यत्र विवर्जयेत् । यथा भगवति सकृत्प्रार्थनं सर्वविज्ञानञ्च, तगोत्रेषु विशेषेण वर्जयेत्, तदुपपत्तिं सर्वथा न कुर्वादिदर्थः । मनसाप्यविचारणं वर्जने विशेषः । एवं कायिकमुपदिष्टम् ॥ १४ ॥

अतः परमेकतत्त्वसिद्धयर्थं वाप्यहत्यागोचर्यं वक्तव्यस्तथाहुरविश्वास इति ।

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।

ब्रह्मास्त्रचातको भाव्यो प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥ १५ ॥

“मदुक्तावि”ति शेषः । “आश्रय” इति वा । सर्वेयेति, स्वरूपतः फलवत् । तु पूर्वपक्षनिरासकः । “यस्य स्यादद्वा न विचिकित्सास्ती”ति श्रुतिम्, “मद्व्याभ्रदधानश्च संशयात्मा विनदपती”त्यादिस्मृतिश्च प्रमाणत्वेनाक्षिपति । तर्हि तन्निवर्तनायोपायो वक्तव्य इत्यत आहुः ब्रह्मास्त्रेत्यादि । ब्रह्मास्त्रं चातकश्चेत्युभौ अविश्वासस्य बाधकत्वे विश्वासस्य साधकत्वे च यथा यथं भाव्यौ चिन्तनीयौ, तयोर्बुद्धान्तः स्मरतश्च इत्यर्थः । यथा लङ्कायां राक्षसैर्ब्रह्मास्त्रेण हनुमान् बद्धस्तनून् बद्धं निधेट्टमालोक्य ते रञ्जुभिर्विशुमारव्यस्तदा तेषां विश्वासाग्भावं दृष्ट्वा ब्रह्मास्त्रं ततो निर्गतं, हनुमान्बुक्तबन्धनो रञ्जुबन्धनानि बध्नु । तेन तेषां प्रयोगप्रयासो व्यर्थोऽभूत् । तथात्राविश्वासे भगवानपि त्यजति भक्तिमार्गं शरणमार्गं च मृष्टक्षिपि दृष्ट्वा भवतीत्यविश्वासे दृष्टान्तः । चातकः पक्षिशेषः, स च स्वाविधिन्दुमासायावर्षपर्यन्तं, विश्वासेन विष्टति, तेन तस्य क्षेमं निर्वहति, पुनश्च स्वातौ पर्यन्तो वर्षस्येव । तथात्र श्रीमदाचार्योक्तौ विश्वासे, तथा भगवति मार्गे च विश्वासे सर्वं सिद्धयतीति विश्वासे दृष्टान्तः । तथा चाविश्वासं परित्यज्य विश्वासं कृत्वा प्राप्तं सेवेत निर्ममः, लौकिके ममतां परित्यज्य पटञ्जया प्राप्तं सुखं वा दुःखं वा तत्साधनं बाञ्जुमरेव तु तत्राभिनिवेशेतेत्यर्थः ॥ १५ ॥

अनभिनिवेशे लौकिकादिनिर्वाहप्रकारमाहुर्ग्रन्थे कथञ्चिदित्यादि ।

यथाकथञ्चित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्पपि ।

किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ॥ १६ ॥

उच्यन्ति सेर्यानि, अयचानि लौकिकार्यानि, उभयान्बुधविधानि वा यथा कथञ्चित् कुर्यात् नतु प्रणादिना, नापि लौकिकमन्त्रमेतेत्यर्थः । एवमपि कथञ्चिद्विषयमन्त्रे तत्राप्युपायमाहुः किं चेत्यादि । घृत्ना प्रोक्तेन किं, न हि पास्तः प्रहाराः फाल्लसर्वस्वभावमहद्देनादिनिबन्धना अतन्तयादुक्तं शक्यते । तस्यादिभ्याम्रेणोक्तेषु यः प्रतिविधानोपायः पूर्वमुक्तस्त्वमेव सर्वथातुमन्त्रवादिपानयेनातुवदन्ति शरणं भावयेद्धरिषिति । “सर्वेषांनिरास्ये”त्यत्र “कम्पान्मुदये”त्यत्र च भगवता कथं निर्दिष्टान्वाच्यारण्येण तेनैव निर्दिष्टं प्रसङ्गेषु तन्प्रसङ्गपर्यायिणु दर्शनाद्येत्यर्थः । एतेनाङ्गाभाषेयाश्रयण्यामरायगुरा निर्दिष्टा ॥ १६ ॥

एवंमार्गद्वन्द्वयोर्गोदरन्त्येयवित्प्यादि ।

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥ १७ ॥

एवमुक्तपरारेण आश्रयणं मार्गणं प्रोक्तं, परार्थेण त्रिवैश्वर्यमाहित्येन कैवल्येन चोक्तम् । तद्विदं सर्वेषां वर्णाश्रमपुक्तानां तद्विहितानां च सर्वदाऽस्मिन्बुधे पुण्यत्वे च सम्प्रदायद्वारेण च त्विन्मू यथापि राराज्यमप्युक्तमप्यम्, “मां हि पार्थ स्वसाश्रित्य,” “किरातदृग्गोदरे”त्यादिवाक्येषु तथैव निर्द्धारितम् । ननु तर्हि मगत्रता “योगाद्यप” इत्यप्यत्र एव विधिभूताः । पूजार्थं कृतं उक्त इत्यत्र आहुः कल्याणित्यादि । तेषां साधनमापेक्षन्वादेरसोदायुक्तः, अयं तस्मिन्पक्षेऽनुकूलरूपेणैवोच्यते भिद्यतयोक्तः । एतं भेदपरदाश्रयणं जानायांन्यादुर्वैतिरिति । तथा चैतद्व्युत्पन्नं यदाज्ञास्वपनुसन्धायाश्रयं कुर्यात् तर्था भगवानाश्रयं ददातीत्याद्ययः ।

रराचा विरम्भुनपयोदर्शयि यदुनागते रनितरेशुराम् ।

मजनायर् रचिररासवरं सतनं विचारय मदीययनः ॥ १ ॥

त्रिवैश्वर्यैर्वाश्रयाणां चिट्ठिस्तु यथापति ।

कृता तेन प्रसीदन्तु स्वाचार्याः सतनं मयि ॥ २ ॥

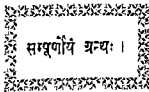
त्वदीयन्तरनाद्धार्प्यांरहित्वितनं मयात्र तत् ।

भूयात्स्वाचार्यपोदाय बालभौत्यं यथा वितुः ॥ ३ ॥

इति श्रीमदाचार्यचरणैरुक्तानश्रीश्यामस्तुनश्रीमत्तराजविरचिता

विश्वरूपैर्वाश्रयचिट्ठिः सम्पूर्णा ।

१ “मगत्रदाश्रयण” इति वाच्यं इत्यादि । अन्यत्रुक्तं यथा स्वदीयन्तरना सतीपीनो मयि ।



श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गत-नवमं

कृष्णाश्रयस्तोत्रम्

षडभिष्टोकाभिः समलंकृतम्

१. श्रीरघुनाथानां विवरणम्
२. श्रीकल्याणरायाणां प्रकाशः
३. त्रिगुहश्रीगोविन्दराजभट्टानां प्रकाशदृष्टिपणम्
४. श्रीद्वारिकेश्वराणां विवृतिः
५. श्रीस्रजराजानां विवरणम्
६. केषाञ्चित् विवरणम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-प्रवर्तित-शुद्धादृत-सम्प्रदायस्य-सप्त-
पीठान्तर्गत-पठ-पीठाधिष्ठित-गोस्वामि श्री १००८ श्री
श्रीस्रजरत्नलालजी — महाराजश्रीत्येतैः प्रकाशितम्

प्रकाशक :

गोषामिथी १००८ श्रीप्रवररत्नमालाजी महाराज (१९४०-१९८०)
मोट्टु मन्दिर, भागानलाय, गुरत, ३९५००३. भारत.

साधारण मस्तरण २००० प्रति

राज मस्तरण १००० प्रति

श्रीवल्लभान्द ५०३

ग्रन्थ-परिचय लेखक: गोस्वामी इयाम मनोहर

मुद्रक:

स्टूडियो बहार, २३ ए, सेण्ट्रल चौपाटी बिल्डिंग, चौपाटी,
मुम्बई-४००००७



गोस्वामिश्रो १००८ श्रीब्रजरत्नलालजी महाराज

ग्रन्थ--परिचय

कृष्णाश्रयस्तोत्रका प्रणयन अङ्गुलमे श्रीमहाप्रभुने लाहोरके बूला मिश्रके लिए किया था यह उल्लेख चौरासी वैष्णवतकी ४६वीं वातकि भावप्रकाशमे मिलता है इसका रचनाकाल वि स १५७० कहा जाता है १

बूला मिश्रका जन्म सारस्वत ब्राह्मणके घरमे हुआ था बूलाके पिता पुरोहिताईका काम करते थे— परन्तु और किसी तरह पढ़े-लिखे नहीं थे बूला जब दस वर्षके हुए तो पिताने बूला कर कहा—“बेटा ! तुम ब्राह्मणकुलमे जनमे हो. कुछ थोडा-बहुत शास्त्रोका अध्ययन करोग तो सम्मानपूर्ण जीवन जी पाओगे अन्यथा मेरी तरह अनपढ़ ही रह जाओगे”

पिताने जिस पण्डितजीके पास अपने पुत्रको विद्योपाज्जनेके लिए भेजा वह पूरा ‘लामपूजापरायण’ पण्डित था चेला पढते देखकर बोला-- “अच्छी तरह पढना हो तो पहले पाच-दस रूपया भेंटके रूपमे लाकर मेरी पूजा-भक्ति करो !” (पाच-दस रूपया आजसे पाच सौ वर्ये पूवे बहुत महगा था)

बूला मिश्र पबरा गये. भागकर घर आ गये भोहे तानकर पिताने पूछा— “कयो लोटकर घर आ गये न ? अरे, यहा घरमे पडे रहे तो ओरतोका काम चूल्हा फूकना ही सिर्फ सीख पाओगे कयो गुरूजीके घरमे रहनेमे क्या लज्जा आती है?” बूला बोल— “अरे, यह पण्डितजी तो पढानेसे पहले ही गुरु-दक्षिणा माग रहे है। ओर यहा तो किसीके भी पास जाऊ, गति यही होगी सो मैं तो काशी जाऊगा पढने.” बूलाके पितानेने ताना कसा— ‘घरके बाहर निकलनेकी हिम्मत है नहीं ओर बेटा काशी पढने जायेगा !”

देस लग गयी इस बातसे बूलाके मनपर. बूलाने अपने पितानेके पेर छुए ओर घरते बाहर निकल गये भोख मागकर पेट भरते हुए किसी तरह काशी पहुचे वहा भी भिक्षावृत्तिके अलावा कोई चारा न था पर एरु पण्डितानेने पढानेकी दयालुता बूलानेके दिखलाई बूलाके कठोर परिश्रमके बावजूद भी तीन वर्येकी अवधिमे कोई विशेष विद्याज्जन हो नहीं पाया शेना ही निरास

हो गये, अध्यापक भी और विद्यार्थी भी एक रोज पण्डितजीने साफ-साफ कह ही दिया—“बूला ! तुम्हारे भाग्यमें सरस्वती नहीं है. व्यर्थ परिश्रम क्यों करते हो ?”

बेचारे बूला मिश्र खिन्न हो गये. पण्डितजीकी पाठशालासे निकलकर घहरके बाहर गंगाके तटपर अन्न-जलका त्यागकर बैठ गये ब्राह्मणोचित महत्वाकांक्षाको लिये हुए एक ब्राह्मणबालक काशीमें तीन वर्षतक रहकर भी विद्यार्जन न कर पाये तो दूसरा मार्ग और क्या हो सकता था? बूझने सोचा कि या तो इस तपस्यासे सरस्वती प्रसन्न होगी, नहीं तो फिर इसी तरह प्राण-त्याग देना उचित है तीन दिन बाद सरस्वतीकी वाणी सुनायी दी कि सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार होता है भगवदिच्छा होनेपर चाण्डाल भी विद्वान् हो सकता है और भगवदिच्छा न होनेपर ब्राह्मण भी मूर्ख ही रह जाते हैं

‘विवेकस्तु हरि सर्वं निजेच्छात करिष्यति’

‘प्राकृता सकला देवा गणितानन्दक बृहत्,

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम”

बूला मिश्रके भीतर विवेक तो जागा परन्तु घबंर छूट गया बुलाने सोचा कि यदि सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार ही होता हो तो भगवान्की इच्छाको बदलनेके लिए भगवान्के नामपर ही भूषणहस्ताल करनी चाहिये। एसा विचारकर बूला ‘विष्णु विष्णु विष्णु’ जप करते हुए भूखे प्यासे बँठे रहे अधीर होकर ही सही पर भगवन्नाम लेनेपर बूला मिश्रको भगवत्साक्षात्कार हुआ और श्रीमहाप्रभुके पास अडल जानेकी भगवदाज्ञा भी हुई. बूला मिश्र भगवदाज्ञा पाकर अड्डेल पहुँचे श्रीमहाप्रभुने इनका स्वागत किया और कहा “बूला ! तुम धन्य हो तुमने भगवद्दर्शन पाये !” बूला मिश्रने सविनय निवेदन किया—“महाराज ! भगवत्साक्षात्कार आपकी कृपाका फल है परन्तु भगवद्दर्शन होनेके बावजूद भगवत्स्वरूपानन्दका अनुभव मुझे नहीं हुआ।” श्रीमहाप्रभुने समझाना चाहा—“एकबार भी भगवत्साक्षात्कार हो जानेपर सासारिक मोहके बन्धनका भय नहीं रह जाता, जोव मुक्त हो जाता है। इसपर बूला मिश्रने विनती की—‘महाराज ! मुझे मुक्ति नहीं चाहिये—भक्ति चाहिये अतः कृपाकर आप अपनी शरणमें मुझे लें।’”

श्रीमहाप्रभुने प्रसन्न होकर बूला मिश्रको यमुनाजीमें स्नान करनेकी

आज्ञा दी और पश्चात् अष्टाक्षर तथा ब्रह्मसम्बन्ध का दान दिया. समग्र शारंगोके गुह्यतम रहस्यके उपदेश तथा मानसीसेनोपयोगी मनकी सिद्धि के लिए श्रीमहाप्रभुने कृष्णाश्रयस्तोत्रकी रचना की और उसे ब्रूया मिश्रको पढ़ाया

‘आश्रय’ शब्दके दो अर्थ होते हैं: १) सहारा देनेवाला २) सहारा लेनेकी क्रिया. अतएव द्विवेकधर्याश्रय ग्रन्थमें जब—“श्रीहरिके आश्रयसे सारे अदावय कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं (अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेद्)” कहा तो वहा ‘आश्रय’ का अर्थ शरणगति या सहारा लेनेकी क्रिया है. इसी तरह भागवतके द्वितीयस्कन्धके — “जगत्के उत्पत्ति एवम् प्रलय के कर्ता तथा उपादान रूप परब्रह्मको ‘आश्रय’ कहा जाता है (आभासश्च निरोपश्च यतश्चाध्यवसीयते स आश्रय पर ब्रह्म परमात्मेति शब्दयते)” इन वचनमें ‘आश्रय’ शब्द आधार या सहारा देनेवालेके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है. ‘आश्रय’ शब्दके इन दोनों अर्थोंको लेकर ही “कृष्ण एव गतिर्मम” में ‘गति’ शब्द प्रयुक्त हुआ है. अर्थात् भगवान् ही साधन हैं और भगवान् ही फल भी—भगवान् ही मार्ग हैं और गन्तव्य भी— भगवान् श्रीकृष्ण सभी अर्थोंमें हमारे आधार—आश्रय—गति हैं. अतएव “कृष्ण एव गतिर्मम” का अर्थ—कृष्ण ही हमारे आश्रय हैं और कृष्णमा ही हमें आश्रय लेना चाहिये—दोनों तरहसे लिया जा सकता है.

इस जगत्में अनेक प्रकारकी जीवात्मायें हैं कुछ जीवात्माओंमें लौकिक फलोंकी प्राप्तिके लिए लौकिक साधनोंके आश्रयकी वृत्ति प्रबल होती है प्रवाही जीवात्माओंका यह प्रमुख स्वभाव होता है. कुछ जीवात्माओंमें वेदादि—शास्त्रीय फलोंकी प्राप्तिके लिए केवल शास्त्रीय साधनोंके ही आश्रयकी वृत्ति प्रबल होती है मर्यादामार्गके अन्तर्गत कर्ममार्गीय जीवोंमें यह स्वभाव बलवान् होता है कुछ वैदिक फलोंकी प्राप्तिके लिए वैदिक साधनोंके साथ-साथ भगवान्की भी आश्रयके रूपमें अपनाते हैं मर्यादामार्गके अन्तर्गत ज्ञानमार्गीय उपासनामार्गीय तथा मर्यादाभक्तिमार्गीय साधकोंमें यह स्वभाव पाया जाता है कुछ जीवात्माओंको भगवान्के अलावा अन्य किसी फलकी कामना होती नहीं है अत वे साधनके रूपमें भी केवल हरिका आश्रय स्वीकारते हैं ऐसे जीवोंको पुष्टिजीय समझना चाहिये (दृष्टव्य भागवतार्थ—निबन्ध ५-६/१२). अतएव “कृष्ण एव गतिर्मम” मनोभाव पुष्टिजीवका परम लक्षण है

भागवतके बारहवें स्कन्धका वर्ण्य-विषय भी आश्रयलीला ही है. भागव-
तार्थ-निबन्धमें 'आश्रय' शब्दके अनेक अर्थ दिखलाये गये हैं.

यथा-भागवतके द्वितीय स्कन्धसे लेकर ग्यारहवें स्कन्धतक भगवान्की
जिन सर्ग विसर्ग स्थान पोषण ऊति मन्वन्तर ईशानुकथा निरोध और मुक्ति
रूप लीलाओंका वर्णन किया गया है, उन लीलाओंके कर्ता-आश्रय एकमात्र
श्रीकृष्ण ही है. ये नवविध लीलायें लक्षण हैं और इनसे लक्षित लक्ष्य-आश्रय
एकमात्र श्रीकृष्ण ही हैं. इन नवविध लीलाओंका वर्णन भागवतकारने इसी
हेतुसे किया है कि जिन-जिन विभूतिरूपोंको धारण कर सर्वलीलासे लेकर
ईशानुकथातक की लीलायें भगवान् करते हैं उन सभी रूपोंके साथ भगवान्-
का कार्य-कारणरूप शुद्धाद्वैतरूप सम्बन्ध है. अर्थात् एक ही ब्रह्मका नाम-रूपमें
विस्तार यह समय ब्रह्माण्ड है (सर्वं खलु इदं ब्रह्म). कार्यरूप सभी लौकिक
या अलौकिक विभूतिनामों तथा विभूतिरूपों को धारण करनेवाला कारण-
रूप परमात्मा एक ही है, ऐसा शुद्धाद्वैत-बुद्धिसे समझना आवश्यक है. हृदयसे
स्नेह या आश्रय किन्तु विभूतिनाम अथवा विभूतिरूप का नहीं प्रत्युत मूल-
रूप श्रीकृष्णके ही नाम-रूपका होना चाहिये (ब्रह्मरूपं जगत् ज्ञातव्यं ब्रह्म
जगतोतिरिच्यते इति न तत्रासावित कर्तव्या). अतः प्रथमस्कन्धसे लेकर नवम
स्कन्धतक वर्णित लीलायें अन्याश्रय छुटानेके लिए हैं तथा दशम स्कन्धसे
लेकर द्वादश स्कन्धतक की लीलायें कृष्णाश्रयके पृढीकरणार्थ हैं. हमने कह
दिया है कि द्वादश स्कन्धका मुख्य वर्ण्य-विषय आश्रयलीला है. भागवतार्थ
निबन्धके द्वादशस्कन्धार्थ-प्रकरणमें श्रीमहाप्रभु कहते हैं— "कृष्ण एवाश्रयो
मतः" यही वाक्य इस कृष्णाश्रयस्तोत्रमें "कृष्ण एव गतिर्मम" के रूपमें रखा
गया है

एवकार इतरव्यावर्तक माना जाता है श्रीकृष्णके मूलरूपके अलावा अन्य
सारे विभूतिरूप—लौकिक हो या अलौकिक—जड़ हो या चेतन—देव दानव
मानव पशु पक्षी इत्यादि सभी रूपोंको भक्तिमार्गीय एवम् प्रपत्तिमार्गीय
आश्रयके दृष्टिकोणसे इतर माना जाता है. ज्ञानमार्गीय दृष्टिकोणसे शुद्धाद्वैत-
वादके अनुसार ये सर्वथा अभिन्न ही हैं परन्तु इस अभेदबुद्धिसे ये विभूतिरूप
आश्रयणीय नहीं किन्तु केवल ज्ञातव्य हैं अतएव सभी विभूतिरूप एवकार-
द्वारा व्यावर्तनीय माने जाते हैं. इस "कृष्ण एव गतिर्मम" के एवकारकी ही

व्याख्या श्रीमहाप्रभुने— “अन्यस्य भजन तत्र स्वतो गमनमेव च, प्रार्थना कार्य-
मात्रेपि ततोऽन्यत्र विपर्ययेत्.” इस विवेकधैर्याश्रयकी कारिकामें दो हैं

अन्याश्रय-रहित केवल श्रीकृष्णका आश्रय ही उचित है, यह दिखलाने के लिए अन्योके आश्रयकी विफलताका बोध आवश्यक है. तदनुसार इस स्तोत्र-
के प्रथम तीन श्लोकोमें लोकाश्रयकी विफलताका निरूपण किया गया है तथा
द्वितीय तीन श्लोकोमें धर्माश्रयकी विफलताका तृतीय तीन श्लोकोमें
कृष्णाश्रयकी महत्ताका निरूपण क्रमशः कर्ममार्गीय ज्ञानमार्गीय तथा भक्ति-
मार्गीय दृष्टिकोणसे किया गया है अन्तिम दो श्लोकोमें पृथक्शरण-मार्ग
अथवा प्रपत्तिमार्गके उपदेशद्वारा गीताको तरह श्रीमहाप्रभुने भी सम्पूर्ण
निर्भयताका वरदान दिया है

एक अन्य रीतिसे प्रारम्भके छह श्लोकोमें काल देश द्रव्य कर्ता मन्त्र तथा
कर्म जो धर्मके आवश्यक छह अंग हैं, उनको विफलता दिखलाते हुए, द्वादश
स्कन्धके वर्ण्य-विषय पञ्चविध आश्रय — कृष्णाश्रय जगदाश्रय वेदाश्रय भक्ति-
आश्रय तथा भागवताश्रय—के अनुरूप पाच श्लोकोमें भगवदाश्रयकी महत्ताका
निरूपण किया गया है.

एक तृतीय रीतिसे देखनेपर प्रारम्भके नौ श्लोकोमें नवविध लीलायं
गृहीत विभूतिरूपोका अन्याश्रय छुड़ानेके लिए नौ श्लोकोमें—“कृष्ण एव गति-
मम” कहकर इतराश्रयका वारण किया है तथा दसवें श्लोकमें कृष्णाश्रयको
सुदृढ किया गया है. ग्यारहवें श्लोकमें इस कृष्णाश्रयस्तोत्रकी फलश्रुति
कही गयी है.

इस एक ही स्तोत्रमें वाक्यपति श्रीमहाप्रभुने अनेक विवक्षाओंसे अनेकधा
कृष्णाश्रयका निरूपण बूला मिश्रको समझाया है.

१) कलियुगके कारण धर्मानुष्ठानमें भी या तो आंतरिक दुराशयकी
प्रचुरता ही सर्वत्र दिखलायी देती है, या फिर ईश्वर-भजन-विरोधी उपधर्मों
अनोश्वरवादी ज्ञान वैराग्य अहिंसा दया लोकौपकार इत्यादि — के पापगडका
ही प्रचुर प्रचार दिखलायी देता है इससे भगवत्प्राप्तिके कर्म ज्ञान और
भक्ति मार्ग अवरुद्ध हो गये हैं. तथापि जिन्हें साधन और फलके रूपमें एक-
मात्र श्रीकृष्णका ही आश्रय है उन्हें किसी तरहका भय नहीं रह जाता. अतः
इस कलियुगमें एकमात्र श्रीकृष्ण ही गति हैं.

२) सारी देस तामसी म्लेच्छ शक्तियोंसे आक्रान्त हो गया है लोभ-लालच कामुकता-व्यभिचार लूट खसोट हिंसा-व्रत्याचार जैसे पापोंके अनेकिक अड्डे ही सर्वत्र चल निकले हैं स्वधर्म-पालनका जो थोड़ा-बहुत प्रयास करते भी हैं उन्हें अनेकविध पीडा और बलेशो से सन्वस्त किया जाता है ऐसी स्थितिमें सज्जनोका व्यग्र हो जाना स्वाभाविक बात है ऐसी स्थितिका सामना करनेके लिए केवल श्रीकृष्ण ही हमारे सम्बल हो सकते हैं

३) सभी पवित्रस्थल मन्दिर आश्रम वन पर्वत सरोवर गंगा आदि तीर्थ, वनलोलुप तथा दुष्कर्म-निरत धर्मध्वजी उपदेशक पण्डा पुजारी पुरोहितों से घिर गये हैं अतः इन पवित्र स्थलोका जैसा आधिदैविक प्रभाव प्रकट होना चाहिये वह दिखलायी नहीं देता परन्तु जिन भक्तोंमें श्रीकृष्णकी लालसा है उनकी कभी दुर्गति नहीं होगी

४) कर्ता धर्मका चतुर्थ अंग माना जाता है. वर्तमान युगमें धर्म-भावनासे धर्मनिष्ठान करनेवाले कर्ता दुर्लभ ही गये हैं. सारे धार्मिक अनुष्ठान पण्डित-मन्य लोगोद्वारा राजसी-तामसी प्रकृतिके म्लेच्छोंने अनुसरण और अनुकरण के रूपमें किये जा रहे हैं और तिसपर भी धन और यश की लोलुपता ही इनका मुख्य हेतु होता है फिर भी बुद्धिप्रेरक श्रीकृष्णके चरणारविन्दोका जिहें आश्रय है उन्हें ऐसी क्षुद्र लालसाओसे श्रीकृष्ण ही बचावमें

५) धर्मके पाचवे आवश्यक अंग मन्त्रोंमें भी अब वह प्रभाव नहीं रह गया है किसी योग्य अधिकारी गुरुके समक्ष प्रणिपात परिप्रसन और परिचर्या की शास्त्रीय विधिके अनुसार तत्तद् मन्त्रोंके विभिन्न ग्यास तात्पर्य और विनियोग के परिज्ञान तथा मन्त्रार्थ अपेक्षित व्रत एवम् दुष्टि के पालनपूर्वक दीक्षाग्रहण करनेसे मन्त्रोंमें प्रभाव उत्पन्न होता है इनके विपरीत आजकल अयोग्य-अनधिकारी व्यक्तिओंसे अशास्त्रीय विधियों ग्यासादिके परिज्ञानके बिना तथा मन्त्रार्थ अपेक्षित व्रतादि दुष्टिके बिना ही मन्त्रग्रहणकी रीति चल पड़ी है अतः मन्त्रकी आधिदैविक शक्तिके तिरोहित हो गये हैं. प्रत्युत सभी मन्त्र प्रभावहीन और निष्फल हो गये हैं परन्तु श्रीकृष्ण तो मन्त्रशक्तिके अधीन नहीं हैं. प्रत्युत सभी मन्त्रशक्तियाँ श्रीकृष्णके अधीन हैं अतः श्रीकृष्णका ही आश्रय लेना चाहिये

✓ ६) धर्मके छोटे आवश्यक अंग कर्मका भी स्वरूप भ्रष्ट हो गया है, नयो कि जगत्में अनेक प्रकारके वाद चल निकले हैं जो कर्म शास्त्रवदृष्टया आवश्यक होते हैं उन्हें ये वाद निरर्थक मान लेते हैं, जो कर्म शास्त्रीय दृष्टिसे बहुत आवश्यक नहीं होते उन्हें ये वाद अनिवार्य सिद्ध करते हैं, जो वाद शास्त्रोंका प्रामाण्य मानते हैं वे भी अर्धभ्रष्टासे शास्त्रोंके मन कल्पित अर्थ निकाल लेते हैं शास्त्रोंके इस तरहके अन्यथा व्याख्यानके कारण भ्रान्त अनुयायी शास्त्रीय कर्मोंका अनुष्ठान भी अन्यथा रीतिसे करने लग जाते हैं, जैसे अकरणसे कर्मोंका स्वरूपतः नाश होता है वैसे ही अन्यथाकरणसे कर्मोंका फलतः नाश होता है, प्रायः यथाविधि कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले भी केवल दुनियाको दिखानेके लिए कर्मोनुष्ठानका पापण्ड ही करते हैं अतएव कर्मोंका प्रभाव ही क्षीण हो गया है फिर भी अन्वाश्रय-दोषरहित होकर श्रीकृष्णमें आश्रयभाव रखना कभी निष्फल नहीं जाता अतः कृष्ण ही अव केवल आश्रयणीय रह गये हैं।

इस तरह प्रथम तीन श्लोकमें लोकनाश एवम् द्वितीय तीन श्लोकमें धर्मनाशके निरूपणके वाद, अब जैसे कि भागवतके वारहवें स्कन्धमें पञ्चविध आश्रयका निरूपण माना गया है, तदनुसार श्रीकृष्णकी आश्रयरूपताका भी पांच ही श्लोकोंमें वर्णन किया गया है सातवें श्लोकमें कर्ममार्गीय दृष्टिकोणसे, आठवें श्लोकमें ज्ञानमार्गीय दृष्टिकोणसे, नौवें श्लोकमें भक्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे तथा दसवें-ग्यारहवें श्लोकमें प्रपत्तिमार्गीय दृष्टिकोणमें भी एकमात्र श्रीकृष्ण ही आश्रयणीय है, यह दिखलाया जा रहा है

७) कृष्ण सर्वोद्धारक है अतः सुसाधन निःसाधन एवम् दुष्टसाधन जीवोंका भी उद्धार करनेमें समर्थ है अजामिलका उपासमान भागवतके छठे स्कन्धमें उपलब्ध होता है कि कैसे-कैसे निन्दित कर्मोंम निरत होनेपर भी भगवदनुग्रहवशात् उसके सारे कर्मदोष बिना तरकयातनाके ही नष्ट हो गये अतः कर्ममार्गीय दृष्टिसे केवल श्रीकृष्ण ही आश्रयणीय है, अजामिलके प्रसंगमें जैसे भगवान्ने स्वयम्के नामका माहात्म्य प्रकट किया इसी तरह श्रीकृष्णके ध्यान अर्चन आदिका भी माहात्म्य वहा दिखलाया गया है मूलतः कृपा ही साधन है, बाकी उद्धारका व्यापार या व्याज तो भगवान् शास्त्रतः विहित अविहित या निषिद्ध कर्मोंको भी बना सकते हैं श्रीकृष्णका यही तो माहात्म्य है कि वे

काम मय द्वेष सम्बन्ध स्नेह या भक्ति किसी भी भावमूलक कर्मको अपने अनुग्रह-के प्रकट होनेका निमित्त बना सकते हैं. अतः "कृष्ण एव गतिर्मम."

८) ज्ञानमार्गीय दृष्टिकोणसे भी आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, इन्द्र एवम् प्रजापति; अथवा अग्निसे लेकर ब्रह्मा-विष्णु-शिव पर्यन्त तृतीस कोटी देव सभी भगवान्‌के अंश-कलावतार-रूप हैं तथा भगवान्‌की सर्वभवन-सामर्थ्यरूपा माया या प्रकृति के द्वारा लिये गये भगवद्रूप हैं. अतः वे स्वयम् आविर्भाव-तिरोभावशाली हैं. अक्षरब्रह्म यद्यपि देशतः कालतः तथा स्वरूपतः अपरिच्छिन्न एवम् पुरुषोत्तमसे अविच्छिन्नतया स्थित होता है तथापि अक्षर ब्रह्म भगवान्‌का ज्ञेयरूप है भजनीय रूप नहीं. अतः अक्षरब्रह्मका गणिता-नन्दकी तरह अनुभव होता है, पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी तरह अगणिता-नन्दके रूपमें नहीं. अतः उपासनामार्गीय देवोंकी और ज्ञानमार्गीय अक्षरब्रह्मकी तुलनामें भी उपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन या भजनीयत्वेन भी एकमात्र श्रीकृष्ण ही आश्रयणीय है.

९) भक्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे भी पूर्ण विवेक धर्म या भक्ति आदिके अभावमें भी — मन कितना भी पापासक्त क्यों न हो परन्तु दैन्यके साथ एकवार जीव शरणागत हो जाता है तो मुदुराचारीको भी साधु-पुरुष बना देनेवाली श्रीकृष्णकी भक्तिका लाभ ही होता है.

(१०-११) प्रपत्तिमार्गमें तो स्वयम् प्रभुने — "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः" कहा है. अतः कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ — सर्वसमर्थ तथा भक्तोंके अखिल मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले श्रीकृष्ण यदि शरणागत जीवोंका उद्धार नहीं करेगे तो और फौन करेगा? अतः श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिजोषोंको आश्वस्त करना चाहते हैं कि इस कृष्णाश्वस्तोत्रका जो श्रीकृष्णकी सन्निधिमें पाठ करेगा उस पाठकर्ताके श्रीकृष्ण आश्रय वनेगे. जैसे अखिल ब्रह्माण्डके नाथ होनेपर भी अपने आश्रित प्रबभनतोके लिए छोटेसे गोकुलके नाथ श्रीकृष्ण बने ही हैं !

बूला मिश्रको हम देख सकते हैं कि इसी कृष्णाश्रयस्तोत्रके कारण न केवल विद्वद्गुर्लभ वाक्सिद्धिकी प्राप्ति हुई अपितु मानसी-नेवोपयोगी अलौकिक मन भी सिद्ध हो गया (अलौकिकमनःसिद्धी शरणं भावयेद् हरिम्). विवेक-

धैर्याश्रय ग्रन्थमें कहे गये विवेक और धैर्य सिद्ध हों या न हों पर ऐहिक-पार-
लौकिक सभी विषयोंमें श्रीकृष्णका आश्रय सभीके लिए सर्वदा हितकारी ही
होता है. इसी कृष्णाश्रयको दृढ़ करनेके लिए इस स्तोत्रकी रचना की गयी है.

“कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्णः इति श्रीवल्लभोज्ज्वीत् ॥

प्रस्तुत संस्करण वि. सं. १९८३ में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट
प्रॉसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. उक्त संस्करण गोस्वामिकुलभूषण श्रीरणछोड-
लालजी महाराजके ‘श्रीजीवनेशाचार्थं पुष्टि सिद्धान्त कार्यालय’से प्रकाशित
हुआ था तथा उसके सम्पादक थे श्रीहरिकृष्णजी शास्त्री. इन दोनों महा-
शुभावोका हम पुनर्मुद्रणावसरपर कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं.

भास्ताविकम्

साहित्योद्धृतिविषये स्वपितृपादाननुवृत्तन्तीति प्रत्यक्षमेव सर्वेषाम् । एतेषां समाश्रयेणा-
नेके साम्प्रदायिकाः प्रयन्त्या घटिर्वन्तैरुः । पौष्टशयन्यानां सेवाफलादि मन्याएकं नरमं
कृष्णाश्रयस्तोत्रं चैतेषामेव प्रयन्त्यरत्नेन लब्ध्वायतारं श्रीमदाचार्यवामुपापिपागूनां
मनोरपपुरकं भवतीति महान् प्रयोदावसरः । अपि चैतादृशसत्त्ववृत्तौ योग्यविधिन्सया
परम्परणया दशवर्षाणि मे सर्वविधासाहाय्य दत्तवद्भयो गोस्वामिश्रीगोकुलनाथजि-
देशिकवरेभ्यः साञ्जलि कार्तव्यमानेदयामि ।

अस्मिन् सशोधने दृष्टिदोषतो ह्युदाहरणोत्कृष्टमादतो वा नावानि स्वल्पितानि
संशोच्य तास्ता अशुद्धीर्नोधयित्वानुसृष्टन्तु दयान्वयो विद्वांसो मामिति मार्यपति—

दृष्णाष्टमी
संस् १९८३

विद्वन्ननृपामिनापि—
हरिदृष्णाः शास्त्री,
'शुद्धाद्वैतविशारदः' ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।



सर्वमार्गेषु नष्टेषु कर्त्ता च खलधर्मिणि ।
पापण्डप्रचुरं लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥
म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाभ्यग्नलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥
गङ्गादितीर्थवर्षेषु कुष्ठैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥
अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।
लाभपूजार्थगत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥
अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्ववतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥
नानावाद्विनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पापण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥
अजामिलादिदोषाणां नाशकोनुभवे स्थितः ।
शापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥
प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं वृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥
विवेकवैषम्यवक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥
सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वश्रेयाखिलार्थकृत् ।
शरणस्यसन्नुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥
कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोब्रवीत् ॥ ११ ॥
इति श्रीमद्भक्तिसुखाचार्यचरणामादुर्मावितं कृष्णाश्रयस्तोत्रं सम्पूर्णम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
 श्रीगोपीजनवत्सभाय नमः ।
 श्रीमदानार्थचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्रघुनाथचरणविरचितविवरणविभूषितम् ।

य आविरासीदोरेहिम्न कलौ श्रीवत्सभाभिधः ।

निजदास्यं स नो देवाद्देवाद्दपि दुराश्रयात् ॥ १ ॥

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पापण्डुप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

सर्वमार्गेष्विति । सर्वे कर्मज्ञानोपासनाद्यस्ते म्रियन्ते तत्तत्कलार्थिभिरिति
 मार्गा इष्टमाद्युपायास्तेषु सर्वेषु नष्टेषु तिरोहितेषु सन्तु । अनेन जीवानां सर्वपैवा-
 गतिकत्वं सूचितम् । एवंविधेष्वप्यस्यैषं मम सर्वस्वनिवेदिनो दासस्य कृष्ण एव
 गतिः शरणं, मातृव्यर्थं औश्रयणं च । अत्रास्त्वितिपदं व्याख्यानेऽप्याहार्यम् ।
 एवकारेणान्यनिषेधः सूचितः । किं च, कालकृतोपद्रवेणाप्यगतिरत्वं कलौ चेत्यने-
 नाहुः कलाविति । वद्विधर्मरूपाभासोन्तदौपमस्तो धर्मः खलो भवति, तादृशो धर्मो
 यस्मिन्कलौ । खलानां दांभिकरहितकृपापण्डितमेव धर्मो यस्मिन्निति वा, क्वचिदखल-
 धर्मिणो'त्यपि पाठः श्रूयते, तत्रापि खरो रौद्रो धर्मो यस्मेति, अत्रैव व्युत्पत्तिः-
 खलश्चासौ धर्मधेतिकर्मधारये कृते पथान्यत्त्वर्थांषु 'इति'प्रत्ययः, नो चेद्रुग्रीहो 'क'-
 प्रत्ययः प्रसज्येत । चकारात्कर्मज्ञानायतिरोधानेषु फलपतिरिक्तकालेषुपि । किञ्च,
 पापण्डुो वेदबाहो धर्मः, समचुरः अधिको गरिमन्, एवंविधे लोके अप्यवर्षिजनतायां
 सत्यां, सर्वप्रकारेण कृष्णाश्रयणं विना निस्तारो नास्त्येवेति सर्वस्यापि फलिताप्यौ हेतवः ।
 अत एव 'मृष्टकार्दवायै'प्युक्तं, 'इरेर्नापैव नापैव नापैव मम जीवन्म् । कर्मो नास्त्येव
 नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथे'ति । अत्र सर्वत्रापि क्वचिद्विचित्रमर्थं, इति 'दशमं'
 कर्तव्यं' इत्यनेन सप्तमी ज्ञेया ॥ १ ॥

धर्मोदरत्तौ बागाश्रयन्तर्भेदेन पापमुद्गावपन्तो निष्पन्नुहं श्रीकृष्णाश्रयणं विदधति ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

म्लेच्छाक्रान्तेष्विति । धर्मायर्थिभिर्वास्योन्मेषु देशेषु कुरसेयगद्गातादियु
म्लेच्छैराक्रान्तेषु व्याप्तेषु सत्सु, अश्रोभयया म्लेच्छा सेवा जाता कर्मणा च । नम्येवं-
विधेष्वपि देशेषु पुण्यात्मानो भविष्यन्त्येव तैः सह धर्मायापरणं कुतो नेत्यत आह -
पापैकेति । कलिना मरुतत्वात्पापस्यैवैकस्य निलयाः स्थानभूता जाताः । पदारादनेकं-
विधेष्वपि । एतेन धर्मादिषु बाधसाधननिवृत्तिरक्षा । तस्याभ्यन्तरसाधनं स्वस्यादि कुतो-
नेत्यत आहुः—सत्पीडेति । सत्तां सत्सुरपाणां धार्मिकाणां भगवत्परायणानामपि पार-
श्री पीडा नोद्यता चादृश्या अपि दर्शनादन्वेषां विश्वासशैथिल्येन व्यथेषु विसिद्धिरित्यु-
क्तं सत्पनामृतेषु लोकेषु सत्सु । कृष्ण एव गतिर्ममेति पूर्ववशाप्येयम् ॥ २ ॥

ननु गद्गादिपूर्वोक्तपुष्पदेशानां वस्तुमामर्षेण साधनत्वं कुतो नेत्यादकूप वस्तु-
सामर्ष्यतिरोपानाम् तथात्वमिति सपारहितपूर्वकं कृष्णाश्रपततोयम्—

गद्गादितीर्थवर्षेषु दुष्टैरेवावृत्तेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गद्गादीति । आधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकादिदेशेन वैविध्यं तांसांदातवैरिति,
तत्र 'पुरुषधाधिदैवत्व'मितिनचनाजगत्प्रदेशेन तीर्थादीं सामर्थ्यरूपेणानेति मन्त्रव्ये,
तत्र भगवद्विन्द्यदेशानां बहुधा तिरोहितं, न तु सर्वेषां, अत एवैवेषु गद्गादितीर्थवर्षेषु
तीर्थैक्यदेशेषु म्लेच्छादिभिः केवलदुष्टैराटोषु मत्सु, इह अस्मिन् भूणोके कामे वा कृष्ण
एव गतिर्ममेति पूर्ववत् ॥ ३ ॥

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहङ्कारेति । विद्म, वयं सर्वज्ञाः के कश्चनोपि कश्चनो पापं वदं पृथक्
इत्येवंविधं अहङ्कारेण विशेषतो मृतेषु आपोदागोसप्तगन्धदेशेषु, 'लोकेष्वि'तिरदं पूर्व-
व्यादध्याहार्यम् । विद्म, मत्सु पदापूरणेषु पापे दुष्टान्तरान्तरात् इति यावत्, मत्सु सर्व-
पानयतुलित्वेन ये ते पापानुवर्तिनः, एवंविधेषु सत्सु, अपरा आधिकार्यं मत्सु मत्सुपेषु
पापानुवर्तिषु निषिद्धावधारणरेषु । विविदिष्टेषु तेषु लाभपूजैति । लाभो द्रव्यार्थः पूजा

स्वोन्नतिपूर्वकं लोककृतसम्माननं, अर्थः स्वयमोजनं, एतन्नित्यसिद्धपर्यमेव यत्न उद्यमो
येषां तेषु सत्सु, कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अपञ्चाननष्टेषु मन्त्रेष्वन्नतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञानेति । द्वैतजनमुर्वायुसच्यभावेन विद्योपशमात्याठार्यविनियोगादी-
नामपरिज्ञानेन मन्त्रेषु नष्टेषु विराहितेषु सत्सु, पुनः किञ्चिदष्टेषु अन्नतयोगिषु
अन्नतेषु अन्नतष्टेषु योगः स्थितिरस्ति एवामेतेनैवंविधेष्वतिरोहितानामप्यकिञ्चित्कस्त-
मेव । यद्वा, स्वस्वाश्रयस्या योगिन उच्यन्ते तेष्वन्नतेषु सत्सु । पुनः किञ्चिदष्टेषु
तिरोहितार्थदेवेषु । तिरोहितः गुप्तः अर्थो मन्त्रार्थः, देवोऽधिष्ठात्री देवता, एतद्वयं
येषां मन्त्राणां न ज्ञापते तैः कियानर्थः सेत्स्यतीति भावः ॥ ५ ॥

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मप्रतादिषु ।

पापण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानावादेति । कृत्वाकिञ्चिद्वाद्यागमोक्ता ये वादा वाप्यमालरूपाः 'यावज्जीवे-
स्तुखं जीवेदि'त्येवंरूपाः, तैः कृत्वा वैदिकागमापुस्तकसर्वकर्मप्रतादिषु विनष्टेषु विरोपतो
नष्टेषु नास्तिक्येन पराङ्मुखेषु सत्सु । किञ्च, पापण्डेषु पेदादिविरुद्धार्थेनेव एकः
असाधारणः प्रयत्नः पुनः पुनरुद्यमो येषां, एवंविधेषु लोकेषु सत्सु कृष्ण एवेति
पूर्ववत् ॥ ६ ॥

विश्वासार्ये सदृष्टान्तमाश्रयणमाहुः—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादिदोषाणामिति । शूरीमर्तुर्ब्रह्मचरन्धोरनामिन्नान्नो दोषाणां महा-
पातकानां नाममात्रेण नाशकोऽस्मारुभुभवे स्थितः, शब्दानुभवे अन्तःसाक्षित्वत्वे वा
स्थितो विपयोऽनु इति यावत् । 'आदि'पदाङ्गवेन्द्रमहत्तमः, यमनोक्तस्थिता नास्तिकि-
णश्च । इदं तृप्तिहृत्परागादी प्रसिद्धम् । ज्ञापितं दैवजीवेष्वभिवृत्तं सप्रयं निवृत्तमाहात्म्यं
येन, एवंविधः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ७ ॥

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्राकृता इति। सकला ब्रह्मादयो ये देवास्ते प्राकृताः, प्रकृतिर्पाया तन्निवन्ध-
नोत्पत्तिस्थितिबिज्या, अतस्तेषामाश्रयणं न काञ्चादिभयनिवर्तकं प्रत्युत भयजनरुमेव ।
अत एवोक्तं दशमे 'पत्न्यो मृत्युष्पालभीतः पत्न्यापन्नि'त्यादौ । तर्हि बृहद्हरं तपास्त्विति
चेत्तदपि नेत्याह—गणितानन्दकमिति । ब्रह्मापेक्षया छतगुणितानन्दस्तेनापरिमिता-
नन्दत्वाभावात्पुरोत्तमापेक्षयात्तत्वाद्भरः सकलदुःखहारकस्य श्रीकृष्णस्य पूर्णानन्दत्वा-
दखण्डितानन्दत्वात्सर्वैरूपायैः सर्वात्मना, कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ८ ॥

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

विवेकेति । 'विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यती'त्येवंरूपः, त्रिविध-
दुःखसहनं धैर्यपदार्थः । भक्तिपदेन क्रमायातमाश्रयणमुच्यते । आदिपदेन तत्साधनान्यु-
च्यन्ते । एतेषां विविच्य निरूपणं तु 'विवेकधैर्याभय'ण्यारूपान्ते कृतमस्ति तव एवान-
गन्तव्यम् । विवेकादिभगवद्भरहितस्य मम कृष्ण एव गतिः । किञ्च, न केवलमेत-
द्राहित्यमपि तु विशेषतोऽतिशयेन पापासक्तस्य महापातकाचरणरतस्यापि । पापवर्ज-
नेऽसमर्थत्वाद्गन्तव्या दीनस्य । भगवताप्येतादृशानां स्वाश्रयेणैव सिद्धिरुक्ता 'मां हि पार्थ
व्यपाथित्य येपि स्युः पापयोनय'इति, 'अपि चेत्सदुराचार' इत्यादौ ॥ ९ ॥

सर्वस्वनिवेदिनां साधनं फलं च स्वप्नुरेव संपादयिष्यतीति प्रार्थनामपि तथैवाहुः—

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्ण विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

सर्वसामर्थ्येति । कर्तुमर्कतुमन्यथाकर्तुं समर्थत्वात्सर्वसामर्थ्यसहितत्वं मम
प्रसूः । किंविशिष्टः सर्वत्रैव यत्र काप्यखिलान्तर्वाञ्छितानर्थान्करोतीत्यखिलार्थकृत्
यतस्त्वमेवंविधः स्वामी अतः कारणात् कृष्ण हे परब्रह्म शरणस्थस्य शरणागतस्य
सम्पुद्धारं विज्ञापयामि अहं स्वप्नुरः स्थितः शरणार्थी ॥ १० ॥

एतत्पाठमात्रपरस्याप्येतदुक्तफलमाहुः—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीबल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्णाश्रयमिति । कृष्ण आधीयते येन स्तोत्रेण तत्कृष्णाश्रयं, कृष्ण आश्रयः मतिपाथोर्यो यस्येति वा । इदं यः कृष्णसन्निधौ समीपे 'सन्निधि'पदात्तदनन्वभक्त-समीपेपि पठनीयं सन्निधेस्तुल्यत्वात् पठेदधीयीत तस्याश्रयानभिज्ञस्यापि स्वयमेव कृष्ण आश्रयो भवेत् । कथयिदमतिदुर्लभमेतावन्पात्रेण मवेदिति नाशङ्कनीयं, यतः कारणात् इति श्रीबल्लभोऽब्रवीत् । इति इपर्यं श्रीबल्लभ आचार्यवर्योऽब्रवीदुक्तवानतः किमाश्रयम् । अत्राचार्यवचनानां वस्तुशक्तिरेव प्रयोजिका, यतस्तद्वचनैः प्रेरितो भग-वांस्तदाश्रयो भवति न तु तत्कृतयन्वपि साधनयपेक्षते ॥ ११ ॥

सुतेन धीयतां कृष्णः किमापेक्षिन्त्या मुधा ।

आचार्यवानमुधासिक्ता पाकृद्दं संशयं जनाः ॥ २ ॥

आचार्यवरणाम्भोजे ददं विश्वस्य विस्तरात् ।

रघुनाथप्रकारेदं कृष्णाश्रयविचारणम् ॥ १ ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथस्य कृतौ

कृष्णाश्रयस्तोत्रविचरणं संपूर्णम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णांश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमत्कल्याणरायचरणविरचितप्रकाशप्रकाशितम् ।

यद्दीलालत्रसंस्पर्शात् रोचन्नेज्यदाशिवः ।

तं राधाहृदयानन्ददायकं कृष्णमाश्रये ॥ १ ॥

यत्कृपादृष्टिनो जन्तुर्गोविन्दं विन्दते मुदा ।

भक्त्याहं तापिमावापानभिकन्देर्ज्यसिद्धये ॥ २ ॥

श्रीकृष्णाश्रयस्य सर्वसाधकान्द्विषयानां तदर्थं परमदानमिव कुर्वन्कः श्रीपदा-
चार्यचरणाः कृष्णाश्रयस्तोत्रं निरूपयन्ति । तत्रापुना देवादिषु देवाभयानामाश्रय-
वदन्तो भक्तानां भगवानेव सर्वमाश्रयस्तुर्विभूतार्थस्य इति, दत्तयोऽनिमित्त-
इति, दत्तविषयकसेव्य इति, माणानाविसास्य स्तोत्रस्य सर्वमाश्रयमिति च दत्तभिः
श्लोकैः मार्थनाभ्यासेन तं स्तुवन्ति । तत्र प्रथमं मुरुपाह्वानाभ्यास्य तत्रामाश्रय-
वदन्तः कालधर्मनिराकरणपूर्वकमाश्रयं मार्थयन्ते—

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पापण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

सर्वमार्गेष्विति । कलौ खलधर्मिणि खलोऽन्तर्दुष्टो धर्मस्तदिति मतिः । 'खल-
मिणी' तिसाठे दुःसहोदृष्टिने कलौ सर्वमार्थः । 'वृषिर्भूवाचके' निराश्रयनिरूपयः सदानन्दः
पुरुषोत्तम एव मय गम्यत इति गतिराश्रय चेति कालौ किं कर्ममात्रकोचिदिति शेषः ।
खलधर्मिणाहुः—लोके जने पाण्डः मनुजः सर्वमार्थमाश्रयो यन्मिच्छात्वे मतिः । अत्र एव
सर्वं मर्मैव इति मार्गाः पुरुषार्थोपायाः कर्मज्ञानादपन्नेषु नष्टमार्गेषु मन्तु, पापण्डमरेना-
दायमुत्सवाचकस्वर्गपदस्य लोकाश्रयजननाश्रयगुदपत्रननाश्रयमार्गस्य, मायावादादि-
निवेद्याज्ञानमार्गस्य, निरोधरत्नाहोकाराश्रयस्य, विभूतिरत्नाहोकारमार्गस्य च मुरुप-
कल्याणसाधकत्वेन नष्टमार्गम् । अकारान्तादेवादिषु कर्मिणां ननुगुणेषु मन्तु, एवमा-

रस्य विशेष्यान्वितत्वेनान्ययोगव्यवच्छेदकत्वाद्दशः कलादिर्वा गतिर्वास्त्वित्यर्थः । अन्यार्थकत्वादस्य सिद्धत्वेऽपि प्रार्थनं न दोषाय । ननु भक्तिमार्गस्यापि कलिकालस्य बाधकत्वाद्गृहाद्यासक्तिमत्त्वाद्भौतिकक्रियापरत्वात्पापसंभवाच्च भक्तिमार्गस्य कथमुद्धारकत्वं मुख्यफलसाधकत्वं चेति कर्मादितुल्यत्वात्किमाश्रयेणापीति चेत्, मैवं, भक्तिमार्गे त्वदुक्तदुपणानामभावात् । तथाहि—‘कलेर्दोषनिधे’रिति ‘कलौ तद्भरिर्कीर्तनादि’ति ‘कलिं सभाजयन्ती’त्यादिशक्यैर्बाधकत्वाभावादल्पकालेनैव फलसिद्धेः प्रत्युत साधकत्वात् । ‘शृण्वन् गृणन्’ ‘मद्भातायातयामानां न वन्वाप शृदा मताः’ ‘तावद्रागादयः स्तेना’ इत्यादिवाक्यैर्भगवत्परत्वे गृहादेर्वन्वहेतुत्वाभावात् । ‘एवं नृणां क्रियायोगा’ इत्यादिवाक्यैर्लौकिकक्रियाया अप्यलौकिकतुल्यत्वात् । ‘मत्कर्म कुरुवा’मित्यादिवाक्यैर्भगवत्सेवादिना विहिताकरणेषु प्रत्यवायाभावात्, ‘धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः’ ‘ते मे न दशमर्हन्ती’त्यादिवाक्यैः कदाचित्सातकसंभवेऽपि नरकाद्यभावात्कीर्तनादिनैव पापनाशात् । ‘सर्वधर्मान्परित्यज्य’ ‘अपि चेत्सुदुराचारः’ ‘यः कश्चिद्वैष्णवो लोके, ‘यानास्थायै’त्यादिवाक्यैराचाराद्यभावेऽपि फलसिद्धेः । ‘धर्मः सत्यदपोषेतः’ ‘धर्मः स्वनुष्ठितः’ ‘नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं’ ‘यमादिभिर्योगपर्यैः’ ‘श्रेयःश्रुति’मित्यादिवाक्यैर्वैया जलौकसां नित्यं जीवनं सलिलं पतम् । तथा समस्तसिद्धीनां जीवनं भक्तिरिष्यत’ इतिवृत्तान्तरदीयवाक्याच्च भक्तिरहितानां कर्मादीनामसाधकत्वात्, भक्तिसहितानामेव साधकत्वात् । ‘यत्कर्मभिर्यत्तपसा’ ‘चतुर्विधाः’ ‘अक्रामः’ ‘ज्ञाने प्रयासमुदपास्य’ ‘किमलभ्यं’ ‘रूपमारोग्यपर्या’नित्यादिवाक्यैः केवलभक्तेरपि सर्वसाधकत्वात् । ‘परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये’ ‘आत्मारामाश्च’ ‘नैकात्मतां’ ‘मद्भातां मधुद्वि’डित्यादिवाक्यैः स्वतोऽपि फलरूपत्वात् । अधुना कर्मादीनामधिकाराणां गतत्वाद्भक्तिमार्गे महदनुग्रहस्याधिकारत्वेनाधिकारिकृतस्यैव सकलत्वाद्ब्राह्मिकारभेदेन गौणमुख्यफलसंभवात् । एतदुक्तं ‘तत्तार्थदीपे’—‘अधुना बाधिकारास्तु सर्व एव गताः कलौ । कृष्णश्चेत्सैव्यते भक्त्या कलिस्तस्य फलाय ही’ति भक्तिसाध्यफलस्यान्येनासंभवादन्यसाध्यस्य भक्तेरानुपपत्तिरित्यान् कर्मादितुल्यत्वगन्धोऽपि । ननु पूर्णभक्तिमार्गस्याधिबन्धेऽपि साधिकृतस्य तत्तुल्यत्वमिति चेत्, न ‘स्मृत्यः’ ‘स्मृतेः’ ‘कृष्ण कृष्णे’ति ‘न वै जनो जातु’ ‘कृष्णैति’ ‘आलोड्ये’त्यादिवाक्यैः साधिकृतस्यापि फलसाधकत्वादन्यस्य तद्भावादलमुक्तिभिः ॥ १ ॥

१ एकतो हि विप्रकारकः—अन्ययोगव्यवच्छेदकोऽयोगव्यवच्छेदकोऽन्तर्गतोऽन्यवच्छेदकश्चेति, विशेष्यान्वितः प्रथमो दशा धर्म एव धनुर्धरा, विशेष्यान्वितो द्वितीयो यथा शङ्खः पद्मद्वयं, विपरीतवस्त्वृत्तौ दशा जीवं शरोर्धं भवत्येवेति । २. वचिनास्ति ।

भद्रश्रीगोविन्दराजकुलटिप्पणम् ।

मिच्छिन्द्वन्दोपपचारकेषां सुमक्तोपेण सुखकारिदेनाम् ।

पयोदनीकाशमनोऽश्वैशं तं चेङ्कटेऽं शरणं मय्ये ॥

नरवा श्रीवृद्धभाचार्यचरणे शरणे सताम् ।

कृष्णाश्रयमकारस्य व्याख्यानं सुनिरूप्यते ॥

संस्पृशोदिति । सम्पङ्क्तु सम्बन्धादित्यर्थः । सम्बन्धे सम्पक्त्वं चात्रान्यापरि-
भूतत्वम् । अन्यपदाशेष इति । न च अन्याथ ता आश्रयश्चेति विग्रहे अन्याश्रय इति
भाव्यमिति वाच्यम्, 'अथष्टपत्तीयास्थस्ये'ति दुर्गागमात् । राधाहृदयानन्ददापक-
मिति । राधाहृदयपामानन्दं ददातीति तथा । भयवत्सुखस्यानन्दरूपत्वान्नास्तुपपत्तिः
ऋचित्, इतरथाऽन्याप्यष्टचित्त्वेन सुखकथनस्यैवोचितत्वात् । अत एवोक्तं 'मेषामृत'श्री-
कायात् 'आनन्दोन्तःकरणदेहादिसर्वव्यापकः सुखव्यव्याप्यवृत्ता'ति । ननु 'आनन्दा-
द्धयेन खल्विमानि भूतानि' 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादिभिः धृतिभिरान-
न्दस्य भगवद्रूपत्वात्स्वदायक इत्यर्थः पर्यवसन्न इति चेत्, इष्टावत्वेऽ, स्वरूपान्दस्यो-
चितत्वात् । एतेनानयोरभेदः सङ्गच्छते । तदुक्तमाथर्वणीयकृष्णोपनिषदि 'पूर्णमेवा-
स्पदी राधा श्रीकृष्णपनसोद्भवा', तस्मात् भिद्येति । यत्कृपादृष्टिर्न इति । स्वीप-
त्वेन परिग्रहादित्यर्थः । अभिवन्द इति । भक्त्यर्थसिद्धये निनाचार्यान्भिवन्द इति
सम्बन्धः । तत्र सेवाविषयकमेष्णा निर्विघ्नप्रत्ययप्रतिभामित्तिद्वयार्थे निनाचार्यान्भिवन्द-
रूपं मङ्गलं शरीरीत्येवशावयार्थः । सेवा तत्र नमनादिरूपा । न च भेदविशिष्टेऽशयेति
वक्तुमुचितं, प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यात् । तथा चोक्तप्रसमदाचार्यनिबन्धे 'पान्वर्थः सेवा
प्रत्ययार्थः भेदेनि' । तत्रार्थदीपे तु 'भेदसेवान' इति क्लृप्तार्थकथनम्, अन्यथा
'भक्त्यर्थः प्रधानं महत्त्वार्थे विशेषणमित्तिग्यायविरोधः स्यात् । वस्तुनस्तु एतस्य
सामान्यन्यायत्वेन विशेषन्यायस्यैव बलीयस्त्वात् । एतदुक्तं विवरणे 'प्रकृतिहापपयोः
मत्प्रयार्थस्य प्राधान्यमिति सामान्यन्यायगापादिच्छाविषयतया दृढबोध्या एव शाब्दसाधनता-
न्वय इति स्वर्गकामादिवाच्ये क्लृप्तप्रियेऽन्यायस्य बलीयस्त्वात्त्वेन जिगमिषति अस्तिना
जिघांसतीत्यादिलौकिकप्रयोगेऽप्यदिरूपसाधनस्य 'तदन्नेष्टव्यं तद्विजिज्ञासितव्यं मन्-
व्यमित्यादिवैदिकप्रयोगे तन्प्राथम्यभूतविषये 'तन्'प्रत्ययमित्तिनेच्छाविषय एव गमना-
दारम्भस्य व्युत्पन्नत्वात् प्रकृत्यभिहितवायां जिघासां यज्ञार्थानां विनियोग इति । ननु
'भाने'इत्यधिकारात्प्रत्ययार्थस्य भावत्वमुचितं न तु भेदत्वमिति चेत्, अशोच्यते, भावार्थ-
कत्वं तु प्रत्ययस्य तावदुभयवादिस्तिद्वये, एत भावशब्देन देहादिविषयिणी रतिः प्रकृते

द्विष्णुम् ।

सर्गः । पुरुषाद्ब्रह्मादीनामुत्पत्तिर्विसर्गः । उत्पन्नानां तत्तन्मर्षादया पालनं स्यात् । स्थितानामभिष्टुद्धिः पोषणम् । घुष्टानामाचार ऊर्तिः । तत्रापि सदाचारो यन्वन्तरम् । तत्रापि विष्णुमक्तिरीशानुकम् । भक्तानां प्रपञ्चाभावो निरोधः । निष्पथानां स्वरूप-
लाभो मुक्तिः । मुक्तानां ब्रह्मस्वरूपेणावस्थानमाश्रय इति । दशविधभक्तसेव्य इति । साच्चिकसाच्चिकाः, साच्चिकराजसाः, साच्चिकनामसाः । राजसरानसा, राजस-
साच्चिका, राजसतामसाः । तामसतामसाः, तामसराजसाः, तामससाच्चिकाः । एके
निर्गुणा इत्येतैर्दशविधैर्भक्तैः सेव्य इत्यर्थः । प्रार्थनाव्याजेन स्तुवन्तीति । 'किमासनं
ते गरुडासनाये' इत्यनेन प्रार्थनाव्याजेनैव स्तुतिनिरूपणस्यैवोचितत्वादिति भावः । गम्यते
प्राप्यत इत्यर्थः । ननु 'भावे' इत्यधिकारात्कथमत्र कर्मणि प्रत्यय इति चेत्, सत्यम्,
'कृत्यल्युटो बहुल'मित्यत्र 'बहुल'मितियोगविभागात्तथा । अत एव 'एवं च बहुलग्रहणं
योगविभागेन कुन्मात्रस्यार्थव्यभिचारार्थं पादाभ्यां द्विष्यते पादहारकः कर्मणि ण्वुल्'
इति वैषाकरणशिरोमणयः । पापण्ड इति । पेद्विरुद्धत्वं पापण्डत्वम् । आत्मसुख-
वाचकेति । 'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं
स्वःपदास्पद'मित्यनेन स्वर्गपदस्यात्यसुखवाचकत्वादित्यर्थः । लोकभ्रमजननादिति ।
लोकत्वेन भ्रमजननादित्यर्थः । मायावादाभिनिवेशादिति । विवर्ताधिष्ठानत्वेन मायो-
पहितब्रह्मणः कर्तृत्वकथनादित्यर्थः । विवर्तस्तु अताच्चिह्नोऽन्यथाभासः । यद्वा, वस्तु-
नस्तदसमसचाको विवर्तः । अथवा कारणविलक्षणोऽन्यथाभासो विवर्तः । कारणभेदं
विनैव तद्रूपतिरेकेण दुर्बलं कार्यं विवर्त इति वा । निर्देश्वरत्वाद्दीकाराद्योगस्येति ।
निर्वाणयोगाङ्गीकारादित्यर्थः । योगस्तु चित्तवृत्तिनिरोधः स तु भगवद्ब्रह्मणामर्थमश्रुत्वे-
नोपयुक्त एकः । ध्यानभावेऽप्यात्मबोधाद्ब्रह्मभूतो द्वितीयः । उभावपि प्राणागिरी । पस्तु
स्वतन्त्रतया फलसाधकत्वेन प्रोक्तस्तथासिद्धिहेतुर्ज्ञानात्मा वा तयान्ये देहेन्द्रियादि-
साधकाम्बेऽपामाणिकाः । सर्वमेतच्च निबन्धे श्लष्टम् । फलिकालानुगुणेऽपि । 'द्वाप-
रादौ युगे भूत्वा फलया मानुषादिषु । स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनात्मदिगुस्वान् कुम्'
'मां च गोपय देव स्यात्प्रतिरेपोत्तरोत्तरे'त्यादिप्रपञ्चुराणां युक्तवचनैर्भादेवादीनां कलि-
कालानुगुणत्वस्य सिद्धत्वादित्यर्थः । अन्यार्थकत्वादिति । अत्र प्रमाणभूताः 'शुभिकं
शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम । ममाग्रे वचो विहृषेऽस्ति'त्यादय आगमा अनुसन्धेया
इति भावः । 'कलेर्दोषनिषे'रित्यारम्भाभरोपि फलगु'रित्यन्तानां वचनानां सद्ब्रह्म- 'कले-
र्दोषनिषे रामन्नस्ति योसो मदान् गुणः । कर्तृनादेव कृष्णस्य मुक्तवन्तः परं प्रवेद्' 'कृते
पदपापतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मरुतैः । द्वारं परिचर्यायां कथो तद्दरित्रीर्नाना' 'कलि

भट्टश्रीगोविन्दराजकृतटिप्पणम् ।

मिलिन्दवृन्दोपचारकेशं सुभक्त्योषं सुतकारिदेशम् ।

पयोदनीकाशयनोद्भवैशं तं पेङ्कटेशं शरणं प्रपद्ये ॥

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यचरणौ शरणे सताम् ।

कृष्णाभ्रपकाशस्य ध्यारूपानं मुनिरूपते ॥

संस्पृशादिति । सम्यक् सम्बन्धादित्यर्थः । सम्बन्धो सम्यक्त्वं चात्रान्यापरि-
भूतत्वम् । अन्यदाशिप इति । न च अन्यात्र ता आशिपथेति विग्रहे अन्याशिप इति
भाष्यमिति वाच्यम्, 'अपपुत्रपत्नीयास्यस्यै'ति दुर्गायाम् । राधाहृदयानन्ददायक-
मिति । राधाहृदयायानन्दं ददातीति तथा । भगवत्सुखस्वानन्दरूपत्वान्नानुपपत्तिः
काचित्, इतरथाऽन्याप्यवृत्तित्वात् सुखकथनस्यैवोचिततरात् । अत एवोक्तं 'मेधाभ्रव'टी-
कायाम् 'आनन्दोन्तःकरणदेशादिसर्वव्यापकः सुखमव्याप्यवृत्ती'ति । ननु 'आनन्दा-
द्धयेव स्वस्विमानि भूतानि' 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादिभिः श्रुतिभिरान-
न्दस्य भगवद्रूपत्वात्स्वदायक इत्यर्थः पर्यवस्यति इति चेत्, इष्टापत्तेः, स्वस्वदानस्यो-
चितत्वात् । क्षीनानयोरभेदः सङ्गच्छते । तदुक्तमार्यवर्णीयकृष्णोपनिषदि 'पूर्णमेवा-
स्पदी राधा श्रीकृष्णमनसोज्ञवा', तस्मान्न भिन्नैति । यत्कृपाहृष्टिन इति । स्वीय-
त्वेन परिग्रहादित्यर्थः । अभिवन्द इति । भगवार्थसिद्धये जिज्ञासार्थानभिवन्द इति
सम्बन्धः । तत्र सेवासिपयस्मरेणा निर्दिष्टग्रन्थपरितपाप्तिसिद्धयर्थं निनासार्थनपरहार-
रूपं मङ्गलं करोमीत्येवद्वेषार्थः । सेवा तत्र नमनादिरूपा । न च भेदविशिष्टसेवयेति
वक्तुमुचितं, प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यात् । तथा चोक्तमस्मदाचार्यनिबन्धे 'पात्वर्थः सेवा
प्रत्ययार्थः भेमेति' । तच्चार्यदीपे तु 'भेमतोवात' इति फलितार्थकथनम्, अन्यथा
'प्रत्ययार्थः प्रधानं मङ्गल्यर्थे विशेषणमिति'न्यायविरोधः स्यात् । वस्तुनस्तु एतस्य
सामान्यन्यायत्वेन विशेषण्ययस्यैव बलीयस्त्वान्न । एतदुक्तं विवरणे 'मङ्गलितवययोः
प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यमिति सामान्यन्यायादिच्छाविषयतया शब्दबोध्य एव शान्दसाधनता-
न्वय इति हरणं कायादिवास्ये बल्लस्य विशेषण्ययस्य बलीयस्त्वात्प्रथेन जिगमिपति अस्मिना
जिघांसतीत्यादिलौकिकप्रयोगोपादिरूपसाधनस्य 'तदन्नेष्टव्यं तद्विजितासितव्यं मन्त-
व्यमित्यादिवैदिकप्रयोगे त्वयार्थभूतविशेष 'सन्'भ्रपपाभिहितेच्छाविषय एव ममना-
दायकत्वस्य व्युत्पन्नत्वाच्च मङ्गल्यभिहितायां विद्यायां यज्ञादीनां विनियोग इति । ननु
'मावे'इत्यधिकारात्प्रत्ययार्थस्य भावत्वमुचितं न तु भेदत्वमिति चेत्, अत्रोच्यते, भावार्थ-
कत्वे तु प्रत्ययस्य तावदुपपत्तादिसिद्धमेव, तत्र भावशब्देन देवादिविषयिणी रतिः मङ्गले

द्विष्णुम् ।

सर्गः । पुरुषाद्ब्रह्मादीनामुत्पत्तिर्विसर्गः । उत्पन्नानां तत्तन्मर्यादया पालनं स्थानम् । स्थितानामभिवृद्धिः पोषणम् । पुष्टानामाचार उत्तिः । तत्रापि सदाचारो मन्वन्तरम् । तत्रापि विष्णुमन्त्रिरीशानुक्रया । भक्तानां प्रपञ्चाभावो निरोधः । निष्पपञ्चानां स्वरूपलाभो मुक्तिः । मुक्तानां ब्रह्मस्वरूपेणावस्थानमाश्रय इति । दशविधभक्तसेव्य इति । सात्त्विकसात्त्विकाः, सात्त्विकराजसाः, सात्त्विकतामसाः । राजसरानसा, राजससात्त्विका, राजरावामसाः । तामसतामसाः, तामसरानसाः, तामससात्त्विकाः । एके निर्गुणा इत्येतैर्देशविधैर्भक्तैः सेव्य इत्यर्थः । प्रार्थनाव्याजेन स्तुतुवन्तीति । 'किमासनं ते गरुडासनाये'रपनेन प्रार्थनाव्याजेनैव स्तुतिनिरूपणस्यैवोचितत्वादिति भावः । गम्यते प्राप्यत इत्यर्थः । ननु 'भावे' इत्यधिकारात्कथमत्र कर्मणि प्रत्यय इति चेत्, सत्प्रम्, 'कृत्यत्व्युद्यो बहुल'मित्यत्र 'बहुल'मितियोगविभागात्तथा । अत एव 'एवं च बहुलप्रदहणं योगविभागेन कृन्वात्रस्यार्थेन्यभिचारार्थं पादाभ्यां द्वियते पादहारकः कर्मणि ष्युल्' इति वैयाकरणशिरोमणयः । पापण्ड इति । वेदविरुद्धत्वं पापण्डत्वम् । आत्मसुखघातकेति । 'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पद'मित्यनेन स्वर्गपदस्यात्मसुखवाचकत्वादित्यर्थः । लोकभ्रमजननादिति । लोकत्वेन भ्रमजननादित्यर्थः । मायावादाभिनिवेशादिति । विचर्ताधिष्ठानत्वेन मायोपहितव्रक्षणः कर्तृत्वकथनादित्यर्थः । विवर्तस्तु अतात्त्विकोऽन्यथाभासः । यद्वा, वस्तुनस्तदसमसत्ताको विवर्तः । अपरा कारणविलक्षणोऽन्यथाभावो विवर्तः । कारणभेदे विनैव तद्व्यतिरेकेण दुर्वचं कार्यं विवर्त इति वा । निरीश्वरत्वाद्गीकाराद्योगस्येति । निर्वाणयोगाद्गीकारादित्यर्थः । योगस्तु चित्तचित्तिरोधः स तु भगवद्भयानार्थमहत्त्वेनोपयुक्त एकः । ध्यानाभावेऽप्यारवोधाद्भूतो द्वितीयः । उभावपि प्रामाणिकौ । यस्तु स्वतन्त्रतया फलसाधकत्वेन प्रोक्तस्यासिद्धिहेतुज्ञानात्मा वा तयान्ये देहेन्द्रियादिसाधकाग्देऽपामाणिकाः । सर्वमेतद्य निवन्धे स्पष्टम् । कलिकालानुगुणेऽप्यिति । 'द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु । स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान्मद्विषुस्तान् कुरु' 'मां च गोपय येन स्यात्सृष्टिरेषोऽपरोत्तरे'त्यादिपत्रपुराणाद्युक्तवचनैर्माहादेवादीनां कलिकालानुगुणत्वस्य सिद्धत्वादित्यर्थः । अन्यार्थकत्वादिति । अत्र प्रभागभूताः 'शुभिके धिर आरोह शोभयन्तीं सुरं पप । पत्राग्रे पचो विद्वेष्वस्ति'त्यादय आगमा अनुसन्धेया इति भावः । 'कलेदोषनिषे'रित्यारभ्या'भवेपि कल्पो'रित्यन्तानां वचनानां सद्ब्रह्मः—'कलेदोषनिषे राजन्नस्ति ऐको मदान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तवन्तः परं व्रजेत्' 'कृते यद्वापनो विष्णुं त्रेतायां यन्नो मत्तैः । द्वारे परिचर्यायां कथौ तद्दरिणीर्तनात्' 'कलि

टिप्पणम् ।

सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः । यत्र संकीर्तनादेव सर्वैः स्वार्थोपि लभ्यते'
 'गृह्यन् गृह्यन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते । क्रियासु यस्त्व-
 चरणारविन्दयोरविष्टचित्तो न भवाय फलपते' 'गृह्येभ्याविद्यतां वापि पुंसां कुशलकर्मणाम् ।
 मद्गार्तापातपमानां न वन्द्याय गृहा मनाः' 'तावद्गागादयः स्तोनास्तावत्कारगृहं गृहम् ।
 तावन्मोहोद्धिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः' 'एवं गृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः ।
 त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कश्चिन्ताः परे' 'मत्कर्म कुर्वतां पुंसां काललोपो भवेद्यदि ।
 तत्कर्म तस्य कुर्वन्ति तिस्रः क्रोड्यो महर्षयः' 'स्वपादमूर्त्तं भजतः प्रियस्य त्वत्कान्तपभासस्य
 हरिः परेशः । विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिन् पुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टम्' 'एवं विमृश्य
 सुधियो भगवत्यनन्ते सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम् । ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यचीपां
 स्यात्पातकं तदपि हन्त्युल्गायवाद्' 'ते देव सिद्धपरिणीतपवित्रगाया ये साधवः सप्तदशो
 भगवत्पद्माः । ताञ्चोपसीदत हरेर्गदयामिगुणाक्षैषां वयं न च वपः प्रभावाय दण्डे' 'सर्व-
 धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच'
 'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ! साधुरेव स मन्तव्यः समगन्धर्वहिवो हि सः'
 'यः कश्चिद्वैष्णवो लोके मिथ्याचारोप्यनाथमी । पुनाति सरुलान् लोकान् सर्वज्ञांशुरि-
 चोदितः' 'यान्तास्याय नरो राजन्न प्रमायेत कर्हिचित् । धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न
 पतेदिह' 'धर्मः सत्यदयोपेवः विद्या वा तपसान्विता । मद्भक्त्याप्येतमात्मानं न सम्यक्
 प्रपुनाति हि' 'धर्मः स्वतुष्टितः पुंसां विष्णुरस्तेनकृपासु यः । मोक्षादयेद्यदि रतिं श्रय
 एव हि केवलम्' 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् । कुतः
 पुनः शब्दभद्रमीश्वरे न चापि तं कर्म यदप्यकारणम्' 'यमादिभिर्योगपथैः कापलोभहतो
 मुहुः । मुकुन्दसेवया यदुत्थात्माद्वा न शाम्यति' 'धेवःसुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
 क्रियन्ति ये केवलबोधलभ्ये । तेषामसौ श्रेष्ठ एव शिष्यते नान्यद्यथा सधुस्तुपाव-
 पातिनाम्' 'यत्कर्ममिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । योगिन दानधर्मेण श्रेपोभिरि-
 त्तरपि' 'सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽज्ञया' 'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः
 सुकृतिनोऽर्जुन । आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ' 'अत्रापः सर्वकापो वा
 मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्' 'ज्ञाने यथासमुद्रपास्य
 नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् । रयाने स्थिताः ध्रुविपतां तनुवाय-
 नोभिर्धैः प्रापशोभित भितोऽप्यसि तैस्त्रिव्योऽयाम्' 'किमलभ्यं भगवति प्रमत्तै श्रीनिके-
 तने । तयापि तस्या राजन् नहि वाञ्छन्ति किञ्चन' 'रूपमारोग्यवर्षांश्च भोगांश्चैवा-
 नुपदिशान् । ददाति ध्यायतो नित्यपञ्चवर्गप्रदो हरिः' 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये उत्तमशोक-

द्विष्णुम् ।

लीलया । शृहीतचेता राजर्षे आरुधानं यदधीतवान् 'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था
अप्पुरुक्रमे । कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिभिर्यंभूतगुणो हरिः' 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति
केचिन्मत्पादसंवाभिरता मदीहाः । येन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरु-
पाणि' 'महतां मधुद्विदसेवानुरक्तमनसामभ्रवोपि फल्गु'रिति । भक्तिसाध्यफलस्येति
भगवत्स्वरूपमाप्तेरित्यर्थः । तदुक्तमस्मत्प्रभुभिर्भक्तिदंसे 'भक्तौ च न स्वरूपातिरिक्त-
फलकत्व'मिति । 'स्मर्तव्य'इत्यारभ्य 'तदभावा'दित्यन्ते वचनानि तु 'स्मर्तव्यः सततं
विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित् । सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतस्यैव च किङ्कराः' 'स्मृतेः
सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते । पुरुषं तपजं नित्यं ब्रजामि शरणं हरिम्' 'कृष्ण
कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति निरवशः । जलं भित्त्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम्'
'कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते । भस्मीभवन्ति राजेन्द्र महापातरुकोट्यः'
'न वै जनो जातु कथंचनात्रजेन्द्रकुन्दसेव्यव्यवदङ्ग संसृतिम् । स्मरन्मुकुन्दाद्भुयुषगूहनं
पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः' 'आलोड्य सर्वेशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः । इदमेकं
सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदे'ति । तत्र नवविधा भक्तिर्निदानं, ततः प्रेम, तेन च
विशिष्टरूपभगवत्प्राप्तिः, सैव फलमिति फलसहितपूर्णभक्तिमार्गस्वरूपम् । अत एव सर्व-
निर्णये 'स ज्ञानक्रियोभयपुतः स एव फलं, तत्रापि साधनं प्रैव तत्साधनं नवविधा
भक्ति'रिति श्रीमदाचार्यवर्याः । तथाच साम्प्रतस्मात्साधनं स्मरणपर्यन्तं विहितस्यापि
कायवाग्नियोगस्नेहाभावेपि मनोमात्रस्थित्यैव तादृशपुरुषविहितस्य वा फलसाधकत्व-
मिति स्पष्ट एवेतरेभ्य उक्तैः । तथाचोक्तं निबन्धे—'कायवाग्नियोगाभावेपि स्नेहा-
भावेपि मनोमात्रस्थितौ फलमेतदि'ति । धर्ममार्गस्य तु न तथा, साद्गाद्वैदिककर्मणः फला-
वश्यंभावनियमादिति तत्रम् ॥ १ ॥

प्रकाशः ।

ननु पुण्यदेशस्थितिमात्रेणापि पुरुषार्थसिद्धेः किमितीतरव्यवच्छेदपूर्वतयाश्रयमा-
र्यनवित्याशङ्क्य देशानामस्तापकत्वं वदन्त आश्रयं पार्थयन्ते—

श्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

श्लेच्छाक्रान्तेष्विति । देशेषु रानैताक्रान्तेषु सन्तु । ननु श्लेच्छा अपि न्याप-
वर्तिनश्चेत्ता को दोषस्तत्राहुः—पापैकनिलयेष्विति । पापरूपा एव ते तदेकनिलयेषु,
पापा ये मुख्यसतथिलयेषु, पापस्य वा । अथवा पूर्वोक्तेषु पापैकनिलयेषु च अह्वरद्वा-
दिषु, यत्र गमनमात्रेण पुनः संस्कारमंभारः । ननु श्लोका वणिभादयः समीचीनाश्रयार्थैः

१. अह्वरद्वादिषु कोट्यमगधेषु च । तेष्वंशं विना गच्छन् पुरः संस्कारवर्ततेति श्लोः ।

प्रकाशः ।

किं कार्यमत आहुः—सदिति । साधूनां पीडया व्यथाः स्वयंपाचरणमेवानिष्टहेतुः प्रत्य-
क्षत्वाच्च कार्यमुत् प्राकृतं कर्म वेति व्याकृत्या लोका येषु । सद्धर्मस्य शुभहेतुनानिषयेन
श्रद्धायभावानेपि सहाया न भवन्तीत्यर्थः । 'अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न
एषां सिवदुत स्वयं हरिः । येनेन्य लब्धं नृपु भारताजिरे मुकुन्दसेवोपरिकं स्पृहा हि
न' इत्यादिवाच्येदेशानां कृष्णाश्रितानुकूलत्वात् । श्रेयं पूर्ववत् ॥ २ ॥

टिप्पणम् ।

पापा ये मुख्या इति । फलितार्थकथनमेतत्, इतरथा विशेषणसमाप्ते 'पूर्वका-
लैके'त्यनेनैकशब्दस्य पूर्वनिपातः स्यात् । विग्रहस्तु पापेषु ये मुख्या इति । यत्र गम-
नमात्रेण पुनः संस्कारसंभव इति । 'अन्नपङ्ककलिद्वेषु सौराष्ट्रमण्डलेषु च । तीर्थयात्रां
विना गच्छन् पुनः संस्कारयर्हती'त्यनेन तथेत्यर्थः ॥ २ ॥

प्रकारः ।

ननु गङ्गादितीर्थैरपि सर्वपुरुषार्थसिद्धेः किं केवलाश्रयेनेत्याशङ्क्य द्रव्याणाम-
साधकत्वं वदन्तस्तीर्थानामाहुः—

गङ्गादितीर्थवयंषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादीति । गङ्गादीनि यानि तीर्थश्रेष्ठानि तेषु दुष्टैरेवावृतेषु सत्सु, अतो न तैः
पुरुषार्थसिद्धिः । ननु कथं दुष्टैरेवावृत्तत्वं तत्र ब्राह्मणादीनामपि सत्त्वात्, न, अतिपरि-
चयादनादरेण तत्र भक्त्यभावेन प्रतिग्रहाद्यभाषिभिरवस्थानाच्च तेषामपि दुष्टत्वमेव । ननु
सर्वदोषनिवारकेषु तेषु सत्सु दुष्टत्वसंभवीति चेत्, न, 'सर्वेषु गान्धेन जलेन सम्य-
ङ्मुल्लाशतेनाप्यय भावदुष्टः । आग्नन्वतः स्नानपरोपि नित्ये न शुद्धयतीत्येव वयं
वदाम' इत्यादित्यपुराणवचनात्, 'प्रत्येकच्छुभमङ्कलास्तोये मया दिवानिद्यं । वसन्तोपि
च ते स्नानात्कलं नाहन्ति कर्हिचित्' 'श्रद्धाविधिसमायुक्तं यत्कर्म क्रियते वृषिः । शुधि-
टिप्पणम् ।

द्रव्याणामसाधकत्वं वदन्तस्तीर्थानामिति । तीर्थस्य तदेवावच्छिन्नप्रवाहात्प-
काध्यात्मिकदेवतारूपत्वेन द्रव्यत्वमितिभावः । अत्र एवोक्तप्रस्मरभूमि'निबन्धे' 'द्वितीयस्य
प्रवाहरूपतया तीर्थत्वमिति । यादवकोशेपि—'तीर्थं यन्प्राच्यभाष्यायशास्त्रेभ्यस्सि वाचन'
इति । उक्तं च दृश्यस्कन्धीयसुशोचिण्यां देवतारूपत्वं 'कालिन्दीति समासपाते'त्यस्य
व्याख्यानं 'आध्यात्मिकं देवतारूपमिति । 'प्रायश्चित्तानि शौचानि'तिवचनप्रयाणि-

प्रकारः ।

शुद्धेन भावेन तदानन्त्याप कल्पते 'विधिहीनं भावदृष्टं कृतमथदया च यत् । तद्भ्र-
न्त्यसुरास्तस्य सुमूढस्याकृतात्मन' इति योगियातवत्वयवचोभिः, 'अश्रद्धानः पापात्मा
नास्तिकोच्छिन्नसंशयः । हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थफलभागिनः' इति वायुपुराणवचनाच्च,
'प्रायश्चित्तानि शीर्णानी'त्यादिभिश्च तेषां भगवद्वाहिर्मुख्यनास्तिव्यादिदोषानिवार-
कत्वात् । ननु वस्तुशक्त्यां सत्यां कथमेतत्, न ह्यग्निः कदाचिन्न दहतीत्याशङ्क्याधि-
दैविकदेवतारूपतिरोधानाद्बस्तुन एवाभावादित्याहुः—तिरोहिताधिदैवेष्विति । दुष्टा-
न्मत्याधिदैवतिरोधानात्सतः प्रत्येव प्राकृत्यात्, अत्र एव श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपे 'तीर्था-
दानपी'ति । अत एव सतां 'तीर्थाकुर्वन्ति तीर्थानी'त्यनेन तीर्थीकरणमुच्यते । आधिदै-
विकाभावे जले दृश्यमानदोषाभावार्षिक तीर्थीकरणं स्यात् । शेषं प्राग्वत् ॥ ३ ॥

टिप्पणम् ।

'प्रायश्चित्तानि शीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् । न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवा-
पगाः' 'तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद्भवेत् । कृष्णमसाद्युक्तस्य नान्यस्येति
विनिश्चयः' 'भवद्विधा भागवतास्तीर्थाभूताः स्वयं प्रभो । तीर्थाकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तः-
स्येन गदाभृते'ति ॥ ३ ॥

प्रकारः ।

ननु कर्तृसमीचीनत्वे सर्वकलसिद्धेः किमाश्रयेऽन्यन्यवच्छेदेनेत्याशङ्क्य कर्तृणाम-
साधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते—

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहङ्कारविमूढेष्विति । सत्सु पण्डितेषु अहङ्कारेण वयं शास्त्रज्ञा इतिगर्वेणान्यं
पृच्छन्त्यपि नेति भाषावादाद्यभिनिवेशाद्विशेषेण मूढेषु सत्सु । ज्ञानवत्कृतिरपि तेषां दुष्टे-
त्याहुः लाभपूजार्थयत्नेष्विति । लाभपूजार्थमेव यत्नो येषां, ते पारमार्थिकरूपि कर्म
लाभपूजाभ्यामेव कुर्वन्ति । पापान् पुंसः, पापं वानुवर्तन्तेऽन्यः सद्गान्दोषाभ्यां दुष्टत्वात् तेषां
स्वतः फलसिद्धिराशये तु भगवत्कृपायां स्वत एव वेदार्थस्वदोषयोः स्फुरणारकलसिद्धिः,
भगवान् भगवदीयो वा वेदार्थं जानातीति भक्तानामेव वेदतात्पर्यज्ञानात् । शेषं सुगमम् ॥४॥

पूर्ववेदाशङ्क्य मन्त्राणामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते—

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वमृतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

प्रकाश ।

अपरिज्ञाननष्टेऽपि । मन्त्रा वैदिका आगमोक्ताश्च, तेषु अपरिज्ञाननष्टेषु अपरिज्ञानेन तात्पर्यफलदेवतास्वरूपाज्ञानेन नष्टपायेषु सन्तु । वैदिकानां गुरुब्रह्मासन्न चर्यशुद्धासन्निध्यनध्यायराहित्यपूर्वकं पठितानां साधकत्वेनाप्रतयोगिनामसाधकत्वात् । आगमोक्तानां तात्पर्याज्ञानेनार्थदेवयोस्तिरोभावादसाधकत्वात् । भगवदाश्रये तु 'यस्य स्मृत्ये'त्यादिवाक्यैः 'सर्वं संपूर्णता याती'ति मन्त्राणामपि साधकत्वात् ॥ ५ ॥

ननु मीमासादिना मन्त्रतात्पर्यनिर्घारात्कर्मभिरेव फलसिद्धेः किमाश्रयेणेत्याशङ्क्य कर्मणामसाधकत्वं वदन्त आश्रय मार्षयन्ते—

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पापण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानावादविनष्टेऽपि । कर्माणि सोमयागादीनि, व्रतादीनि च, तेषु सर्वेषु प्रपञ्चः सर्वोपि मिथ्येति वेदानामपि तथात्वात्प्रपञ्चवत्स्वाज्ञानकल्पितत्वेन वेदानां तद्गो धितानां च व्यवहारमात्रेण भ्रामाण्यात् किञ्चित्कर्तव्यं प्राप्तव्यं वास्तीति केपाञ्चिद्वाद, 'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र' इत्यादिवाक्यैर्ब्रह्मादीनामपि यज्ञैरेवोत्कर्षात्पूर्ववासनात् एवोच रोचप्रवृत्तेः कर्मव्य कर्तव्यं तेनैव फलं न कोऽप्युपास्यः फलदाता प्रवर्तको वा, देवतापि चेतना नास्ति किन्तु मन्त्रमन्त्रेवेति न देवताप्रीतिव्यापारः फलं वेति केपाञ्चिद्वाद, शास्त्रेण पोडशपदार्थविवेकानन्तरं श्रवणमनननिदिध्यासनैः स्वात्मसाक्षात्कारे सति दुःखात्यन्ताभाव एव फलं न भगवान्सेव्यः फलं वेति केपाञ्चिद्वाद, प्रकृतितद्विकारोपमानविलये पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं फलं, न भगवानिति केपाञ्चिन्मतम्, एवविद्यैर्नानावादवैरोधेण नष्टेषु सन्तु । विपरीतार्थनिश्चयेन फलान्ननकृतादीनाशः । वस्तुतः 'गुरु एवेद सर्व' 'देतदात्म्यमिदं सर्वं' 'सर्वस्य वशी सर्वस्येज्ञान.' 'एष उ एव त साधु कर्म कारयति' 'अहं सर्वस्य प्रभव.' 'को नु राजन्निन्द्रियवान्' 'देवोसुरो मनुष्यो वा' 'फलमत्र उपपत्ते.' 'त एव वृत्तास्तर्पयन्त्येनमि'ति 'देवा वै सत्रमासत' 'विशते तदनन्तरम्' 'मामेवैष्यति' 'आनन्द ब्रह्मणो रूप' भित्त्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणन्यायैः प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वात्सत्त्वेन कर्तव्यस्य सफलत्वाद्भगवतः सर्वेश्वरत्वेन सेव्यत्वात्प्रवर्तकत्वात्फलदातृत्वात्प्रसिद्धकरणे यनुपपत्त्या देवतानामपि चेतनत्वाद्भगवत्साधुज्यस्य मोक्षत्वादानन्दरूपत्वेन भगवत् एव फलरूपत्वात्पूर्वोक्तवादानां प्रलपितकल्पत्वात् । स्वमताप्रहेणैव निषिद्धदशम्यादिविद्वैकाद-

दिष्णम् ।

प्रलपितकल्पत्वादिति । यत् 'शास्त्रदीपिकायां नवपाध्याये 'देवता वा प्रयोजयेत् अतिविद्वज्जोनस्य तदर्थत्वादि'त्यधिकरणे 'यद्यपि देवता विग्रहवती प्रतिष्ठितं सुतत्रा व्रजति मसीदति च तथापि यागादेव फलं विग्रहवती चानित्या स्यात्, तत्र नित्य-

टिप्पणम् ।

वेदविषयत्वं न स्यात्, मत्स्यपि विग्रहे मत्स्य इविषो देवतया भोगः प्रत्यक्षविरुद्धो-
 शक्योभ्युपगन्तुम्, न चाभुञ्जाना प्रसीदतीति युक्तम्, अत एवामतिपञ्चापूर्वत्यागे
 देवताप्रसादे वा फलमित्येतदपि निरस्तं, न हि तस्याः प्रसादः संभवतीत्युक्त'मिति
 पार्थसारथिमिश्राः तस्मैविद्यादमात्रमेव । तथाहि—'यदुक्तं विग्रहवती चानित्या स्यात्तत्र
 नित्यवेदविषयत्वं न स्यादिति, तदप्येकलं, अनित्यानामपि यागादीनां वेदविषय-
 स्वात्, विग्रहवत्त्वेनैव फलजनकत्वस्वप 'तत्र एवैमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्त्वर्ययती'त्यादि-
 श्रुत्युक्तत्वात् । मुख्यार्थाभावेन न श्रुतेरुपचरितार्थत्वम् । अर्थवादानां स्वतः प्रामाण्यं
 न तु विधेयकवाक्यतया । एतेनास्मिन्नेवाधिकरणे यत्पञ्चावरभाष्ये सिद्धान्तितं तत्स्वमता-
 ग्रहमात्रमेव । मकृतमनुसरामः । यदपि 'सत्यपि विग्रहे मत्स्य इविषो देवतया भोगः
 प्रत्यक्षविरुद्धोऽशक्योभ्युपगन्तुमिति, तदप्यविचाररमणीयम् । विश्वादीनामपि प्रत्यक्ष-
 भोगाभावत्वेन 'सर्वमनुष्या विष्णुनाऽऽशितपशन्ती'तिश्रुतौ 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे
 भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमभामि प्रयतात्मन' इति स्मृतौ 'विष्णोर्निवेदिता-
 ज्ञेन यष्टव्यं देवतान्तरम् । पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पते' । पितृश्रेणे तु यो
 दद्यात् हरये परमात्मने । रेतोधाः पितरस्तस्य भवन्ति क्लेशपागिन' इति स्कान्दे 'यः
 श्राद्धकाले हरिभुक्तश्रेणं ददाति भक्त्या पितृदेवतानाम् । तेनैव पिण्डांस्तुलसीविमिश्रा-
 नाकरूपकोटिं पितरस्तु तृप्ता' इति ब्राह्मे च प्रतिपादितस्य भोगस्य विरोधापत्तेः । यत्तु
 निर्णयसिन्धुः—'एतत्सर्वं निबन्धविरोधाभिर्मूल'मिति, तत्र, श्रीधरस्वामिदृसिंहपरिचर्या-
 दिमूलं वदतः स्वस्यैव वदद्दद्यातात् । एतेन 'न चाभुञ्जाने'त्यारभ्य 'प्रसादः संभवती-
 त्युक्त'मित्यन्तं यदुक्तं तदेतेनैव निरस्तम् । वस्तुतस्तु विशिष्ट एव देवतेति न काप्यनुप-
 पत्तिः । एतेन तदुक्तकर्मपार्गस्य प्रलपितकृतत्वं सिद्धमिति निर्गर्वः । यत्तु मुक्ताववथा-
 पात्वनिरूपणे 'गुतरामीश्वरभेद' इत्यारभ्य 'परमं साम्प्रसुपैतीति श्रुयते' इत्यन्तं पञ्चानन-
 षट्पाचार्या आहुस्तत्प्राभादिकमेव । तथाहि यदुक्तं 'गुतरामीश्वरभेदोऽन्यथा बन्धमोक्षा-
 नुपपत्तेरिति, तद्युच्छं, बन्धस्य सांसारिकजीवविषयत्वेन सुतरां भेदाभावात् । यदपि
 'योपीश्वरभेद' इत्यारभ्य 'समर्पिता' इत्यन्तं वदन्ति तदपि तथा । तथाहि अभेद-
 बोधिका किल 'ब्रह्म वेदं ब्रह्मैव भवती'ति श्रुतिः । नहि तदीपत्प्रतिपादन-
 द्वारा स्तुतिस्तस्याः श्वयोर्षोपि त्त्रौपचारिकः, न च श्रुतेरुपचरितार्थत्वं संभवति
 मुख्यार्थाभावात् । अत एवांशो नानाव्यपदेशा'दित्यधिकरणे 'अद्वैतश्रुतयस्तु जातिदेश-
 कान्प्रभेदेन निमिचोपचारादि'त्युक्त्वा 'न च पत्नरास्तदौपचारिकं युक्त'मित्युक्तं वाचस्प-
 तिमिश्रैः । न च 'सर्वे एवात्मानः समर्पिता इति श्रुतिविरोधः, सर्वात्मनां तत्त्वेनैव भवन-

मिति तदर्थान् । यदपि 'मोक्षदशायामज्ञाननिवृत्तावभेदो जायते इत्यपि न, भेदस्य नित्यत्वे नाशायोगात्' तदप्यसत्, भेदस्य भ्रमयावृत्तिव्यपत्त्वेन वस्तुन एवाभावात् । यदपि 'भेदनाशेऽपि व्यक्तद्वयं स्थास्यत्येवे'ति तदपि न 'एष संभसाद्ः अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनियम्यते' इत्यादिश्रुतिविरोधात् । एतेन 'न च द्वित्वमपीत्यारभ्य 'सर्वजनसिद्धत्वा'दित्यन्तं यदुक्तं तत्सर्वमनेनैव परास्तम् । यदपि 'योऽपि तदानीमभेदप्रतिपादक आगमः सोऽपि निर्दुःखत्वादिना साम्यं प्रतिपादयति संपदाधिक्ये पुरोहितोऽयं राजा संवृत्त इतिवदि'ति, तदपि न लभ्यवर्णमतीक्ष्यं दक्षोचरत्वात् । 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'ति श्रुतिस्तु जीवन्मुक्तपरा तस्मात्कार्किकमवस्थापि मलपितकल्पत्वं सिद्धमिति निष्कर्षः । वचनसङ्गदस्तु—'अहं सर्वस्य भववो मत्तः सर्वं भवतेने । इति मत्वा भजन्ते मा युवा भावसमन्विताः' 'को नु रामन्निन्द्रियान् मुकुन्दचरणाम्बुजं । न भजेत्सर्वतोभृत्पुरास्यमपरोत्तपैः । देवोऽसुरो मनुष्यो वा यज्ञो गन्धर्व एव वा । भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्थायया वयम्' 'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने विद्योति मे' इति ।

आचार्यचरणद्वन्द्वन्दनानन्दितात्मना ।

शिष्येण दालकृष्णानां किञ्चिदत्र विचारितम् ॥

मन्त्राः ।

श्यादिघ्ननकरणाच्च । कर्मत्वेऽपि व्रतादीनां पृथगुपादानं ज्ञानाग्रहत्वबोधनाय । ननु तेषु स्वयं कुर्वन्ति परानपि बोधयन्ति मिथ्यात्वनिःकलत्वात्प्रकल्पत्वानन्दाभावज्ञाने कथं कुर्युः कथं वा बोधयेयुस्तेषामपि मतानां शङ्करैर्मिनीमौतपादिप्रवर्तितत्वाद्येतत् आहुः—पापण्डैकप्रयत्नेऽपि च । पापण्डनिमित्तमेव मुख्यः भगवो येषु 'त्वं च रद्'तिसाद्धेन 'त्वाभाराध्यो'तिश्लोकद्वयेन च भगवता महादेवे प्रति तथैवाज्ञापनेन तथैव तेषां प्रवृत्तेः, स्वयं कर्मादिकरणेन स्वस्य महत्त्वख्यापनेन मतप्रवर्तनात्, 'यद्वाचरति श्रेष्ठ' इतिन्यायात् । आधुनिकानां तैरेव मोहितत्वात् । नहि देवादिप्रवर्तितशास्त्रमार्गेण सम्बन्धं किन्तु वेदाविरोधिते सति वेदानुसारित्वात् । अन्वयाद्बृहस्पतिप्रवर्तितवैद्विशास्त्रस्यापि सम्मतत्वप्रसङ्ग इत्यन्तं प्रसक्तानुवसत्तया । शेषं भागवत् ॥ ६ ॥

शिरणम् ।

'त्वं नै'त्यारभ्य 'भक्त्या त्वन्यये'त्यन्तानां वचनानां सङ्ग्रहः—

'त्वं च रद्' महावाहो मोहशास्त्राणि फारय । अतन्ध्यानि वितन्ध्यानि दर्शयस्व महाशुभ्र । प्रकाशं बुरु चात्मनमप्रकाशं च मां बुरु । त्वाभाराध्य यथा शंभो श्री-

टिप्पणम् ।

व्यामि वरं सदा । द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुपादिषु । स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च
जनान्मद्भिमुखान् कुरु । मां च गोपय येन स्यात् छष्टिरेपोचरोचरा । 'यद्यदाचरति
श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते ॥ ६ ॥

प्रकाशः ।

ननु 'धर्मेषु पापमनुदति' 'धर्मे सर्वे प्रतिष्ठित'मिति श्रुतेः पूर्वं दोषाभावाय
धर्मः कार्यस्तेन चित्तशुद्धौ माहात्म्ये स्वरूपे च ज्ञाते तदाश्रयादिकं कार्यं न त्वाशु दोषव-
तैवान्यथा क्व योगिव्येयो भगवान् क्व द्रष्टो जीव इत्याशङ्क्य 'यमेवैव द्रष्टुते' 'रहुगणैतत्'
'भक्त्या त्वनन्यये' स्यादीनाङ्गीकृत्या महदनुग्रहेण च भक्त्या दोषवतापि गम्यत इति
तन्माहात्म्यमपि तथेति महापुरुषद्वारा शरणागतौ सर्वं तत एव भविष्यतीत्यभिमत्य
भक्तानां भगवानेव चतुर्विधपुरुषार्थरूप इति प्रथमं धर्मरूपत्वं वदन्तस्तं मार्थयन्ते—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादीति । अनुभवविषयीभूतोऽजामिलादीनां ये दोषास्तेषां नाशकः ।
ज्ञापितं अखिलं माहात्म्यं येन तादृशः, तेन पापनिर्वर्तकत्वमिष्टप्रापकत्वं च धर्मकार्यमुक्त-
मतो दोषोपस्थितावपि तदाश्रयणमेव कार्यं भगवदीयानां न तु तं विहाय प्रायश्चि-
त्तादीनि सूचितम् । यद्वा, परम्परासंबन्धेनापि पूर्वोक्तः, स्वनामसाम्येनाप्यजामिलोद्धारान्
अनुभवे स्थितो महदनुग्रहेण । ज्ञापितमखिलं लीलादिरूपं तथेन । शेषं प्राणम् ॥ ७ ॥

टिप्पणम् ।

'रहुगणैतत्तपसा न याति न वैज्यया निर्वपणाद्ब्रह्मादा । न वन्दनाच्चैव जलाग्नि-
सूर्यैर्विना महत्यादरजोभिषेकम्' 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवविधोर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं
च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तपे'ति । अनुभवविषयीभूत इति । अजामिलादीनापिति
शेषः । पक्षान्तरे त्वनामित्तेतरभक्तविषयीभूतः सन्निति तदर्थः । अजामिलस्य तु पर-
म्परासम्बन्धेन स्वनाम्नेवोद्धारान् । दोषोपस्थितावित्यारम्भ सूचितमित्यन्ते—ननु
'श्रुतिस्मृती मपैवात्रे यस्त्वे बल्लुह्य च वर्तते । आशोच्छेदी मम द्रोहो मद्भक्तोपि न मे
मियः' इत्यनेन भक्तिमार्गीयस्यापि वेदविहितकरणत्वेन दोषोपस्थितावपि प्रायश्चि-
त्तादेः प्राप्तत्वादित्यं कथमुच्यते इति चेत्, सत्यं, महादोषोपस्थितौ भगवद्विच्छां ज्ञात्वा प्राय-
श्चिदादिकरणम् । तदुक्तं सर्वनिर्णये 'प्रायश्चित्तं पातकादीनामि'ति । अल्पदोषोपस्थितौ
तु तदाश्रयणमेव कार्यं न प्रायश्चिदादि । एतदुक्तं सर्वनिर्णये—'अनेनत्वरविर्मुत्खताया-
मपि भागवतमनुसन्धेयमित्युपायः कथित' इति सर्वं समञ्जसम् ॥ ७ ॥

प्रकारा ।

ननु 'तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' 'यं ये वतुमधीते तेन तेनास्पृष्टं भवत्यग्नेर्वापो-
रादित्यस्य सायुज्यं गच्छती'त्यादिश्रुतेः कर्ममार्गेषु ब्रह्मयज्ञाध्यायनादिनाम्न्यादिनायु-
ज्यसिद्धेर्षिं त्वक्षरमित्यादिना ज्ञानेनाप्यक्षरसायुज्यसिद्धेः को विशेषः कृष्णाश्रय
इति किमिति तस्यैव प्रार्थनमित्यागच्छत्य तारतम्यज्ञानार्थं सर्वस्वरूपनिरूपणपूर्वकमर्थरूपत्वं
वदन्तस्तं प्रार्थयन्ते—

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णांनन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्राकृता इति । यस्मात्सकला देवाः प्राकृताः सत्त्वाहङ्कारमभवत्त्वात् । बृहद्भरं
गणितानन्दकं 'सैवानन्दस्य मीमांसा भवती' त्याश्रयं 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स
एको ब्रह्मण आनन्द' इत्यन्तेन ब्रह्मानन्दस्य गणितत्वात् कृष्ण एव हरिः सर्वदुःखहर्ता
रिपणम् ।

ये त्वक्षरमित्यादिनेति । 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमन्यक्तं पुरुरासते । सर्वत्रगमचिन्धं
च बृहस्पमवलं ध्रुवम्' 'सैनियम्येन्द्रियश्रापं सर्वत्र समबुद्धयः । ते मापुरन्ति मामेव
सर्वभूतहिते रताः' 'हेनोधिकतरस्तोषापव्यक्तासक्तचेतसाम् । अण्यक्ता हि गतिर्दुःखं
देहवञ्जिरवाप्यते' इत्येतेन तस्येत्यर्थः । सैवानन्दस्येति । 'सैवानन्दस्य मीमांसा
भवति । युवा स्यात्सायु युवाध्यायकः । आशिष्ठो द्रविष्ठो वण्टिष्ठः । तस्येव पृथिवी सर्वा
वित्तस्य पूर्णा स्यात् स एको मानुष आनन्दः । ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एको
मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामा-
नन्दाः स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवगन्धर्वाणा-
मानन्दाः स एकः पितृणां निरलोकलोकानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते
ये शतं पितृणां निरलोकलोकानामानन्दाः स एक आत्मानानां देवानामानन्दः
श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमात्मानानां देवानामानन्दाः स एकः
कर्मदेवानां देवानामानन्दः, ये कर्मणा देवानपिपन्ति श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।
ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः स एको देवानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामह-
तस्य । ते ये शतं देवानामानन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।
ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः स एको बृहस्पतेरानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये
शतं बृहस्पतेरानन्दाः स एकः प्रजापतेरानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं
प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्ये'त्यन्तेन प्राशङ्गेन

प्रकाशः ।

पूर्णांनन्दश्च । पूर्णांनन्दश्च । पूर्ण आनन्दो येन यत्र यस्मादिति वा, तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मेमास्त्वित्यर्थः । देवादिसापुण्येषु तेषां प्रकृत्युपधानेन तन्मुक्तेः समुणत्वेन 'आवह-
सुवनाहोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुने'तिभगवद्वाक्यात्पुनः संसारसंभवेनावानन्दत्वेन स्वर्गव-
दमुक्तित्वात् । ज्ञानमार्गेऽक्षरमुक्तेर्निर्गुणत्वेऽक्षरस्य गणितानन्दत्वेनाक्षरत्वात् ध्रुवितस्यात्प-
न्यभोजनमभोजनमेवेतिवदप्योनकत्वात् । अज्ञातार्थइत्यर्थे 'क'प्रत्ययेनाव्यक्तत्वं पुरुषो-
चमापेक्षयात्पत्वं च सूचितम् । पूर्णांनन्दत्वेन निर्गुणवृत्तिदायकत्वेन कृष्ण एव शरणं भाव-
नीय इति सिद्धम् । तदुक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः 'निर्गुणः मुक्तिरस्माद्भिः समुणा सान्यसे-
वये'ति । ननु 'सान्निभौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ । भारव्ययाप च भुवः कृष्णौ यदुकृ-
द्दहौ' 'कलाभ्यां नितरां हरेः' इत्यादिनां सत्वकथनादेहस्प च त्रिदिवेशादावपि पाञ्चभौ-
तिकत्वजन्यत्वनिषेधेन जन्मभवणात् सुखस्यात्मगुणत्वेन भेदाच्च कथं पूर्णत्वं, कथं चानन्द-
रूपत्वमानन्दवत्त्वं तज्जनकत्वं वा परं वक्तुं शक्यमिति चेत्, मैवम्, 'ताविमावित्पादीना-
मर्थानवगमत् । तथाहि-भगवान् भक्तानामार्तिनानार्थं सुखदानार्थं च प्रकटः सुवो भार-
व्ययापेदानयोः कृष्णार्जुनयोस्ताविमौ भगवतो हरेरंशौ चागतौ कृष्णयोर्पदुकृद्दहयोः मवि-
ष्टत्वाद्यदुकृद्दहौ कृष्णौ च जातौ, यत आगतौ तत्र यदुकृद्दहत्वाभावात् । तच्चकार्यकर-
णार्थं व्यूहेषु भगवत्स्तत्रदंशापेक्षणादनयोरपि सङ्घर्षणाशत्वेन भूभारहरणार्थमपेक्षणात् ।
अंशयोरेवावतारत्वे पूर्णत्वाभावे 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' 'वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः
परः' । 'विदितोसि भवान् साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः पर' इत्यादिक विरुध्येताश्च चकारश्च व्यर्थः

त्रिपिणम् ।

ब्रह्मानन्दस्य गणितत्वादित्यर्थः । पूर्ण आनन्दो येनेति । यथादाष्टुष्टिस्यस्येति शेषः ।
येनेति करणे तृतीया । ननु करणस्य व्यापारवचनियमात्करणस्य फलोपधानासाधारण-
कारणत्वमिति चेत्, अत्रोच्यते, यत्र भगवान् साधनं कारयित्वा फले मयच्छति तत्र
भगवतः करणत्वं, प्रयोष्यप्रत्युपहितमयोक्तधर्मस्य साधनकारयितृत्वस्य तज्जन्पत्वेन
व्यापारत्वादिति । पूर्ण आनन्दो यस्मादिति । पुष्टिस्यस्येत्यर्थः । हेतोर्निर्व्यापार-
साधारणत्वात् । ननुययोरपि मुख्यफलमाप्तिवचनेन को वा विशेषः पुष्टिस्यस्येति चेत्,
साधनानपेक्षत्वस्यैव विशेषादित्यलं बहूना । 'ताविमावित्पारभ्य 'प्रकृतेः परः' इत्य-
न्तानि वचनानि- 'ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ । भारव्ययाप च भुवः कृष्णौ
यदुकृद्दहौ' 'वमौ भूः पकृत्सयाऽप्या कलाभ्यां नितरां हरेः' 'अन्ये चांशकलाः पुंसः
कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' 'वसुदेवगृहे साक्षात् भगवान् पुरुषः परः । जनिष्यते तस्मिन्पार्थ
संयवन्तु सुरक्षियः' 'विदितोसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः । केवलात्भवानन्द-
स्वरूपः सर्वबुद्धिर्हमिति । चकारश्च व्यर्थः स्यादिति । 'भारव्ययाप च भुवः' इत्यत्र

प्रकाशः ।

स्यात् । तथाचोक्तं श्रीभागवततत्त्वार्थदीपे 'सर्वातिरिक्तरूपेण नरः स्वावेशपारकः । तपोऽतिरिक्तकार्यं तु पूर्णं कृष्णे न चान्यथेति । 'सर्वे'ति । व्याख्या तु 'सर्वकार्यकर्तृत्वात्सर्वरूपो नारायणः । पुष्टिकार्यकर्तृत्वादतिरिक्तोवतारः । तत्राधिकारमाशङ्क्य परिहरति 'स्वावेशे'ति । नरस्तु तादृशभंशं विभर्ति न त्वचनार इत्यर्थः । 'ताविभौ वै भगवत' इति मूलवाक्यं 'कृष्णस्तु स्वयं भगवान्'तेन विरुध्यते इति समाधत्ते 'तपोतिरिक्ते'ति । मार्गद्वयस्यापनार्थपत्रतीर्णोपि पूर्णप्राकट्याभावे कार्यं न सौत्स्यतीति पूर्णं कृष्ण एव प्रविष्टावशाविति मूलार्थ' इति । 'वभाविरेत्यत्र कलाभ्यामंशाभ्यां भूर्धमौ हरेः सम्बन्धिनी भूः पदैरनुभावैर्जीव्याभित्तिनितरां वभावित्यर्थ' इति । अन्यपयोक्ताननविरोधात् । देहस्य पाञ्चभौतिकत्वजन्यत्वनियमस्य प्राकृतविषयत्वादाप्राकृते यथावेदमेवार्थसिद्धेः, अन्यथा ज्ञानेच्छादीनामनित्यत्वनियमान्नित्यं ज्ञानादिकमपि तत्र न सिद्धयेत् । ननु ज्ञानादिभिरेव जगत्कर्तृत्वोपपत्तौ प्रत्यक्षवाचाय किमित्यानन्दमयो नित्यो देहोद्गीकार्य इति चेत्, न, कर्तृत्वनिर्वाहार्थमेव व्याप्तिरलेन नित्यज्ञानवचप्रापिदेहस्वीकारात् । 'नित्यापरिच्छिन्नतनोः प्राकृत्यस्यैव जन्मत्वेन जन्पत्प्रभावात् । 'आनन्दाद्ध्येः' 'नित्यं विज्ञानपानन्दं ब्रह्म' 'स यथा सैन्धवपनः' 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' 'आनन्दमयोव्याप्तिष्णम् ।

भक्तार्तिनाशसुखदानादिकं चकारेण एवते । तत्र पुष्टिपुरपोषणकार्यमेवेति तदतिरिक्तकल्पनायां चकारो व्यर्थः स्यादित्यर्थः । व्याप्तिरलेनेति । अन्यपव्यतिरेकव्याप्तिरलेनेत्यर्थः । तथाहि यत्र यत्र कर्तृत्वं तत्र तत्र देहवत्त्वं यथा कृष्णाश्रादावित्यन्वयव्याप्तिः । यत्र यत्र देहवत्त्वाभावस्तत्र तत्र कर्तृत्वाभावः, यथा मुक्तात्मनीति व्यतिरेकव्याप्तिरिति । न चाप्योजकत्वम्, देहवत् एव कर्तृत्वात्, न सशरीरी कुत्रालः शत्रोति कार्यं फलम् । रस्तुतस्तु 'आनन्दमानहरपादमुखोदरादिः' 'सर्वतः पाणिशरान्'मित्यादिविरोधः । 'अशरीरं शरीरेष्वित्यादयस्तु पाञ्चभौतिकशरीरनिषेधरताः । न च श्रीहृदयवत् विस्मयमंभवः प्रमेयापहारनिवन्धनाभावात् । ननु गीतायां चतुर्दशोपाये 'नान्यं गुणेषु चर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति' इत्युपादाय 'गुणेषु नान्यं चर्तारमनुपश्यत्यपि तु गुणा एव कर्माणि कुर्वन्तीति' श्रीधरस्वामिव्याख्यानान्देतुनित्यपिनव्याप्तावपि पाप्मिरिति चेत्, अत्र वदामः—गुणानामपि देहवत्त्वेनैव तत्रान्यत्वं न तु वेत्तव्या । अत्र एवाग्रे 'गुणानतोत्ये' त्यस्य व्याख्यानं 'देहाद्याकारः समुद्भवः परिणावो येषां ते देहात्प्राप्तान्गानो तांश्रीनपि गुणानर्तात्पातिप्रम्येत्युक्तं श्रीधरस्वामिभिरिति विद्वांस एव विदाद्भवंतु । 'आनन्दमाने'त्यारभ्य 'मुदितवचन' इत्यन्तानि वचनानि । 'निर्दोषपूर्णगुणविरह ज्ञाप-

प्रकाशः ।

सात् 'आह च तन्मात्रम्' 'केवलानुभवानन्दस्वरूपः' 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः'
'बहूनि सन्ति नामानि' 'अथवा चोपनिषद्भिश्च' 'न चान्तर्न वहिर्हस्ये'त्यादिश्रुति-
न्यायपुराणवाक्यसहस्रैः प्रमाणप्रकाशनीयलीलाभिश्च पूर्णं एव देवपाणेन्द्रियान्तःकरणा-
त्मरूप एवानन्दरूपो ज्ञानरूपः पुरुषोत्तमो न त्वात्ममात्रमिति निर्वाधप्रबोधि । 'नित्यं
निज्ञान'मिति 'पूर्णमेवावशिष्यते' 'भवानेकः शिष्यते शेषसंग' इत्यादिना नित्यत्वं,
'एव होवानन्दयाती'तिश्रुतेरानन्दजनस्त्वम् । 'कृष्णः प्रीतमनाः' 'वीक्ष्यासीदु-
त्तमा प्रीतिः' 'जातहर्षः' 'मुदितवज्र उपपाती'न्यादिनानन्दस्त्वं चेति नातुपपन्नं
किञ्चित् । तथाप्यानन्दत्वेहत्वयोर्विरोध इति चेत्, न, स्वस्वाधिकरणे प्रमाणैरेकानो-
भयोः मिद्वयसिद्धिभ्यां च विरोधाभावात् । न्यायानन्दस्य धर्मरूपत्वे कथं धर्मरूपत्व-
मिति चेत् 'स यथा सैन्यवचनः' 'यः सर्वज्ञः' इतिश्रुतिभ्या ज्ञानरूपत्वज्ञानाधार-
त्ववानन्दरूपत्वतदाधारत्वयोरविरोधात् । श्रीमदस्मत्पञ्चरत्नैः सर्वमेतद्यथा तथा विद्व-
न्मण्डने प्रपञ्चितमिति नात्र प्रपञ्चपते ॥ ८ ॥

द्विष्णुम् ।

तन्त्रो निश्चेतनात्मकरुजरीगुणेश्वरीनः । आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्वत्र च स्वग-
तभेदविवर्जितात्मा 'बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते । गुणकर्मानुरूपाणि
तान्पहं वेदं नो जनाः' 'अथवा चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सास्वतैः । उपगीयमान-
नमादात्म्यं हर्षं सामन्यतात्मजम्' 'न चान्तर्न वहिर्हस्य न पूर्वं नापि चापरम् । पूर्वापरं
वहिश्रान्तर्गतो यो जगच्च यः' 'नष्टे लोके द्विपराधरिसाने महाभूतेष्व्यादिभूतं गतेषु ।
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकः शिष्यते शेषसंगः' 'एवं हन्दावनं श्रीमान् कृष्णः
प्रीतमनाः पशुत् । रेमे संनारवज्रैः सरिद्रोपस्तु सातुगः' 'हन्दावनं गोवर्धने यमुनापु-
न्दिनानि च । वीक्ष्यासीदुत्तमा पीती रात्रपाधवयोर्धर' 'सहजः स्वगवनेपविष्ठासः सातुपु
क्षितिमृतो ब्रजदेव्यः । हर्षयन् पदं वैष्णुस्वणे जातहर्ष उपरममिति विश्वम्' 'मदुपतिर्द्विरद-
राजविहारो याविनीपतिरिषैव दिनान्ते । मुदितवज्र उपपाति दुरन्तं मोघपन्
प्रजगवा दिनतापमि'ति ॥ ८ ॥

प्रकाशः ।

ननु विवेकवैषांभ्यां स्थित्वा भक्तिकरणे भगवानपि यत्र भवतीति किमिति
दैन्येनाश्रयः प्रार्थते इत्याशङ्क्य सर्वमनोरथपूररत्नात्सर्वकार्यं काम्यत्वात्माकरूपत्वं
चदन्नस्त्वं प्रार्थयन्ते विवेकेति ।

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

पूर्वं प्रभुस्वरूपविचारेणाश्रयमुक्तया जीवस्वरूपविचारेणानुनोच्यते । भगवान् स्वच्छया सर्वं करिष्यति न मार्यनीय इतिनिश्चयो विवेकः । भक्तिविरोधिदुःखनिवृत्त्युपायाकरणेन त्रिदुःखसहनं धैर्यम् । भक्तिः साधनरूपापि । आदिपदात्पुण्यम् । विशेषत इति । तत्साधनैरपि रहितस्य । यद्वा, यत्किञ्चित्सत्त्वेऽपि विशेषतो नास्तीति न फलसिद्धिः । किञ्च, दीनस्य दरिद्रस्यातः सर्वसाधनरहितस्य । पापे आसक्तस्येति विपरीतसाधनवतो न तु प्राणादिकपापस्य । कृष्ण एवेति पूर्ववत् । अन्यत्र यत्किञ्चिद्गुण्येऽपि वैकल्यादेवताकोपादनिष्टजननाद्वलदत्त्वाच्चेदशस्य विवेकादिकं दत्त्वा स्वतो वा सर्वफलदायकः परमकृपालुः कृष्ण एवेति स एवाश्रयणीय इति हृदयम् । नन्वस्मच्छब्दस्योच्चारणपितृवाचकत्वाद्वाचाचार्यचरणानां तथात्वाद्विशेषणान्यतद्गतानीति चेत्, नै, अस्यान्यार्थतेनान्याधिकारेण कथनाद्भगवता वेदेषु 'प्रयत्नपाणिः शरणं प्रये' 'भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम' 'स्वस्ति मेस्तु वनस्पते' इत्यादौ यजमानाधिकारेण कथन इवादोषत्वादिति सर्वमनवद्यम् ॥ ९ ॥

ननु सर्वथा निःसाधनस्य शरणगतत्वपि कथं तमीदितिसिद्धिः, भगवाँस्तु तत्कृतिसापेक्षस्त्वस्मै तस्मै फलं ददाति, प्रत्युत भगवदेकशरणस्य तदेकमनसो देवान्तरानादरेण तैकृता अपि विघ्नाः स्युः 'श्रेयांसि बहुविघ्नानी'तिवाक्यादित्यारम्भ्य मोक्षप्राप्तत्वान्मोक्षरूपत्वं विज्ञापनं च वदन्तः समादधते सर्वसामर्थ्यसहित इति ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

दिप्यणम् ।

मोक्षप्राप्तत्वादिति । स्वरूपलाभप्राप्तत्वादित्यर्थः । तथाच श्रुतिः 'ब्रह्मविदाप्नोति परमि'ति । अस्या अर्थः-अक्षरवित् परं पुरुषोत्तमं प्राप्नोतीति । मोक्षरूपत्वमिति । भक्तिप्रागस्याय भगवद्भजनं कुर्वते स्वीयाय सर्वफलदातृत्वं भगवत एव तथाचाक्षरफलदातृत्वमपि स्वस्यैवेति तद्रूपत्वान्मोक्षरूपत्वमित्यर्थः । तथाचोक्तं निबन्धे 'यथा स्यात्स्यी रथी तदन्तःस्थितश्च तथान्तर्याम्यक्षरं कृष्णः । एवं मति पुरुषोत्तमत्वेन सर्वत्र दर्शनं भवति परब्रह्मैव त्रिप्रकारेण वर्तते इति प्रयो भेदा इति' ।

प्रकाशः ।

सर्वं पूर्णं सामर्थ्यं सर्वेषां सर्वेषु वा, तत्सहितं इतीच्छया स्वतोपि सर्वं करोति । यदि मर्यादा रक्षेतदा भगवत्त्वेन ज्ञानैश्वर्यमर्यादीना सिद्धत्वात्तदहत्त्वापि तत्फलं दद्यात् । कदाचित्पूर्वस्थितमपि स्वस्मिन्नयेत्, सर्वत्र स्वस्यैव सामर्थ्यात् । 'यद्यद्विभूतिम्' 'यथा सर्वं प्रवर्तत' इत्यादिकावयैः सर्वं सामर्थ्यं येषां गुरुदर्शनादीनां तैः सहितं इति वा, तैर्गपि भक्तानिष्टनिकारणात्, 'अव्याहृतानि कृष्णस्ये'तिवाक्यात् । ननु सामर्थ्यं सत्यपि कदाचिदाश्रितं न रक्षेत्, मर्यादैव वा यदि फलं दद्यात्तदा किमाश्रयेणेत्यत आहुः-सर्वत्रैव देशेषु वशेषु आश्रमेषु कर्मादिषु वाखिलार्थान्करोतीत्यखिलार्थकृत् ताच्छील्यपादौ किम् 'सकृदेव' 'ये दारागारपुत्रास्ते'त्यादिकावयैः सकृदपि शरणागतं भगवान् रक्षति किं पुनर्भजनः । मर्यादायपि फलदानेनैवैरपेक्षेण भक्तो भगवान्मर्यादानपेक्षः फलं प्रयच्छति, विहितत्वादिना भक्तो मर्यादासापेक्षो 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति तन्मर्यादाया एव तादृशीत्वात् क्षतिः । अत एव 'ब्रह्मस्योवाह वै हर्षम्' 'चिकीर्षे जनयन्मुदम्' 'मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः' 'मुकुन्दो मुक्तिं ददातीत्यादि 'तथा न ते माधव' 'मत्स्यो मृत्युञ्जालभीतः पलायन्' 'वसति मनसि यस्यै'त्यादिकावयैः काल्पयमादयोपि चेद्भगवदीयाभिवर्तन्ते कुतस्तदा पुनरन्ये विप्रकर्तार इति न किञ्चिदूषणम् । पूर्वोक्तं शरणे स्थितं सम्यगनाथासेनोद्धरति, सकृदागतं तु यथाकथञ्चित् । ईदृशं श्रीकृष्णपदमाश्रयं विज्ञापयामि । 'कृष्णे'तिसम्बोधनपाठे शरणस्थसमुदाहं विज्ञापयामीत्यन्वयः । अनेनेश्वरे दीनभावः कर्तव्य इति सूचितम्, दीनभावेन कृतस्यैवेश्वरतोपदेतुत्वात् ॥ १० ॥

विष्णुणम् ।

'यद्यदा'रभ्य 'अव्याहृतानी'त्यन्तानि वचनानि 'यद्यद्विभूतिम्' सर्वं श्रीमद्भूतत्वेन वा । तत्तदेतन्नगच्छ स्त मम तैजोशतमवम्' 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं भवतीते । इति मत्वा भक्तने मा बुधा भावसमन्विताः' 'अव्याहृतानि कृष्णस्य चकादीन्यापुधानि तम् । रक्षन्ति सरुलापद्भ्यो येन विष्णुल्पासित' इति । ताच्छील्यपादौ क्लिप्तिति । 'आहेस्तच्छीलतद्दर्पतसाधुकारिष्वितिस्मरणात् । 'सकृदेरे'त्यारभ्य 'तत्तथा साधविष्णामी'त्यन्ताना वचनाना सद्ब्रह्मः- 'सकृदेव प्रवक्ष्यामि तदास्मीति च याचते । अथ सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्गतं मम' 'ये दारागारपुत्राशरणान् वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तास्त्यक्तुस्तदहं' 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम् । मम कर्त्यानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः' 'दर्शयस्तद्विदा लोके आत्मनो भूतवदनपताम् । नृजस्योवाह वै हर्षं भगवान् बालवेष्टितैः' 'ततस्तु भगवान् कृष्णो

टिप्पणम् ।

वयस्यैर्जगत्कारकैः । सहस्राणो ब्रजस्त्रीणा चिकीडे जनयन्मुदम् ' तदर्शनाद्वादविधृत-
 हृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः । स्वैरुत्तरियैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैरचीकृत्पद्मासनमात्म-
 वन्द्ये ' ' राजन् पतिर्गुह्यरत्नं भवतां यदनां देवमियः शुलगतिः क्वच किङ्करो वः ।
 अस्त्वैवमद्भ भजतां भगवान् सुवृन्दो घृत्किं ददाति कर्द्विचित्रं स्म न भक्तियोगम् '
 ' तथा न ते भाषन् तावताः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्तपि बद्धसौहृदाः । त्वयाभिपुत्रा
 विचरन्ति निर्भया मिनायतानीकपमूर्धसु मभो ' ' पत्न्यो मृत्युप्यालभोवः पन्थान्
 सर्वान् लोमान् निर्भयाद्याध्यगच्छन् । तत्त्वादावर्जं प्राप्य यद्व्ययस्य स्वस्यः
 नोते मृत्युरस्मादपैति ' ' वसति मनसि यस्य सोम्यपात्मा पुरपत्नरस्य न तस्य दृष्टिशतः ।
 गतिरथ मम वा तत्रास्ति चक्रप्रतिहतरीर्यमस्य सोम्यलोकः ' ॥ १० ॥

प्रकाशः ।

' दश वै पद्मोः प्राणा आत्मैरदश ' इतिथेतेः भाषानामिच्च सर्वसाधकत्वं ज्ञाप-
 यितुं दशभिः श्लोकैः स्तोत्रं निरूप्य फलस्यात्यरदक्षयत्वं ज्ञापयितुमेकादशेनात्मरूपैर्ष-
 तस्तोत्रपाठफलमाहः—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽभवोत् ॥ ११ ॥

कृष्ण आ समन्तात् श्रीयते सेव्यत्वेन, कृष्ण आश्रयो येन यस्मादिति वेति
 कृष्णाश्रयम्, इदमेव कृष्णाश्रयं यथार्थनिरूप्यकत्वान्नान्यत् । कृष्णासन्निधौ तद्विमिचं
 वा, इदं यः पठेत् तस्य कृष्ण आश्रयो भवेत् । अत्र ' हेतुहेतुनतोलिङ् ' इद-
 मिति नान्यपाठेनेदं फलं, स्वरूपाज्ञानात् । नन्वल्पासादेवस्तोत्रपाठमात्रेण कथमेत-
 त्फलं स्यादित्याशङ्क्याहः—श्रीवल्लभ इति । इदमभवोत् अवदत् । स्वस्य यगत्स्व-
 रूपाभिह्वलाद्भवता सर्वोद्धारार्थं प्रकटितत्वादुद्धारकस्वरूपत्वाच्च नात्राप्राप्याप्यशङ्का,
 नहि भगवान् सत्यवाक् स्वैवात्मन्यथाकरोति । यत्र प्रसङ्गाद्भारदकृतं ' ततथा सावयि-
 यिष्यामि यदीतं तन्महात्मने 'ति सदनुग्रहो भगवान् स्तुतमिव मन्यमानः पुटयोत्तमः रस्यं
 तत्र गत्वा नलहृत्वरमणोऽश्रीवोद्धारं कृतवान्, तत्र स्वयं सर्वार्थं प्रकटितस्य स्वरूपस्य
 कृतो बवने वा किं किं न करिष्यतीति तत्कृपाया सर्वं भवतीति सर्वभवनवदम् ॥ ११ ॥

टिप्पणम् ।

' देवर्षिर्मे मियतपो यदिमौ धनदात्मजौ ।

ततथा सावयिष्यामि यदीतं तन्महात्मनेति ' ॥ ११ ॥

प्रकाशः ।

श्रीमद्विद्वन्नाथपादकमले संवन्ध भक्त्या मुदा
 कृष्णकाग्रधियोथ तातचरणान् तादृक्पितृव्यानपि ।
 श्रीकृष्णाश्रयसंज्ञके स्तुतिवरे कल्याणरायाभिषः
 श्रीगोविन्दसुतः प्रकाशमकरोद्भयान्मुदे सद्दियाम् ॥ १ ॥

इति श्रीविद्वल्लनाथचरणकमलैकतानश्रीकल्याणरायविरचितः
 कृष्णाश्रयस्तोत्रप्रकाशः समाप्तः ।

टिप्पणम् ।

दूरीकरोति विकटे किल सङ्कटानां सङ्घं विसंकटतरं वरसेवकानाम् ।
 यत्पत्नरागमणिवर्षविताजमानं तद्देह्ण्टेणमुकुटं प्रकटे रटापः ॥ १ ॥
 निखिलपण्डितमण्डलमण्डितं हरिमुखाङ्गसरोरुहभास्करम् ।
 अतुलमङ्गलनामविराजितं जनपनोहररूपमहं भजे ॥ २ ॥

श्रीमत्कल्याणरायाणां नमस्कृत्य पदद्वयम् ।
 कृष्णाश्रयप्रकाशस्य तत्पणीतस्य टिप्पणम् ॥ ३ ॥
 गुरुश्रीवालकृष्णानामात्पजेन सतां मतम् ।
 कृतं गोविन्दराजेन नाम्ना तत्त्वनिरूपणम् ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्कल्याणरायचरणकोकनदमधुपापमानान्तकरणतिघरो-
 पनामकबालकृष्णभट्टात्मजगोविन्दराजकृतं तत्त्वनिरूपणाभिधं
 कृष्णाश्रयप्रकाशटिप्पणं समाप्तमगमत् ।

श्रीरूपाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

धीनदाचार्यवत्पणकमलेभ्यां नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्द्वारिकेश्वरचरणप्रणीतविरचितयुतम् ।

पशुपतिकृतिभिर्षे भ्रंशिता मुग्धचित्ता-

स्वदनुष्ठानकृतीन् स्वाज्ञानतः पातुमिच्छन् ।

अवददविकृतं यः स्वागमं सर्वभद्रम्

तपहमतिदपालुं बल्लभाख्यं नतोस्मि ॥ १ ॥

विरश्चिहृष्णनारदैर्निरूपितैर्धृशं सदा

चिरन्तनीयताधनैर्विसम्मतं कल्लं विभुः ।

विलोक्य सर्वतोधिक निभ्राममं ततान यः

सदा सुसंमतं सतां विशेषतः कलौ युगे ॥ २ ॥

ननु साक्षात्परम्परया च भगवत्प्राप्तिसाधनानां बहूनां विद्यमानत्वात्तानि विहाय
किमित्याश्रय एव बोध्यते, किञ्च, क्रमेण नवनिषलीलाप्रवेशानानन्तरं हाश्रपस्त्वज्ञानं
वा स्वत एव भविष्यतीति किमिति तत्प्रतिपादकं स्तोत्रमुच्यते तत्राह—सर्वमार्गेष्वित्यति ।

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पापण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

तथापि निरोधस्य सर्वापेक्षया वरीयस्त्वान्मुक्तेरपि लोके उपात्तात्किमिति तौ विहाया-
श्रय एव निरूप्यते अत्रोच्यते 'आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते । स आश्रयः परं
ब्रह्म परमात्मैति शक्यते' 'या या साधनसंपत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तथा विना तदाप्नोति
नरो नारायणाश्रयः' 'सर्वसाधनतो भवे'दित्पादियात्परैराश्रयस्यैव सर्वसाधकत्वेनोक्तत्वा-
त्सर्वसाधनफलरूपाभ्यां स एव परिणत इति तमेवाह—कृष्ण एव गतिर्ममेति ।

गतिशब्दः क्रियावाचकः, तेन गतिरित्युपपन्नस्य किन्तु स एव भक्तिमार्गनिर्वाह-
प्रतिबन्धनिवर्तकतया परमभक्तिपतिपादकसाधनीभूतशुचित्तजादित्पतिपादकशरीरत्व-
र्थाहकक्रियास्यो भवत्वित्यध्याहारः । कथञ्चित्पूर्वसाधनोन्मुखं ज्ञात्वा पश्चाज्जावैस्तरा-

श्रयः कर्तव्य इति नार्थः, सर्वतः सर्वांशेन कार्वेसिद्धयभावे निश्चित्य स्वस्मिन् तयात्व-
निश्चये सत्यत्माकं सर्वथा लौकिकालौकिकफलसाधकोऽस्मत्कृतिनिरपेक्षः स भवतु ।
तथाभवनं तु तदिच्छासाध्यम् । भगवानाश्रयो भवतु मा वा, अस्माभिस्तदाध्वयैः सर्वथा
भाव्यमेवेति निश्चयश्रयः सर्वथा कार्यः । एवंमपन्नानापाधयः सर्वथा भक्त्येव, अन्यथा
'अनन्या' इति 'न मे भक्तः मणश्यति' इति भगवद्भूतं भज्येत । एवं सति सर्वफलरूपस्त्व-
याऽऽश्रयणोक्त्या साधनीभूतः क्रियते ततोपिकस्य फलस्याभावात्, मत्युत 'वृश्चिकपिये'-
तिन्यायेन स्वरूपहानिप्रसङ्गः स्यादत्र ब्रूमः—कृष्ण एव गतिर्ममेति । एवंच परमभक्तिस्तु
कृष्णैकफलिका तदनुग्रहैकलभ्या च, तथासति तत्रिसिद्धिमतिष्वन्यत्रिचिपूर्वकं तत्रिसिद्धौ
कसाधनादिनिर्वाहकसाधनतापापन्नो न हीनतामापद्यते । यथा—'योगमायाद्युपाश्रित' इत्यत्र
रसमार्गेऽन्तरङ्गाश्रयणं न दोषाशयकं तन्मार्गस्यैव तथात्वात् । एवं भक्तिमार्गीयसर्वांशसाधने
भगवतो न साधनरूपत्वमापद्यत इति सिद्धान्तः । यथा 'धर्मा सन् धिययागो विपती'
इत्यत्र भगवतस्तत्सम्बन्धिनां च परस्परमाचाराशयेभावे षोष्णोपकभावे च नोभयोर्मध्ये
कस्यापि हीनत्वं किन्तु तदेकपोषकत्वं तदेकपोष्यत्वं च भगवत उदकर्षाशयकं, एवं
तन्मार्गपक्षपाताद्भक्तिमार्गे सर्वांशेन फलत्वमापन्नस्य स्वस्य साधनतास्वीकारो न हीन-
त्वसंपादक इत्येवमभिसंधायाचार्यैरुक्तमिति भावः । धर्मादीनां च स्वसाधनसहितानामेव
फलसाधकत्वं, तत्र देशकालादयो धर्मसाधनं तेषामिदानीभवत्वात्वं सर्वथा निरूपयन् पूर्वं
कालस्यातथात्वमाह—सर्वमार्गेषु नष्टेष्विति । कलौ सर्वेषु मार्गेषु नष्टेषु सस्तु देवैः
कृष्ण एव गतिर्ममेत्येवंरूप आश्रयः कर्तव्य इति भावः । मार्गोक्त्या तेषां साद्धानां स्वस्वा-
धिकारानुसारेण फलसाधकत्वं निरूप्यते । नाशस्तु तेषां सर्वथा फलासाधकत्वरूपः । कलौ
तत्तन्मार्गे किञ्चिदुत्तमानां तद्विध्याचरणेषु तत्फलाभावं दृष्टान्तेषामनुपलब्धिप्रमाणेन
ततो विश्वासापगमाद्वाद्यतोपि तदाचरणपरम्पराया नाशः स्यादिति भावः । ननु सत्य-
युगादीनां यथा धर्मसाधकत्वं तथैतस्यापि तथास्यै को दोषः कालत्वस्याविशेषादित्यत
आह त्वलघमिणीति । खलाः सर्वथा बाह्याभ्यन्तरभेदेन धर्मादिकृत्यनुसन्धानरहिताश्च,
अनुसंधानेषु द्वेषार्थमेव उदुत्सन्धानं, न च स्वस्थान्तेषां वा चिकीर्षावुद्धिजनकत्वेन ।
अत एव 'ग्रन्थं गोमिथुनं पदे'ति तस्यासाधारणो धर्मो निरूपितः । ननु सर्वथा धर्मादि-
त्यक्तारः केचन नविष्यन्ति न तु सर्वे तेन तदुक्त्या सर्वे कथं तादृश भविष्यन्तीत्यत
आह पापण्डप्रचुर इति । येषु लोके सन्यासाचारणं कुर्वन्ति महान्तोपि तेषु श्रान-
मनुसूचैव कुर्वन्ति, अन्यथा तदा लोके पूज्यत्वं न स्यात् । पूर्वकल्पमात्रुषे तत्र श्रदा-
भावेऽप्यन्यातुरोपेनाप्यन्यथाचरणे स्वबुद्धिरपि तथैव जातेति तत्र स्वयं श्रद्दालवो भूत्वा-
न्येषामपि तथात्वं संपादयन्तः धर्मात्पक्तह्रियो भूत्वा सुखेन तयादुर्वन्तीति भावः ।

एतेनान्यानुरोधेनापि सन्मार्गत्यागः ' योन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरिणात्मापहारिणे'तिन्यायेन सर्वथा स्वनाशक इति ज्ञापितं भवति । तेन प्रावाहिकभक्तिमार्गोऽपि नष्ट इति ज्ञापितम् । चकारः समुच्चयार्थः । तथाहि—मार्गाथ सर्वे नष्टास्तादृग्धर्मा कलिश्चाविर्भूतः, लोके पापण्डथ प्रचुरः । एवं सर्वथा सर्वनाशोऽपि स्थितौ विविधशङ्कास्पदीभूतान्तःसरणान् स्वानुपदिशन्ति श्रीकृष्ण एव गतिर्ममेति । अवतारान्तरं तु मर्यादारूपमित्येवं निःसाधनानां धर्मादिप्रतिकूलसाधनवता वा सर्व-
भक्तिरन्धनिवृत्तिपूर्वकं 'तथास्मी'त्युक्तिमात्रेण भक्त्यैकल्यभ्यः पुष्टिपुरपोत्तम एवोद्धारं कर्तुं शक्त इत्येव कारेणाशकलावनारन्यनच्छेदपूर्वकं कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तमेवमग्रेऽपि ज्ञेयम् ।

एव कालस्य धर्मादिविरोधित्वमुक्त्वा देशस्यापि तथात्वमाह—म्लेच्छानान्-
न्तेष्विति ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

यथा कालत्वस्याविशेषेऽपि सत्यादिरूप एव कालो धर्मसाधको भवति तथा देशत्वस्याविशेषेऽपि तीर्थादिरूप एव देशो धर्मादिकरणे साधनीभूतः । तीर्थमपि जल-
स्यलभेदेन द्विविधं, तत्र पूर्वं पुण्यक्षेत्रादिरूपस्य देशस्य पूर्ववदतथात्वमाह—म्लेच्छा-
क्रान्तेष्विति । साक्षात्परम्परया च देशाः सर्वे म्लेच्छैः आ-समन्तात् प्रान्ताः । तत्तत्पु-
ण्यक्षेत्रादिधर्मस्थानेषु तद्धर्मापगमार्थं द्वेषेण विपरीतकृतिपूर्वकं स्थितिरारम्भणम् । कु-
चित्पुण्यादिभूमौ साक्षात्तत्रोत्पन्नविषयभोक्तारो भूत्वा तत्रैव तिष्ठन्ति कुत्रचित्तत्सन्नि-
हितेषु । एवं तेषां साक्षात्स्थित्या स्वोत्पन्नविषयाणां तदेवभोग्यत्वेन च सर्वदेशानामधर्म-
साधनत्वं जातम् । सर्वथा म्लेच्छीयत्वात्तेषाम् । म्लेच्छा अनाविष्टाः सन्तः सर्वथा धर्मा-
दिविरोधिनः कलहप्रियाश्च 'मनसा वचसा कृत्या सद्धर्मपरिपन्थिनः । म्लेच्छदेशेषु
संजाता भक्ष्याभक्ष्यविचारकाः' । ननु तत्रोत्पन्नाः सर्वे न तथाभूतास्त्वविपरीतानां गृह्णा-
दृश्यमानत्वात्, यथा म्लेच्छसंसर्गात्सर्वोऽपि देशोऽधर्मजनकता यात एव तद्विपरीतधर्मवता
तज्जातीयानामपि संसर्गात्संयोगपृथक्त्वान्यायेन देशव्यवच्छेदेन कियदेशेषु धर्मसाधनता
ऽपस्त्विति चेत्तत्राह—पापैकनिलयेष्विति । सर्वे एव देशाः पापैकनिलया जाताः
पापानामेको निलयः स्थान तादृशा जाताः । तेन कुत्रापि धर्मज्ञानं न श्रूयते । यद्वा
पापास्त एव महीभोक्तारस्तदेकनिलयत्वात्तथा । येषु तद्विपरीतधर्मास्ते तु पूर्वजन्मनि
वेष्णवा भूत्वा वेदनिन्दा कृतवन्त इति तादृशेषु जन्म प्राप्तवन्तोऽपि सत्स्वेव प्रविष्टा
ननु तेषु । तेन सतामिव तेषामपि धर्मादिनियन्तव्याभावः सूचितः । ननु तदाका

न्तेष्वपि देवेषु चातुर्वर्ष्यस्यापि विद्यमानत्वाद्भोक्त्वप्रतियोगित्वेन त एव सतां धर्मादि-
मवर्तते सदायाः कथं न भवन्तीति चेत्तत्राह—स्तृपीडेति । चित्तस्थये हि सर्वेषां स्वध-
र्मानुसन्धानं भवति । सतां चकरात्तदनुवर्तिनां च पीडया सर्व एव लोका व्यग्राः । सतां
मसङ्गे पीडासंभवात्तदभावे धर्मादिसिद्धयभावाद्दशमता । तथासति किं कर्तव्यमित्या-
काङ्क्षायामाह—कृष्ण एवेति । सर्वथा साधनाभावादर्माभावेपि भक्तिवत्कल्पतरुस्वभा-
वत्त्वेन सर्वधर्मभार्यायफलतोष्यधिकफलपापकत्वेन श्रीकृष्ण एव गतिर्ममेत्येवंरूप
आश्रय एव सर्वथा कार्य इत्याचार्याणां परमोक्तिरिति भावः ॥ २ ॥

एवं स्थलादिरूपतीर्थानामवधारणमुक्त्वा जलादिरूपाणामपि तेषामवधारणमाह—

गङ्गादितीर्थवर्षेषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादितीर्थवर्षेष्विति । ननु 'गङ्गागङ्गेती'त्यादिनोक्तमाहात्म्यवतां गङ्गादीनां
विद्यमानत्वात् कथं संसर्गदोषा बाधन्ते तत्राह दुष्टैरिति । 'नहि गङ्गासर्ष तीर्थम्' 'या वै
लसदि'त्यादिना च सर्वेभ्यस्तीर्थेभ्यो गङ्गाया एव वरीयस्त्वस्योक्तत्वादतीर्थानपि तीर्थी-
कुर्वन्ती गङ्गैव गच्छति । एवंविधान्यतयाजातानि । किञ्च, अस्ति गङ्गायां त्रिरूपत्वमा-
भिदैविकादिभेदेन । तत्र तीर्थरूपं तु दुष्टमम्बन्यादेव नष्टं, तथाहि—भगवता 'स्वं च श्रे'त्या-
दिवाचयैर्भगन्मोहनार्थं पशुपतेः प्रवर्तितत्वात्तत्र यथा सर्वे जीवन्तो सुमूर्ध्ववध मुग्धा
भवन्ति तदर्थं सर्वथा चित्तशुद्धयभावसापनीभूततीर्थसम्बन्धाभावात् शिवेन स्वगणा
गङ्गादिषु स्थापितास्ते तु गणशस्तिष्ठन्ति तत्रत्यानां प्राणायामे यथा तीर्थसम्बन्धो न
भवति तथा ते यतन्ते । तत्सम्बन्धाचीर्थरूपमेव नष्टं, तथाचोक्तं तैत्तिरीयके 'ये' तीर्थानि
प्रचरन्ती'त्यादिना । अत एव तत्र मृतानामपि न तीर्थमरणफलपन एव तत्र मृताःसन्तो
वृद्धिश्चाचं ते प्राप्नुवन्ति न दोषादिनिवृत्तिः काश्चादिषु सुमूर्ध्वणां मनुष्याणा
मारभ्य तिरश्चापि । ननु तत्र मृतानामपि तारकब्रह्मोपदेशं शिवः करोतीति श्रुते
तथा सति कथं जलस्यलरूपाणां तेषां न शुद्धिसाधकत्वं, सत्त्वं, तत्तु पूर्वोक्तधर्म-
वत्कालाभावे न तु तद्वति । यदा 'स्वं चै'तिभगवदुक्तेः पूर्वं शिवस्तथाऽऽहोत्तदमन्तरं
तथाकरणे अज्ञाभङ्ग एव स्यादिति न तथा कृतवान् । तथापि निदर्शनस्येदानीमपि
दृश्यमानत्वात्कथं न करोतीति तत्र शिवोपि वैष्णवत्वाद्भगवत्सम्मतमेव सर्वं करोति ।
किञ्च, तथोपदेशं कुर्वन्पि पूर्वं वैष्णवत्वेऽप्यसत्सङ्गेनापराधाद्वा दैत्यापेशे जाते स्वस्थान-
माहात्म्यार्थमागन्तुकदोषपरिहारपूर्वकं पूर्वरूपतासंपादकत्वेन भगवद्दर्माभिप्रेतान्छिव

एव तारकमहोपदेशं करोतीत्यर्थः । अत एव 'प्रापञ्चितानि चीर्णानि नारायणपरा-
 द्भ्रमुत्सृज्य । न निष्पुनन्ती'त्यादिना भगवद्ब्रह्मिस्त्वस्य पवित्रीकरणसामर्थ्यं तीर्थादिष्वपि
 नास्तीति जातेपि तत्सम्बन्धे न कृतार्या भवन्तीत्यर्थः । तथा चोक्तं निबन्धे 'तीर्थादावपि
 या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद्भवेत् । कृष्णपसाद्युक्तस्य नान्यस्येति निनिश्चय' इत्यादि
 सर्वमनवयम् । ननु गङ्गादेराधिदैविकरूपस्य विप्रमानत्वात् कृष्णं तादृशरावरणं तीर्थ-
 रूपनाशो वा भवेत्तत्राहुः तिरोहितेति । जलस्थलरूपेभ्य आधिदैविकं तिरोहितं
 तस्माद्दुष्टसंभगे अक्षरात्मकमपि तथैव जातम् । एवं सर्वेषां सर्वसाधनागमे आश्रय एव
 साधीयानिति तमेवाहुः—कृष्ण एवेति ॥ ३ ॥

तथाप्यन्तरङ्गबहिरङ्गभेदेन सर्वैर्धर्मप्रवर्तकानां सतां विद्यमानत्वात्कर्म धर्मादि-
 नाशः स्यात्तत्राह—

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहङ्कारविमूढेष्विति । यदि तेपि तथाभूता भवेयुस्तदा कार्यं सिद्धयेदेव
 तेषां स्वरूपमाह—परीक्षिति यस्मिन् विद्यमाने तच्छरणागतौ क्लेशव्यवसायो जातः स
 एवाहङ्कार इदानीं सत्सु प्रविष्टः । यथैकसम्बन्धात्परमधर्मिकत्वापि विष्णुरातस्य कलेः
 स्थानदानेन त्रिदोषोत्पत्तौ मौढ्याद्ब्राह्मणातिक्रमे मुद्दिर्जातौ सतामपि तत्सम्बन्धात्स्व-
 धर्मपरित्यागे मुद्दिर्जातेर्यहङ्कारेण सर्व एव मुग्धा जाताः । एतेन कर्तृगामप्यसाधकत्वमुक्तं
 भवति । यदि कर्तार एवाहङ्कारेण विमुग्धा जातास्तदा तत्कृतौ धर्मायसाधकत्वं भिषाश्रय-
 मिति कैमुतिकन्याय उक्तो भवति । अल्पमौढ्ये प्रकारान्तरेणापि तदपगमः स्यात्तद-
 धार्ताय विशेषेण मूढत्वम् । तत्र निदर्शनं पापानुवर्तिष्विति । पापा निषिद्धकृतिभि-
 स्तत्फलरूपतां प्राप्तास्तद्विषयभोक्तृत्वेनानुवर्तित्वम् । ननु तेपि स्वोपनीन्यान् परम-
 धर्मादिकं बोधयन्त इव दृश्यन्ते कथं ते तादृशास्तत्राह टाभेति । लाभार्थं या पूजा
 तस्यानेव कृतप्रयत्ना न तु भगवत्कीर्तिनादौ सन्तुष्टाः सन्तः परस्परं पूजयन्ति, तादृशी
 तु नापेक्षिता । यद्वा, स्वलाभार्थं स्वपूजार्थं च यत्नो येषामेतेनेतादृशकर्तृणां मन्त्रादीना-
 मस्तत्त्वाद्गुणानामप्यसाधकत्वमुक्तम् । अत्र कर्तृणां तदनुवर्तिनामेव द्रव्यादीनामसाधक-
 त्वात्पूर्वं कर्तृगामसाधकत्वमुक्त्वा पश्चाद्द्रव्याणामुक्तं, निमित्तोक्तौ नैमित्तिकोक्तिरपि सद्ग-
 च्छने । तेन 'स्वयं नष्टः परान्नाशयती'तिन्यायेन सतां परम्पराप्येवंरूपैव जाता । यदि तेन
 स्वस्य परस्य वासुम्पिकं सिद्धयेत्तदा ते सन्त एव भवेयुः । वृत्त्यर्थं तेषां तत्करणात्
 'भिषाशया च पृच्छन्ति मम नामानि चाशुन । अमुल्लयास्ते जनाः पार्य दूरतः परिवर्तयेत्'

इत्यादिवाच्यैस्तेषामतयास्वप्रतिपादनाद्दर्भध्वजिवत्कृत सर्वपकृतमाय भवतीत्येवरूप-
सर्वनाथ उपस्थिते सर्वेषा सर्वकार्यसाधक आश्रय एवाचार्यैरुपदिष्ट इति तथाह
कृष्ण एवेति ॥ ४ ॥

ननु गोपालादिताम्रिकवैदिकमन्त्रहरिदिनप्रतादीना विद्यमानत्वात्तेषा च सर्वेषा
शोधकरत्वात् न तैस्तेषा पूर्वरूपत्व तत्राह—

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वन्नतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञाननष्टेष्विति । तेषा परितो ज्ञानमद्भान्पुररीकृत्य फलपर्यन्त स्वरूपनि
धारः । किञ्च, गोपालादिमन्त्राणामपि वाराङ्गनावशीकरणादिक फलत्वेन श्रूयत इत्यन
र्थोपशर्म साक्षात्क्रियोगमधोभजे' इतिवचनाद्भव-मन्त्राणा विवपादिपुण्योगोऽपरि-
ज्ञानादेव भवति तेनानर्थोपशमस्य भक्तियोगस्य विषयाद्युपयोगे जाते नष्टत्वम् । गुरु
कुलावासब्रह्मचर्यशूद्राश्रयणानुयायराहित्यपूर्वकपठिताना वेदमन्त्राणा 'अनिच्छयापि
सस्पृष्टो दहत्येव हि पात्रक' इतिन्यायेन सम्भ्यक्त्वात्पर्यांशानेप्यध्ययनशत्रेणैव सर्व
साधकत्वात्कस्य नष्टत्व तत्राह—अन्नतयोगिष्विति । ज्ञतेष्वपयोगो येषा, प्रज्ञानामयोगो
येष्विति वा । 'अधुना ह्यधिकारास्तु सर्व एव गता कला' इतिवचनात्कृतानामपि
तेषामन्नतयोगित्वम् । ननु किमित्यायासपूर्वरु कर्मव्रतादीनामसाधकत्व साध्यते, किञ्च,
'दानव्रततपोहोम' 'जन्मान्तसहस्रेष्वित्यादिवाच्यै कर्मप्रतादीना भक्तावपि साध-
कत्व मन्तव्य, तेन 'प्रसालनाद्दि पङ्कस्य दूरादस्पर्शन वरमि'ति-न्यायेन पूर्वमेव तेषाम्
साधकत्व न कुरु शक्यमिति चेत्तत्राह—सत्य, तानि वाक्यानि प्रावाहिकभक्तिपराणि ।
नो चे'न्न रोषयति मा योगो न साङ्गध धर्म उद्भव । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त
न दक्षिणाः' 'मा हि पार्थ उपपाश्रित्य येपि स्थु पापयोनयः । त्विषो वैस्यास्तया
शूद्रास्तेषि यान्त्रि परा गतिम्' 'नायमात्मा पवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना
श्रुतेनेत्यादिभ्रुविस्मृतयश्च न सङ्गच्छेषु । भक्तौ भगवदिच्छैकसा यत्त्व धर्माद्यसाध्यस्त
श्रोमत्स्वामिचरणैर्भक्तिहेतुनिर्णये प्रपञ्चितपत्नोति नात्रोच्यते । तेन पुष्टिमक्तौ तु 'न
रोषयति मा योगो न साङ्गध धर्म एव च । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो गया भक्तिर्मोर्जिता'
'न दान न तपो मेध्या न शौच न प्रतानि च' 'श्रीयतेमलय भक्त्या हरिस्त्वद्विदम्बनम्'
'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरण्यं व्रज' 'नाह वेदैर्न तपसेत्यादिवाक्यसहस्रेभगवद्द्वी
कृतानामेव तस्यास्ति । तस्मान्नमन्नदाश्रये कर्मादीन्पथोज्ञानानि । ननु 'तावत्कर्माणि कुर्वान
न निर्विद्येत यावतेत्यादिवचनैर्भवदीयानामपि नित्यनैमित्तिकप्रतादिकरणपात्रशक्यं

तत्र वेदसाधकत्वं वदति भगवान् तदा भगवदीयानामपि नित्यनैमित्तिककर्मादिकरण-
मेकादशीमन्वाष्टमीव्रतादिकरणं च व्यर्थमिति चेत्, न । तत्र पूर्वं भगवदीयानां कर्मव्र-
तादीनां स्वरूपं वक्तव्यं तदेवाहुः—‘यस्ये विभूतीर्षत्रतत्तत्संपादय नः प्रभो’ ‘यत्करोषि
यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्’ इति । तेन भगवदीयकृतकर्माणां ‘यस्य स्मृत्ये’-
त्यादिवाक्यैः पूर्णत्वमन्येषामपूर्णत्वादसाधकत्वम् । तेन स्वमार्गायाणां तेषां तेभ्यो भेदः
सूचितः । वस्तुतस्तु यत्र विवेकैर्यमकथादिरहितानामपि तस्मात्स्वप्नाकामतयापि
कृतानां कर्मव्रतादीनामसाधकत्वं क्रियार्थम् । एतेन सर्वसाधनरहितानामेव भगवदाश्रये
मुख्योधिहार इति ज्ञेयम् । तेन तेषां सपरिकराणां ज्ञानाभावे त एव नष्टा जाता इत्याह
नष्टेष्विति । ननु तदधिष्ठातृदेवतानां तद्रूपसाधनैकलभ्यप्रसादानां विद्यमानत्वात्कथमप-
रिज्ञानं नाशो वा भवेत्तत्राह—तिरोहितेति । अर्थरूपा देवास्तेभ्यस्तिरोहिता जातास्तेन
गतसाराः सन्तस्तेपि तथैव जाता इति यावः ॥ ५ ॥

ननु तान्त्रिकमन्त्राद्यभावेऽप्यग्निहोत्रचान्द्रायणकृच्छ्रादीनां विद्यमानत्वात्कथं न
कार्यसिद्धिरत्राह—

नानावाद्विनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पापण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानावाद्विनष्टेष्विति । जैमिनिकणादगौतमादयो हि ऋषयस्तामसास्तैः
श्रुतिस्मृत्यर्थविचारे क्रियमाणे कालसम्बन्धादुदितस्वभावाः सन्तः कर्मव्रतादिप्रतिपादने
निरन्तरसन्तन्वमानपरस्परमतिहून्यासत्तर्हैरञ्जितव्यवसाया जाताः । एवं वस्तुनिर्धार-
णात् तदन्तेरासिपरम्पराया अपि पुत्रपौत्रपाप्यधिकदोषयुक्तत्वेन विविधकृतकौपेतैः पर-
स्परविरुद्धैर्नानावाद्दरूपैस्तद्वाक्यैः सर्वाण्येव कर्मव्रतादीनि विशेषेण नष्टानि । फलस्वरू-
पाभ्यां वस्तुनिर्धारणात् तद्रूपेण कृतमकृतमायं भवतीति तथः । अत्र एव भगवतापि
तथैवोक्तं ‘ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि जनोयमधितीष्ठति । त्रिदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तया
नाविदुषो भवेत्’ इति । तन्मार्गस्यैव तथात्वात् । ननु साक्षात्तिहोत्रप्रततिपादकानां
श्रुतिस्मृतीनां विद्यमानत्वेन तदनुसारेण तरुत्तारोपि दृश्यन्ते कथं तत्राह इति
चेत्तत्राह—पापण्डैकेति । परप्रकारणार्थं धर्मवत्कृत्वा प्रदर्शनं पापण्डः, प्राकृतनित्यवैकृत-
काम्यस्वरूपसाधनकटादिपरिज्ञानाभावे चित्तादिशुद्धयसाधकत्वात् ‘अग्निहोत्रं गवालम्भं
संन्यासं पलपैत्कम् । देवरात्रि सुतोत्सर्णि कलो पश्चित्रर्जये’दित्यादिवाक्याच्चेपादिदानीं
निषिद्धत्वात्कृता अप्याभासत्त्वमेव प्राप्नुवन्तीति तत्कृतेरपि पापण्डार्थमेवैको यः प्रकर्षेण

पत्नस्तद्रूपत्वमेव स्यात् । एवमखिलकर्षव्रतानां पापण्डैकप्रयत्नरूपत्वे जाते ब्रह्मसत्त्वाणा-
प्यप्याश्रय एव साधोयानित्याह—कृष्ण इति ॥ ६ ॥

नन्वेवं सर्वथा सदोषाणां तृतीयैकमार्गपदैशयोग्यानां 'गतिर्ममे'त्वेवंरूपोक्ति-
मात्रेण कथं भगवान् सर्वनिरपेक्ष आश्रयो भवेत्तत्राह—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादिदोषाणां नाशक इति । ब्रह्मवादे भगवतः सर्वाश्रयत्वेपि सर्वायं
भक्तिमार्गीयाश्रयस्य जीवानां सर्वथा कर्तव्यत्वाद्वाश्रयभवने महान्तस्तादो भवति । यथा
स्वनाममाहात्म्यरूपापनार्थं नापोक्तिमात्रेणैवानामिलादीनां सर्वदोषनाशको जातः स्वपर्म-
पक्षपातादेवं भक्तिमार्गे पक्षपातात्तन्मार्गीयाश्रयमाहात्म्यरूपापनार्थं तादृगुक्तिमात्रेणैव
भगवोस्तथाविधो भवतीति भावः । तथापि क जीवाः क्षुद्रतयाः क वा ब्रह्मादिदुर्लभकथो
भगवानित्याश्रयभवननिश्चयाभावे कथं वा तद्गुदिश्य तयोक्तौ प्रवृत्तिरपि भवेत्तत्राह—
अनुभवे इति । अत्रास्वच्छन्दोऽध्याहर्तव्यः । एवमाश्रयभवनोन्मुखो भगवान् यदनुभवे
स्थित इति निर्णायार्थं ब्रह्मीत्यज्ञानान्यथाज्ञानमतिकूलतर्कनान्यथा ब्रह्मनीपमिति
भावः । चित्तस्यापत्यात्वेपि निरन्तरं तदनुसन्धानपूर्वकमेतदुक्तौ सत्यां यदनुभूतो भग-
वानप्यनुभवारब्धो भवतीति मदीशैरेतदेवं सर्वथा कार्यमित्यलं विस्तरेण । ननु यथा क्लृप्तौ
श्रुत्यादिभिर्ज्ञानमाहात्म्या अपि धर्माद्यो नष्टाः तथा 'कलौ दशसहस्राणि विष्णुस्फुरयति
येदिनीम् । तदर्द्धं जाह्नवीतोयं तदर्द्धं ग्राम्यदेवता' इत्यादिना बाह्यतो मगकसाविध्या-
भावे तन्माहात्म्यमपि तिरोभूतं भविष्यतीति कथमज्ञातनाहात्म्यास्तदाश्रयोक्तौ प्रवृत्ता
भविष्यतीति चेत्तत्राह ज्ञापितेति । ज्ञापितवखिलमखिलेभ्यो भक्तेभ्यो वा श्रुतिपुराणश्रो-
भागवतादिना साक्षात्स्वरूपा वा माहात्म्यं यस्य येनेति वा । तथाहि 'तस्माद्वा एतस्मा-
दात्मनः' इत्यादिनाऽखिलेभ्यः सृष्टिकर्तृत्वबोधिकया श्रुत्या माहात्म्यरूपापनम् ।
प्रवृत्तिपराणां कर्ममाहात्म्यरूपमेव भगवन्माहात्म्यज्ञापनं तत्रैव पर्यवसितमन्तित्वात्तेषा-
मेवं ज्ञानिनामुपासकानां च । भक्तानां तु साक्षादेव यथा 'जन्मभो ददशे इदम्' यथाच
'गरिमाणं त्रिगोर्वेदं न सेहे गिरिकूटवत्' एवमूगमुपैषा सर्वत्र ॥ ७ ॥

ननु 'आकाशात्पतितं तोयं यथे'स्यादिनोक्तप्रकारेण देवतान्तरं भनतापि सर्व-
शुक्तौ भगवत्सम्बन्धो भविष्यतीति किमित्येवं निर्वन्धेनाश्रय परोच्यते तत्राह—

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्राकृता इति । ब्रह्माणमारभ्य सर्वे एव देवाः प्राकृता आधिभौनिकान्तःपा-
 तित्वात् । बृहदक्षरे गणितानन्दकं स्वार्थं 'कः' प्रत्ययः । तेन जीवेषु निरानन्दहेतुनाम-
 गणितानां विद्यमानत्वाद्यत्र गणितानन्देऽपि न तेषामानन्दपूर्णता मत्र प्राकृतैः कः पुरुषार्थः
 सिद्धयेत् । तथापि त्रिराडक्षरयोरपि तदात्मकत्वाविशेषेण कार्यसिद्धयभावे कथं मूलाश्रय-
 णेन सर्वथा तद्भवत्येवैत्येवं निश्चीयते तदाहुः—पूर्णति । नहि पूर्वोक्तैः कैरप्यानन्द-
 पूर्णैः । तत्र दुःखापगमाभावे पूरितोऽप्यपूरित एव स्यात्तदाह—हरिरिति । यत्र'प्यस्यैवानन्दस्या-
 न्यानि भूतानि मात्रासुषुजीवन्ती'त्यादिना देवेष्वपि तद्वत्त्वमस्ति तथापि न तथा तेषा-
 मन्यपूरकत्वं तदन्वीयस्त्वात् । निरवधिदारिद्र्यस्य सावधियनेनापगमस्यासावयत्वादेवम-
 पूर्णानपि प्रविरम्बनिष्ठचिपूर्वक कृष्ण एव पूर्णान् करोति । 'तं सत्यमानन्दनिधि
 भजेते'तिन्यायेन स एव तथाकर्तव्य इति दिक् ॥ ८ ॥

ननु भवद्भिरेव भक्तपुत्रत्वार्थं तदाह्वयार्थं वा विरैरुभैर्पाश्रयाग्न निरूपितत्वात्कथमि-
 तरनिरपेक्षः स एवोच्यते, किञ्च, आश्रयपरसायाद्य तदुभयरसानन्तर च भवद्भिरेवोक्त-
 त्वात्कथं श्रीमतामेव वाक्यं विसंवादि भवतीति चेत्तदाह—

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितेति । विरैरु मर्ममपार्थनेपि निजेच्छात् करिष्य-
 तोत्येवंनिश्चयरूपः । निवृत्त्युपापाकारणेन सर्वथा दुःखसहनं धैर्यम् । भक्तिः प्रेमल-
 क्षणा तत्साधनरूपा वा । आदिशब्देन मर्षादाभक्तिपाश्रयान्ना ग्रहणम् । यत्र भक्तिरार्थ-
 नान्येन सिद्धयत्यन्वयार्थं तु भक्तेरातुपङ्क्तिं फलमेवैरूपभक्तिव्यतिरेकेणापि यत्र-
 श्रयात्सर्वसिद्धिस्तत्र विवेकादिरनिरपेक्षः स तथावचतीति किं वाच्यम् ? । अत एव तत्रा-
 प्यन्ते 'कलौ भक्त्यादिमार्गं हि दुःखाभावाद्दुष्कृतम् । किञ्च, निषेधादिस्वितो तदव-
 लम्बेनाश्रयाभावेऽपि स्थितिरभवति तथासत्याश्रयस्वरूपं साङ्गं न सिद्धयेत्, धर्मतद्विप-
 रीतादिसापत्न्याभावे तु यथाप्यनुद्धार्य एव स्यात्तेन धर्मपरत्नमवलम्ब्य धर्मादिविरतीवता-
 धनवतामेव सर्वतः कार्यसिद्धयभावनिश्चये दैन्याविर्भावनामेव शरणागतविनाशये
 मुष्णोपिकार इति तथैवोक्तं पापासक्तस्य दीनस्येति । आसक्तिः कारयेन मनसा
 वाचा तदकरणे स्यात्तुमशक्तिः । अयमेव विशेष आश्रयविशौ । एवं सति धर्मादिप्रतियो-
 गित्वं कलौ मुलभमित्याश्रयाधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वात् सर्वैरेव स एव सर्वथा कार्य-
 इत्याह कृष्ण एवेति । नन्येवं सति तु पापकल्पास्यैवाश्रये कारणत्वसादातीति चेत्तदाह
 'कृष्ण एवे'ति । अत्रैवं प्रतिभाति—एवकारेण यत्र विवेकधैर्यभक्त्यादीनां भगवद्गमा-

णामप्यकारणं तत्र तत्करणे तदाश्रयस्य विद्यमानत्वादन्याश्रये जाते भगवदाश्रयानु-
त्पत्तिः स्यादतो यथा धर्मादित्यागस्तयाऽधर्मस्वापीति भावः । तर्हि पूर्ववाच्यमनुपपन्न-
मिति चेत्, न, अनवबोधत्वात् । तथाहि 'एवं सति धर्मादितियोगित्वं कलौ सुलभ-
मित्याश्रयाधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वादेतस्यापमर्थः—विवेकधर्मभक्त्यादिसहितास्तु
कलौ दुर्लभाः पापकर्तारस्तु सुलभा इति तदधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वम् । ननु
धर्मकर्तारस्तु सर्वथा तत्रानधिकारिणः परमधर्माकर्तार एवाधिकारिण इत्यापातमिति
चेत् ? तत्रोच्यते । धर्मादिमतां विवेकधर्मभक्तिमतां चैतत्तत्त्वागपूर्वकं केवलाश्रयकरणं
सहसा न भवति तेषु समीचीनत्वशुद्धेः । यथा मशुणा सर्वधर्मत्याग उपदिष्टे पार्थस्य
त्वरुणे शोकोदरचौ पुनः प्रभुर्नैव 'पापेभ्यो मोक्षयिष्यामीत्युक्तं, नोचेत्तरुणधर्मं तद-
संभवात्समोचनरूपमनुपपन्नं भवति तथैवैतेशामपि शोकसंभवः । परं तद्विपरीतवतां तु
तेष्वसद्बुद्ध्या निस्साधनेष्वेव श्रीमोकुलेशास्त्रीकारमाच्युर्वाचद्बलाच्च तस्यागः सुलभ इति
सुप्रसूक्तं 'धर्मादितियोगित्वं'मित्यनेनेति सर्वमनवग्रम् ॥ ९ ॥

ननु 'श्रेयांसि बहुविधानी'तिन्यायेन पतिबन्धकानां दृष्टादृष्ट्येदाभ्यामुक्त्वा
विद्यमानत्वात्कणमृत्किमात्रेण चाङ्घ्रिहर्मां भगवानाश्रयो भवेत्तत्राह—

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

सर्वसामर्थ्यसहित इति । कर्तुमकर्तृपन्त्याकर्तुमापन्त्यादिरूपैः सहिनः ।
ननु तत्र दृष्टान्तनिर्देशनस्यादृश्यमानत्वात्कथं ज्ञायते तत्राह सर्वत्रैवेति । सर्वत्र योग्या-
योगमविचारेणाखिलानामखिलान् वार्यान् करोति करिष्यत्यकार्पादित्यादिधर्मस्याविना-
शित्वेन भगवति सर्वदाः विद्यमानत्वादाश्रयकरणे कोनध्यवसाय इत्यर्थः । तथापि भगवतः
सर्वसमत्वात्सर्वमुक्तमनवसरेऽपार्थितः कथमुद्धरिष्यतीत्यत आह शरणार्थेति । ये च
शरणं गत्वा तस्मिन्नेव धर्मे स्थितास्तेषामुद्धारणे अपार्थितोपि भूक्तमवलनः सर्वदैव वर्तते
किं पुनर्मत्पार्थितः । यथा भूम्युद्धारचिकीर्षायापि ब्रह्मणा भूम्या दुःखनिवेदनरूप-
पार्थितानन्तरमेव समर्थो तद्गिरः श्रवणानन्तरमेव साक्षाद्भगवानवतीयांस्मानुद्धरिष्यतीत्येव-
निश्चयो जात एवं मत्पार्थितो मदीयानामाश्रयो भवत्येवेति निश्चित्य मदीयैः सर्वेषां सर्व
परित्यज्याश्रय एव कर्तव्यः । एतदेवापिसंघायाचार्यैरुक्तं कृष्णं विज्ञापयाम्यहमिति ।
पदा, मदीयैरेवं स्तुतिरेव कार्या, मत्पार्थितः स्वयमेवाश्रयो भविष्यति नात्र पुष्पन्कृतिपपेतेते ।

नवभिद्य स्तुतिः पूर्व कर्तव्याश्रयणेषुभिः ।

दशमे स्वस्य धर्मस्य साधकं ज्ञापयेदुपः ॥ १० ॥

प्राकृता इति । ब्रह्माण्ण्य सर्व एव देवाः प्राकृता आधिभौतिकान्तःपा-
 तित्वात् । बृहदक्षरं गणितानन्दकं स्वार्थं 'कः' प्रत्ययः । तेन जीवेषु निरानन्दहेतुनाप-
 गणितानां विद्यमानत्वाद्यत्र गणितानन्देपि न तेषामानन्दपूर्णता तत्र प्राकृतैः कः पुरुषार्थैः
 सिद्धयेत् । तथापि विराटक्षरयोरपि तदात्मकत्वाविशेषेण कार्यसिद्धयभावे कथं मूलाश्रय-
 णेन सर्वथा तद्वरयेत्येतेवं निधीयते तत्राहुः—पूर्णंति । नहि पूर्णकैः कैरप्यानन्दः पूर्णते ।
 तत्र दुःखापगमाभावे पूरितोऽप्यपूरित एव स्यात्तत्राह—हरिरिति । यन्'प्यस्यैवानन्दस्या-
 न्यानि भूतानि मात्रानुपजीवन्ती'त्यादिना देवेष्वपि तद्वत्त्वमस्ति तथापि न तथा तेषा-
 मन्यपूरकत्वं तदल्पीयस्त्वात् । निरवधिदारिद्र्यस्य सावधिधनेनापगमस्यास्यवत्तादेवय-
 पूर्णानपि पतिवन्धनित्तिपूर्वकं कृष्ण एव पूर्णान् करोति । 'तं सत्यमानन्दनिधिं
 भजेते'तिन्यायेन स एव तथाकर्तव्य इति दिक् ॥ ८ ॥

ननु भवद्भिरेव भक्तदुःखस्य तदाज्ञार्थं वा विवेकधैर्याश्रयाणां निरूपितत्वात्कथामि-
 तरनिरपेक्षः स एवोच्यते, किञ्च, आश्रयपरत्वायाश्च तदुभयपरत्तानन्तरं च भवद्भिरेवोक्त-
 त्वात्कथं श्रीमतामेव वाक्यं विसंवादि भवतीति चेत्तत्राह—

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितेति । विवेकः सर्वप्रार्थनेषु निजेच्छातः करिष्य-
 तोत्येवंनिश्चयः । निवृत्त्युपायाकाशेन सर्वथा दुःखसहनं धैर्यम् । भक्तिः प्रेम्ण-
 क्षणा तत्साधनरूपा वा । आदिशब्देन मयादिभक्तिसाधनानां ग्रहणम् । यत्र भक्तिमाध्यं
 नान्येन सिद्धयत्यन्वयाध्यं तु भक्तेरानुपङ्गिकं फलमेवंरूपभक्तिव्यतिरेकेणापि यथा-
 श्रयात्सर्वसिद्धिस्तत्र विवेकादिनिरपेक्षः स तथाभवतीति किं वाच्यम् ? अत एव तत्रा-
 प्यन्ते 'कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या'इत्युक्तम् । किञ्च, विवेकादिरिपतो तदव-
 लम्बेनाश्रयाभावेपि स्थितिर्भवति तथासत्याश्रयस्वरूपं साङ्गं न सिद्धयेत्, धर्मद्विप-
 रीतादिसाधनाभावे तूभयथाप्यनुद्वार्य एव स्यातेन धर्मपक्षपालः धर्मधर्मादिविहीनसा-
 धनवतामेव सर्वतः कार्यसिद्धयभावनिश्चये दैन्यादिर्भावित्वाभावे क्षरणागताश्रयाभावे
 सुखयोर्विहार इति तथैवोक्तं पापासक्तस्य दीनस्येति । आपातकः कायेन पतता
 बाधा तदकरणे स्यात्तुमशक्तिः । अयमेव विशेष आश्रयविधौ । एवं सति धर्मादिप्रतियो-
 गित्वं कलौ सुखमतिशयाश्रयाधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वात् सर्वैरेव स एव सर्वथा कार्य
 स्यात् कृष्ण एवेति । नन्येवं मति तु पापकरणस्यैवाश्रये कारणत्वमायानीति चेत्तत्राह
 'कृष्ण एवेति । अत्रैवं प्रतिभाति—एवकारेण यत्र विवेकधैर्यभक्त्यादीनां भगवद्गमा-

पामप्यकारणं तत्र तत्करणे तदाश्रयस्य विद्यमानत्वादन्याश्रये जाते भगवदाश्रयानु-
त्पत्तिः स्वादतो यथा धर्मादित्यागस्तथाऽधर्मस्यापीति भावः । तर्हि पूर्ववाक्यमनुपपन्न-
मिति चेत्, न, अनवबोधात् । तथाहि 'एवं सति धर्मादिप्रतियोगित्वं कलौ सुलभ-
मित्याश्रयाधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वादेतस्यायमर्थः—विवेकधर्मभक्त्यादिसहितास्तु
कलौ दुर्लभाः पापकर्तारस्तु सुलभा इति तदधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वम् । ननु
धर्मकर्तारस्तु सर्वथा तत्रानधिकारिणः परमधर्माकर्तार एवाधिकारिण इत्यायातमिति
चेत् ? तत्रोच्यते । धर्मादिप्रतियोगित्वं तत्रोच्यते । धर्मादिप्रतियोगित्वं केवलाश्रयकरणं
सहसा न भवति तेषु समीचीनत्वमुदेः । यथा प्रभुणा सर्वधर्मस्याग उपदिष्टे पार्थस्य
वशकरणे शोकोराचौ पुनः प्रभुणैव 'पापेभ्यो मोक्षयिष्यामी'त्युक्तं, नोचेच्छरणधर्मं तद-
संभवाद्यन्योचनकथनमनुपपन्नं भवति तथैवैवामपि शोकसंभवः । परं तद्विपरीतत्वं तु
तेष्वसमुद्भवा निस्साधनेष्वेव श्रीगोकुलेशाङ्गोकारपातुर्वाचस्रलाच्च तत्रागः सुलभ इति
सुप्रुक्तं 'धर्मादिप्रतियोगित्व'मित्यनेनेति सर्वमनवयम् ॥ ९ ॥

ननु 'श्रेयांसि बहुविधानी'तिन्यायेन प्रतिबन्धकारां दृष्टादृष्टमेदाभ्यामुक्त्या
विद्यमानत्वात्कथमुक्तिमात्रेण चाङ्गिरसुर्मा भगवानाश्रयो भवेत्तत्राह—

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवासिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

सर्वसामर्थ्यसहित इति । कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुमपभ्यादिरूपैः सहितः ।
ननु तत्र दृष्टान्तनिदर्शनस्याहश्यमानत्वात्कथं ज्ञायते तत्राह सर्वत्रैति । सर्वत्र योग्या-
योग्यविचारेणाखिलानामखिलान् वार्थान् करोति करिष्यत्यकार्पादित्यादिधर्मस्याविना-
शित्वेन भगवति सर्वदा विद्यमानत्वादाश्रयकरणे कोनध्यवसाय इत्यर्थः । तथापि भगवतः
सर्वसमत्वारसर्वमुक्तपन्नसरेऽपार्थितः कथमुद्धरिष्यतीत्यत आह शरणस्थेति । ये च
शरणं गत्वा तस्मिन्नेव धर्मे स्थितास्तेषामुद्धरणे अपार्थितोपि भूकृतप्रपन्नः सर्वदेव वर्तते
किं पुनरेत्यार्थितः । यथा भृशमुद्धारचिकीर्षामपि व्रद्ध्या भूम्या दुःखनिवेदनरूप-
प्रार्थनानन्तरमेव सपाथौ तद्गिरः श्रवणानन्तरमेव साक्षात्प्रगवानवतीर्षामुद्धरिष्यतीत्येवं-
निश्चयो जात एव मत्पार्थितो मदीयानापाश्रयो भवत्येवेति निश्चित मदीयैः सर्वेषां सर्व
परित्यज्याश्रय एव कर्तव्यः । एतदेवाभिसंशयाचार्यैर्हक्तं कृष्णं विज्ञापयाम्यहमिति ।
यदा, मदीयैरेवं स्तुतिरेव कार्या, मत्पार्थितः स्वयमेवाश्रयो भविष्यति नात्र युष्मत्कृतिमपेक्षते ।

नवभिद्य स्तुतिः पूर्वं कर्तव्याश्रयणेषुभिः ।

दशमे स्वस्य धर्मस्य सायकं ज्ञापयेद्भुषः ॥ १० ॥

पाठफलमाह—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीबल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रमिति । कृष्ण आश्रयो भवत्यस्मादिति कृष्णाश्रय इति स्तोत्रस्य नाम । कल्याणकारिणां पाठविधिं चाह—सन्निधौ सेव्यस्य गुरोर्वा । उभयोरभारे स्मरणीयस्य वा । धर्माद्रिषु सर्वेषु असाधनतानिधयः कृतार्थताविषयिण्युत्कटेष्वा च पूर्वा-
वधिः। अल्पे बहु च साध्ये भगवान् स्वतः सर्वसाधको भवतीत्येवंरूप आश्रयसिद्धिरुत्तरावधिः।
तावदिदं पठनीयमिति सिद्धम् । यः पठेत् कृष्णसन्निधौ । य एव पठेत्तद्वर्माविष्टान्तः-
करणः अतयाभूतो वा । ततः किं स्यादत आह तस्याश्रयो भवेत् । क इत्याकाङ्क्षाया
कृष्ण इति । कृष्णः सदानन्दः । तेन तदाश्रितानां अन्नस्यानामिव सर्वया दुःखात्पन्ताभावः
परमानन्दसम्बन्धशोक्तौ भवतः । नन्वत्र किं प्रयाणमेतत्स्तोत्रपाठमात्रेणैव स तथा भवेद्
श्रीबल्लभ इति । यथा श्रिया बल्लभो भगवोस्तयापमपीति भगवद्वाग्यमिवास्यापि वाच्यं
वेदात्मकमिति मूर्ध्नि धृत्वा तथैव कर्तव्यमित्यर्थः । किञ्च, भगवद्दर्माणां स्वरूपं तद्वर्मानिरता
एव जानन्तीति तदुक्तौ न विपत्तिपत्तैः कैरपि भाग्यमिति दिद् ॥ ११ ॥

अनपतिरतिपित्यं यः प्रदातुं कृपातः

सकलनिगमसारं तत्त्वतः संगगाद् ।

स्वप्नपरिदो धुरु संततेः संशयानाम्

स भवतु मम सर्वं विद्वेषः सुदेशः ॥ १ ॥

रुचिरचरणपुग्मं हृत्पवेशेतिगम्भम्

निजमनसि विहारं ध्वस्तगादान्यकारम् ।

प्रजिनवनवृदारं मातृशोकोपहारम्

सकलनिगमसारं भावयेद्विद्वेषम् ॥ २ ॥

आश्रयस्तोत्रविष्टति द्वारिकेश्वरशुद्धीः ।

आश्रितानां चरारेमापाश्रयद्रापनेच्छया ॥ ३ ॥

इति श्रीमद्गोपीजनबहादुरभारणीकनानन्दारिकेश्वरेण विरचिता

कृष्णाश्रयविष्टतिः सम्पूर्णा ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्भूजराजचरणविरचितचिचरणविभूषितम् ।

यद्वाक्यमात्रकथनात् स्वीयत्वं मनुते हरिः ।

ते कृष्णवल्लभाचार्याः प्रसीदन्तु सदा मयि ॥ १ ॥

तदनुग्रहतः कृष्णाश्रयस्य विवृतिर्भवा ।

विधीयते यतः कृष्णाश्रयः फलति सर्वथा ॥ २ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा भगवदाज्ञानुसारेण जनानुद्धर्तुं निबन्धादौ सपरिकरं भक्त्यादिमार्गानुपदिश्य मत्पदं कलेराधिनयेन तेषां दुःसाध्यत्वमाकलय विवेकधैर्याश्रय-ग्रन्थे विवेकधैर्याभ्यां सहितमाश्रयपुपदिष्टवन्तः, तत्स्वरूपं च तत्र सर्वथा सर्वदा भगव-च्छरणममनात्मकं सिद्धं, तथाच तत् कायिकादिभेदेन त्रिधा भवति, तत्र प्रथमं मानसं शरणं भावनात्मकं भवति, पश्चात् कायिकं तद्वैयंण्यं सिद्धयति, वाचनिकं तु 'प्रपन्नं पादि मां प्रभो' इत्यादिमार्थनारूपम् । एतादृशस्य भवनेपि कारणं भगवदनुग्रह एवेति 'सोऽहं त्वाद्ग्री'त्यङ्गूरस्तुतौ 'असतां दुराणं तच्चाप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्य' इति स्वानुभवेन प्रतिपादितम् । शरणागतिलक्षणं च त्रैबोक्तं 'यदि सङ्घातमनुगुणं कुर्यात् त्याजयेद्वा तदा शरणागतिः सिद्धेति ज्ञातव्य'मित्यारभ्य 'सत्सेवावर्चिर्भगवत्स्वरूपज्ञानेच्छा भगव-च्छास्यपरत्वं चान्तिमजन्मज्ञापक'मित्यन्तेन । 'अनुगुणपक्षस्तु सुगम' इति च । एवं सत्ये-त्तादृशी शरणागतिर्विवेकधैर्याश्रयोक्तरीत्यापि साम्प्रतं कठिनेति भक्त्यादिमार्गाणां दुःसा-ध्यत्वे हेतुरपि तत्र नोक्त इति निबन्धादावुक्तोपि दुर्ज्ञेय इति तदुक्तिपूर्वकं साङ्गं वाच-निकीं तां सांप्रतं साधनत्वेन विवक्षन्तः कृष्णाश्रयस्तोत्ररूपेणाहुः—सर्वेत्यादि ।

अथ टीकारम्भे श्रीरघुनाथचरणौर्ग्रन्थावतरणिका कापि नोक्ता परन्तु 'य आचिरासीद्दोरेस्मिन् कलौ श्रीवल्लभाभिधः । निजदास्यं स नो देयादव्यादपि दुराश्रया-दि'तिमद्भक्त्यावये कलिस्वरूपस्य श्रीमदाचार्येषु मार्थनस्य च कथनेन सूचितेति न विरोधः । एवं कल्याणरायैरपि कृष्णाश्रयस्य सर्वसाधकत्वं सर्वसाधनानामसाधकत्वं चोक्तमिति तेषामप्यपमेवाश्रयः । श्लोकसङ्ख्यातात्पर्ये तैरेवमुक्तं 'भक्तानां भगवानेव

पाठफलमाह—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रमिति । कृष्ण आश्रयो भवत्यस्मादिति कृष्णाश्रय इति स्तोत्रस्य नाम । फलाधिकारिणां पाठविधिं चाह—सन्निधौ सेव्यस्य गुरोरां । उभयोरभारे स्मरणीयस्य वा । धर्मादिषु सर्वेषु असाधनतानिश्चयः कृतार्थताविषयिष्युत्कटेच्छा च पूर्वा-
वधिः। अल्पे बहु च साध्ये भगवान् स्वतः सर्वसाधको भवतीत्येवंरूप आश्रयसिद्धिरुत्तरावधिः।
तावदिदं पठनीयमिति सिद्धम् । यः पठेत् कृष्णसन्निधौ । य एव पठेत्तददर्पाविष्टान्तः-
करणः अतयाभूतो वा । ततः किं स्यादत आह तस्याश्रयो भवेत् । क इत्यासाहापां
कृष्ण इति । कृष्णः सदानन्दः । तेन तदाश्रितानां ब्रह्मस्यानामिव सर्वथा दुःखात्यन्ताभावः
परमानन्दसम्बन्धयोक्तौ भवतः । नन्वत्र किं प्रमाणमेतत्स्तोत्रपाठमात्रेणैव स तथा भवेत्
श्रीवल्लभ इति । यथा श्रिया बल्लभो भगवोस्तयाप्यपीति भगवद्भारयपिवास्यापि वारयं
वेदात्मरूपमिति मूर्ध्नि धृत्वा तथैव कर्तव्यमित्यर्थः । किञ्च, भगवद्दर्पाणां स्वरूपं तदर्पनिरता
एव जानन्तीति तदुक्तौ न विप्रतिपक्षैः कैरपि भाष्यमिति दिक् ॥ ११ ॥

प्रजपतिरतिमित्यं यः मदातुं कृपातः

सकलनिगमसारं तत्ततः संगमात् ।

स्वजनपरिवृद्धो ध्रुक् संततेः संशयानाम्

स भवतु मम सर्वे विद्वलेभः सुकेशः ॥ १ ॥

रुचिरचरणयुग्मं हृत्पद्मेशो वितिग्मम्

निजमनसि विहारं ध्वस्तगादान्यकारम् ।

ब्रजिनवनङ्गुठारं प्राज्ञलोकोपहारम्

सकलनिगमसारं भावपेद्द्विहलेभम् ॥ २ ॥

आश्रयस्तोत्रविद्वति द्वारिकेश्वरशुद्धधीः ।

आश्रितानां चकारेमापाधयज्ञापनेच्छया ॥ ३ ॥

इति श्रीमद्गोपीजनपद्मभारणीकानन्दारिकेश्वरंण चिरञ्जिवा

कृष्णाश्रयसिद्धिः सम्पूर्णा ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्भजराजचरणविरचितविचरणविभूषितम् ।

यद्वाक्यमात्रकथनात् स्वीयत्वं मनुते हरिः ।

ते कृष्णवल्लभाचार्याः प्रसीदन्तु सदा मयि ॥ १ ॥

तदनुग्रहतः कृष्णाश्रयस्य विवृतिर्भया ।

विधीयते यतः कृष्णाश्रयः फलति सर्वथा ॥ २ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा भगवदाज्ञानुसारेण जनानुद्धर्तुं निबन्धादौ सपरिकरं भक्त्यादिमार्गानुपदिश्य प्रत्यहं कलेराधिक्येन तेषां दुःसाध्यत्वमाकलय्य विवेकधैर्याश्रय-ग्रन्थे विवेकधैर्याभ्यां सहितमाश्रयगुणपुदिष्टवन्तः, तत्स्वरूपं च तत्र सर्वथा सर्वदा भगव-च्छरणममनात्मकं सिद्धं, तथाच तत् कायिकादिभेदेन त्रिया भवति, तत्र प्रथमं मानसं शरणं भावनात्मकं भवति, पश्चात् कायिकं तद्धैर्येण सिद्धयति, वाचनिकं तु 'प्रपन्नं पाहि मां प्रभो' इत्यादिमार्थनारूपम् । एतादृशस्य भवतेऽपि कारणं भगवदनुग्रह एवेति 'सोऽहं तवाद्घो'त्यकूरस्तुतौ 'असतां दुराणं तचाप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्य' इति स्वानुभवेन मतिपादिवम् । शरणागतिलक्षणं च तत्रैवोक्तं 'यदि सङ्घातमनुगुणं कुर्यात् त्यागयेद्वा तदा शरणागतिः सिद्धेति ज्ञातव्य'मित्यारभ्य 'सत्सेवारुचिर्भगवत्स्वरूपज्ञानेच्छा भगव-च्छासपरत्वं चान्तिपजन्मज्ञापक'मित्यन्तेन । 'अनुगुणपक्षस्तु सुगम' इति च । एवं सत्ये-वाहृषी शरणागतिर्विवेकधैर्याश्रयोक्तरीत्यापि साम्प्रतं कठिनेति भक्त्यादिमार्गाणां दुःसा-ध्यत्वे हेतुरपि तत्र नोक्त इति निबन्धादायुक्तवोपि दुर्हेय इति तदुक्तिपूर्वकं साङ्गां वाच-निकीं तां सांप्रतं साधनत्वेन विवक्षन्तः कृष्णाश्रयस्तोत्ररूपेणाहुः—सर्वेत्पादि ।

अथ टीकारम्भे श्रीरघुनाथचरणैर्निबन्धावतरणिका कापि नोक्ता परन्तु 'य आनिरासीदोरेस्मिन् कलौ श्रीवल्लभाभिधः । निनदास्यं स नो देयादज्प्यादपि दुराश्रया-दि'तिपद्मल्लवाक्ये कलिस्वरूपस्य श्रीमदाचार्येषु प्रार्थनस्य च फलनेन सूचितेति न विरोधः । एवं कल्याणारायैरपि कृष्णाश्रयस्य सर्वसाधकत्वं सर्वसाधनानामसाधकत्वं चोक्तमिति तेषामप्ययमेवाशयः । श्लोकसङ्ख्यायात्पर्य तैरेवमुक्तं 'भक्तानां भगवानेव

देशादिपूसाधनरूपश्रुतुर्विधपुमर्परूपथेति, दशलीलानिरूप्य इति, दशविधभक्तत्वेण इति, स्तोत्रार्थरूपे भगवति दशविधाः 'दश वै पशुषु प्राणा' इति श्रुतेः प्राणानां दशत्वं, ते यथा साधनास्तथा स्तोत्रमपीति शब्देऽपि दशविधाः । अतोऽर्थपशुः कूलयन् शब्द एवाय साधक इति बोधनाय प्रार्थनाव्याजेन स्तुवन्तीति । द्वारिकेश्वरैस्तु 'आमासथ निरोधश्चेति वाक्यलिखनेन 'न च लक्षणलक्षितया यजमानपञ्चमा इदा भसयन्ती' तिवदत्र दशसहस्रा-पूरकसर्वफलरूपोत्र विवक्षित इत्याशय उद्घाटित' । तथा च 'या या साधनसपत्तिः पुरुषा यचतुष्टये । तथा विना तदामोति नरो नारायणाश्रय' इति वाक्यलिखनेनाश्रयशब्दः कृष्णाश्रय इति स्तोत्रनामेति तेषामाशयः । मम त्वन्पदपि प्रतिभाति-यथाङ्कुरेण प्रसन्न मत्पक्षो भगवान् स्वाधिकारानुसारेण शरणतया प्रार्थितस्तथाऽऽचार्यैरपि स्वप्रकृतिभक्ति-मार्गफलद्रानानुभूतः प्रसन्नः स्तोत्रियतनमात्रेणाश्रयदानं कर्तुं सपयविशेषे प्रार्थितस्त्वदौ कृतवानिति तज्ज्ञापकमिदं प्रार्थनायदितं स्तोत्रमिति । अत्र च भगवान् गतित्वेन प्रार्थ्यते अस्त्विति क्रियाध्याहारेण । तत्र गतिशब्दः फले रुढः, 'सा काष्ठा सा परा गति.' 'अन्ते या मतिः सा गति.' 'नान्या भवेद्गतिरिन्दमे'ति श्रुतिपुराणादौ तथाप्रसिद्धे । समाप्तौ तु 'तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण' इत्याश्रयत्व पाठफलत्वेनोक्तम् । आश्रयशब्दश्च सहाये रुढः, 'सिद्धाखिलार्थां पशुमूदनाथयाः' 'भवद्भिरमृत प्राप्त नारायणभुजाश्रयै' रित्यादौ तथाप्रसिद्धेः । कृष्णशब्दश्च परब्रह्मवाचकः 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः । तयोरेव पर ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' इति तापनीयश्रुतेः, 'पापकर्षणो ह वै'ति च । ब्रह्मवै-वर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे श्रीरविमण्णुदाहोत्तरं श्रीयशोदा मति भगवद्वाक्येऽपि 'कृषिरुक्तपृथ-चनो णश्च सज्जक्तिवाचकः । अथापि दातृवचनस्तेन कृष्णं विदुर्बुधा' 'कृषिश्च परमानन्दे णश्च तदास्यकर्मणि । तयोर्दाता च यो देवस्तेन कृष्णः प्रकीर्तित' 'कोटिजन्मार्जिते पापे कृषिः क्लेशे च वर्तते । भक्तानां णश्च निर्वाणे तेन कृष्णः प्रकीर्तितः' इति त्रिधा निरुक्तः । तत्र तृतीयेन 'पापकर्षण' इति तापनीयश्रुतिरपवृंहिता । गौतमीयतन्त्रे अष्टादशार्णव्या-ख्याया च 'कृषिशब्दश्च सत्तार्थो णश्चानन्दस्वरूपकः । सुखरूपो भवेदात्मा भावानन्दमप-त्वत' इति । बृहद्गीतपीयेऽपि 'कृपशब्दो हि सत्तार्थो णश्चानन्दस्वरूपकः । सत्तास्त्रानन्द-शोर्योगाच्चित्पर ब्रह्म चोच्यते' इत्येताभ्यां पूर्वश्रुतिरुपवृंहिता । अत्र प्रथमे सर्वशब्दप्रवृत्ति-निमित्तभूता सत्ता भावपदेनात्मपदेन च व्याख्याता 'रूप यत्तत्राहुरन्यक्तमाय ब्रह्म ज्योति-निर्गुणं निर्विकारम् । सत्ताप्राप्तमिति दशमस्कन्धवाक्येन भगवत्स्वरूप तेन सम्बन्धिदाना-त्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु जातिरित्युच्यते तस्या सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः, ता 'प्रातिप-दिकार्थं च धालर्थं च प्रचक्षते सा जातिः सा महानात्मा तामाहुस्त्वत्तादाय' इति वाक्य-पदीयोक्तरीत्या मूलसद्रूपाभिन्नानन्दरूपत्वेन कृष्णत्व विवृत, द्वितीये च प्रत्याहारन्यायेन

सदानन्दयोरन्तश्चित्तं निवेद्य सविदानन्दतया परब्रह्मत्वेन कृष्णत्वं विवृतमितिभेदाः ।
अन्या अपि निरुक्तयो ब्रह्मवैवर्ते नामकरणसङ्गे गर्गोक्ताः पञ्च सन्ति वास्तवतो ज्ञातव्याः ।
ज्ञानन्दे च निरवधिस्वमेव परमफलतावच्छेदकमित्यानन्दमयाधिकारणे स्थितम् । 'यो वै
भूमा तत्सुखं नान्ये सुखमस्ति भूयैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यम्' इति छन्दोगश्रुते-
'यतो वाचो निर्वर्तन्ते' इति तैत्तिरीयश्रुतेश्च । फलं द्विविधं, साध्यमभिव्यक्तं च । तत्रार्थं
यथा परब्रह्मोच्छ्रिता । द्वितीयं यथा योगादात्मसुखम् । तत्र परे ब्रह्मण्यायरूपत्वस्याभावा-
द्वितीयरूपतैव वाच्या । तत्र हेत्वपेक्षायां 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुत्या स्वीयत्वेन
वरणे यत्साक्षादर्शनं तदेव हेतुः । तथा सति 'नायथात्मा प्रवचनेने'त्यादिपूर्वाद्धिं उपलक्ष-
णविधया साधनान्तरनिषेधश्रावणेन वरणद्वारकं स्वस्यैव साधनत्वमुक्तं भवति । तदेव च
ब्रह्मवैवर्तेषु ब्रह्मण्येवपि सिद्धम् । तदेव सर्वं हृदि कृत्वा मूढानां सन्देहनिवारणापाहृ-
शास्त्रेऽनुसूच्यमानाणां कालादीनां सन्निपत्याराधोपकारकाणामसाधकत्वं दोषांश्च वदन्त
उत्तरीत्यै स्वस्मिन् फलरूपत्वमतिरोभावयित्वा तत्र साधनरूपोऽस्त्विति पार्थयन्ति—

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मणि ।

पापण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

सर्वे च ते मार्गाश्च । 'मृजूप् शुद्धौ' मृज्यन्ते मोक्ष्यन्त इति । 'मृग अन्वेपणे'
मृगयन्ते तत्तत्फलार्थिभिरन्विष्यन्त इति मृगाः, स्वार्थेण च एव मार्गाः 'योगात्मयो मया
प्रोक्ता वृणां श्रेयोविधित्वया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च मोषायोन्मोस्ति कथने'त्येकादशे
भगवतोक्ताः स्वयात्पुत्रायाः तेषु नष्टेषु अनुशास्त्रदौर्लभ्यादिना तिरोहितेषु कृष्णतो
व्याख्यातरीतिको भगवानेव मम गतिःसाधनफलरूपोऽस्त्विति सम्बन्धः । अत्र 'यस्य च
भावेन भावलक्षणमित्यनेन भावलक्षणा सप्तमी । अनुशास्त्रदौर्लभ्यादौ हेतुः—खलध-
र्मणि कलौ लोके पापण्डप्रचुरे सतीति । चोवकारणे । खलोन्मर्दुष्टो धर्मो यस्मिन्नसौ
खलधर्मा 'धर्मादिति' केवलादि'त्यनेनामिच् । खलधर्मरे हेतुर्लोकानां पापण्डप्रचुर्यम् ।
पापण्ड उच्यते जैनदयादिसदृशस्तस्य प्रचुर्यं बाहुल्यम् । कलावित्त्वधिकरणे सप्तमी ।
आधारत्वं चात्राभिव्याधकनया कालिवसत्यन्धेन गौगोपश्लेषिकृतया वा । तथाचैतादशे
कलावीहमे लोके सर्वमार्गेषु नष्टेषु सत्सु तथैतर्थाः । 'वष्टी चानादरे' इत्यनेनानादरे वा
कलाविति सप्तमी । हेतुहेतुमद्भावस्तु समभिव्याहारादेव लभ्यः । तथाचैतादशे लोके एव-
ममार्गेषु सत्सु कलिपनादस्य तद्रूपं त्वयस्ता तथैतर्थाः । 'कलेर्दोषनिषे रानन्द' 'कलि
सपानपन्त्यायां' इत्यादिवाक्येषु कलिस्तुतेस्तत्र साधनत्वप्रप्रवधारणाय कीर्तनस्यापि
यथाकथञ्चित्कृतस्य न फलसाधकत्वमिति बोधनाय चात्र कलिनोक्तयोर्दोषरूपयम् ।

'कृष्ण'पदार्त्तं'पदाद्य नैतदाश्रयविरोध इति बोध्यम् । तथाच जलभेदोक्तरीत्या कीर्तयित्-
त्रिधित्य भगवानाश्रयणीय इति यावः । पदा, तादृशे लोके मार्गेषु नष्टेषु 'बादवादांस्त्य-
जेचकान् पशं कंच न संशयेदि'तिसप्तपस्कन्धीयनारदवाकयानुसन्धानेन विरसित-
मार्गस्यैव दृढप्रणान् कलौ तत्तन्मार्गाणां साधकत्वतरतमभावादिकलङ्गे नष्टे । चङ्गा-
रोत्र तन्नाससमुवाचकः । तथा सति तथेत्यर्थः । एवमपि बोध्यम्, प्रथमव्याख्यायान्तीतौ
कलौ सर्वमार्गेषु नष्टेष्वितिपदानां, कलावित्यस्यैव वाग्रिमश्लोकप्रश्नकेतुषु बोधः ।
एतद्रीत्या व्याकृतः प्राञ्चः सर्वेपि विशेषान्वितरूपैवकारस्यान्ययोग्यवत्त्वेत्कतपां-
शकलावतारव्यवच्छेदं तेनाहुः, तदस्मारूप्यभिधेतम् । श्रीरघुनाथास्तु 'स्वरपर्मिणी'ति
पाठान्तरमप्युपन्यस्य खरश्चात्तो धर्मधेति कर्मधारयान्तरधीवेत्यप्यं बहुव्रीहिविग्रहे
'कर्मत्ययापतिभिवाहुः, चकारं च कलिष्पतिरिक्तकालसमुपायकपाहुः, पापानरणे
मपत्यतिरिक्तसाधनाभावस्य सर्वकालेषु तौल्यादिति तेषामाशयः । मार्थना तु सर्वमने-
प्यन्यार्था ॥ १ ॥

एवं कालदोषेण सङ्गदोषं मार्गनाशं चोपपाद्य कान्यस्य साधारणत्वेन वैशानाय-
साधारणत्वेन तदपेक्षयान्तरदृत्वाच्च च 'काश्यादिपुरो' यदि सन्ति लोके तासां तु काले
मपुरैव धन्या । या जन्मपीडोत्रनष्टपुदाहेर्दृगां चतुर्षां विदधाति मुक्तिमि'रपादिभिर्द-
दास्तावकवारयैः साक्षात्साधकत्वस्य देशान् पुण्यानाशयेन मन्त्रकैः साधुभिः धिक्कानि-
त्यादिभिर्वाच्यैर्मार्गानुहन्तयाथ मतीतेः पशं तथात्प्रभवं वारयितुं कालेन देवदोषा-
दिकं बन्त आहुः—म्लेच्छेत्यादि ।

म्लेच्छाकान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडान्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

अत्रापि भावस्यासा साम्नी । साधारणे । कस्यान्विगुण्यने । देशेषु म्लेच्छ-
यन्त्रैः उपन्यासयेत् अतितापमैरिति यावत्, तैराकान्तेषु व्याप्तेषु । व्याप्तिरथ तदा-
ज्ञानानुरूपव्यतिक्रमम् । तदाज्ञानानुरूपिणो को दोष इत्यत्र आहुः पापेत्यादि । 'पूके
मुन्यान्पकेतयाः' तन्मुन्यमर्थः कर्मधारयः । पापानां व्यभिचारान्तीर्षीर्नःवार्त्तनामैक-
निलयेषु मुन्यस्यानेषु । ते हि मुन्याः कामिनो हिमाय, तन्मन्त्र व्यभिचारादिकं
कुर्वन्ति चोपादिकं वारयन्ति च । नद्वयोक्तयोश्च अपि पैमुन्यव्यापकत्वादिना तथा
विदधतीत्येव दोष इत्यर्थः । ननु न सर्वे तादृशा इति नैव दोष इत्यनो दोषान्तरमाहुः-
सत्पीडेत्यादि । मन्त्रां स्वधर्मवर्तिनां पीडया विष्णुभिश्चरदृष्टादिभ्यश्चेत्येव व्यथा
चक्षिमा लोकाः सम्पद्यो जना वैश्विति । एवं च कलिष्पतिरिक्तकालेषु चन्तरो दोषा उक्तः ।

वामसप्रभुकरवम्, पापबाहुत्वम्, सत्पीडा, सद्दुःखशैत्यैतैरुपद्रवेण सम्यक्कर्तुमशक्या, सर्व-
पापेषु जष्टेषु सत्सु कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ २ ॥

एवं कालेन देशदोषादिकस्युपपाय तेषां वाद्यत्वेन नजस्य चान्तःप्रवेशवदि-
सम्भन्त्याभ्यां शोधकतया देशशेषेक्षयाप्यन्तरङ्गतराचत्र च 'सद्यः पुनरिति गान्धेयं दर्शनान्देव
नार्मदम्' 'कावेरी च महापुण्या प्रतीती च यशानदी । ये पितृन्ति जले तासां मनुजा
मनुजे'वर' 'मायो भक्ता भगवति वासुदेवेमलाशयाः' इत्यादिशायैः साधकत्वभार्गा-
नुकूलत्वप्रतीतेस्तेषु तथात्त्रयं वारयितुं कालेन वत्रापि दोषं वदन्त आहुः गङ्गादि-
तीर्थवर्षेण्विति ।

गङ्गादितीर्थवर्षेषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

इह भारतवर्षे गङ्गादीनि यानि तीर्थश्रेष्ठानि तेषु दुष्टैः कर्मणा भावमेवेन च ये
दूषितास्तेैव वेष्टितेषु । अत्रापि भावलक्षणैव सप्तमी । तथाच 'किंचाहं न सुवं यास्ये
नरा मय्यामृजन्मपवम् । मृनामि तदपं कुत्र राशंस्तत्र विचिन्त्यतामि'तिनवमस्कन्धे भगी-
रथं प्रति गङ्गावाचनादुप्रावरणेन तेष्वपि शक्तिकौण्ड्यदोष इत्यर्थः । ननु 'सापबो
न्यास्तिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकरावनाः । इरन्त्यर्थं तेङ्गसद्भात्तेष्यास्ते दायभिद्धरि'रिति
तत्रैव गङ्गां प्रति भगीरथवाचयान्तादृशां सद्भादिना तन्निवृत्तेस्तस्य प्रायिकत्वाभ्यां दोष
इत्यत आहुः तिरोहिताधिदैवेण्विति । देवानां समूहोदैवम्, दैवे इत्यधिदैवं, देव-
समूहे विद्यमानं गङ्गादेदैवतारूपम्, तिरोहितं अधिदैवं यस्मिंस्तत्तिरोहिताधिदैवम् ।
तथाच देवसंज्ञादि विद्यमानं यद्गङ्गादेराधिदैविकं रूपं तच्चिरोधानाच्छक्तिकौण्ड्यता-
दवस्थमित्यर्थः । यद्वा, तिरोहितं आधिदैवस्य तच्चिरोहिताधि, तादृशं दैवं देवसमूहो
येण्विति । 'तत्तेषां न प्रियं यन्मुष्वा विदुरि'ति 'विपश्य वै संन्यसतो देवा दारादिरु-
पिणः । विप्रं कुर्वन्त्ययं दारणान्नाक्रम्य समिपात्परभि'ति श्रुतिस्मृत्युक्तदिशा मनुष्य-
क्तित्तेषां न प्रियेति तन्निवृत्त्यर्थं वाराहपादादौ मुक्त्यभावाद्य भगवत्पार्थनात्तत्र तीर्थादीं
दुष्टेण्यविश्य प्रतिवध्नन्तस्तिरोहिताधयो भवन्त्यतः शक्तिसद्भातेषु दोषतादवस्थमवतः
कृष्ण एवेति पूर्ववदित्यर्थः । एतेन 'तीर्थादावपि या मुक्तिः वदाचित्कस्यचिद् मरेत् ।
कृष्णपस्यदस्युक्तस्य नान्यस्येति विनिधय' इतिनिबन्धोक्तौ मुक्तिरपि मयसादि-
ख्या दर्शिता ॥ ३ ॥

अतः परं 'न दाम्पयानि तीर्थानि न देवा गृच्छन्तामयाः । ते पुनन्त्युदरात्नेन
दर्शनान्देव साधव' इतिशायवावदोषेयान्तरङ्गत्वेन तेषां च सत्त्वस्य 'प्रसङ्गमग्नं पाशमारपनः

भवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् 'सतां प्रसङ्गात्' 'सन्त एतस्य छिन्दन्ति' 'सत्सङ्गेन हि दैवेया' इत्यादिवाक्यैः साधकत्वपार्गात्तु कृष्णत्वप्रतीतिस्तत्र तपा-
त्वभ्रमं वारयितुं कालकृतं सत्सु दोषं वदन्त आहुः अहङ्कारेत्यादि ।

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अत्रा'हाणां कर्तृत्व'इत्यनेन तद्वैपरीत्ये सप्तमी । कलौ सत्सु मार्गवचारेषु पुरु-
षेष्वहङ्कारेण स्वपाण्डित्याभिमानेन विशेषतो मूढेषु सत्सु । तयात्वे ममरूपमाहुः
पापैःत्यादि । पापाः पापकवारी राजसास्तापसाथ म्लेच्छादयन्तदनुवर्तिषु तदुपजीवि-
केषु । अहूरादेः कंसाग्रनुवृत्तिवदनुवर्तित्वेऽप्यदोष इति तत्रावृत्त्यर्थं विशेषणान्तरं लाभे-
त्यादि । लाभो द्रव्यादेः, पूजा उन्नति', अर्थशब्दो इन्द्रान्ते ध्रुतः प्रत्येकं सम्बन्धते,
तेन तदर्थं यत्नो वाद्याभ्यन्तर उद्यमो येषामिति । एतद्वयं विमूढत्वज्ञापकम् । तपाच
मार्गवचारेष्वेतादृशेषु जातेषु सतामभावात्सङ्गो दुरापास्त इति सर्वमार्गेषु नष्टेषु कृष्ण
पथेति पूर्ववत् ॥ ४ ॥

अतः परं सतां दुर्मिलतया तदपेक्षया मन्त्रमाधनप्रपादेः स्वमात्रसाध्यतयान्तर-
ङ्गत्वाच्च च 'परिहृण्यपि वेदांस्त्रीन् कर्माणि विहितानि च । गापत्रीपात्रपाश्रित्य द्विनो
भवति निर्भयः' 'गायत्रीहीनवेदास्तु साहा अपि च निष्कलाः' 'सर्वेषु वर्णेषु तथाश्रमेषु
नारीषु नानाद्वयनममेषु । टाता कञानामभिवान्छिताना द्रागेच गोपालरुमन्त्र एष'
इत्यादिवाक्यैस्तत्तन्मन्त्राणां तयात्वप्रतीतिस्तेषु तयात्वभ्रमं वारयितुं तत्रापि कालेन दोषं
वदन्त आहुः—अपरीत्यादि ।

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञाननष्टेष्विति । अत्रापि पूर्ववदनुपद्वो भावलक्षणा सप्तमी च । 'मन्त्रस्य च
परिज्ञानमित्येकादशे भगवद्वाक्यात्परिज्ञानेन मन्त्रशुद्धिः । परिज्ञानं नाम गुरुपसत्त्वादिना
विधानन्यासपाठार्थतात्पर्यविनियोगादीनां निर्धारस्तदभावोऽपरिज्ञानं, तेन नष्टेषु । स्वरू-
पस्य श्रावणत्वेपि शुद्धयभावेन 'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमि'तिवददृश्यमानेषु । क्वि-
त्कस्यचित्परिज्ञानदर्शनाद्योपान्तरमाहुः—अव्रतयोगिष्विति । 'अव्रता वद्वोऽशौचा'
इतिद्वादशस्कन्धे कलिधर्मपूक्तेर्मन्त्रोपाकरणदशायामेव गुरुबुलावासब्रह्मचर्याध्ययनधर्म-
परिपालनाभावादव्रतेषु योगः सम्बन्धो येषा तादृशेषु । तेन दोषान्तरमप्याहुः तिरो-

हितार्थदेवेभ्यः । तिरोहितावमतीवपानौ अर्थः प्रयोजनं तात्पर्यं च देवोधिष्ठानी
देवता तौ येषाम् । 'य एवं शुक्ले स्थाणौ निपिञ्चेज्जायेरञ्छास्ताः परोहेयुः पलावा-
नी'त्यादिश्रुतिप्रभृत्युक्तनिदर्शनक्यभिचारेण तद्गुणवतिरोभावस्य स्फुटत्वान्न तेषामिदानी
साधकत्वं न वा मार्गानुकूलत्वमतः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अतः परं यन्त्रापेक्षयापि स्वयमर्षाणां व्रतानामाचारस्य च पूर्वोक्तदोषाभावेन
शुकरत्वेन चान्तरङ्गत्वात्तत्र च 'स्वधर्मस्थो यजन्त्यज्ञैरनासीः काय उद्भव । न याति स्वर्गनरकौ
ययन्पञ्च समाचरेत्' 'इह लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थो नयः शुचिः । ज्ञान विशुद्धमाप्नोति मज्जन्ति
च यदृच्छये'त्येकादशस्कन्धीयैः' 'किदारे उदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विप्रते' 'तया चैकादशी
दोका गर्भनासङ्गयङ्करी । एकादशीसर्पं पुण्यं न भूते न भविष्यती'त्यादिभिः पुराणान्तरी-
यैर्भगवद्वाक्यैः 'राचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युत' इत्यादिभिर्भारतीयैश्च वार्यैर्धर्मप्रता-
दीनां साधकत्वादिप्रतीतेस्तेषु तथात्वन्नम वारयितुं तेष्वपि कालेन दोषं वदन्त आहुः
नानेत्यादि ।

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पापण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानाप्रकारका ये वादाः स्वरूपफलादिविषयकास्त्वेवंविधोपेण स्वरूपेण फला-
दिना च नष्टेषु तिरोहितेषु । तत्र स्वरूपतो नाशो वेदवाद्यानां चादात् । 'यावज्जीवि-
स्तुलं जीवेत्' 'अग्निहोत्रं व्रथीतन्त्रं त्रिदण्डं भस्मपुण्ड्रकम् । प्रज्ञापीठपनिःस्वानां
जीवो ब्रह्मति जीविका' इत्यादिरूपात् । फलतो नाशस्तु यथैकादशीप्रतादौ 'शुक्रेण
मोहिता विमा दैत्यानां कारणे भुवि । तुष्टयर्थे दशमोविद्धं कुर्वन्ति मम वासवमि'ति
प्राये 'पुरा देवैर्ऋषिगणैः स्वपद्च्युतिशङ्कया । सप्तधीरेधनालेन गोपिनं चाष्टमीप्रत'मिति
स्कान्देज्यय च निषेधनिन्द्रादिर्वैषस्वरूपनिर्णयस्य च विप्रगानवैषि तदनाहत्य
स्वस्वब्रह्मेण वाक्यमासाहयापामासाथ समुदाहृत्य निर्णयन्ति, तादृशस्थले बोध्यः । एवं
स्वधर्माचारयोरपि विपत्तिवश्या फलतो नाशो बोध्यः । वादे प्रयोजकरूपाहुः पापण्डेति ।
पापण्डेन दम्भेन एकैकोन्यः प्रयत्न उद्ययो येषामिति । स च 'वेश्यत्वेदमसु सीगुण्णि-
लनावचरासयामोदितैर्वीत्वा निर्भरमन्योत्तररसैरुचिद्रवन्प्रसयाः । सर्वज्ञ इति दीक्षिता
इति चिरालासागिदोरा इति प्रज्ञज्ञा इति तापसा इति द्विरा धूर्त्तजगद्रञ्चते'
इतिप्रदोध्यः । अत एव भूयोदर्शनात्स्वधर्मव्रतादीनामपि न स्वतः साधकत्वं न वा
मार्गानुकूलत्वमतः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ६ ॥

एवं पङ्क्तिर्कथादिमार्गाणां दुःसाध्यताज्ञापनाय कालकृतसर्वसन्मार्गानावरोधेन-
मुत्सेनाश्रयणस्योपायत्वं साधितम्, तदिदं तदा दृढीभवति यदा भगवानाश्रिते समा-
हात्म्यमनुभावयति तदर्थमाहुः अजामिलादीति ।

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादीति । अजामिलः पृष्ठस्कन्धे प्रसिद्धो दासीपतिर्ब्रह्मबन्धुः । आदि-
पदेन गजेन्द्राहल्याया, वृसिंहपुराणे नवमाध्याये मार्कण्डेयवृत्त्युपसङ्गे उक्ता नारकिणश,
तेषां ये दोषा इहजन्मनि पूर्वजन्मनि च कृतानि पापानि तेषां नाशकः । एतेन तादृश-
माहात्म्ये तदनुभावने च शब्दः प्रमाणमुक्तम् । प्रत्यक्षमाहुः अनुभव इत्यादि । अनु-
भवेऽस्माकं स्थितो विपरीभूतो ज्ञापितसमग्रमाहात्म्यः, एतेन प्रपन्नस्य प्रायातस्ये सति
प्रतिबन्धकाभावात्स्वयमेवामे माहात्म्यं गोचरीभवतीति ज्ञापितम् । ततश्च पूर्वपरं शब्दे
श्रीमदाचार्यवरणोक्तौ बोधयत्र वा विश्वस्य भगवदाश्रयणे भगवानेव साधनान्तरापेक्षां
विना सर्वं ज्ञापयंस्तद्गोचरो भवतीति सूचितम् । कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ७ ॥

एवमत्र शब्दप्रत्यक्षाभ्यां पूर्वोक्तश्रुतिवशवैवादिरीत्या भगवानेव पुष्टिमार्गी-
याणां साधनमिति साधितमतः परं पूर्वोक्तश्रुतिगौतमीयतन्त्रोक्तरीतिकं भगवतः फलत्वं
साधयन्ति प्राकृता इत्यादि ।

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

देवा-अष्टौ वसव, एकादश रुद्रा, द्वादशादिदेवा, इन्द्रः, मनापतिथेति त्रयस्त्रिंशत्-
वा, 'भद्रित्वगो देवानां विष्णुः परमस्तदन्तरेणान्या देवता इत्यभ्यादयो विष्णवन्ताः । अत्र
विष्णुः कालः, 'स विष्णवाख्योधिपशोसौ कालः कलयतां वा' इतिवाक्यात्तदन्ता वा ।
अकारं ब्रह्मणां नाभातुकारं विष्णुं हृदये प्रकारं रुद्रं भूमध्य इति मणवपात्राधिष्ठातारो
विश्वाद्यो वा मनापत्यन्ताः, शतानन्दिनो वा । ते सकलाः कला अंशस्तत्तदिताः, सर्वे
प्राकृताः, प्रकृतिर्वाया 'मायां तु प्रकृतिं विद्यादि'तिश्रुतेस्तदधीनाः । कालस्य शोष-
कतया गुणानुरोधित्वेन गुणाधिष्ठातृजापभिमानित्वेन च प्राकृतत्वम् । बृहद्दत्तरं गणितान-
न्दकं, गणितः 'स एको मनुष आनन्द' इत्यारभ्य शतानन्दिनां गणने 'स एको
ब्रह्मण आनन्द' इत्युत्तरावधौ ब्रह्म गणितम्, अत एवमहृद्यत आनन्दो यत्र, स्वार्थे
कस्तादृशम् । तेन हरीपशोठिनिकिष्ठा ओंकारं सर्वेश्वरं द्वादशान्त इत्याशुका गुणावतारा
अपि तत्रैव मविशन्तीति बोधितम् । हरिः पुरुषोत्तमोऽक्षरात्परनः परः स उच्यते पुरुषः ।

‘अतोऽस्मि लोके वेदे च मयितः पुरुषोत्तम’ इत्यादिश्रुतिस्मृतिपतिपाद्यः । पूर्णानन्दः शतानन्दसङ्घघाने ब्रह्मानन्दस्य सर्वपरत्वेन गणनया मनोवाग्मोचरतामेव प्रतिपाद्य तदुच्यतेनुवाके ‘यतो वाचो निर्वर्तन्तेऽप्यप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् विभ्रेति कुवधने’तीतिश्रुतावानन्दस्य मनोवाग्मोचरत्वकथनेन तदपेक्षयाधिब्रह्मणवधित्वस्य च बोधनात्तया । तस्मादानन्दे निरवधित्वस्यैव परमफलतावच्छेदकत्वेन तस्य चात्रैव विश्रान्तेः कृष्णः पूर्वोक्तरीतिकः मम परमफलरूपोस्त्विति पूर्ववत् ॥ ८ ॥

एवमष्टभिर्भगवत्स्वरूपविचारेणाश्रय एव सर्वया साधको न त्वन्यः कोपि मार्गः सायक इति साधितम् । अतः परमाश्रयस्यापि साङ्गस्यैव साधकता विवेकधैर्याश्रये सिद्धेति तद्भावावेऽपि यथा स फलं साधयति तदुपायं वदन्त आहुः विवेकैवादि ।

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

सर्वदुःखहर्ता भगवान् स्पेच्छातः सर्वं करिष्यतीत्येतद्विनारपूर्वकमनुसन्धानं विवेकः । सात्त्विक्यादीनां कारिकादीनां भौतिकादीनां त्रिविधदुःखानां प्रतीकारानाचरणेनोपेक्षणं धैर्यम् । माहात्म्यज्ञानपूर्वकः सुदृढः स्नेहो भक्तिर्नवविधा च । आदिपदेन तद्भानि । साङ्गे ज्ञानकर्मणी च । ते रहितस्यैवेन यावत्साधनराहित्यं सूचिनम् । बाधकस्यामाहुः विशेषतः पापासक्तस्येति । आसक्तिः सद्भातिशयोपरिहार्यः मज्ज इति यावत् । एतावता नराणां स्त्रीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत’ इतिवाचयस्मारणाद्भक्त्युत्पत्तौ प्रवि-
बन्धकमपि सूचितम् । एवं बाधकद्वयसद्भावेऽपि येनाङ्गेनाश्रयस्य सिद्धिस्तदाहुः दीन-
स्येति । एवं साधकाभावबाधकसद्भावाभ्यां जातया भ्रान्त्या दीनस्य । दौर्गत्यादेरनो-
जस्त्वं दैन्यम् । अनोजस एतादृशस्य कृष्ण एवेति पूर्ववत् । एवंपकारिकाया ग्लानेर-
सतां दुरासत्वात् सतां मार्यादिकानां ग्लानौ साधनान्तरेषु मृष्टेचत्र तु तादृशग्लानि-
मपत्तिभ्यां तदुभयविलक्षणतया ‘सोऽहं तवाह्नी’त्यत्रोक्तामुग्रहस्य स्वस्तिष्कारणत्वेन सत्ता
ज्ञाप्यते । एतादृशस्यापि फलसिद्धिर्नीतायां ‘मां हि पार्थ न्यपाश्रित्य’ ‘अपि चेत्सुदारा-
च्यार’इत्यत्र ‘अप्यवशात्सङ्गात् । अत्र पूर्ववत्पदे, पश्यतेऽनीनां, गतिरुक्ता, न, तु पापकर्मणाम्,
द्वितीये चानन्यभजनेन पापकर्मणां साधुत्वमुक्तं, न त्वाभयेणेति नैतद्भवमाश्रयेण सिद्धैर्ग-
कमिति शङ्क्यं, ‘सकृदेव मपन्नो यस्तवास्मीति च यो वदेत् । अमयं सर्वभूतेभ्यो ददा-
त्येवद्वतं हरेरितिगारुडात्, ‘सकृदेव मपन्नो यस्तवास्मीति च यो वदेत् । अमयं सर्व-
भूतेभ्यो ददाम्येवद्वतं ममे’तिपुराणान्तरीपभगवद्वाचवाच भगवत्सत्कारणे व्रते निधिते
वतो भगवदनुग्रहेणैव तत्र मृष्टावपि माहात्म्यज्ञानपूर्वकतेरस्यैव दारत्वनिश्चयादन्य-

मातृसिद्ध्या, द्वितीयस्या'निरपमगुत्वं लोकमिमं प्राप्य भक्तस्व माश्रिति यन्ननशेषतया
निरूपितत्वेन प्रथमस्य चाञ्जस्यात् । अतो नात्र कोऽपि चोचानसरः ॥ ९ ॥

एवं नवभिर्निवेकैर्याश्रयग्रन्थोक्ताहाभावेऽप्येतदुक्तरीतिकदैः न्येताप्याश्रयसिद्धिरिति
बोधितम् । अतः परमेतस्यापह्नस्याभावे द्वाभ्यां साधनान्तरयाहुः सर्वसामर्थ्येत्त्यादि ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' इत्यादिश्रुतिभिः कर्तृमकर्तृमन्ययारूतं च यावन्ति
सामर्थ्यानि तत्सहितस्तदुपपादित'मनामिडादी'तिपद्येन । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि
भूतानि मात्राभ्युपनीयन्ति' 'एष ह्येवानन्दयाती'त्यादिश्रुतिभिः सर्वत्र देशेषु जीवेषु
चाखिलार्थानां कृत् 'आकेस्तच्छीलतद्धर्मसत्ताधुकारि'त्यनेन ताच्छील्ये किप् कर्ता ।
एतादृशं कृष्णमहं जगदुद्धारार्थमाह्वतो वैश्वानर आचार्यवर्यः शरणस्थानां शरणमार्ग-
रतिनां समुद्धारं सम्पन्न आह्वसपर्माम्पपरमफलपर्यंतमुद्धारं विज्ञापयामि । सामानाधि-
करण्यादध्याहारानाक्रमाच्च मयमान्तद्वयपर्यन्तस्यैव विशेषणं वा । तथाच तादृशैः स्या-
भावेपि मयि विश्वासेनैतच्छरणमार्गिरिधितौ श्रीमदाचार्यचरणकृपयैवास्माकमुद्धार इति
निश्चयदादर्थेपि तत्कृतं साधनान्तरमनपेक्ष्य मद्रिज्ञापनादेवोदरिष्यतीत्यर्थः ॥ १० ॥

अतः परमेतन्निश्चयदादर्थममकं वदन्तो विज्ञापनप्रकारं स्वरूपं चाहुः कृष्णा-
श्रयमित्यादि ।

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्हभोत्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्ण आश्रयितेनेनेति, कृष्ण आश्रयो विषयो यस्वेति वा कृष्णाश्रयम् ।
आश्रयपदस्य विषयवाचकत्वं प्रह्लादचरित्रे 'पञ्चत्र गुरुणा मोक्तं श्रुत्वेतुपपाठ च । न
साधु मनसा मेने स्वपरासत्तृदाश्रयमिति' साप्तमेऽप्यत्र च प्रतिद्वम् । एतदन्वर्थनापक-
मिदं कृतं स्तोत्रं यः कृष्णसन्निधौ भगवन्निरुते पठेत् तस्य कृष्ण आश्रयः सहायो
भवेत् । इतीत्यर्थं श्रीवल्हभोऽत्रवीदुक्तवानिति । तथाच परमेतत्पाठ एव पूर्वोक्तनिश्चय-
दादर्थममक इत्यर्थः । एवं च विवेकैर्याश्रयोक्तरीतिकविवेकादेरभावे दैन्यपूर्वमेवैतत्सतो-
त्रार्थानुसन्धानपूर्वकं भगवत्सन्निधौ रावेतत्सतोत्रपाठः । तथाप्यनधिकारे श्रीमदाचार्यचरण-
विश्वासपूर्वकं भगवत्सन्निधौ पाठ इति साधनद्वयं मानसवाचनिक-वेत्त्यवाचनिक-शरणा-
गतिरूपं निर्दिष्टम् ॥ ११ ॥

इदं भावां रीतिमनुसृत्य व्याख्यातं, यद् त्वन्योप्यर्थः स्तोत्रस्य प्रतिभाति ।
तथाहि—अयं मार्गोऽविहितभक्तिरूपः, अत्र भगवान् रसात्मकः प्रतिपन्नः । एवं सति
तदधिकारिव्येव मन्दमध्यमविचारेणात्र साधनोपदेशो वक्तव्यः । अत एव विवेक-
धैर्याश्रयसमाप्तौ 'भक्त्यादिमार्गो' इत्युक्तम् । अन्यैकादशे 'योगास्त्रयो मये' त्यत्र 'ज्ञानं
कर्म च भक्तिश्चे'ति त्रितयान्ते निवेशिताया भक्तेरादित्यकथनं विरुद्धं स्यात् । अतोऽत्र
भक्तिपदेन तत्परामर्शः किं'त्वथैतपरमं गुह्यमि'त्यत्रोक्तायाः । तथासति सा भक्तिरादिर्येषां
सादृशा ये मार्गा अविहितभक्तेरेव प्रकारभेदा बालादिभावेन भजनरूपास्ते यतो
दुःसाध्या इत्यर्थो भवति । एवं सति तत्र सन्नानधिकारे विवेकधैर्याश्रयोक्तरीतिक आश्रयः,
अत एव 'स्वाम्यभिप्रायसंशयात्' 'गोपभार्यषत्' इति स्वामिपदं तद्दृष्टान्तश्च सन्नतौ भवतः ।
अतः परं तथाप्यनधिकार इदं स्तोत्रपठनमपि तस्यैवानुकल्प्यरूपम् । एतन्मार्गप्रविष्टाना-
मतिग्रहण्यतमाधिकारिणामेतन्मार्गफलसम्बन्धो यथा प्रणाल्या भवति तापनुसन्धयास्यो-
क्तत्वात् । तदर्थं स्वस्वरूपं भगवत्स्वरूपं च वक्तव्यम् । तत्र भगवत्स्वरूपं तूक्तमेव ।
किञ्चाभेदवादानुरोधेन रसस्वरूपविचारे रसालम्बनद्रयाभिन्नरसात्मा स्वयं भवति ।
उपबृंहितं चेदं ब्रह्मवैवर्तीयश्रीकृष्णजन्मखण्डे गर्गवाक्येषु—'वर्धते सा ब्रजे राधा शुद्धे
चन्द्रकला यथा । श्रीकृष्णतेजसोधेन सा च मूर्तिपती सती' 'एका मूर्तिर्द्विधा भूता भेदो
वेदे निरूपितः । इयं स्त्री स पुमान् किं वा सा वा कान्ता पुमानपमि'ति । 'पिताहमस्य
जगतो माते'ति गीतायां च । तथासत्याचार्याणामपि 'वैश्वानराद्वाचपतेः' 'वस्तुतः
कृष्ण एवे'ति च वायव्यद्वयविचारे पूर्वोक्तरीत्योभयमुखारविन्दात्मकत्वमुभयारमकत्वं च
सिद्धयति । किञ्च, सप्तश्लोकायां सर्वोत्तमे च 'श्रीभागवतप्रतिपदे'त्यादि 'तत्तारभूत-
रासस्त्रीभाषपुरितविग्रह' इति चोक्तम् । एवं स्वरूपे निश्चिते यदा यद्भावेन यान् प्रति यथा
वदन्ति तदा तदधिकारिणः प्रति तानि साधनानीति पुंस्तोत्रमप्येवं न्यारूपापते तदापि
न दोषः । तथासत्यस्वार्थस्य गुप्ततया भगवतः परोक्षप्रियत्वेन चात्र परोक्षवादाल्लक्षण-
प्यदुष्टैव । ततश्चायमर्थः । तथाहि सर्वमार्गेषु सख्यादिप्रोक्तेषु भगवत्प्राप्त्युपायेषु नष्टेषु
तदमापकतया स्वान्तःकरणेऽनुपापतया भातेषु । स्वलोन्तर्दुष्ट ईर्ष्यारूपो घमो यस्मिंस्तार्यो
कलौ कलहे स्वसमानेषु स्वस्मिन् कृपातिशयरूपातिविषयके नष्टे हृदयादपपाते । चका-
रेण कलहादेरपि नष्टत्वं ज्ञाप्यते । पापण्डः कलहजननकारणरूपो धर्मः प्रसुरो यस्मिंस्ता-
दशे श्लोके सख्यादौ चादृश्यमाने । विरहेण तेषु दोषारोप'स्तस्याधमस्यान्तिकमि'त्यादि-
वत्, अतो न दोषः । एवं सति दुःखितस्य मम कृष्णाः सदानन्दस्तादृशतापे हृदि विभा-
ष्यमान एव गतिर्बहिःप्राप्तौ साधनरूपो भवत्वित्यप्याहता मार्यना । अत्रैवं सर्वसाधन-

भक्तवसिद्धया, द्वितीयास्या'नित्यममुलं लोकमिदं प्राप्य भजस्व मायि'ति भजनशेषतया निरूपितत्वेन प्रथमस्य चाञ्जस्यात् । अतो नात्र कोऽपि चोपावसरः ॥ ९ ॥

एवं नवभिर्निवेकैर्पाश्र्वयग्रन्थोक्ताङ्गाभावेप्येतदुक्तरीतिकदैर्न्येनाप्याश्रयसिद्धिरिति बोधितम् । अतःपरमेतस्याप्यङ्गस्याभावे द्वाभ्यां साधनान्तरमाहुः सर्वैस्वाम्यैर्वैत्यादि ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

'परास्य शक्तिर्विविधैर्न भूयन्' इत्यादिश्रुतिभिः कर्तृपार्तुपन्पयाकर्तुं च पावन्ति सामर्थ्यानि तत्सहितस्तदुपादित'भक्त्यामिकादी'तिपत्रेन । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि माश्रायुपमीवन्ति' 'एष हेवानन्दयाती'त्यादिश्रुतिभिः सर्वत्र देशेषु जीवेषु चाखिलार्थानां कृत् 'आकेस्तच्छीलतद्भर्मतस्तापुकारिष्वित्यनेन ताच्छील्ये कियं कर्ता । एतादृशं कृष्णमहं जगदुदारार्थमाङ्गो वैश्वानर आचार्यवर्षः शरणस्थानां शरणमार्गसंतिनां समुद्धारं सम्यक् आङ्गप्रमार्गप्यपरमफलपर्यैतमुद्धारं विज्ञापयामि । सामानाधिकरण्याद्दधाहारानाकमाच पयमान्तद्वयपदस्यैव विशेषणं वा । तथाच तादृशदैर्न्याभानेषु मयि विश्वासेनैतच्छरणमार्गस्थितौ श्रीपदाचार्यचरणकृपयैवास्माकमुद्धार इति निश्चयदादर्थेयि तत्कृतं साधनान्तरमन्येषु मद्भिज्ञापनादेशोद्धरिष्यतीत्यर्थः ॥ १० ॥

अतः परमेतद्विशयदादर्थमकं वदन्तो विशयनमकारं स्वरूपं चाहुः कृष्णाश्रयमित्यादि ।

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोन्ववीत् ॥ ११ ॥

कृष्ण आश्रीयतेनेनेति, कृष्ण आश्रयो विषयो यस्येति वा कृष्णाश्रयम् । आश्रयपदस्य विषयनाचकत्वं मल्हादचरित्रे 'यत्तत्र गुरुणा मोक्तं श्रुतुषेत्तुपाठः च । न साधु मनसा येने स्वररासद्गृहाश्रयमि'ति सप्तमैऽन्यत्र च प्रसिद्धम् । एतदन्वर्पनामक-निर्दुष्टकं स्तोत्रं यः कृष्णसन्निधौ भगवत्त्रिकटे पठेत् तस्य कृष्ण आश्रयः सहायो भवेत् । इतीभमर्थं श्रीवल्लभोऽत्रवीदुक्तवानिति । तथाचपमेत्सरात् एव पूर्वोक्तनिश्चय-दृढार्थमपक इत्यर्थः । एवं च विवेकैर्पाश्र्वयोक्तरीतिकविवेकादेरभावे दैन्यपूर्वकमेवैतरतो-त्रार्थात्सन्धानपूर्वकं भगवत्सन्निधावेतस्तोत्रपाठः । तत्राप्यनधिकारे धीपदाचार्यचरण-विश्वासपूर्वकं भगवत्सन्निधौ पाठ इति साधनद्वयं मानसवाचनिक-केवलवाचनिक-शरणा-गतित्वं निर्दिष्टम् ॥ ११ ॥

पिक्रविलापस्यभ्रूकोकं, तेन नष्टेष्वसाधकतया वैज्ञतेषु । अत एव अत्रतयोगिषु ज्ञान-
गोचरत्वेपि ज्ञानादिनियमायोगिषु । तत्रापि हेतुः-तिरोहितार्थदेवेषु तिरोहितः
अविषयः अर्थोभिधेयो देवोधिगता च येषां तादृशेषु मन्त्रेषु व्रतचर्यामासङ्गि-
रु-मुख्य-
महिषीमासङ्गि-
रु-समर्पणादिमासङ्गिकेषु सरसु । कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अतः परं ततोप्यतितासाधिवयेन स्वस्याशक्तिं द्योतयन्तः कर्मादिनाशमाहुः-
नानेत्यादि । मानाप्रकारका वादा नानासादाः । भगवान् मपुरायामेवं पुरवनितादीनां
कामं वर्षयति, जरासुतादिभिर्गुण्यति, द्वारकायामुज्जयिन्यां मान्द्योतिषपुरे इन्द्रमस्या-
दावेवमेवं करोतीत्यादिलोकोक्तिरूपाः, श्रीमद्ब्रह्मवानीवसन्देशादिनासंवादादिरूपा वा,
तैर्विनष्टेषु अक्रियमाणेषु सर्वेषु घृहादिकर्मभगवद्भक्तादिषु । किञ्च, पापघ्नः कापट्यं,
तेनैको मुख्यः प्रयत्नो बहिर्मुखो येषां परसम्बन्धो । तथाच तादृशेष्वेतद्रोपनाय
लोकिकवैदिकविहितकार्यादिकर्मभगवद्भक्तादीनामुद्यम एव न तु मनस्वस्तःकृतिरपीति
तादृशेषु तेषु सरसु, 'धारयन्पतिकृच्छ्रेण पापः प्राणान् कथञ्चनेत्येतादृशवस्यायां कृष्ण
एवेति पूर्ववत् ॥ ६ ॥

एवमतिशयिततापे भगवानन्तःशत्रुरभूतवस्तयावस्वयाहुः-अजामिलादीति ।
जामि आलस्यं 'जामि वैतद्यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशाविर्दयादिभ्रुतौ तथा-
सिद्धत्वात् 'आत्मा यावत्प्रपन्नोभूदित्यत्रेवात्र परोक्षवादे वैदिकमयोगस्यादोषाच्च । न
जामि अजामि अनालस्यं तेन लान्ति गृह्यत इत्यजामिलाः, आदिपदेन जामिलाश्च ।
तदुपसंविज्ञानः । शैश्वेय विलम्बेन च भगवद्विषयोजका इति यावत् । तथाच तादृश ये
दोषा धानादय आश्रायकरणादवश्य तेषां नाशकः । अनुभवे मानसे साक्षिप्रत्यक्षे च
स्थितो गोचरीभवन् । ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः ज्ञापितमखिलं समीक्षामावादि
मपुरादाकारास्थित्यादि सत्कलीलादितात्पर्यविषयकं सर्वं माहात्म्यमुत्कर्षः परोक्षमजना-
विस्मरणातिभियत्यरूपो येन तादृशः । कृष्ण एवेति पूर्ववत् । एतेन योगपतमानामप्ये-
तादृशताप एव प्रादुर्भाव ईदृशो न त्वन्यपेति । अन्यथा लन्यथेत्यपि सूचितम् ॥ ७ ॥

माहात्म्यं यज्ज्ञापितं तन्मध्ये यदश्रोपयुज्यते तत्पकटीकुर्वन्त आहुः-प्राकृता
इत्यादि । प्रकृते रसमार्गे भवा विद्यमानाः प्राकृताः । सकलाः, फला भगवदनुसन्धन-
चातुर्यं तथा सह वर्तमानाः । देवा भगवता सह क्रीडापराः । किञ्च, बृहदक्षरं गुहायां
परमे श्योपन्याविर्भूतं ब्रह्म गणितानन्दकं, गणितः श्रुतौ सहस्रपात आनन्दो येषां
मनापरन्यानां यतीनां वा, तेषामेव कं सुखं यस्मादिति वादशं, न तु स्वस्मिन् स्थिति-
मात्रेण सकलदेवानां सुखदम् । तथा पूर्णानन्दः कर्मशरणेन ब्रह्मदीप्तिना च हरिः

वैकल्पबोधनेन स्वस्यावित्तेदः । एवकारेण तादृशसमये 'रुदुः सुस्तरं राजन्त्रित्व
फलमकरण इव भगवतः प्राकथ्यावश्यकत्वं च द्योत्यते । एवमग्रेषु बोध्यम् ॥ १ ॥

अतः परं भगवन्भिन्नस्यानभूतानां देशानामप्यनुपायत्वमाहुः—स्लेच्छात्रान्ते-
त्यादि । स्थाना रसमार्गविरोधिनीच्छा येषां ते स्लेच्छा एतद्रसानभिज्ञास्तेर्देशेषु ह्यन्त-
नादिष्वक्रान्तेषु । किञ्च, पापैकनिलयेषु । पातीति पः स्याद्यिभावः सः अपः अक्षरको
परासौ पापो विरहः सन्तापातिशयजनकत्वात्, तदेकनलियेषु 'सोयं वसन्तसमयो
विपिनं तदेतत् सोयं निकुञ्जवित्पी निखिलं तदास्ते । हा हन्त हन्त नवनीरदकोपलाज्ञो
नालोकि पुष्पधनुषः मयमावतार' इतिवचदुद्बोधकत्वेन तदेकस्यानेषु । चोवशापे । तेन
पूर्वमवधायत्वमनभिज्ञसम्बन्धेन तथात्वमिति ज्ञाप्यते । किञ्च, सतः शरीरस्य या पीटा
तया व्यथा लोकाः स्वैर्यैक्रान्तमक्ता येषु । एतादृशेऽक्षरे कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ २ ॥

अतः पर तादृशां तीर्थानामप्यसाधनत्वमाहुः—गङ्गैत्यादि । इह ह्यन्तनादिदेवो
गङ्गा 'सितासिते सरिते यत्र सद्भव' इति ध्रुवौ तस्याः पूर्वं पठितत्वात्सादिरस्याः सा
गङ्गादिः, यद्गुणात्त्वधृतीनि तीर्थवर्षाणि घट्टविशेषाद्यन्त्रमरोवरश्रीहृण्डाया, 'नयस्तदं'
त्यत्रोक्ता नद्यश्च, तेषु दुष्टैरेतद्गङ्गाशिल्येन दुष्टैरेवाधृतेषु व्यासेषु । किञ्च, तिरोहि-
ताधिदेवेषु । तिरोहितमगोचरमधि उपरि देवं 'देवं दिष्टं भागपेयं भाग्यमिति
कोशादस्मद्भाष्यं, 'त्रैलोक्यलक्ष्म्येऽप्यदं वपुर्दच'धन । पदुपरि भगवानिदानीं न इत्यते
चिह्नानि सन्तीति 'श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मृतं नैव शक्नुम' इतिवदधिकतापजनके-
ष्विति भावः । तथाचैतादृशावस्थायां कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ३ ॥

अतः परं सस्तङ्गस्याप्यसाधकत्वमाहुः—अहङ्कारेत्यादि । किन्दाया सर्वत्र
तापाधिवयमेव बीजं ननु तेषु दोषो बीजम् । अहङ्कारेणास्मदशो भगवानस्मददायित
एवान्यत्र कल्पितोत्प्रेक्ष्मणैः विमूढेषु स्वप्नेषु । किञ्च, पापानुवर्तिषु पापः पूर्वोत्-
रीतिको विरहस्तमनु लक्ष्मीकृत्य वर्तन्व इति तथा । तथाच पूर्वं यद्यद् इदानीं तैरपि सह
न मिलतीति । तद्भक्तं लाभपूजार्थयत्नेषु । लाभो भगवत्साक्षिस्तदर्थं पूजा लाभपूजा
तदर्थं घटन उद्यमो येषाम् । पूर्वं भगवत्प्राप्तये काल्याण्यर्चिता पुनरिदानीमपि यत्क-
र्षन्ति तेन ज्ञाप्यते न मिलतीति । लीलायां नियत्साचापेनासक्तभ्रमत्तदवाविर्भावाचे-
ष्वप्यमिलननिश्चयः । सत्सु एतन्मार्गगुरुष्वेतादृशेषु सत्सु किं तसङ्गैवेति कृष्ण
एवेति पूर्ववत् ॥ ४ ॥

अतः परं ततोप्यवितापेन गुरुणां हर्षं विचारयन्तो मन्त्राणामसाधकत्वमाहुः—
अपरीति । अः भगवान् तस्य परिज्ञानं स्वभावज्ञानं 'न नन्दयन्तु'रितिप्रयानसाम-

पिकविलापस्य श्लोकोक्तं, तेन नष्टेष्वसापकतया तैर्ज्ञातेषु । अत एव अत्रतयोगिषु ज्ञान-
गोचरत्वेऽपि ज्ञपादिनियमायोगिषु । तथापि हेतुः—तिरोहितार्थदेवेषु तिरोहितः
अविषयः अर्थोभिषेयो देवोधिष्ठाता च येषां तादृशेषु मन्त्रेषु व्रतचर्याप्रासङ्गिक-मुख्य-
माहिषीप्रासङ्गिक-समर्पणादिप्रासङ्गिकेषु सन्तु । कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अतः परं ततोप्यतिवापाधिक्येन स्वस्पाशक्तिं द्योतयन्तः कर्मादिनाशमाहुः—
नानेत्यादि । मानापकारका वादा नानावादाः । भगवान् मथुरायामेवं पुरवनितादीनां
कामं वर्धयति, जरासुतादिभिर्बुध्यति, द्वारकायामुज्जयिण्यां माण्ड्योतिषपुरे इन्द्रपस्या-
दावेवमेवं करोतीत्यादिलोकोक्तिरूपाः, श्रीमदुद्धवानीतसन्देशादितत्संवादादिरूपा वा,
तैर्विनष्टेषु अक्रियमाणेषु सर्वेषु गृहादिकर्मभगवद्गतादिषु । किञ्च, पापण्डः कापट्यं,
तैर्नैको मुख्यः प्रयत्नो बहिर्ह्यमो येषां यत्सम्बन्धी । तथाच तादृशेष्वेवद्रोपनाय
लोकिकवैदिकविहितमार्यादिकर्मभगवद्गतादीनामुद्यम एव न तु मनस्तस्तत्कृतिरपीति
तादृशेषु तेषु सन्तु, 'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चने'त्येतादृशवस्थायां कृष्ण
एवेति पूर्ववत् ॥ ६ ॥

एवमतिशयिततापे भगवानन्तःमादुरभूततस्तवावस्यमाहुः—अजामिलादीति ।
जामि आलस्यं 'जामि वैतद्यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशाविर'त्यादिश्रुतौ तथा-
सिद्धत्वात् 'आत्मा यावत्प्रपन्नो भूदित्यत्रेवात्र परोक्षवादे वैदिकप्रयोगस्यादोषाच्च । न
जामि अजामि अनालस्यं तेन लान्ति गृह्यत इत्यजामिलाः, आदिपदेन जामिञ्च ।
तद्गुणसंविज्ञानः । शिष्येण विलम्बेन च भगवद्विप्रयोजका इति यावत् । तथाच तादृश ये
दोषा मानादय आग्रायकरणादयश्च तेषां नाशकः । अनुभवे मानसे साक्षिपत्यक्षे च
स्थितो गोचरीभवन् । ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः ज्ञापितमखिलं समीक्षाभावादि
मपुराद्धारकास्तित्यादि तच्छ्रीलादितार्थविषयकं सर्वं माहात्म्यमुत्कर्षः परोक्षमजना-
विस्मरणातिभियत्वरूपो येन तादृशः । कृष्ण एवेति पूर्ववत् । एतेन योग्यतमानामप्ये-
तादृशताप एव प्रादुर्भाव ईदृशो न ल्वन्ययेति । अन्यथा ल्वन्ययेत्यपि सूचितम् ॥ ७ ॥

माहात्म्यं यज्ज्ञापितं तन्मध्ये यद्गोपयुष्यते तत्प्रकटीकुर्वन्त आहुः—प्राकृता
इत्यादि । प्रकृते रसमार्गे भवा विद्यमानाः प्राकृताः । सकलाः, कला भगवदनुसन्धन-
चातुर्यं तथा सह वर्तमानाः । देवा भगवता सह क्रीडावराः । किञ्च, बृहदत्तरं गुहायां
परमे ष्योमन्याविर्भूतं ब्रह्म गणितानन्दकं, गणितः श्रुतौ सह्युघात आनन्दो येषां
प्रनापस्यन्तानां यतीनां वा, तेषामेव कं सुखं यस्मादिति तादृशं, न तु स्वस्मिन् स्थिति-
मात्रेण सकलदेवानां सुखदम् । तथा पूर्णानन्दः कर्मशारेण बहुवीहिणा च हरिः

देवानन्दतिरोभावहतां कृष्ण एव तस्मान्मम तयोर्वर्षः । तथावैतन्मार्गीयं फलं केवल-
परमानुग्रहैकलभ्यमेवेति सपरिकरभगवन्माहात्म्यं यद्भगवद्भाषितं तत्सूचितम् ॥ ८ ॥

एवमनुग्रहस्य तत्फलस्य स्वकृतसाधनासाध्यत्वेनुसंहिते यावत्या तथाहुः-विवेके-
त्यादि । विवेकः साधनतारतम्यानुसन्धानं, धैर्यं दुःखसहनसामर्थ्यं, भक्तिः स्वशरीर-
सेवा । आदिपदेन तत्तत्साधनानि, तै रश्चितस्य । विशेषतोऽत्यन्तं साधनेन पूर्वोक्तविरता-
त्मकेन असक्तस्य मुक्तसमस्तसङ्गस्य, अत्र एव दीनस्य तत्र एवानोगतः कृष्ण
एवेति पूर्ववत् ॥ ९ ॥

एवमतितापेन परमर्दन्ये भगवान् बहिःप्रादुर्भूतस्तदातिसन्तुष्टा जीवेषु मन्दपद्म-
भेष्वेवं विलम्बाभावाप विश्वापमन्ति सर्वेत्यादि । अयोग्येष्वपि योग्यतासम्पादनं
कर्तुमशक्तौमन्यथाकर्तुं समर्थस्यैव शक्यमिति तादृशः सन् । तादृशत्वस्य गमकमौदार्यमिति
सर्वत्रैवाङ्गीकृतमात्रे अखिलार्थानां पुष्टिपुष्टिमोक्षरूपानां मृतम् । करणशील ! कृष्ण !
पूर्वोक्तश्रुतिपुराणव्याख्यातरूप ! । श्रीरघुनाथचरणैः कृष्णपदं सम्बुद्धपन्तत्वेन व्याख्या-
तमित्यस्याभिरपि तयोक्तम् । द्वितीयान्तपक्षेपि किञ्चन्तमेव । चारणस्थानामेतन्मार्गी-
रीत्या चरणगतानां फलवर्धनमुद्धारं अहं भवदनुभावमकृतनार्याज्ञापवतीभिः विश्वाप-
यामि । एतेन स्वस्य विश्वापने भगवतश्च तपोद्धार आवरणता सूचिता ॥ १० ॥

विश्वापनां वदन्ति-कृष्णाश्रयमित्यादि । कृष्णाश्रयं स्तोत्रं श्रीरूपः स्वाधि-
नीभावपूरितत्वात् चल्लभ्यो भगवतः मिय आचार्यवर्षाज्ञवीदिति, यः पठेत् एवमनुसन्-
धानो योऽस्मद्विषययोगवस्थां ज्ञापयन् कृष्णास्रिधौ व्यक्तं वयपेक्षस्य कृष्ण आश्रयो
भवेदिदं विश्वापनमित्यर्थः । स्तोत्रस्य मन्थनत्वेनेदमा विनाप्यर्थसिद्धेरिति, शब्दान्तरान-
धाहाराद्य, अत्र दुरान्वयोपपद्यते एव । 'विशुञ्चालवतुं योरापित्युक्तो विससर्ज इ' ।
'विससर्ज तनुं तां नै जपोऽन्वां कान्तिवर्ति मिया'मित्यादौ भाव एव तनुत्वेन व्यवहाराद्य
श्रीरूपत्वोक्तावपि न दोष इति न कोपि शङ्कालेश इति । यथाधिकारं सर्वा एव दीहा
वपयुज्यन्त इति न कापि शङ्कालेश इति । दिक् ॥ ११ ॥

इति श्रीबटुभाचार्यमङ्गीकृतमद्भुतम् ।

स्तोत्रं कृष्णाश्रयपरं विद्वते तत्रसादतः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्बटुभाचार्यचरणकमलचञ्चरीकश्रीदयामन्दात्मजश्रीब्रज-
राजचिरचितं कृष्णाश्रयस्तोत्रवियरणं समाप्तम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

विचरणसमेतम् ।

यत्कृपाट्टिष्टुष्ट्येकविन्दुस्पर्शे रसाद्रैता ।
कृष्णलीलाञ्जिजा जन्तोर्न कदापि निवर्तते ॥ १ ॥
तानेव श्रीमदाचार्यचरणानाश्रये गृह्णा ।
तैर्नैव मम तद्वाक्यबोधो बोध्यो हि जायते ॥ २ ॥
पुष्टिमार्गाद्विहीलाभिः स्वानन्दं पूरयन्निजम् ।
स्वाश्रयं कुरुते यश्च तपहं कृष्णमाश्रये ॥ ३ ॥

अथात्राश्रयो द्वेषा निरूप्यते मर्षादाहुष्टिमेदेन । तत्र मर्षादया य आश्रयः स तु स्फुट एव सर्वत्र व्याख्यातः । पुष्टिमार्गीयस्तु गृह्ण, स च परोक्षवादेन साधनफलस्वरूप-निरूपणपूर्वकं निरूप्यते । तत्रापि कालादिपदसाधनानां फलासाधकत्वं वदन्त आश्रयं संभावयन्ति । एवं सति यादृशः पुष्टिमार्गीयाणां आश्रयस्तदादयोश्च निरूप्यते प्रकारसहित इत्यवगम्यते । तथाहि प्रथमं परमकृपाट्टः साक्षात् भगवान् स्वयं निरूपयित्वा वत्सा-लुष्टिफलदानेच्छया यं वृणुते तस्य तदारभ्य स्वत एवोद्धृतसहजानुरागतो भगवत्सेवादौ महिषिर्भवति न तु तद्व्यतिरिक्तधर्मेषु । ततस्तादृशानुरागपूर्वकसेवादिकरणोल्लसित-मेवासक्तिजनितपुष्टिमार्गीयभावान्द्विकुराणां 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युक्तप्रकारकभा-षणाया अवदप्रसंभवाच्च तद्वर्षाकृत्ये विज्ञातीयसद्भावानुरोधादन्तःस्वरूपानुभवप्रतिबन्ध-सति तदपेक्षाजनितात्मा भगवद्व्यतिरिक्तस्य तन्निष्ठैवैश्वर्यपत्वान्तरणगतिस्तद्व्यतिरिक्त इति श्रीमदाचार्यचरणान्तस्वरूपनिरूपणपूर्वकं श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रं निरूपयन्ति सर्वैति ।

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पापण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

तादृशपुष्टिमार्गीयस्य सर्वे मार्गाः प्रमाणरूपाः कर्मादयो नष्टाः, परु एव प्रमेयमार्ग-स्तिसृष्टि, यतस्तेषु फलत्वासाधकत्वपुद्गलाऽऽपिरेवेति तस्यागकृष्णाग्रहा एवेत्यर्थः । अपवा 'जन् अदर्शने' इति धात्वर्थविचारेण नष्टा अज्ञाता वा । तेषां दर्शनज्ञानयोरप्येतन्मार्गे

प्रतिबन्धकत्वादितिभावः । ननु भक्तानां कलिहाराः साधको भवतीति वक्षिण्युपायाणां कथं तथात्वमिति पुष्टिमार्गीयाणां तस्य बाधकत्वमाहुः स्वलघमिणीति । कालस्तु प्रमाणभूतः, प्रमाणं साक्षात्स्वरूपं न कथयतीति तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्य सदोपत्वमेवेति तन्नष्टत्वात् स्वलो दुष्टो धर्मो धर्मकर्तापि यत्रेति । यद्यपि 'कलेदौर्गनिधे रामन्' 'कलि सभाजयन्ती'त्यादिवचनैः फलेर्भगवद्भजनानुकूलत्वमुक्तं, तथाप्यधुनानवतारसामयिकत्वेनाधिदैविकरूपत्वाभावात् पुष्टिमार्गीयान् प्रत्यानुकूल्यस्य नष्टत्वमेवेति तयोक्तम् । भौतिककाळस्य प्रमाणरूपत्वेन मर्यादोक्तविधिना तेषां भजनं न पुष्टिरीत्या । फलमपि मुक्तिरेव न वतोऽग्रिमकक्षापन्ना । अत एव पापण्डप्रचुरे लोके इत्युक्तम् । पर्यित्यतिरेकेण केवलधर्मस्य सोपाधिकत्वाचयोक्तमितिभावः । तानेव धर्ममार्गानुचर-श्लोकेष्वसाधकत्वेन वक्ष्यन्ति । एवं सति तत्काले तत्तद्दर्मानाचरणे तेषां दोषानुद्धिरेवोत्पद्य इति तत्समर्पं तत्काले प्रमाणातिरिक्तं न कर्तुं शक्यत इति कालस्य भावोद्घोषे प्रतिबन्धकत्वादसाधकत्वं निरूपितम् । चकारादृद्देषि तथा । 'शृद्धे स्थित्वा स्वधर्मैत' इतिवचनात्तत्रापि सेवा-करणे क्रमेण स्नेहासक्तिजनितभावनाया जातत्वाच्चत्रत्यानां तदभवात्तत्तद्व्यस्य बाधको विजातीयभाववत्त्वादित्यर्थः । अथवा, एवं पुष्टिमार्गीयस्य कालवदुक्तमार्गीयां प्रतिबन्धकत्वं निरूप्य तस्य स्वधर्माचरणमकारमाहुः—पापण्डेति । श्लोके पुष्टिमार्गीये पापण्डप्रचुरे सति तत्संसर्गेण भावापेक्षया दोषबाहुल्ये सतीत्यर्थः । यद्वा, पापण्डो नाम स्वान्तर्निष्ठधर्म-गोपनेन बहिरन्यधर्मकरणं तदेव प्रचुरो यस्मिन्नादृष्टे सति । यथा न कोपि ज्ञानाति तथा कर्तव्यमापन्नमितिभावः । एवं सत्येतावत्प्रतिबन्धके विद्यमाने तत्संसर्गेण पूर्वोक्त-भावानामनुच्छलितत्वाभावात्कलाभाव इति तादृशस्य प्रतिबन्धनिवर्तकः साक्षाद्भगवानेव नान्य इति कृष्ण एव गतिर्ममेतिशरणप्रपदिष्टम् । शरणं गते कृपया स एव सर्वं करिष्यतीतिभावः ॥ १ ॥

ननु तर्हि भगवल्लीलाप्रदेशेषु गत्वा स्वधर्मनिर्वाहः कर्तव्य इति चेत्त्रापि प्रतिबन्ध-कत्वाद्बुल्येन देशानामसाधकत्वेन शरणमेव निरूपयति स्तेच्छेति ।

स्तेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाल्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

मलिनपदार्थमेवेच्छन्तीति स्तेच्छा विषयिणो, मन्त्राद्युपासकाः, कर्मपायांसाय । यद्यपि तेऽनिपिदं विद्विषमेव कुर्वन्ति तथापि स्वार्थपराः 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विद्वन्ती-त्याद्युक्त्या कर्मफलं मलिनमेवेति तत्पराणां तथात्वेन निर्देशः कृतः । तादृशैस्त्वे-रानान्ताः सर्वे प्रवेशा, अत एव तच्छ्रीलादीनां विरोधात्तत्र ते साधका इतिभावः । स्वयं तु भगवदीयत्वाद्बुद्धमेव किन्तु भावे वैजात्यमात्रेण तस्य बाधकत्वम् । तावतापि

यत्र प्रतिबन्धकत्वं तत्र केवलविषयाविष्टसम्बन्धिदेशसंसर्गेण भावनाशे किमु वक्तव्य-
मिति क्लृप्तिकन्यायेनापि देशस्वासाधकत्वं निरूपितम् । किञ्च, न केवलमाकाङ्क्षितमात्रं
किन्तु तद्भय एव जाता इत्याहुः पापैकनिलयेष्विति । कर्मणां हिंसाप्रचुरत्वाच्चयोक्तम् ।
एतेन तत्र गमनमात्रेण तत्सम्बन्धात्स्वधर्मनाशो भवतीतिभावः । एवं सति भगवतो
मन्त्रोपासनाधरप्रवृत्तेनास्मिन्च्छश्लोके मन्त्रोपासनवैदिकतान्त्रिकद्वीसार्चनानां सङ्गहेणा-
साधकत्वं निरूपितम् । आदिपदेन विहितभक्त्यादीनामपि तथेत्यर्थः । ननु तत्रापि केचन
निवृत्तिपरा भविष्यन्तीति चेत्तदाहुः सत्पीडोति । निवृत्तिपरस्येन सद्रूपाणि तत्रत्यानां
देशेन्द्रियादीनि तेषां पीडा सत्पीडा, तद्देशसम्बन्धे तानि विषयाविष्टान्येव भवन्तीति
तन्निग्रहाशक्यत्वाद्निवृत्तिपराणां खेदो जायत इति तदूचैव स्वधर्मनाशजनिता पीडा, तथा
व्यग्राः कथमस्माकं परलोकः सेत्स्यतीति व्यग्रा लोकाश्च धर्मवीला येषु । यत्र स्थूलहृष्टी-
नामपि न धर्मनिर्वाहरतत्रातिसूक्ष्मेक्षिकाणां तादृशानां भावशैथिल्ये किञ्च वाच्यम् ।
तादृशानामप्येपि स्थातुमशक्तेरितिभावः । तथाचोक्तं 'अस्पाक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमस्तमि-'
त्युत्र विवरणे 'यया व्याघ्रजे देहाभिधानी'ति फलनकरणे । अतस्त्वज्जात्वयोपये प्रति-
बन्धनिवृत्त्यर्थं शरणमेव भावनीयमिति कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तम् । अत ए'धार्मी'नि
कमनःसिद्धाविति विवेकधर्मार्थयेष्युक्तम् ॥ २ ॥

एवं दुःसंसर्गेण देशानामसाधकत्वं निरूप्य तत्र भगवद्भक्ता अपि सन्ति ते
समीचीनास्तै सह सङ्गो न वाधक इत्याशङ्क्य द्रव्याणामशुद्धया पुष्टय तेपामपि सङ्गो
वाधक इतीतरमार्गीयाणामसाधकत्वमाहुः गङ्गादीति ।

गङ्गादितीर्थवर्षेषु ह्युरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादितीर्थवर्षा भक्ताः । अयं भावः—'अस्ति गङ्गायां त्रिरूपमिति सिद्धान्त-
मुक्तावत्यां स्फुटीकृतं, तन्निबिषत्वमत्रापि ज्ञेयम् । तेन जडरूपाधिभौतिकादिभेदेन
प्रवाहभक्तिमार्गीयज्ञानमार्गीयमर्यादाभक्तिमार्गीया भक्ता निरूपितास्तत्र प्रथमं प्रवाह-
भक्तिमार्गीयाणामसाधकत्वं निरूपयन्ति । यद्यपि गङ्गापदस्यादौ निरूपणाद्गङ्गाया मर्यादा
भक्तिमार्गीयमक्तत्वात्तन्मार्गीयभक्तानामेवादौ निरूपणं संभवति तथाप्याधिभौतिकादि-
क्रमेण परिदृश्यमानप्रवाहजस्यैव प्रथमनिरूपणाद्गङ्गाप्यादौ प्रवाहभक्तिमार्गीया एव
ज्ञेयाः । अग्निमागामुत्तरश्लोकेषु निरूपणम् । तथाच पदसम्बन्धः, गङ्गा देवी आदिर्येषां
तानि गङ्गादीनि, तस्या एवाधिदैविकादिरूपाणि, तद्वशा एव 'तीर्थभूता'आदिसाधकत्वच-
नाद्भक्ताः, परन्तु दृश्यमानजलादिरूपाक्रमेण प्रवाहमार्गीया एव । कर्ममार्गीयायेस्योत्तमत्व-

ज्ञापनाय 'वर्य'पदम् । तादृशेष्वपि दुष्टैरेव स्वरूपापेक्षया तदोपैरित्यर्थः । तादृशैर्धर्मव्रते-
 प्वाच्छादितेषु सत्सु, धर्मा एव तेषां धर्मिस्वरूपज्ञाने आवरका जाताः । ननु भगवद्-
 र्धनिष्ठेषु कथं तद्दर्शनाभावकरत्वं तत्राहुः—तिरोहिताधिदैवेष्विविति । तिरोहितमधिदै-
 वस्वरूपं येषु । यथा जलप्रवाहे मूर्तिमत्या गङ्गायास्तिरोधानं तथा मवाहमार्गेषु साक्षा-
 त्यरूपोत्तमस्वरूपतिरोधानम् । विभूतिरूपस्यैव तेषां भजन तद्रूपमेव फलं, न तत्राधिदैवि-
 कभजनं फलं चेति द्रव्याशुद्ध्या पुष्टिमार्गीयाणां तत्सङ्गो न साधक इति शरणगतिये-
 बोपदिशन्ति कृष्ण एवेति । अत एवा'द्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति सा
 सेवानाधिदैविकी'त्युक्तं सेवाफले । प्रकृते तु आधिदैविकस्वरूपस्यैव सर्वस्य साधक-
 त्वादाधिदैविकरसात्मकसदानन्दस्वरूपज्ञापककृष्णपदमेवोक्तं सर्वत्र शरणागतौ । एतेन
 तद्व्यतिरिक्तस्वरूपस्य शरणमपि न साधकमित्यपि सूच्यत इति सुष्टूक्तम् ॥ ३ ॥

ननु ज्ञानिनो निर्दोषाः समबुद्धय एकान्तस्थितयः तत्सङ्गः साधको भविष्य-
 तीति तेषामपि मायामोहितत्वात्साक्षात्यरूपोत्तमसम्बन्धाभावेनासाधकत्वं निरूपयन्तः
 कर्तृणां तन्निरूपयन्ति—अहङ्कारविमूढेष्विविति ।

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

ते तु 'अहं ब्रह्मास्मी'त्यहङ्कारेण विशेषेण मूढा, नहि तत्र साक्षात्यरूपोत्तमस-
 म्बन्धः, किन्त्वक्षरमात्रसम्बन्धेन तन्मात्रस्यैव परमफलत्वं मन्यन्त इति सेव्यसेवकभाव-
 स्यापि गतत्वाद्विशेषेण मूढास्तादृशेषु सत्सु । ननु अविद्यानिवृत्तौ अनुभवरूपे विज्ञाने
 सम्पन्ने ब्रह्मणि लयो भवतीति कथं तेषां मोहः संभवतीति तत्राहुः पापानुवर्ति-
 ष्विविति । 'स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन' इतिवाक्यात्पुष्टिमार्गीयाणां फले प्रति-
 बन्धकत्वात्साक्षात्यरूपोत्तमज्ञानाभावरूपस्य तादृशज्ञानस्य पापत्वात्तदनुवर्तिनां पापा-
 नुवर्तित्वमेवेति तथोक्तम् । किञ्च, तादृशस्य पुनरक्षरलयानन्तरं पुष्टिफलसंभावेनैव
 नैत्यपिज्ञापनाय पापरूपत्वं विशेषेण मूढत्वं चोक्तम् । ननु तथाप्यानन्दानुभवो भविष्य-
 तीति तत्राहुः—लाभपूजार्थयत्नेष्विविति । तन्मार्गे न साधनदशायां न च फलदशायां
 तदनुभवः, यतो लाभः आत्मलाभः पूजा तत्साधनार्थं मनस्येव कल्पितमूर्तेरुपासनारूपा,
 तदर्थमेव यत्नो येषां तादृशेषु । नचात्मन ऐक्ये सर्वेन्द्रियाणां सार्थकता, नाप्यानन्दानु-
 भवज्ञानं च, यथा जले निमग्नस्य जलपानम् । वहिरेव पाने तदनुभव इति न तेषामानन्दा-
 नुभवोपि । प्रकृते तु पुष्टभावापन्नस्य 'भगवता सोहे'त्यादिरूपभावनायामपि सर्वेन्द्रियाणां
 साक्षात्स्वरूपानुभवो, बहिःप्राकट्ये तदनुभवे किं वाच्यमितिभावः । तदुक्तं निरोपवर्णने

‘सङ्कल्पादपि तत्र हि’ ‘दर्शनं स्पर्शनं स्पृष्टमिन्द्रियादिना । एवं सति पुष्टिमार्गीयस्य न तत्सङ्गः साधक इति शरणमेव निर्दिशन्ति कृष्ण एव गतिः ॥ ४ ॥

ननु ज्ञानिष्वपि केचन भक्ता भवन्ति, तत्रापि भ्रमपुक्ताः, ते पुनर्द्विविधाः केचन नामनिष्ठाः केचन सेवैकनिष्ठास्तेषां सङ्गः साधको भविष्यति, तथाचोक्तं ‘सङ्गस्तेष्वय ते प्रार्थ्यः’ ‘सतां प्रसङ्गा’दित्यादिनेत्याशङ्क्य तपोरपि साधकत्वाभावात्प्रथमं नामनिष्ठा-
नामसाधकत्वं वदन्तो मन्त्राणां तन्निरूपयन्ति अपरिज्ञानेति ।

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

यद्यपि ‘एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत’मित्यत्र ‘मन्त्रोप्येकस्तस्य नामानि यामी’-
त्युक्त्या भक्तानां नामैव परो मन्त्रः तस्कीर्तनपराः समीचीना एव तेषां तत्कीर्तने तदा-
नन्दानुभवजनिताश्रुपुलकादयोपि भवन्ति तथापि तेषां मर्यादाभ्रान्तिरूपत्वरूपतोऽप-
रिज्ञानभेदेति तेषु मन्त्रेषु नामरूपेष्वपरिज्ञानेन नष्टेषु अलक्षितेषु सस्तु । यादृशः
कृष्णपदस्य रसात्मकभावरूपीर्यस्तदपरिज्ञानादलक्षितत्वमुक्तम् । ननु कथं सोऽर्थो न लक्षि-
तस्तत्राहुः—अव्रतयोगिष्विति । व्रतं अनन्यत्वं पतिव्रतावत्यतिविषयकपरमानुरागभ्र-
नितरसात्मकभावेन तदेकनिष्ठारूपं, तदभावतोऽव्रताः पूर्वोक्ताः, तादृशेषु योगः संयोगो
पेषामिति तथात्वमुक्तम् । ननु तेष्वपि नामधर्माणां दृश्यमानत्वात्कथमेवमुच्यते तत्राहुः—
तिरोहितेति । तिरोहितः अर्थो रसात्मकस्वरूपेण यः प्रकटः स यत्र तादृशेषु सस्तु ।
अत एव मुकुन्द ! नारायण ! यज्ञेश्वर ! ज्ञाननिधे ! वासुदेवैत्यादीनि भोक्तेच्छुभिरुच्यन्ते,
नहि पुष्टिमार्गीयैरिव ‘व्रजजनातिहन् वीरयोपिताम्’ ‘सुरतनार्थे’त्यादीनि रसात्मकानि
तानि । तेषां मर्यादाभ्रान्तिसारेणैव तदनुभवो भवति न पुष्ट्यनुसारेणेति न तत्सङ्गस्त्वस्य
साधक इति शरणमेवोपदिशन्ति कृष्ण एवेति ॥ ५ ॥

ननु ये सेवापरास्ते तत्सर्वविनियोगेनानन्यव्रतेन सेवां कुर्वन्तीति न तेषाम-
व्रतत्वमिति साधका भविष्यन्तीत्याशङ्क्य तेषामसाधकत्वं वदन्तः कर्मणां तदाहुः—
नानावादेति ।

नानावादेविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पापण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

यद्यपि ते पूर्वोक्तापेक्षया सर्वोद्यमास्तथापि तेषां मर्यादाभ्रान्तिरूपत्वं सर्वकर्मव्रता-
दिषु सर्वं पुष्टिमार्गीयं यावत्प्रयत्नं कर्म तन्मार्गीया सेवा ‘भगवता सहै’त्यादिरूपा व्रतं

लोकपेदनैरपेक्ष्येण केवलस्वरूपमात्रैकनिष्ठत्वं, आदिपदेन तन्मार्गीयश्रवणकीर्तनादीनि ज्ञेयानि, तेषु नानावाद्बिन्दुप्रेषु सत्सु । नानावादा अनेकविधप्रमाणवचनानि मर्यादा-
मार्गीयाणि आवरणरूपाणि, तैः कृत्वा विज्ञेयेण नष्टा अलक्षितास्तादृशेषु सत्सु । तेषां
मर्यादामिश्रत्वेन विहितैरुदृष्टित्वात्, न तज्ज्ञानमितिभावः । अत एव 'मर्यादया गुणज्ञास्ते'
इति निरूपितं पुष्टिप्रवाहमर्यादायाम् । ननु तेषां भक्तिमार्गनिष्ठया सेवादिकं कुर्वन्तीति कथं
तदज्ञानं तत्राहुः—पापण्डैकप्रयत्नेष्विति । पापण्डो नामोपाधित्द्रूप एवैकः प्रयत्न-
स्तदनुकूलसाधनरूपो येषां तादृशेषु । तेषामपि मिश्रत्वेन पुरुषोत्तमसायुज्यैकफलत्वा-
त्प्रयत्नादीनां पुष्टापेक्षयोपाधिरूपत्वमेवेति तथा निरूपितम् । अत एव मध्यमफलत्वं
सायुज्यस्य निरूपितं सेवाफले 'सेवायां फलत्रयमित्यनेन । किञ्च, सायुज्यस्य मर्यादाम-
क्तिमार्गीकफलत्वं तत्त्वार्थदीपे निरूपितं 'सर्वत्यागेनन्यभावे' इत्यनेन । पुष्टिफलं तु केवलं
तादृशानुग्रहभरणे सर्वात्मना निरुपधिभावेकसाध्यमिति तादृशस्यापि सद्गो न साधक इति
शरणमेव निरूपयन्ति कृष्ण एव गतिर्ममेति ॥ ६ ॥

नन्वेवं सकलमार्गीयसाधनफलानां बाधकत्वेन पुरुषार्थरूपत्वाभावात्पुष्टिमार्गीयस्य
के पुरुषार्थाः ? कीदृशया वा कथं वा सिद्धा भविष्यन्तीति प्रश्ने तादृशस्य भगवानेवं
चतुर्विधपुरुषार्थरूपः, तत्सिद्धौ शरणमेव साधनं नान्यदिति भगवत्तद्रूपनिरूपणपूर्वकं
चतुर्भिः श्लोकैः शरणं निरूपयन्ति । तत्र प्रथमं धर्मरूपत्वेन निरूपयन्ति—अजामिला-
दिदोषाणामिति ।

अजामिलादिदोषाणां नाशकोनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

'पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोयौ हरिरेव हि । कामो हरेर्दहसैव मोक्षः कृष्णस्य
चेद्बुधमित्यत्रोक्ताः पुरुषार्था मर्यादाभार्गीयेभ्यो भिन्ना उपापिरहिता इति । तत्र हरेर्दास्यं
धर्म उक्तः । तच्च 'पुरुषभूषण देहि दास्यमित्यत्र स्वरूपास्वरूपत्वेन निरूपितमिति भग-
वतो धर्मरूपत्वं सिद्धम् । एवं सति धर्मेण यथा दोषनिवृत्तिर्निर्दोषतासिद्धिश्च भवति
तथा भगवान् स्वरूपेणैव दोषनिवर्तक इष्टप्राप्तोपि भवतीति धर्मनिरूपणपूर्वकं शरणं
निरूपयन्ति । तथाहि—अजामिलादयः प्रबलदोषदुष्टास्तद्गुणा अत्र सकलेन्द्रियसङ्घा-
तास्तेषां दोषाणां नाशकः स्वरूपेणैव न साधनैः । अयं भावः, पुष्टिमार्गीयस्य स्नेहोत्पत्त्य-
नन्तरं स्वव्यसनतः स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाणायाम् 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युक्त-
प्रकारकभावनापामन्तर्लीलासहितसाक्षात्स्वरूपमास्त्ये सति या सेवोत्तमपुष्टिरूपा तत्रेन्द्रि-
याणां प्राकृतपदार्थसंसर्गदर्शनस्मरणादिना यः प्रतिबन्धः सोऽत्र दोषस्तन्नाशकः ।
यथाऽजामिलस्य नाममात्रेण दोषा दूरीकृतास्तथा प्रकृते तादृशस्य विषयो गुणगान-

लक्षणनापात्मकलीलया तच्चदिन्द्रियाणां दोषं नाशयतीति तथोक्तम् । अनेन दोषनिवृत्तिर्भर्माकार्यमुक्तम् । इष्टप्राप्तिं निरूपयन्ति अनुभवे स्थित इति । दोषं दूरीकृत्य तच्चदिन्द्रियादिषु स्वयं स्थितो भूत्वा स्वरूपानन्दमनुभावयतीतिभावः । अनेनेष्टप्राप्तिरूपं भर्माकार्यमुक्तम् । एतत्सर्वं निरोधवर्णने 'संसारार्येशदुष्टानामि'त्यारभ्य 'हरिवत्सुखमि'-
त्यन्तेन स्फुटीकृतम् । ततोपि विरोपमाहुः-ज्ञापिताखिलमाहात्म्य इति । ज्ञापितम-
खिलं पुष्टिलीलारूपं माहात्म्यं येन । अत एव व्रजस्थितानामपि च लीलानुभवः । पुष्टिम-
वाहमर्पादायामपि 'पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञा' इत्युक्तम् । भगवति साक्षादन्तःप्रकटे तल्ली-
लाधर्मिणामप्याविर्भावात्तज्ज्ञानमप्याविर्भवतीति न किञ्चिद्रूपपन्नम् । एवं सति तादृशस्य तादृग्भावपोषणादौ ईदृग्धर्मरूपो भगवानेव वरणमिति कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तम् ॥७॥

ननु तेषामिन्द्रियादीनां प्राकृतत्वात्तदधिष्ठातृणां च तथात्वात्कथं दोषनिवृत्तिरि-
त्याशङ्क्य तेषां सर्वसङ्घानरूपः कृष्ण एव भवतीति तस्यैवार्थरूपत्वं निरूपयन्तः
वरणगतिमाहुः-प्राकृता इति ।

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्रपञ्चनिरूपणप्रस्ताये 'जडे सर्वशः प्रकट इतरावाच्छब्दौ, जीवे आद्यौ प्रकटौ
आनन्दांशस्तिरोहित' इतिनिरूपितम् । पुष्टिमार्गीयस्य तु साधनदशायां सेवागुण-
गानादिपरस्य स्वत एवानन्दांशः प्रकटो भवति । तथाचोक्तं सिद्धान्तमुक्तावर्यां
'ततः संसारदुःखस्ते'ति । तत्रैव पुनः विवरणे 'पश्यन्मिथिलयिते ते तथापि वस्तुत्वभा-
वाद्भवत' इत्युक्तम् । सिद्धान्तरहस्येपि 'सर्वेषां ब्रह्मता तव' इत्युक्तम् । 'सच्चिदानन्दता
स्वत' इति निरोधविवरणेषुक्तम् । एवं सति ये पूर्वं प्राकृता देवा इन्द्रियाधिष्ठाता-
रस्ते सच्चिदानन्दरूपाह्यात्मरूपे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावात्सकला जाताः । कला
रसात्मकप्रकृतविद्यारूपा नत्सहिता जाताः । गणितानन्दरूपमक्षरं ब्रह्म, 'क'प्रत्ययेन
ततोपि हसनोत्तिनुञ्जो जीवः स बृहज्जातस्तदपेक्षयापि महान् जातः । लभयत्र हेतुः
पूर्णानन्दो हरिरिति । यतः सर्वेषां सच्चिदानन्दत्वे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावात्सम्ब-
न्धिरसात्मका भावा उत्पद्यन्त इति तज्ज्ञानितप्रचुरार्तिशान्त्यर्थमन्तस्तच्चदिन्द्रियादिषु
तच्चत्स्वरूपः स्वयमेव भूत्वा सर्वेषु तेषु पूर्णस्वरूपानन्ददानेन दुःखं हरतीति तथोक्तम् ।
एवं सत्यक्षरात्मत्वेनाप्राकृतत्वे किं वाच्यम् । किन्तु तस्य समस्तसङ्घातः साक्षात्सात्मकली-
लारूपपूर्णानन्दभगवद्रूप एव भवतीति कुतस्तत्र दोषावकाश इतिभावः । तदेव 'श्रीमद्भो-

कुलजीवात्मा श्रीमद्गोकुलमानसमि'त्याद्युक्तम् । यत एवं भगवत एवार्थरूपत्वं तस्माच्चस्य तथैतत्सिद्धयै शरणमेव साधनमिति तन्निरूपयन्ति कृष्ण एवेति ॥ ८ ॥

एवमर्थरूपं निरूप्यैतादृशस्य प्रचुरार्तिशान्त्यर्थं बहिःप्रकटस्य कोटिकन्दर्पलाव-
ण्यसाक्षाद्भगवतः सद्गत्स्यैवापेक्षितत्वात्कामरूपत्वं निरूपयन्तः शरणं गार्थयन्ति विवेकेति ।

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्भम ॥ ९ ॥

अत्रेदमाकृतम् । पुष्टिमार्गीयभावाविर्भावानन्तरं विरहानुभवार्थं त्यागस्यावश्यक-
त्वात्पागानन्तरं पुनः क्रमेण मिथो गुणानुवादजनितप्रचुरभावानानुष्ठुञ्जितत्वात्तादृशस्य
देहमाणेन्द्रियान्तःकरणादीनि स्वरूपात्मकानि भवन्तीति पूर्वश्लोकद्वयेन निरूपितम् ।
एतावत्पर्यन्तं विरहानुभवे चक्षुरागादिनरानाशान्ताः सहावस्थाः संपन्नाः । अस्मि-
ञ्छ्लोके उन्मादाद्यवस्थाशयं निरूपयते । तथाहि-विवेकः, धैर्यं, भक्त्यादयस्तै रहितस्य ।
विवेकरहित्ये विकृतत्वं भवति यतो वैकल्ये विवेको न तिष्ठति । तद्योन्मादावस्थायां
भवतीति सा निरूपिता । धैर्यरहित्येनादर्निशं साक्षात्सद्भावजनप्रचुरार्तिजनितम-
स्वास्थ्यं तिष्ठति । ननु पूर्वं गुणगानेऽन्तः साक्षादनुभवस्योक्तत्वात्कथं धैर्याभावेनास्वास्थ्यं
तत्राहुः-भक्त्यादिरहितस्येति । गुणगानदशायां पूर्वपन्तःशक्ये साक्षाद्भक्ति-
रूपमुखारविन्दमुधास्वादात् । आदिपदेन साक्षाद्भोगः । साक्षाद्भोगस्याप्यनुभवात्स्वास्थ्यं
स्थितमिदानीं मलापावस्थाया फलप्रतिबन्धकत्वेन साक्षात्सुधादानतदुपयोगिवाचवाच-
करणादस्वास्थ्यमेव तिष्ठतीति तद्वर्हितस्येत्युक्तम् । तत्रापि पत्किञ्चित्स्वास्थ्येपि फलम-
तिबन्धकत्वेन विशेषतो रहितस्येत्युक्तम् । तथाचोक्तं संन्यासनिर्णये ' मगवान् फलरूप-
त्वात् 'सास्यप्राकार्यं न कर्तव्य'मित्यादि । एवमस्वास्थ्येपि स्वास्थ्यवाक्याद्यकारणे प्रचु-
रान्त्यां मूर्च्छाप्रपन्नति सा दशा निरूपिता । ततः पुनर्गाम्यदवस्थाया स्वरूपस्थितौ सद्भा-
भावेन स्यात्पुण्यकं गुणावलम्बितचित्तं पुनर्भवति तेन च पत्किञ्चित्स्वास्थ्ये तदेव फले
प्रतिबन्धकं भवतीति तस्य पापरूपत्वमिति तत्रासक्तस्येत्युक्तम् । अत एवोक्तं ' शनं
गुणाश्च तस्यैव वर्तमानस्य वापका ' इति संन्यासनिर्णये । ततः पुनः क्षणानन्तरं स्थितिरिव न
भवतीति दशम्यवस्था निरूपिता । एतत्सर्वं फलप्रकरणीयवृत्तीयाध्यायान्ते स्फुटीकृतम् ।
तत्र गुणगानानन्तरमनाविभावे मूर्च्छान्तावस्थानिरूपणपूर्वकं लीलापवेशमलापः स्वरूप-
स्थितौ गुणगानमिति निरूपितम् । अग्रे पुनरतिदंन्वे जाते 'रक्तुः सुस्वरं' 'तन्वः माग-
विवगत्'मित्यादिनामिषा सा सूचितेति सर्वगुणप्रज्ञम् । एतादृशस्य पुनः शीघ्रमाविर्भावार्थं
शरणमेव भावनीयमिति कृष्ण एव गतिर्भमेत्युक्तम् । एतदनन्तरं सर्वयाऽऽविर्भूय परमा-

नन्दं ददातीति ज्ञापनाय कृष्णपदं, शरणं निरूपितम् । तथाचोक्तं 'ब्रह्मा विष्णु रुद्रश्च भूत्वा पुनः कृष्ण एव जात' इति 'तासामाविरभूत्कृष्ण' इत्यस्याभासे ॥ ९ ॥

एवं दशवस्थाभिः पूर्णविपयोगानुभवे जाते प्रतिबन्धकदेहनिवृत्तौ तस्या-
लौकिकं रसात्मकं लीलोपयोगिदेहादिकं संपाद्य स्वयं साक्षात्प्रकटीभूय वहिः स्वरू-
पानन्दं ददातीति मोक्षरूपत्वं निरूपयन्ति सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवा-
खिलार्थकृदिति ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीबलभोवर्षीत् ॥ ११ ॥

सर्वं यावदलौकिकैर्धर्षवीयादिगुणानां कर्तृमकर्तृपन्थयाकर्तुं यत्सामर्थ्यं तत्स-
हितः सन् तं प्रति स्वरूपानन्दं दातुं स्थितो भवतीत्यर्थः । एतदेवोक्तं 'भगवानपि ता रात्री'-
रित्यत्र 'भगवत्पदेन स्वतन्त्रलिखने । ननु प्रभोः सर्वं संभवति परं तादृशेन प्रशुण्णा सह
साम्येन स्वरूपानुभवः कथं सुवचो जीवस्य वत्राहुः सर्वत्रैवाखिलार्थकृदिति । 'पुष्टिं काये-
ने'तिवाक्यात्तादृशं तं भक्तं साक्षात्सात्मकस्वचरणारविन्दमकरन्दरजसाऽलौकिकदेहादि-
सम्पत्तिपूर्वकं लीलासमाप्ते प्रकटीकृत्य सर्वत्रैव देहमाणेन्द्रिपादिष्वखिलार्थान् रसात्म-
कालौकिकवयोगुणादिरूपानलौकिकैर्धर्षगुणादिसामर्थ्यरूपान करोतीति तथोक्तमत
एवालौकिकसामर्थ्यं पुष्टिफलं निरूपितं सेवाफले । एतत्सर्वं यथार्थकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रम'
इत्यस्य विवरणे स्फुटीकृतं 'स्वसामर्थ्यादियोजने'त्यादि । एवं स्वरूपात्मकतां संपाद्य स्वरू-
पानन्दं ददातीति मोक्षरूपत्वं निरूपितम् । अत एव 'मोक्षः कृष्णस्य चेद्भुव'मित्युक्तम् ।
ननु मोक्षे आनन्दमग्नता तिष्ठति प्रकृतेः तथैव चेत्स्यात्तदा कथं लीलानुभव इत्याहुः शर-
णस्थसमुद्धारमिति । अत्र शरणपदं सर्वात्ममानपरम् । अलौकिकसृष्टिः सर्वैवाहम्भाव-
वत्येवेति शरणस्थस्य सर्वात्मभावस्यस्य-पूर्वोक्तभक्तवत्तल्लीलानन्दसमुद्रप्रश्रय-तत उद्धारं
करोतीति शेषः । अन्यथैकस्यां लीलायां मग्नस्य द्वितीया साननुभूतैव तिष्ठेत् । एतत्सर्वं 'यत्
एतद्विमुच्यत' इत्यत्र स्फुटीकृतम् । यदा, लीलानुभवदशापामपि तत्प्रभावादेव दैन्यमात्र
उत्पद्यत इत्यपि ज्ञापनाय शरणस्थेतिपदम् । अथवा, अतःपरं सर्वोदेन शरणस्या जाता
इति वा ज्ञापनार्थं शरणे स्थित्यर्थे उक्तः । तथासति शरणसमाप्तिर्ज्ञापिता । किञ्च, एवं पूर्ण-
स्वरूपानन्दानुभवानन्तरं श्रीमद्ब्रह्मवोपदिष्टज्ञानेन यादृशो निरोधः सिद्धस्तादृशो निरू-
पित इति ज्ञापनायोद्दारे सम्भवत्वमुक्तम् । एवं सति सदा फलरूपपूर्णनिरोधस्थित्यनन्दं

तस्य स्वस्मिन् साक्षात्पुरुषोत्तमाभिन्नत्वज्ञानं भवतीति मुक्तिलीला निरूपिता । तत्र आश्रयलीलां निरूपयन्ति कृष्णामिति । तं पुनः केवलशुद्धभावात्मकत्वेन सङ्घातस्य स्वरूपत्वाधारत्वेन स्वस्वरूपात्मकं वेवैलानुभवान(?)बालरूपात्मकं कृष्णं करोतीत्याश्रयलीला निरूपिता । कृष्णमित्यत्रापि करोतीतिक्रिया योज्या । अत एव 'ततो विप्रोचनं स्वाश्रयभाषणं प्रत्यापत्तिरित्युक्तं 'वर्हापीडे'तिश्लोकेकविवरणे । एवं सति निरोधलीलानन्तरं 'मुक्तिर्हित्वान्ययारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः' । 'मुक्तानामाश्रयः कृष्णः' इति स्फुटद्वयार्थरूपं मुक्त्याश्रयलीलाद्वयं निरूपितं पदद्वयेन । एतावदेवेप्सिततममितिपदद्वयस्य कर्मत्वेन निरूपणम् । पूर्वं सर्वसमर्थत्वेन स्वतन्त्रकर्ता प्रचुरिति प्रथमान्तपदं दत्तम् । अग्रे स्पष्टितत्वेन पदद्वयं द्वितीयान्तमुक्तं, तेन तादृशः प्रचुरेव स्पष्टितं करोतीतिक्रियाध्याहारेण कर्तृकर्मक्रियान्वयसम्बन्धोत्र ज्ञेयः । एवं ग्रन्थार्थोपि सम्यग्योजितो भवतीति सर्वमवदातम् । अतःपरं दशविधलीलानां पूर्णत्वादाश्रयाय सदा कृत इति कृष्ण एवेत्यभेणोक्तम् । अत्र कृष्णावतारलीलानां नित्यफलावधिस्वमुद्देशेन लक्षितमिति स्वरूपात्मकत्वेपि लीलानां नित्यत्वज्ञापनाय न कण्ठोक्त उपसंहारः कृत इतिभावः । एवं साधनफलस्वरूपविषेकेनाश्रयं निरूप्य तस्य लोभनिष्ठसुषुप्तैकफलत्वेन तस्याश्च भगवन्नोन्मैकभोग्यत्वाददेयतमत्वेन प्रभोर्निषेदनीयमिति तदग्रे कृत्वा निवेदयन्त आहुः विज्ञापयाम्यहमिति । किञ्चिदितिशेषः । किं तदित्याकाङ्क्षायामाहुः इदमिति । यदग्रे कृतं तद्विनये मे प्रत्यक्षतोद्गृह्या निर्दिष्टम् । किं ते तदपीति तत्राहुः स्तोत्रमिति । तर्हि सपीचीनं कृतं प्रीतोहं किमियद्विज्ञाप्यत इति चेत्त्राह कृष्णाश्रयमिति । कृष्ण आश्रयो यस्मिन्निति तत्स्वरूपनिवेदनं कृतम् । एतेनाश्रये कृते आश्रितपक्षपातस्य त्यक्तुमशक्यत्वाच्चन्निर्वन्धेनादेयतमपि पराकाष्ठापन्नं वस्तु तस्मै देयं भवतीति स्वकीयानामार्तिघ्नं भवति अतिविनयेन विज्ञापनमेवोचितमिति श्रीमदाचार्याणां हृदयमिति ज्ञापितम् । अत एव एवं विज्ञाप्य तत्पाठफलं निरूपयन्ति य इति । कृष्णस्य भावात्मकस्य सन्निधौ सति पुष्टिपार्गीयस्योद्भूतभावाङ्कुरस्य भावरूपत्वेनान्तस्तत्साञ्चिध्यं भवतीति तयोक्तम् । तत्साञ्चिध्यार्थं वा पठेत्तस्यैवाश्रयो भवेदिति । य इति मदतिरिक्तोन्योपि स्वीकृत इत्यर्थः । इदं त्वतिकारुण्यमत्यौदार्यं चरित आचार्याणाम् । नन्वेवं विज्ञापनेपि भगवता तन्नोरीकृतं चेत्तदा कथं फलसिद्धिस्तत्राहुः श्रीवल्लभोऽब्रवीदिति । इतीति पूर्वोक्तं विज्ञापनं श्रीवल्लभः साक्षात्प्रीतोऽब्रवीत् अङ्गीकृत्याज्ञप्तवानित्यर्थः । अथवा श्रीवल्लभः स्वयमेव श्रीरूपाणां स्वामिनीनां वल्लभः परमवात्सल्यास्पदीभूतः । अत एव

ताः स्वरहस्यं सर्वं कथयन्तीति तासां गुरुत्वं निरूपितं संन्यासनिर्णये । अतिथियाय गुरुः स्वरहस्यं कथयतीत्युक्तत्वात् । एवं सति तद्ब्रह्मत्वेन प्रभोरपि परमभेदास्पदीभूत इति तदुक्तं सर्वमङ्गीकृतं भगवदेति ज्ञापितम् । अत एव यतोङ्गीकृतमिति देवोरब्रवीदित्याह, फलमित्यर्थः । किञ्च तद्ब्रह्मत्वेन भगवदुक्ताङ्गीकारः स्वतः सिद्ध एवेति न घूनस्तदुक्तिः कथोक्ता । अनेन फले सर्वथापि निःसन्दिग्धत्वं निरूपितमिति सर्वमवदातम् ॥ १०-११ ॥

अतिमखिनतराशये पदीये किययपपूर्वतरोदयो विलासः ।
 निरुपथिकरुणैकविभ्रमोपि वितरणशीलविभोरतोद्भुतं नः ॥ १ ॥
 ब्रतवतो महती किल ते कृपा भद्रपराधगणा अपि तादृशाः ।
 उभयतौल्यविचारणया विभो विजयते तत्र सैव गरीयसी ॥ २ ॥
 अदेयदानैकपरान् महौदार्यगुणैः स्वके ।
 धीमदाचार्यनरणान् आश्रये करुणानिधीन् ॥ ३ ॥
 यणतालोकसंगतकरुणादृष्टिभिः क्षणात् ।
 संतापं हरति श्रीमद्विद्वलेषं तमाश्रये ॥ ४ ॥

इति श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रविचरणं समाप्तम् ।



समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-वीडश-ग्रन्थान्तर्गता-वशमी

चतुःश्लोकी

सप्तभिष्टीकाभिः समलंकृता

- | | |
|----------------------|--------------------------|
| १. श्रीवज्रराजानाम् | ५. श्रीकृष्णरायभट्टानाम् |
| २. श्रीवल्लभानाम् | ६. श्रीनाथभट्टानाम् |
| ३. केपाञ्चित् | ७. श्रीद्वारकेशानाम् |
| ४. श्रीमधुरानायानाम् | |

परिशिष्टम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-श्रीमद्-विठ्ठलेश-प्रभुवरण-विरचिता

श्रीचित्रासुरचतुःश्लोकी विवृतिः

उपाध्यायप्रभ-समलंकृता

१. श्रीहरिरायण! टिप्पणी
२. श्रीवल्लभाना टिप्पणी
३. श्रीपुरुषोत्तमाना प्रकाश.

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-वशावतस-नित्यश्लोका-

स्थित-गोस्वामि-श्री १००८ श्रीगोकुलनाथ-महाराज-

श्रीत्येतेषा-स्मृती-प्रकाशिता

प्रकाशक -

श्रीगोकुलनाथजी महाराजस्थापित मोठा मन्दिर ट्रस्ट,
वडा मन्दिर, श्रीजीवनजी महाराज लेन,
भुलेश्वर, बम्बई, ४००००२. भारत.

साधारणसंस्करण २,००० प्रति

राजसंस्करण १,००० प्रति

श्रीवल्लभाब्द ५०३

ग्रन्थ-परिचय लेखक : गोस्वामी इशाम मनोहर

मुद्रक :

स्टूडियो बहार, २३-ए, सेण्ट्रल चौपाटी बिल्डिंग, चोराटी,
बम्बई-४०० ००७.



गोस्वामी १००८ श्रीगोकुलनाथजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

चतुःश्लोकीका प्रणयन श्रीमहाप्रमुने वि. सं. १५८० या ८२ में कभी किया या ऐसी किंवदन्ती मिलती है ^१ यह ग्रन्थ किस भाग्यवान् भगवदीयके लिए लिखा गया यह तो पता नहीं चलता, किन्तु चौरासी वेद्वर्षोंकी वार्तिके अनुसार राना व्यास और मातवानदास सानोरा ने श्रीमहाप्रमुके मुखारविन्दसे इस ग्रन्थका अध्ययन किया था.

प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूप पुरुषार्थोंका कोई न कोई विशिष्ट स्वरूप स्वयम् स्थान होता ही है यह भिन्न बात है कि तत्तन्मार्गीय बीजभाव, रुचि, संघ या देशकालादिकी स्थिति के अनुरूप नस्त-मार्थीय जीवोंने पुरुषार्थ-सम्बन्धी धारणायें भिन्न-भिन्न पायी जाती है. पुष्टिमार्गीय जीवोंकी धर्मार्थकाममोक्ष-सम्बन्धी धारणाओंके आदर्श स्वरूपका विचार इस चतुःश्लोकीमें किया गया है.

स्वमार्गीय धर्मार्थकाममोक्षसे निश्च प्रकारके पुरुषार्थोंके फेरमें जब कोई पद जाता है तो विकल्पा, निराशा, कुण्ठा, भीम एवम् आत्मावाली भावनाओं की ओर ही वह अपसर हो जाता है. इस अन्तमें सभी तरहके जीव हैं और सभीको सभी तरहके सग भी मिल जाते हैं. इन आकस्मिक सर्गोंके कारण कभी-कभी हमारे भीतर एक ऐसी अस्वाभाविक अहंता-ममता पनप जाती है जो अस्वमार्गीय धर्मार्थकाममोक्षके प्रकारोंकी ओर हमें आकृष्ट करती है.

गोयराके राना व्यासकी भी प्रारम्भमें एक वैरागी बाबाकी सगति मिली थी. उस वैरागी बाबाकी तीर्थयात्राकी बातोंको सुनकर राना व्यासकी लगा कि जीवनका वास्तविक सुख तीर्थोंकी यात्रा करते रहनेमें ही होगा चाहिये अतः अपने माता-पिताकी कुछ कहे-सुने बिना एक रात में चले निकल गये. इनका मन परन्तु किसी भी तीर्थके दर्शनसे प्रसन्न न हो पाया. प्रारम्भसे ही इन्हें विद्याभिमान और जितेन्द्रिय होनेका अभिमान तो था ही सो माता-पिताके वेदान्तके बाद इन्हें पांच दस हजार रुपये और उत्तरा-विश्वामि में मिले कलत इन्हें घनाभिमान भी हो गया ! कुछ मिला कर वे अपने-आपको पहुँचा हुआ सिद्ध और उच्च कोटीका विद्वान् मानने लग गये. शनै-शनै अपने शत्रुके लोग तो इन्हें गदारू ही लगने लगे सो काशीके विद्वानोंके टकराये लेनेकी खालसा इनके दिलमें जगो ओर एक दिन वे काशी पहुँच गये वहाँ जानेके बाद किन्तु सब कुछ उलटा हो हुआ, जिन-जिन पण्डितोंसे वे टकराये उन सभीसे इन्हें शास्त्रार्थमें पराजित होता पड़ा !

इससे य अत्यधिक लज्जित होकर गगामे कूदकर प्राणत्याग करना चाहते थे यह आत्मघात भी दिनके उजालेमें करनेमें इन्हे सकोचका अनुभव हो रहा था सो गगानटपर बैठ रात्रीवे एकांत और अन्धकार की प्रतीक्षा कर रहे थे। तभी श्रीमहा-प्रभुका भी वहा पचाराता हुआ सयागवश किमी वैष्णवने श्रीमहाप्रभुसे प्रश्न किया कि गगाम डूबकर मरनेवालकी क्या गति होती है इसपर श्रीमहाप्रभुने उत्तर दिया कि अहंकारवश लड लगडकर डूबनेवालेको सर्पयोनि मिलती है और आत्मघातका पाप भी लगता है दोनभावसे किन्तु मन्व्याम लेकर और अपने मनको भगवान्में एकाग्र बनाकर जो गगाम प्राणत्याग करत हैं उनकी दुर्गति नहीं होती

ये बात सीधो जाकर राना व्यासको लग गयी और वे दौडकर श्रीमहाप्रभुके चरणो म आकर गिर पड अपनी आत्मगाथा सुनाकर श्रीमहाप्रभुकी शरणयाचना करने लगे श्रीमहाप्रभुने गगान्तान करनेका आदेश दिया और बादमें ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षा दी सुरत ही श्रीमहाप्रभुने इन्ह चतु श्लोकीका उपदेश भी दिया था ये सम्प्रदायके अन्ध विद्वान् हुए श्रीमहाप्रभुकिरचित अन्य भी अणुनाष्ट्य मुबोधिनी आदि ग्रन्थोकी इनके द्वारा हस्त-लिखित प्रतिया अद्यापि उपलब्ध होती हैं

इम चतु श्लोकीय अध्ययनसे राना व्यासको अपने वास्तविक धर्म अर्थ काम एवम् मोक्ष रूप पुरुषार्थोका ज्ञान हुआ और वे मिथ्या वैराग्य धन तथा विद्वताके अहंकारसे मुक्त हुए साथ ही साथ इस अहंकारकी विफलतासे पैदा हुई कुष्ठा एवम् आत्मघात की भा क्षुद्र भावनाओपर नाबू पा सक य एक आदर्श भगवदीयका सा भगवत्सेवा तथा भगवत्स्मरण परगयण पुष्टिमार्गीय जीवन जीनेके लिए सक्षम हो पाये

पुष्टिमार्गीय भक्ति निष्काम-निष्पाधिक होती है स्वयम् भगवदनुग्रह ही पुष्टि-जीवक हृदयम भवितका रूप धारण कर लता है भगवदनुग्रह जीवकृत साधनोपर निर्भर नहीं होता वह नो निहेंपुक ही प्रकट होता है जिस जीवमें वह बीजभावके रूपमें विद्यमान होता है उस जीवमें वह प्रम आसक्ति व्यसन और अलौकिकसामर्थ्य के रूपम अकुरित पन्लबिन पुष्पिन और फलित होनेकी विभिन्न अवस्थाआमे 'पुष्टिभक्ति' शब्दसे पुकारा जाता है भगवदनुग्रहको ही अत दिसामदसे 'पुष्टि' और 'पुष्टिभक्ति' कहा जाता है अनुग्रह जब भगवान्म मक्तकी दिशामे अग्रसर होता है तो उसे हम 'पुष्टि' कहते हैं और जब जीवक हृदयस परावृत्त होकर पुन भगवान्की दिशामे अग्रसर होता है तो उसे हम 'पुष्टिभक्ति' कहते हैं निष्कारण ही भगवान् जब किसी जीवपर अपनी कृपा या पुष्टि की वर्षा करते हैं और वह कृपावृष्टि हृदयके छोटेसे प्रदेशम समा नहीं सकती तब उच्छलित होकर पुष्टिभक्तिही सरिताक रूपमें बहने लग जानी है! उसी कृपासागर परमात्माकी ओर जहासे उठकर कृपाक मेष जीवपर बरसे थे!।

अत जैसे अनुग्रहके पूर्व न कोई कारण है और न अनुग्रहके परचात् कोई प्रयो-जन ही, वैसे ही न पुष्टिभक्तिगे पूर्व कोई कारण है और न पुष्टिभक्तिके परचात् कोई

प्रयोजन ही केवल अनुग्रह ही भक्तके हृदयसे परावृत्त होनेपर पुष्टिभक्ति बन जाता है
(अत स्नेह पदार्थान्तरम् स भगवत्प्रिय एव भगवद्विषयको ज्ञानवद्वैतमवस्था
भगवत्सम्बन्धात्त्रैकतयादन्वयात् भासते उष्णस्पर्शान्तु यथा यथा भगवत्प्रकटय तथा
तथा स्नेहातिशय सुबो १-१९-१६)

स्वभावतः प्रवाहमार्गीय ऐहिक पुरुषार्थं अर्थं कामकी सिद्धिकी कामना अथवा मर्या-
दामार्गीय धर्मार्थकाममोक्षरूप पुरुषार्थोंकी सिद्धिकी कामना पुष्टिमार्गीय जीवके हृदयमें
चिरस्थायी नहीं हो सकती ऐसे पुष्टिभक्तोंके पुरुषार्थं धर्म अर्थं काम या मोक्ष का स्वरूप
अन्वमार्गीय पुरुषार्थोंसे विलक्षण होना स्वाभाविक ही है श्रीमहाप्रभुने इस षतु-
श्लोकीमें पुष्टिगतिमार्गीय पुरुषार्थोंका विलक्षण रूप हमें समझाया है षतु श्लोकी
श्रुत्यके य चारो श्लोक भगवतको वृत्तासुरचतु श्लोकीके साथ पठित्वा साध्यं रचते हैं
वृत्तासुरचतु श्लोकीके भीचार श्लोकोमें इन्ही पुष्टिमार्गीय चार पुरुषार्थोंका स्वरूप
अभिव्यक्त हुआ है प्रारम्भके तीन श्लोकोपर श्रीप्रभुचरणकी विवृति उपलब्ध होती
है तथा अन्तिम श्लोकपर श्रीमहाप्रभुविरचित विवृति उपलब्ध होती है इस अन्तिम
श्लोककी विवृतिके प्रारम्भमें श्रीमहाप्रभुने एक सप्रहृदलोक दिया है—

पुष्टिमार्गं हरेर्दास्य धर्मोर्ध्वं हरिरेव हि ।

कामो हरिदिदृक्षेव मोक्षो कृष्णस्य चेद् ध्रुवम् ॥

अर्थ श्रीहरिका दास होना ही पुष्टिमार्गीय धर्म है पुष्टिभक्तोंके अर्थ स्वयमेव
श्रीहरि हैं श्रीहरिके दर्शनकी कामना ही पुष्टिमार्गीय काम है तथा सर्वात्मना श्रीकृष्णका
बन जाना ही पुष्टिभक्तका मोक्ष है

इसी सूत्रका भाष्य वृत्तासुरचतु श्लोकीमें तथा इस श्रीमहाप्रभुविरचित षतु श्लोकीमें
भी हम पाते हैं

पुष्टिमार्गं भगवान्के साथ जीवका सम्बन्ध रसात्मक हाता है रसमीमांसक
रति-स्नेहके सयोग एवम् वियोग दो पक्ष माने गये हैं अतः भक्तिमागम भगवान्की
अनुभूति जब सयोग अथवा वियोग में से किसी एकतरकी होती है तो वह अपूर्ण अनु-
भूति मानी जाती है अतएव इसे भक्तकी साधनावस्था भी मानते हैं रस द्विदलात्मक
है अतः सयोग और वियोग दोनोंमें जब भगवान्की अनुभूति होने लग जाय तो फला-
वस्था मानी जाती है तदनुसार धर्म और काम की सिद्धि साधनावस्थाका परिपाक
है, और अर्थ तथा मोक्ष की सिद्धि फलावस्था है क्योंकि धर्ममें—ब्रजाधिपके भजनमें
केवल सयोगका अनुभव होता है तथा काममें—हरिदर्शनकामनामें केवल वियोगका
अनुभव होता है जबकि अर्थ—भगवान्का रसात्मक स्वरूप तो द्विदलात्मक ही है अतः
मोक्ष—भगवद्भजनमें सयोगानुभूति और भगवत्स्मरणमें वियोगानुभूति जब निरन्तर
या क्रमशः होने लग जायें तो भगवान्की रसात्मिका अनुभूति अपनी पूर्णतापर पहुँच
जाती है पुष्टिभक्तको उसका मोक्ष मिल जाता है

इसमे य अत्यधिक लज्जित होकर गगामे कूदकर प्राणत्याग करना चाहते थे यह आत्मघात भी दिनके उजालेमे करनेमें इन्हें सकोचका अनुभव हो रहा था सो गगानटपर बैठ रात्रीवे एकान्त और अन्धकार की प्रतीक्षा कर रहे थे। तभी श्रीमहा-प्रभुका भी वहा पधारना हुआ सयोगवश किसी वंशवने श्रीमहाप्रभुसे प्रश्न किया कि गगामे डूबकर मरनेवालेकी क्या गति होनी है इसपर श्रीमहाप्रभुने उत्तर दिया कि अहंकारवश लड झगडकर डूबनेवालेको सर्पयोनि मिलती है और आत्मघातका पाप भी लगता है दोनभावमे किन्तु सन्यास लेकर और अपने मनको भगवान्मे एकाग्र बनाकर जो गगामे प्राणत्याग करते हैं उनकी दुर्गति नही होती

य बात सीधो जाकर राना व्यासको लग गयी और वे दौडकर श्रीमहाप्रभुके चरणों मे आकर गिर पड़े अपनी आत्मगाथा सुनाकर श्रीमहाप्रभुकी शरणयाचना करने लगे श्रीमहाप्रभुने गगाम्यान करनेका आदेश दिया और बादमें ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षा दी बुरत ही श्रीमहाप्रभुने इन्हें चतु श्लोकीका उपदेश भी दिया था ये सम्प्रदायके अच्छे विद्वान् हुए श्रीमहाप्रभुविरचित अन्य भी अणुभाष्य सुबोधिनी आदि ग्रन्थोंकी इनके द्वारा हस्त-लिखित प्रतिया अद्यापि उपलब्ध होती हैं

इस चतु श्लोकीने अध्ययनसे राना व्यासको अपने वास्तविक धर्म अर्थ काम एवम् मोक्ष रूप पुरूषार्थोंका ज्ञान हुआ और वे मिथ्या वैराग्य धन तथा विद्वत्ताके अहंकारसे मुक्त हुए साथ ही साथ इस अहंकारकी विकलतामे पैदा हुई कुण्ठा एवम् आत्मघात की भा क्षुद्र भावनाओपर वायू पा सक य एक आदर्श भगवदीयका सा भगदत्सेवा तथा भगवत्स्मरण परायण पुष्टिमार्गीय जीवन जीनेके लिए सक्षम हो पाये

पुष्टिमार्गीय भक्ति निष्काम-निष्काङ्क्षिक होती है स्वयम् भगवदनुग्रह ही पुष्टि-जीवन हृदयमें भक्तिरत्ना रूप धारण कर लेता है भगवदनुग्रह जीवकृत साधनोपर निर्भर नही होता वह तो निहंतुक ही प्रकट होता है जित जीवमें वह जीवभावके रूपमे विद्यमान होगा है उस जीवमे वह प्रेम आसक्ति व्यसन और अलौकिकसामर्थ्य के रूपमे अकुरित पल्लवित पुष्पित और फलित होनेकी विभिन्न अवस्थाओमे 'पुष्टिमक्ति' शब्दमे पुकारा जाता है भगवदनुग्रहको ही अत दिशाभदमे 'पुष्टि' और 'पुष्टिमक्ति' कहा जाता है अनुग्रह जब भगवान्से भक्तकी दिशामे अपसर होता है तो उसे हम 'पुष्टि' कहते हैं और जब जीवकृत हृदयसे परायत्त होकर पुन भगवान्की दिशामे अपसर होता है तो उसे हम 'पुष्टिमक्ति' कहते हैं निष्कारण ही भगवान् जब किसी जीवपर अपनी कृपा या पुष्टि की वर्षा करते हैं और वह कृपावृष्टि हृदयके छोटसे प्रदे-शमे समा नही सकती तब उच्छलित होकर पुष्टिमक्तिकी सरिताके रूपमे बहने लग जाती है। उसी कृपासागरपरमारमात्री और जहामे उठकर कृपाके मेघ जीवपर बरसे थे।

अन जैसे अनुग्रहके पूर्व न कोई कारण है और न अनुग्रहके पश्चात् कोई प्रयो-जन ही, वैसे ही न पुष्टिमक्तिमे पूर्व कोई कारण है और न पुष्टिमक्तिके पश्चात् कोई

प्रयोजन ही केवल अनुग्रह ही भक्तके हृदयसे परावृत्त होनेपर पुष्टिभक्ति बन जाता है
 (अत स्नेह पदार्थान्तरम् त भगवन्निष्ठ एव भगवद्भिषयको ज्ञानवदश्वयंयदा
 भगवत्सम्बन्धात्तत्रैकतयादन्वत्राभि भासते उष्णस्पर्शवत् यथा यथा भगवद्भैकतय तथा
 तथा स्नेहातिशय. सुबो १-१९-१६)

स्वभावतः प्रवाहमार्गीय ऐहिक पुरपायं अर्थ-कामकी सिद्धिकी कामना अथवा मर्या-
 दामार्गीय धर्मार्थकाममोक्षरूप पुरुषार्थकी सिद्धिकी कामना पुष्टिमार्गीय जीवके हृदयमें
 निरस्थायी नहीं हो सकती ऐसे पुष्टिभक्तोंके पुरुषार्थ धर्म अर्थ काम या मोक्ष का स्वरूप
 अर्थमार्गीय पुरुषार्थसे विलक्षण होना स्वाभाविक ही है श्रीमहाप्रभुने इस चतु-
 श्लोकीमें पुष्टिभक्तिमार्गीय पुरुषार्थका विलक्षण रूप हमें समझाया है चतु श्लोकी
 ग्रन्थके ये चारो श्लोक भगवतकी वृत्तामुरचतु श्लोकीके साथ घनिष्ठ साम्य रखते हैं
 वृत्तामुरचतु श्लोकीके भीचार श्लोकीमें इन्ही पुष्टिमार्गीय चार पुरुषार्थका स्वरूप
 अभिव्यक्त हुआ है प्रारम्भके तीन श्लोकोपर श्रीप्रभुचरणकी विवृति उपलब्ध होती
 है तथा अन्तिम श्लोकपर श्रीमहाप्रभुविरचित विवृति उपलब्ध होती है इस अन्तिम
 श्लोककी विवृतिने प्रारम्भमें श्रीमहाप्रभुने एक सप्रहश्लोक दिया है—

पुष्टिमार्गे हरेदास्य धर्मोर्था हरिरेव हि ।

कामो हरिदिदृशैव मोक्षो कृष्णस्य चेद् ध्रुवम् ॥

अर्थ श्रीहरिका दास होना ही पुष्टिमार्गीय धर्म है पुष्टिभक्तोंके अर्थ स्वयमेव
 श्रीहरि हैं श्रीहरिके दर्शनकी कामना ही पुष्टिमार्गीय काम है तथा सर्वोत्तमा श्रीकृष्णका
 बन जाना ही पुष्टिभक्तका मोक्ष है

इसी सूत्रका भाष्य वृत्तामुरचतु श्लोकीमें तथा इस श्रीमहाप्रभुविरचित चतु श्लोकीम
 भी हम पाते हैं

पुष्टिमार्गमें भगवान्के साथ जीवका सम्बन्ध रसात्मक होता है रसमीमासांम
 रति-स्नेहके सयोग एवम् वियोग दो पक्ष माने गये हैं अत भक्तिमार्गमें भगवान्की
 अनुभूति जब सयोग अथवा वियोग में से किसी एकतरकी हाती है तो वह अपूर्ण अनु-
 भूति मानी जाती है अतएव इसे भक्तकी साधनावस्था भी मानते हैं रस द्विद्वयत्वक
 है अत सयोग और वियोग दोनोंमें जब भगवान्की अनुभूति होने लग जाये तो फल-
 वस्था मानी जाती है तदनुसार धर्म और काम की सिद्धि साधनावस्थाका परिणाम
 है, और अर्थ तथा मोक्ष की सिद्धि फलवस्था है क्योंकि धर्मम—रनाधिपत्त मरदन
 केवल सयोगका अनुभव होता है तथा कामम—हरिदानकामनाम केवल वियोगका
 अनुभव होता है जबकि अर्थ—भगवान्का रसात्मक स्वरूप ता द्विद्वयत्वक ही है, अत
 मोक्ष—भगवद्भक्तमें सयोगानुभूति और भगवत्स्मरणमें वियोगानुभूति तब निर-
 या कर्मण होने लग जाये तो भगवत्की रनात्मिका अनुभूति अर्थात् पुष्टिमार्गीय
 जाती है पुष्टिभक्तकी उसका मोक्ष मिल जाता है

पुष्टिभक्तका धर्म

पुष्टिमार्गमें ब्रजाधिप ही भजनीय है क्योंकि गीता तथा भागवत के अनुसार श्रीकृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म परमानन्द रूप हैं अव्यय अप्रमेय निर्गुण गुणात्मा परब्रह्म परमात्मा व्यापिवंकुष्ठनायक भगवान् जब अपनी पूर्णताकी लिये हुए ब्रजमें अपनी नित्यलीला प्रकट करते हैं तो उन्हें 'श्रीकृष्ण' कहा जाता है जीव चाहे मुमाधन हों या नि साधन अथवा दुष्टसाधन, सभी जीवोंके नि श्रेयस्के लिए श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं यही उनके प्राकट्यका परम प्रयोजन है जीवोंके साधनत्वकी परवाह किये बिना अपन स्वरूप अथवा स्वरूपानन्द क बलपर जीवोंके उद्धारक होनेसे श्रीकृष्णको 'सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा' कहा जाता है

श्रीकृष्ण सभी जीवात्माओंके असी होनेके कारण सहज स्वामी हैं. शुद्धार्द्रत-ब्रह्मवादके दृष्टिकोणमें आध्यात्मिक रूपमें सभी जीवात्मय अथा होनेके कारण श्रीकृष्णकी सहज दास हैं परन्तु लीलाधर्म किन्हीं जीवोंपर श्रीकृष्ण अपनी सहज कृपा प्रकट करते हैं, तब आधिभौतिक रूपमें इन भूतलपर और आधिदैविक रूपमें व्यापिवंकुष्ठम भी ऐसे जीवोंको अपनी स्वरूपसेवाका अवसर प्रदान करते हैं ऐसे जीवोंको पुष्टिजीव समझना चाहिये यह सेवाका अवसर जीवात्मा और परमात्मा के बीच किन्हीं भी भावोंके रसात्मक सम्बन्धों द्वारा स्थापित हो सकता है यथा सेवक, पुत्र, माता पिता, सखा, या प्रियतमा आदि रूपमें जीवात्मा और परमात्मा के बीच जब कोई सम्बन्ध स्थापित हो जाये, आधिभौतिक जगतमें या आधिदैविक नित्य लीलाधर्म, तो भगवान्का वह स्वरूप और वह लीला पुष्टिस्वरूप और पुष्टिलीला कहलाती है अखिल ब्रह्माण्डके नाथका गोकुलनाथ बनना पुष्टिलीला है ।

श्रीकृष्ण कभी इस तरह प्रकट होते हैं कि सभी जीव उनका दर्शन कर पायें और कभी इस तरह प्रकट होते हैं कि कोई भक्तविशय ही उनके दर्शन कर पाता है. अपने बोना प्रकारके प्रकटरूपमें भक्तके अधिकार या मनोरथों के अनुरूप श्रीकृष्ण व्यापिवंकुष्ठ अथवा ब्रज की लीलाओंको प्रकट कर सकते हैं अतएव भक्तने भावोंके अनुरूप स्वयम्को डाल पानेकी कमौटीपर ब्रजलीलाविहारी ब्रजाधिप श्रीकृष्ण भक्तोंके लिए पूर्णतम परमानन्द-स्वरूप सिद्ध होने हैं मथुराके या द्वारकाके श्रीकृष्णके पूर्णतर या पूर्ण परमानन्द-स्वरूप होनेपर भी अतएव ब्रजभवतोके लिए एवम् ब्रजभवतोकी भावनाके अनुसार भक्ति करनेवाले भक्तोंके लिए ब्रजाधिप श्रीकृष्ण ही समग्र पुष्टि-फलाके दाता तथा पुष्टिफलरूप भी हैं — 'अनन्यगोकुलस्वामी फलदाता फलात्मक'

ब्रजाधिपका यह भजन कैसे और किस भावमें करना चाहिये ? श्रीमहाप्रभु उत्तर देते हैं—'सर्वभावसे' "त्वमेव तवै मम देवदेव ।" — मेरे माता पिता बन्धु मित्र पुत्र धन विद्या सभी कुछ भगवान् ही हैं, ऐसे भावके साथ भजन करना चाहिये केवल मथुराभावसे भी भजन किया जा सकता है.

श्रीकृष्ण जब परमात्मा, स्वामी, पुत्र, सखा या प्रियतम जैसे रूप धारण कर हमारे भावोंके आलम्बन (विभाव) बनते हैं तो तदनु रूप श्रीकृष्णके प्रति पनपे हमारे स्थायी भाव भी भगवदात्मक ही होते हैं। श्रीकृष्णके जिस रूपसे हम स्नेह करते हैं वह वाह्य रूप और हमारे हृदयके भीतर रहा स्नेह दोनों ही आधिदैविक अलौकिक परमानन्द रूप होते हैं। लौकिक आधिभौतिक या मायिक नहीं भवतीके भाव और भावोंके आलम्बन दोनों ही श्रीकृष्ण होते हैं। भावके आलम्बनके रूपमें भगवान् रत्नभोक्ता है तथा रसभावके रूपमें भगवान्को भोग्य भी माना जाता है। कभी-कभी भक्तपरवेश होकर भगवान् आलम्बनके रूपमें भी भोग्यभाव प्रकट करते हैं। इसे 'गूढ़ स्त्रीभाव' कहा जाता है। भोक्तृभाव 'पुम्भाव' कहलाना है और भोग्यभाव 'स्त्रीभाव' भोक्तामें जब रसावेशमें भोग्यभाव प्रकट हो जाये तो उसे 'गूढ़ स्त्रीभाव' कहते हैं और भोग्यमें भोक्तृभाव प्रकट हो जाये तो उसे 'गूढ़ पुम्भाव' कहते हैं। उदाहरणतया प्रत्येक गुरुमें छिपा हुआ एक विद्यार्थी होता है और इसी तरह विद्यार्थीमें एक छिपा हुआ गुरु भी होता है। अध्ययन-अध्यापनकी दुर्लभ तन्मयतामें गुरुका गूढ़ विद्याधिभाव कभी प्रकट होता है इसी तरह विद्यार्थीका गूढ़ गुरुभाव भी! इन गूढ़ भावोंका प्रावट्य पुष्टिकी पराकाष्ठा है, सभी प्रकारके—स्वामि-मेवका, पुत्र-माता-पिता, सखा-सखा या प्रिया-प्रियतम—सम्बन्धोंमें भक्त और भगवान् में इन गूढ़ भावोंको प्रकट करनेके मनोरूपसे भी भगवान् भजनीय हैं।

जिन भक्तोंमें ऐसा गूढ़भाव प्रकट हुआ अथवा जिन भक्तोंके लिए भगवान्ने स्वयम्में ऐसे गूढ़भाव प्रकट किये ऐसे भक्तोंके प्रति दैवभाव रखने हुए भजन करना चाहिये— "अहं हरेस्तव पादेषु मूलदासानुदामो भवितामि" हमारे हृदयमें जबतक कोई एक निश्चित भाव स्थिर नहीं हो जाता तबतक विविध भावोंकी भावना करने में अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है। प्रारम्भमें अथवा भगवत्प्रेषा व्रजभक्तोंकी भावनाके अनुसरणपर — व्रजभक्तोंकी अपना गुरु मानकर करनी चाहिये। माननावस्थामें हमारी भक्तिको भावनाक माध्यममें व्रजभक्तोंके भावोंकर पढ़वानी पड़ेगी। किन्ती निश्चित दिगामें बहती एक नदीके समान भावना होनी है, जो भावके रूपमें मानकर बन जाती है। मानकर बहना नहीं केवल लहराना है! अतः व्रजभक्तोंके भावोंकी भावना, माहात्म्यमान जलिन दैव्य और आत्मा-व्रज तथा परमात्मा-असी के गूढ़ विद्याधिभ स्नेह के साथ प्रारम्भमें कृष्णप्रेषा करनी चाहिये। मेवाके इस प्रकारकी ही भावदीक्षा प्रह्लादम्बन्धनके समय दी जाती है। जन्मनिवेदनके समय अहन्ता और समता में जुड़े सभी पदार्थों और सम्बन्धोंकी श्रेय मादात्की समर्पित करना होता है। इस समर्पणके भावमें भी भगवद्-भजनमें द्रव्य हीन पाहिये। यो 'सर्वभावेन' में सभी भाव विरहित है।

किन्ती वाचविशयमें एक बड़ेकागरी तरह भजनका अनुष्ठान श्रेय ही अहन्ता है। एक श्रौतनप्रणालीके रूपमें सर्वदा-निश्चय पर प्रतीति के वाचन विनियमों के विन-

भगवत्सेवामें तत्पर रहना चाहिये भगवद्-भक्तकी सभी क्रियायें— सोने-जवने कमाने-खाने या स्नेह-उपेक्षा आदिकी—उसके द्वारा की जाती भगवत्सेवाकी अंग ही बन जाती हैं

“पुष्टिभक्तके लिए ब्रजाधिप श्रीकृष्ण ही भजनीय है” यह कथन भजन करनेकी आज्ञा या विधि नहीं है, क्योंकि किसी, आदेशकी अवहेलनाने कारण जो दण्ड मिल सकता है उस दण्डका भय न हो तो फिर आदेश-पालन आवश्यक नहीं रह जाता। श्रीमहाप्रभु अतएव आदेश नहीं दे रहे हैं किन्तु भगवान्के भजनकी आवश्यकता हमें समझा रहे हैं पुष्टिप्रभुकी सेवा न करनेवाला पुष्टिजीव अपनी सहज आवश्यकताओंसे वञ्चित रह जाता है जैसे कोई दिगु अपनी माके दूधके बिना दुर्बल हो जाये, या जैसे कोई श्राणी प्राणवायुके न मिलनेपर बचैन हो जाये, या जैसे कोई बीमार औषधीके बिना स्वस्थ न होने पाये, अथवा जैसे कोई खडी फसल बरसात न पड़नेके कारण सूख जाये। ऐसे ही जिस पुष्टिजीवमें जिस समय या जिस जन्ममें कृप्यसेवा नहीं निभानी वह समय और जीवन उसका व्यर्थ नला जाता है, उसके स्वरूपका कोई प्रयोजन या अस्तित्वका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। पुष्टिजीवसे ब्रजाधिपकी सेवा न निभाना नैतिक अपराध नहीं किन्तु अस्तित्वकी निरर्थकता है, इस अर्थमें ब्रजाधिपका भजन पुष्टिजीवोका प्रथम एवम् चरम सनातन धर्म है—उसके अस्तित्वका निगूढ तात्पर्य।

अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि सभी देश-कालमें पुष्टिजीवका तो यहो कर्तव्य है—यही धर्म है किसी भी देशकालमें इसके अलावा अन्य कोई धर्म पुष्टिजीवका हो नहीं सकता

कृष्णसेवाके विवा अन्य सारे धर्म पुष्टिजीवके सहज-स्वाभाविक धर्म नहीं होने, किन्तु औपाधिक-आकास्मिक धर्म ही होने हैं अविद्याके यन्त्रके कारण आरोपित अहन्ता-ममताके कारण अन्य धर्म हमारे लिए कर्तव्य बन जाते हैं उदाहरणतया स्त्री पुरुष ब्राह्मण शूद्र या गृहस्थ-मन्यामी आदिके धर्म तत्तद् देह, वर्ण या आश्रम के अभिमानोंके कारण हमारे लिए अनिवार्य धर्म बन जाते हैं मैं स्त्री हूँ या पुरुष हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ या मैं शूद्र हूँ, मैं गृहस्थ हूँ या मैं सन्यासी हूँ इत्यादि रूपोंमें हमारी आरोपित अहन्ताके कारण तत्तद् देहाचित यर्णाचित या आश्रमोचित कर्तव्य हमारे लिए धर्म बन जाते हैं इसी तरह माता पिता और मन्त्रि, भाई-बहन, गुरु शिष्य, मालिक-नौकर, समाज-व्यक्ति, राष्ट्र-नागरिक अथवा प्राणि-मनुष्य के धर्मताजन्य सम्बन्धोंके कारण उनके प्रति तत्तद् कर्तव्योंका निर्वाह हमारा नैतिक उत्तरदायित्व बन जाता है

हम देख सकते हैं कि अहन्ता-ममताके द्वारा आरोपित सारे कर्तव्य देहाभिमान-मूलक हैं जबकि भगवत्सेवाका कर्तव्य होना आत्माके वास्तविक स्वरूप-बोधपर अवलम्बित है अतएव अन्य सारे कर्तव्य देश काल-द्रव्य मन्त्र कर्म-कर्ताकी शुद्धिकी अपेक्षा

रखते हैं, जबकि भगवत्सेवा तो केवल भावसापेक्ष है पुष्टिभारगोय जीवोंके लिए धर्मरूप स्वयम् भगवान् या भगवत्सेवा ही है भावात्मक प्रमेयरूप भगवान्को जाननेका उपाय या प्रमाण भावात्मिका सेवा ही है अतएव भक्तारत्न वृत्तामुर कहता है—

हरि! मुझे मोक्ष नहीं चाहिये किन्तु अपना दास मुझे बनाओ मोक्षमे तो जानसे त्रिविध दुःख दूर हो जाते हैं परन्तु मेरे तो दुःख स्वयम् आप हरते हो तो ही दूर होने चाहिये, लौकिक अहम्के बंधनोसे मुक्त होनेवाले ज्ञानियोका 'सोहम्'वाला अहम् मुझे नहीं गुहाता है, मेरे भीतर 'दासोहम्' का भक्तिमय अहम् कभी मिटे नहीं ऐसा कुछ कर दो यदि मैं आपके दास बननेका अधिकारी न होऊ तो मुझे आपने दासोका दास बनाओ, मेरा मन, मेरे प्राणनाथ! तुम्हारे गुणोको गुनता रहे—मेरी वाणी तेरे गुणोको गाती रहे—मेरी वाचा सर्वदा तेरी सेवा करती रहे ऐसी आशिष मुझे दो.

पुष्टिभक्तका अर्थ

पुष्टिभक्तके अर्थ पुरुषार्थरूप स्वयम् भगवान् ही हैं श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि पुष्टिजीवोंके लिए यह आवश्यक हैकि वह स्वधर्म भगवत्सेवाको सदा निभाये चला जाये (एय नदा स्म कर्तव्यम्) इस वृष्णमेवाके लिए न तो किसी ऐहिक अर्थोपार्जनके आधिभौतिक व्यापारमे उलझनेकी आवश्यकता है और न किसी पारलौकिक अर्थोपार्जनके लिए अन्यायप्रवाली आधिदैविक भूतकवृत्तिमे ही उलझनेकी आवश्यकता है भगवान् तो अन्यायप्रय अथवा प्राधेना की अपेक्षा रखे बिना भक्तिके हितमे अपेक्षित ऐहिक-पारलौकिक योगक्षमका ओर स्वयम् अपने स्वरूपानन्दका दान भी स्वयमेव करेगे. एतदर्थं उन्हें किमी लौकिक-पारलौकिक साधनोकी या अर्थोकी अपेक्षा नहीं है भगवान् भावात्मक है अत छोला ओर छपनभोग, जो भी भावसे निवेदित किया जाये, समान रचिते स्वयमेव अंगीकार करेंगे अत लौकिक अर्थ धन-सम्पत्तिपर यह भगवत्सेवा निर्भर नहीं है

पुष्टिमे कहा गया है— "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेघपा न बहूना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्य तस्यैष आत्मा विपुणुते तनु स्वाम्" अर्थ : यह परमात्मा प्रवचन मेघा या बहुश्रुततासे प्राप्त नहीं होता किन्तु अपनी प्राप्तिके लिए यह जिस जीवात्माको चुन लेता है उसे ही मिलता है— उनके ही यमका यह परमात्मा अपना स्वरूप प्रकट करता है अत इस परमात्मस्वरूप अर्थवा उपार्जन हमारे माधन या व्यापार मे शक्य नहीं है जिन जीवात्माका वरण वह सर्वममयं परमात्मा करता है उस जीवात्माके माधनोकी वह परवाह नहीं करता भगवत्सेवाके अधिपराती वे ही जीव होते हैं, जिनका भगवान् अपनी सेवाके लिए चुनाव करते हैं जिन्हें भगवान् अपनी सेवाने लिए चुनते हैं उनके समक्ष अपने भोग्य स्वरूप— गूढ़ ग्योभावको प्रकट करते हैं जिन जीवोंके लिए भगवान् अपने-आपको समर्पित करनेकी टान लेते हैं वे ही जीव भगवान्के लिए अपने-आपको समर्पित करवाने हैं! इस परम्परके सर्वममयं वाद जावात्मा और परमात्मा

के बीच कोई परदा रह नहीं जाता अतः पुष्टिप्रभुका गूढ स्त्रीभाव एवम् पुष्टि-जोवका गूढ पुम्भाव प्रकट हो जाता है.

व्रतचयवि प्रकरणमे ऋषिरूपा कुमारिकाओंको भगवान्ने वरदान दिया था वे भगवान्को अपना पति-भोक्ता बनाना चाहती थी. भगवान्ने उनके चीर झर लिये ! यह चीरहरण भगवान्ने प्रकट हुए गूढ स्त्रीभावका ही विवरण था और पुन जो चीर कुमारिकाओंको लोटाये गये वह तो गूढ पुम्भावका वितरण था. कुमारिकाय श्रीकृष्ण के लिए आत्मार्पणका व्रत कर रही थी, क्योंकि श्रीकृष्णने आत्मार्पणके हेतु उन्हें व्रत कर लिया था—चुन लिया था चीरहरण तो केवल प्रकट पुम्भाव और स्त्रीभावो का विनिमय मात्र था ! इसके बाद जो कुमारिकाओमे भोक्तृभाव प्रकट हुआ वह उनके कात्यायनीव्रतका प्रभाव नहीं था, और न छ वरसकी कुमारिकाओंके देह, जिनमें न तो ताश्च्य और न किमी वंसे लावण्य की ही सम्भवता हो सकती थी, वा कोई प्रभाव स्वीकारा जा सकता है ऋषि-मुनियोके तप एवम् व्रत वा भगता कामदेव कर सकते है, परन्तु इन छह वरसकी कुमारिकाओमे श्रीकृष्णके प्रति जो मधुरभाव जगे, उमे जगानेका सामर्थ्य कामदेवका नहीं किन्तु स्वयम् सर्वसमर्थ श्रीकृष्णके कामार्पण कमनीय रूपका ही था प्रमेय प्रकरणमे श्रुतिरूपा गोपिकाओंके श्रीकृष्णके प्रति मिस्पा-धिव स्नेहको शृगारोपाधिक गूढ पुम्भावके रूपमे इसी शृगाररसमूर्ति श्रीकृष्णने ही रूपान्तरित कर दिया था निरुपाधिक निराकार स्नेहको शृगाररसके म्याधिभावके आवारम वेणुबूजनकी छनीमे गढा था ! अतएव श्रीमहाप्रभु रहते है—“वेवञ्च शृगारापंमेव बूजनम्” (सुबोधिनी-वेणुगीत).

श्रीकृष्णके वारेमे किसी भी प्रकारका स्नेह—दास्यभाव, वात्सल्य, सख्य या माधुर्य-भावात्मक—स्वयम् श्रीकृष्णके सभी तरहके आलम्बनविभावोके रूपोंको धारण करनेके सर्वसामर्थ्यमे ही सम्भव होता है

पहले श्रीकृष्ण स्वामीका रूप धारण करते है तब जीवमे दाम्यभाव जगता है श्रीकृष्णके बालरूप धारण करनेपर हमारे हृदयमे वात्सल्य उभरता है श्रीकृष्णके विकराल कालरूप धारण करनेपर बचारा कम भयभीत हो जाता है श्रीकृष्णकी श्रीडाकी इच्छामे किमी सखाकी यात्रेनेपर हमारे भीतर दाम्यभाव पनपता है श्रीकृष्णकी प्रियतम बननेकी कामता ही हमारे हृदयमे श्रीकृष्णके प्रति मधुर प्रेमको अकुरित करती है वह जब भोग्य बनना चाहता है तब हमारे भीतर भोक्तृभाव अगड़ाई लेने लगता है उम आत्मारामके भक्तवाम बननेपर भक्तवामे अलौकिक भगवत्तामे प्रकट होता है वह अखिल ब्रह्माण्डका आधार होनेपर भी मा यशोदाकी गोदमे गुपचुप आकर बैठ सकता है, इतना समर्थ है. हा, वह सर्वसमर्थ है अतएव पुष्टि-भक्तकी मेवाके बिना रह न सक इतना असमर्थ भी बन जाता है ! वह बाल-वर्म-स्वभाव प्रकृति-मुरप किमीके भी अधीन नहीं है—सर्वत्रभक्तवन्त्र है हम परतन्त्र है

परन्तु वह स्वतन्त्र-मरतन्त्र है अतएव कहता है—“अहं भवनपराधीन एतस्वतन्त्र इव”, अर्थात् हम ‘अस्वतन्त्र एव’ है पर अज्ञानवश अपने-आपको ‘स्वतन्त्र इव’ मान लेते हैं वह ‘स्वतन्त्र एव’ है अतएव कृपावश ‘अस्वतन्त्र इव’ बन जाता है !

वह सर्वसमर्थ सर्वभोवता होनेपर भी भक्तभोग्य बननेमें समर्थ है—सम्यक् अर्थ है अर्थ, किन्तु, भावात्मक होनेसे अपने हृदयकी तिजोरीमें गुप्ततया रखा रहा तो सुरक्षित रहेगा अन्यथा भावात्मक अर्थके भोड़े प्रदर्शनकी वृत्ति रखनेपर वह भावाभास बन जाता है—चुर जाता है अत ‘अर्थ’ कहनेके बजाय श्रीमहाप्रभुने ‘सर्वसमर्थ’ कहकर अपने अर्थको छिपा लिया है। पुष्टिभावसे भावित प्रभु छिपा हुआ रहा तो निश्चिन्त रहना चाहिये अन्यथा बुद्धि या हृदय के द्वार बाहरकी ओर खुले कि अन्दरका यह अर्थ चुर जाता है

चतुःश्लोकीके द्वितीय श्लोकका यह अर्थ-प्रमेय आलम्बन विभावके रूपमें अपने रसभोवताके पदको छोड़कर हमारे हृदयके म्यामी भाव बननेको अर्थात् भोग्य रस बननेको उच्यत है, अत लोकापिताके भावोका हृदयमेंसे इस सिद्धान्तस्मरणकी सोहनी से सुहारना पड़ेगा, अन्यथा हृदयके बाहर इस द्वितीय श्लोकके अर्थको प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, हृदयके स्वच्छ होनेकी ! इन प्रतीक्षाकी घड़ियामें बाहर खड़े पुष्टिप्रभुके बारेमें हमारे मनोरथ जो गावमें प्रकट हो गये तब तो सब कुछ रमाभास हो जायेगा ! क्योंकि पुष्टिमार्गीय मनोरथकी तो एव ही दिशा है—‘प्रभु सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्तता व्रजेत’ वृत्त तो अमुर होनेपर भी इस पुष्टिमार्गीय अर्थका अन्य किसी ऐहिक या पारलौकिक अर्थके साथ विनिगम करनेका मनोरथ नहीं करता—

न तां मुने लौकिक सात्त्विक अर्थ स्वयंका इन्द्रासन चाहिये, न वैदिक राजस अर्थ ब्रह्माकी पदवी, न मुने लौकिक राजस अर्थ मारी पृथ्वीके धनका स्वामी हो बनना है और न लौकिक तामस अर्थ पाताल आदि लारीका आधिपत्य ही न मुत्त वैदिक तामस अर्थ विभिन्न योगतिथियारी ही बाई कामना है और न वैदिक सात्त्विक अर्थ ज्ञानलभ्य अपनुभवं-भोक्षकी ही कामना है मेर सर्वापहृष बेवल् हरि है—उनके अज्ञान और मुत्त कुछ भी नहीं चाहिये ! (प्रभु सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्तता व्रजेत).

पुष्टिभक्तका काम

इसीमें निहित है कि भूमा-परमानन्दरूप श्रीकृष्णके साथ उन्हें जोड़ दिया जाये वशान-स्पर्शन-श्रवण-कितन-ध्यान-आदि क्रियाओंमें आन्तर-वाह्य सभी इन्द्रियोको भगवदभिमुख बनाना चाहिये, जिस इन्द्रियका भगवत्कार्यमें विनियोग शक्य न हो उसके विनिग्रहका यत्न करना चाहिये

श्रुतिमें जीवको—“काममय एवाय पुरुष ” कहा गया है यह काम कौनसा है ? सभी जीव चाह आस्तिक हो या नास्तिक, पुष्टिमार्गीय हो, मर्यादामार्गीय हो, या प्रवाहमार्गीय, सभीको सभी इन्द्रियोमें परमानन्दकी कामना है ‘न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रिय भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति’ नेत्रोत्ते, जिह्वासे, नासिकासे, त्वचासे या कर्णोंमें हम श्रोज रहे हैं परमानन्द-रूप श्रीकृष्णको ही - रूप, रस, गन्ध, स्पर्श या शब्दों को नहीं

इस परमानन्दकी खोजयात्राम शीघ्रतया उस प्राप्त करनेके लिए जीवात्मा शरीरके रथपर सवार हो जाती है अपनी बुद्धिको अपना मारपी बना लेती है और मनकी लगामस बंध हुए इन्द्रियोके घोड़ोंको सरपट दौड़ाती है ये इन्द्रियोके घोड़े लेकिन बड़ ही उदत्त है - दौड़ने-दौड़ने ये मन और बुद्धि के नियन्त्रणके बाहर हो जाते हैं, और बेचार जीवको लौकिक विषयाकी बासनाके गर्तमें गिरा देने है ! शरीरका यह रथ भी कालजर्जरित होनेसे गिरा कि टूट जाता है - नष्ट हो जाता है !

प्रवाहमार्गपर तो यह दुर्घटना प्रतिदिनका मल है मर्यादामार्ग या पुष्टिमार्ग के मार्गपर जो जीव अपने रथकी दिना बदल नहीं पाते उनका तो विषय-वासनासे गर्तमें विनिपात निश्चित ही होना है एस जीवोको ‘प्रवाहजीव’ कहा जाता है मर्यादामार्ग की ओर इस परमानन्दकी खोजमें रथोको मोड़नेवाले मूर्खान्तिक जीवोपर इन दुर्घटना-ओंका बड़ा ही विषम प्रभाव पड़ जाता है वे मनोनिग्रह—मनकी लगाम खींच—वरके रथका कथञ्चिन् शोक देना चाहते है कभी रथमें उतर कर पैदल ही यात्रा करनेकी कामना करने लग जाते है कभी स्वर्गादि लोक या आत्ममुख के पडावोपर ही अपनी यात्रा समाप्त कर देते है कभी अयोग एवम् दिशाहीन अव्यक्तोपासनाकी बहु—जन्म जन्मान्तागत पूरी न जानेवाली अधिप विलुप्त यात्रापर निकल पड़ने है कुल मिलाकर इन दुर्घटित घाटोके वेगके साथ वे अपने मन और बुद्धि का साम-जस्य बिठा नहीं पाते, परतहिम्मत होकर पैदल चलना अधिप पसन्द करते है (ब्रह्मजन्मदे प्रवि-ष्टानामात्मनैव मुखप्रमा, सपातस्य त्रिलीनस्वान्, भवनाना तु विशपत सर्वेन्द्रियैस्तथा-चान्त करणंगमनापि त्रि ब्रह्मभावात्...विशिष्यते) अतएव श्रीमहाप्रभु कहते है— “वैराग्य च भगवतो ज्ञान वा सर्वतापनिवर्तकम् यत्संस्कारयाम्य तज्ज्ञानेन नश्यति यदयम्य तत्परित्यागन अतएव स्मार्ते संस्काराशक्नै परित्याग एव बोध्यते ’ (सुबो) अर्ध ज्ञान और वैराग्य न सारे ताप दूर हा जाते है, यदि हम परमानन्दरूप श्रीकृष्णकी भलीभाति जान पायें तो सारे लौकिक विषयोको (बह्यसम्बन्ध) सम्कारमें शुद्ध कर

प्राप्त होने अथवा जिन विषयोंको भगवत्समर्पणके संस्कारमें शुद्ध न किया जा सकता हो उनका तो परित्याग ही करना चाहिये। यही कारण है कि स्मार्त लोग सम्कार द्वारा शुद्ध करनेमें असमर्थ होनेके कारण सभी वस्तुओंके परित्यागका ही उपदेश देते रहते हैं। व्यर्थ त्यागके अपेक्षा वस्तुको भगवान्‌को समर्पित कर देना उत्तम कल्प है।

किसी वस्तु या व्यक्ति को सुधारना हो तो उसे भलीभाँति जानना आवश्यक होता है पर हम स्वयम् जब किसीको समझ ही नहीं पाते तो सुधारनेका प्रयत्न नहीं उठेगा, ऐसी स्थितिमें परित्याग ही एक उपाय बच जाता है।

एक परमात्माको आत्मकीर्णकी ही अनेक नामरूपोंमें अन्विष्टाकिन यह समय जगत है हम भी ब्रह्मके चैतन्यकी आंशिक अभिव्यक्तियाँ हैं मूल अतीत व्यापक प्रयोजनके विपरीत जब हम अपनी अज्ञानअन्य अहन्ता-ममताके बशीभूत हो कर कोई शुद्ध प्रयोजन घड लेते हैं, तभीमें मारो मुसीबतें सजी होने लगती हैं। इन्द्रियोंके तेज बोजनेवाले घोंडोंके रथमें तेजीसे भागने हुए हम दिना भूल जाते हैं अतएव शरणागति हमारी अहन्ता-ममताने शुद्ध होते ही हमें दिशाकी पहचान होने लग जाती है जबदस्तावद विषयवास्तवोंके प्रवेशमें रथ बौझानेके वजाय हम पृथिके ऋजुसागर पर्यन्त आरुढ़ हो जाते हैं विषयोंके मेघनमें परमानन्द नहीं मिल सकता परन्तु परमानन्दके सेवनमें तो सब कुछ मिल जाता है। श्रीमहाश्रम कहते हैं कि चित्तमें भगवत्समर्पण सम्पादित होना चाहिये— प्रेषमम्बलित चित्त सर्वत्र विद्यमान् परमात्माको स्वयमेव खोज लेगा अतएव उपनिषद् परमात्माका— “नदेकमा सर्वज्ञात् सर्वगत्य सर्वरस सर्वमिदम्” कहा गया है।

श्रीगोकुलाधीशको सर्वात्मना हृदयमें धारण करना सभी इन्द्रियोंमें उन्ह चान्दनेकी पहली शर्त है यदि एकबार हृदयमें धारण कर पायें तो उन्ह आसामें भी देखा जा सकता है, कानामें सुना जा सकता, हाथोंमें पकड़ा जा सकता है और चरणोंमें बौझकर परमात्माके निकट पहुँचा भी जा सकता है। आश्चर्यकता है सर्वप्रथम परमात्माको हृदयमें धारण करने की।

अतएव श्रीमहाश्रम कहते हैं -

भगवता सह सलापो दर्शन मिलितन्य च ।
 आश्लेष सेवन चापि स्पर्शोभापि तयाविध ॥
 अधरामृतपात्र च भोगो रोमोद्गमस्तथा ।
 तत्पुत्रिताना धवनमाध्याय चापि सर्वतः ॥
 तदन्तिकगतिनित्यमेव तद्भावन सदा ।
 इहमेवेन्द्रियवता पत्र मासोपि नाप्यथा ॥
 यथाध्वजारे नियता स्थितिराश्लेषो पत्र भवेत् ।
 एव मोक्षोपीन्द्रियादिपुत्राना सर्वथा नहि ॥ (रिणुगीतपुत्रो)

‘गिरधर देव ही सुख होय । नयनवन्तको यही परमफल यही विधि माय त्रिलोय । अतएव थामहाप्रभ श्रीगोकुलापीठक वियोगव तीव्रतापम हृदयम मनम प्रकट होती भगवानकी स्वरूपानुभूति तथा शीलानुभूति का परमफल कहते हैं क्योंकि एकबार हृदयम भगवान बिराज जाते हैं तो देर सबेर सभी इन्द्रियमे भगवानकी रसात्मिका अनभूतिकी कामना भी जग ही जाती है इस कामनाक जगत ही अथ लौकिक-वदिक विषयोकी कामनाओका आकषण निरूप्य हा जायगा भगवान स्वयम कहते हैं— न मयावेगिनाद्विदा काम कामाय कल्पत भजिता कवयिता धाना भूयो बीजाय नेगते (भाग) अथ जिनकी बुद्धि भगवानम लग गयी हो उनका काम कामाय नहीं रह जाता जैसे भजे या उवाचे हुए धान बीज नहीं बन सकते

सभी इन्द्रियोस होनेवाली इस भगवन्नुभूतिकी वेणगीत और भ्रमरगीत की सबी धिनीम सर्वाभिभाव समनाष्टकम तानुवत्व और सेवाफलम अलौकिकसामध्य कहा गया है यही निरोधकी फलावस्था है जिस यहा चतुश्लोकाम मोक्ष कहा जायेगा परंतु इस सर्वाद्रियो द्वारा भगवदनुभूतिरा जीव गम्पन हो उसस पहले सर्वाद्रियोमे भग वदनुभूतिकी कामना— पुष्टिमार्गीय कामका जगना आवश्यक है यह कामना जगी कि पुष्टिमार्गीय काम परेषाथ गिद्ध हा गया समझ लेना चाहिये अतएव वत्र कहता है—

हे अरवि-बाक्ष ! मेरा हृदय तुम्हारे दशन चाहता है जब मेरा मन तुम्हारे दशन चाहता ह तो सभी इन्द्रियाके द्वारामे वह तुम्ह अंदर पधराना चाहता ह जमे पक्षीके पक्ष बिनाके बच्चे अपनी माताकी प्रती रा चगेके लिए करते हैं— जमे गायका बछड़ा गायके थनसे दूधकी कामना करना है सम्भवत चगा या दूध और कहीसे मिल जाये तो व सन्तुष्ट हो सकते ह पर मरा मन तो परदेग गये प्रियतमकी विरहिणी प्रमिकाकी तरह निरन्तर तुम्हारे ही ध्यानम—मनारथोम जुडा हुआ केवल तुम्ह ही देखना चाहता है ।

पुष्टिभक्तका मोक्ष

सर्वाभिन श्रोकृष्णका वन जाना पुष्टिभक्तका मोक्ष है सर्वाभिन श्रोकृष्णके बन नैका मनलब है प्रपञ्चकी विस्मृति और कृष्णमे दृढ आमक्ति भक्तकी कृष्णानुभूतिका व्यसन हो जाना निरन्तर कृष्णानुभूतिकी कामना इतनी तीव्र हो जाये कि या तो मयोगम बाह्यालम्बनमे सभी इन्द्रियोम कृष्णका अनुभव हो अथवा वियोगम आमक्ति भ्रमसायसे पूवानुभूत श्रोकृष्णके स्वरूप एवम लीलाका रोम ध—जगाली इतनी तीव्र तर हा जाय कि अन्त स्थित रति ही सभी रूप (आलम्बन उद्घापन तथा सञ्चारी भावके रूप) छेने लग जाय ।

मयोगम भजन धम और वियोगम स्मरण-स्मर काम निर तर चलता रहे तो भक्तकी मुक्त हो गया समझ लेना चाहिये यह अनुभूति यदि इस भूतलपर हाने लग जाये तो उसे जीव-मवित समझना चाहिये इस ही तननव-व या अलौकिक सामध्यम

भी कहा गया है नित्यलोला-व्यापिवंकुष्ठम यदि यह अनुभूति होनेवाली हो तो उसे विदेहमुक्ति समझनी चाहिये इसे ही 'नवतनुत्व' या 'सैवोपयोगिदेहो नैकुष्ठादिषु' कहा गया है. सक्षेपमें प्रथम एवम् तृतीय पुरुषार्थ धर्म एवम् काम के निरन्तर चक्ररूपमें चल पटना पुष्टिभक्तका पुष्टिभक्तिम मोक्ष माना जाता है क्योंकि पुष्टिभक्तिका अर्थ—प्रजाधिप श्रीकृष्ण स्वयम् नटवरवपु होनेसे प्रेम तथा प्रियतम उभय रूप हैं— स्थायिभाव तथा आलम्बनविभाव रूप यही है अत वियोग और सयोग दोनोंमें यह अनुभूत हो सकता है यही श्रीगोकुलाघोशका स्मरण और भजन है

श्रीमहाप्रभु कहते हैं— "ज्ञान तु गुणगान हि परोक्षे तत्प्रतिष्ठितम्, प्रत्यक्षे भजन श्रष्टमेव चेद् रोधन स्थिर, पुरुषाणा तथा स्त्रीणा रात्रौ च दिवसे तथा भक्तिश्च सतत चक्रवत् परिवर्तते" (भाग निवन्ध) अर्थ भगवान्के वियोगम भगवान्के गुणोका गान ज्ञानरूप है, और सयोगम—प्रत्यक्षमें भजन श्रेष्ठ है यह होनेपर जोय भगवान्में निरुद्ध हो जाता है प्रजकी स्थिती और पुरुषो को रातम और दिनमें इन्ही ज्ञान और भक्ति का निरन्तर अनुभव चक्रकी तरह चलता ही रहता था उन्हें परमानन्दरूप श्रीकृष्णका पूर्ण अनुभव मिल गया था।

पुष्टिभक्ति अपने आपम मार्ग भी है और गन्तव्य भी— साधन भी है और फल भी— अतएव सयोग वियोगम भजन स्मरणके चक्रव-उत्तारोमे निरन्तर चलते रहना यहा मुक्ति है पुष्टिभक्तिके मार्गपर चलकर अन्यत्र बही पहुचना नहीं है— केवल निरन्तर इसी मुहावने मार्गपर टहलते रहना है— चरंवेति ! चरंवेति ! चरंवेति ! !

अतएव पुष्टिपथका पथिक वृत्रासुर भी इस मार्गकी यात्रामें अपने सहपात्रियोंका साथ मागता है कि कभी वह अकेल चलते हुए अन्य मार्गपर भटक न जाये—

हे नाथ ! मुझे सर्वदा तुम्हारे भक्तोका ही सग साथ तुम्हारे भक्तिमार्गपर चलते हुए मिलता रहे वभी ससारासक्त ब्यक्तियोंका तस्य मुझमें न पनपने पाये । यदि यह देह-पुत्र-स्त्री-गृहादि विषयमें मेरी भासक्ति भी हो तो तेरी सेवामें उनकी उपयोगिता भर के लिए ही और किसी हेतुमें नहीं। मैं समग्रतासे तेरा हो जाऊँ और तू समग्रतासे मेरा

वि स १९७९ में श्रीमहाप्रभुविरचित बनुश्लोकीका प्रकाशन हुआ था. वृत्रासुरवश्लोकीका प्रकाशन वि. स. १९७८ में हुआ था प्रस्तुत स्मरण उन्हीका ऑफ सेट प्रतिगमे पुनर्मुद्रित रूप है ये दोनों ही ग्रन्थ गोस्वामी श्रीरघोबहालजी महा-राजक 'श्रीजीवनेशापर्यं पुष्टि सिद्धान्त कार्यालय' में प्रकाशित हुए थे इनके सपुस्त-सम्पादन के श्रीजीवन ह शास्त्री तथा धोहरिश्चन्द्र खोराजी शास्त्री इन सभी महा-मुभावाका हम इस पुन-प्रकाशनके अवसरपर हार्दिक इत्यन्तके साथ स्मरण करते हैं

વિનયિ.

અમોએ આ અનુશ્રેણીના સંશોધનમા પ્રયુક્ત વાવશ્યકિયસૌક્ય આપાસ કમો છે. તથાપિ અશુદ્ધિ દષ્ટિગોચર થાય તો તે જીવમૃતિ માની સુધારી લેશોજ.

ઉપકાર દર્શન.

અમને આ સ્વચ્છામા જે પુસ્તક પ્રદાન કરે છે એમનો ઉપકાર શબ્દોમા માનવો અશક્ય છે. સમપ્રદાયમા વિદ્યાનુરાગની શક્તિ થયાનું એ સુચન છે. 'જે સમપ્રદાયમા સાહિત્યનો પ્રાણુ રધાયો નથી તે સમપ્રદાય દરેકના પ્રાણુમા સચ્ચર કરે છે, એ ન્યાય દ્વે આપણા સામ્પ્રદાયિકો સમજવા લાગ્યા છે.

અમોને શ્રીજીવનેશ્યાચાર્ય પુસ્તકાલય ઉપરાત શ્રીગોકુળનાથજી મહારાજ, શ્રીવજ્રવલ્લભજી મહારાજ, તથા શ્રીદારકેશનાથજી મહારાજ, તથા કેદારચ શ્રીજોટામયુરેશજી તથા શ્રીનાથદાર વિદ્યાનિભાગ પદ્મિત બલબદ્રભાઈ તથા પદ્મિત રમાનાથ શાસ્ત્રીજી તથા શાસ્ત્રીજી મગનલાલભાઈ તથા રા તેથીવાલા મૂલચન્દ્રભાઈ, યુજ્જરાતી પ્રેક્ષના માલિક મણિલાલભાઈ તથા પરિવહ સાહિત્ય માંથી રા. વાઙ્મિલાલભાઈ તેમ જ જુનાગઢ વિગેરે સ્થયેથી જે જે પુસ્તકો વારવાર આપવામા આવે છે તેમનો ઉપકાર અનુપમ છે. પ્રભુ આ પ્રણાલી સદા રાખે, જેમા ઉલ્લખને ફલ છે

ચીમનરાસ્ટ્રી

'સાહિત્યપ્રણયુ' 'દુર્લભદેવરતન'

હરિકૃષ્ણ રાસ્ટ્રી

'શુદ્ધાદિતનિધારક'

श्रीकृष्णाय नमः ।

चतुःश्लोकी ।



श्रीमदाचार्यप्रकटिता ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।
स्वस्यापमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥
एवं सेदा रमं कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेतो निश्चिन्ततां वजेत् ॥ २ ॥
यदि श्रीगोकुलाधीशो घृतः सर्वात्मना हृदि ।
ततः किमपरं दृष्टि लौकिकैर्वेदिकैरपि ॥ ३ ॥
अतः सर्वात्मना दाम्बद्गोकुलेश्वरपादयोः ।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥
इति श्रीमद्भगवत्पार्ष्वविरचिता चतुःश्लोकी सम्पूर्णम् ।

१ भवामिति लभामि च वाच । २ एतन्मत्पुत्रिति वाच । ३ तेवेति वाच ।
४ भवतिरिति वाच । ५ एव एवमिति वाच ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
 श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
 श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

चतुःश्लोकी ।

श्रीमद्रजराजचरणविरचितविवृतियुता ।

श्रीमद्रासरसामृताब्धिबिलसद्गोपीशपादाम्बुज-
 द्बन्धस्नेहविलासदानकरणे श्रीपारिजातोपमः ॥
 स्फूर्जद्गोपकृदम्बिनीबिलसितमेमारूपवर्त्मकरो
 भूयान्मे हृदि सन्ततं दुरितहृच्छ्रीविट्टलो बाह्यभिः ॥१॥

भगवदीयानां धर्मादिचतुष्टयं भगवानेवेति स्वीयेषु कृपया श्रीमदाचार्यचरणाक्ष-
 तुर्भिः श्लोकैस्तदेव तज्ज्ञापनार्थं विवृण्यन्ति सर्वदा सर्वभावेनेति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।

स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः कापि कदाचन ॥ १ ॥

सर्वभावेन सर्वात्मभावेन सर्वदा ब्रजाधिपो भजनीय इति सम्बन्धः ।
 सर्वैरिति शेषः । स्वस्यायमेव धर्मोऽन्यो न । कापि कुत्रचित् । कदाचन कस्मिन्नपि
 काले इत्यर्थः । हीति युक्तशायमर्थः । सहजदासत्वेन जीवस्य यतोयमेवार्थः श्रुत्या प्रतिपा-
 द्यते । अत एवास्मत्प्रेमचरणैर्निर्जनिसर्गप्रभुश्रीगोकुलनाथचरणकमलद्वारायमेव स्वधर्म इति
 निरुणापि । सर्वदेतिवदेन नात्र कालादिनियम इति ज्ञापितम् । धर्मशास्त्रादिषु धर्मकरणे
 फालादिनियम उक्तस्तेन तत्र धर्मजनितफलस्यापि कालाधीनत्वेन हायिष्णुत्वमेव । अत्र
 तदभावाय सर्वदेत्युक्तं भवति । किञ्च, सर्वदेतिवदेन क्षणमात्रमप्यन्यधर्मकरणेऽनन्यत्व-
 भङ्गमसङ्ग इति ज्ञापितं भवति, भगवतो जीवानां पतित्वनिरूपणात् । यथा पतिव्रताप्राः
 क्षणमप्यन्यत्र मनश्चालनेन व्रतमङ्गस्तयात्रापीति ज्ञापनाय सर्वदेत्युक्तमितिभावः । सर्व-

१ विद्वान्भङ्गे—तथा चाद्यपरिमाणस्यैव जीवस्य पूर्वोक्तन्यायेन ब्रह्मणः सत्त्वाद्यन्तितस्य ब्रह्मणा
 स्वतेवार्थमेव निजैर्धर्मैश्च विविचयस्वपरिहाराय च तथा प्रकटीकृतस्यान एव महद्गद्गिरिदसस्य तद्गत्वेन ब्रह्म-
 रूपस्य च निजनिर्गमप्रभुश्रीगोकुलनाथचरणकमलद्वारायमेव स्वधर्मः । तेन चातिशङ्कतः स्वयं प्रवर्तनीय विज-
 गुणास्तस्मै इत्या स्वस्मिन्प्रयेषयनि स्वरूपान्श्राउमावर्षमिरादि निरूपितम् ।

भावेनेति । सर्वो भगवति यो भावस्तेन तथा । पतिपुत्रादिभावेनापि तथेत्यर्थः । एतदे-
 वोक्तमाचार्यैरेव 'तादृशीं भावनां कुर्यादित्यादि । यद्वा, सर्वभावपदेन स्त्रीभाव उच्यते ।
 सर्वपदस्यैकस्मिन्धर्मं तत्रैव शक्तिः । अत एव ब्रजमण्डनाभिरुक्तं, 'सन्त्यज्य सर्वविषयां-
 स्तव पादमूल'मिति । तत्रैकस्मिन्सर्वपदाशक्तेरिति भावः । यद्वा, सर्वो भगवति यो भावः
 स्त्रीभाव इति यावत् । भगवति स एव भावः प्रयोजक इति श्रीमत्स्वामिनीकृतस्व-
 शृङ्गारादिप्रकारपुक्ते भगवति यो भावः स तथा । अत एवास्मत्प्रभुचरणैरुक्तं
 'थंयपि युवतिषेव' इत्यारभ्य 'पुंसामपि युवतीभाव उद्वेल' इत्यन्तं पद्यद्वयेन । अत
 एवास्मत्प्रभुचरणैः श्रीमदाचार्यैश्चोक्तं 'एतस्य दर्शने तु स्वात्ममदाभाव एव हीति,
 'स्त्रीभावो गूढ' इत्यादि च । ननु सर्वेषां तद्भावायोग्यत्वादेतद्बोधनमतुपपन्नमाभा-
 तीति चेत्? सर्वेषां तद्योग्यत्वं ब्रह्मणा मृद्वापने 'स्त्रियो वा पुरुषा वापि
 भर्तृभावेन केशव'मित्यादिनोक्तम् । यद्वा, सर्वशब्देन प्रभुरेवात्रोच्यते, यतः सर्वशब्दस्य
 तत्रैव शक्तिः तदात्मरूपा स्वामिनी, तत्र भावेन दासीभावेन प्रभुषु तत्सन्देशादिकथन-
 पूर्वकसर्वसामग्रीसम्पादनेनेतिभावहृदयम् । ब्रजाधिपपदेन पूर्णरूपोत्पत्तत्वं ज्ञाप्यते ।
 यथा कृपया तेषु स्वीयत्वं प्रकटीकृत्य स्वस्मिंश्च तदाधिपत्यं प्रकटीकृत्य रमते, तथैव
 सर्वात्मभावेन भजने सर्वेषामेव करिष्यतीति ब्रजाधिपनाम्ना द्योत्यते । तेषु स्वाधिपत्यं
 तु श्रीगोकुलजनरसदानेच्छाजनितवामकरशिखरिवरधारणप्रोत्रदुस्ताहोलसितहृदयेन श्री-
 गोकुलनाथेनैवोक्तं 'मन्त्रार्थं मत्वरिग्रह'मित्यादिना । एवं भगवतः स्वस्याधिपत्यं हृदि
 कृत्वा भजनीय इति भावः । स्वस्य तदंशत्वेनाद्यमेव धर्मो नान्य इत्यर्थः । अत एव
 स्पर्षते 'यो यदंशः स तं भजे'दित्यादि । अस्य स्वधर्मवोक्त्यान्धर्मरूपेण बाधरुन्व-
 मेव स्यादित्यर्थः । अत एव श्रीदेवकीभाग्योदयाचलभूषणेन श्रीगीतास्वपि उक्तं 'स्वधर्मं
 निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह' इति । अस्य स्वधर्मवोक्त्याज्यत्र तद्भावः स्वतः सिद्ध एव,
 तथापि नान्य इति यदुक्तं तद्धर्मशास्त्रादिष्वन्यत्र स्वधर्मपदकथनेन तद्दर्शनेनापि चित्ते-
 ज्यया न विचारणीयमिति भावः । यतस्ते बहिर्मुक्ता देहधर्ममेव स्वधर्मत्वेन वदन्ति, न
 तु भगवद्भर्ममिति । धर्मशास्त्रस्य तद्देहेशेनैव प्रवृत्तेस्तदनिरूपणं युक्तमेव । अत एव युधिष्ठि-
 रेण 'को धर्मः सर्वधर्माणां भवनः परमो मत' इति पृष्ठो भीष्मः प्रभुसहस्रनामस्तवनं भक्त्या
 तत्सेवनं च परमधर्मत्वेनोक्तवान् । नैवयं कर्तव्य एव तत्कथं सर्वथा निषिध्यते । उच्यते ।
 सत्यमस्य देहसम्बन्धित्वेन करणीयत्वमायाति, परमन्यसृष्टिवद्यदि भक्तानां देहो भौतिको
 भवेत्, भगवद्भक्तानां तु भगवत्पादपद्मरेणुसम्पादितदेहत्वात्तद्भजनकरणमेव स्वधर्मो नान्य
 इति सर्वमत्रदातम् । अत एव श्रीवराहैरुक्तं, 'अन्यैव काचित्सा सृष्टिर्बिधातुर्व्यतिरेकिणी'

त्यादि । सा सृष्टिर्भगवता स्वसेवार्थमेवोत्पादितेति तत्सेवनमेव धर्म इति भावः । क्षेत्र
देशादिसाधनस्योक्तत्वाद्दर्माभास एव न तु धर्मोपि, स्वतो दुर्बलत्वादन्यसापेक्षणमप्येत
एव । अत्र तदेवावमाहुः क्वापीति । अस्य धर्मिभार्गत्वात्प्रबलत्वेन कुत्रापि करोतु न देशा-
दिनिषेधो, यतो देशाद्याधिदैविकसम्पादनं भगवतैव । अत एवोक्तं श्रीभगवते 'तीर्थी-
कुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृते'ति । तेन अन्यः क्वापि न । अयं तु धर्मिरूपत्वा-
दतिप्रबलत्वादतिरोहितत्वात्कापि भवत्विति भावः । धर्मिधर्मयोरभेदाद्दर्मोक्तिरिति भावः ।
कदाचन कस्मिन्नपि कालेऽन्यधर्मः स्वधर्मो नेत्यर्थः । भक्तानां धर्मरूपोपि भगवानेव ।
तस्माद्दर्मादिषु मनोगमनेपि तत् आकृष्य भगवत एव धर्मरूपतां ज्ञात्वा सर्वात्मभावेन
भगवानेव भजनीय इति भावः । किञ्च, धर्मेणैवेष्टसिद्धिः; यतो निगमे तथैव प्रतिपाद्यते ।
'धर्मेण पापमपनुदती'त्यादिना पापस्यैवेष्टमाप्तिप्रतिबन्धकत्वेन श्रवणात् । तत्र साङ्गवि-
धिना कृतेन धर्मेण पापनिवृत्तिततः पुनस्तत्करणेन फलप्राप्तिः । सा चातिदूरतरा, यतः
साङ्गकरणं न सम्भवति । अतः स्मर्यते, 'यस्य स्मृत्ये'त्यारभ्य 'न्यूनं सम्पूर्णतां याती'-
त्यन्तेन भगवत्स्मरणेनैव तत्र पूर्णता । अन्यथा विधिज्ञेयत्वं भवत्येव । अत्र विधेरेवा-
त्पन्तेन भगवत्स्मरणेनैव तत्र पूर्णता । अन्यथा विधिज्ञेयत्वं भवत्येव । अत्र विधेरेवा-
भावेन भजनस्यैव भावात्मकत्वेन फलस्यैव धर्मोक्त्या भजनानन्द एव फलाप्तिरिति भावः ।
अत एव यदुकुलामृताग्निमुषादीधितिनाऽग्नादि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तौस्तथैव भजा-
म्यह'मित्यादिना । विधिहीनानां धर्मादीनामसाधकत्वं योगिपाञ्चत्वकत्वेन स्मर्यते 'विधि-
हीनं भावदुष्टं कृतमश्रद्धया च यत् । तद्भ्रन्त्यसुरास्तस्य समूहस्याकृतात्मन' इति ।
किञ्च, भक्तानां भगवानेवेष्टस्तत्प्राप्तिश्च नान्यधर्मैर्भवति, विना तत्सेवनम् । तस्मात्तद्वि-
योगतापे सति तस्माद्दुष्ये च यद्भगवत्सेवनं तद्दर्मरूपमेवेति भावः । अत एव शुकवागमृ-
ताव्यौ 'भक्त्या सञ्जातया भक्त्या' 'भक्त्या तुतोप भगवान् गजयूथपाय' 'श्रीयतेऽम-
लया भक्त्या हरिरन्यद्विदम्बनम्' 'भक्त्याहमेकया प्राणः' 'श्रद्धयात्वा मियः सनाम्'
'प्रतिष्ठया सार्वभौम'मित्यारभ्य, 'गामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति' इत्यन्तेनैव
वाक्यसहस्रैर्भक्तीतरसाधनासाध्यत्वं निश्चीयते भगवतः । तत्रैव पुनर्भगवता सर्वधर्मा-
त्रिरूपयता श्रीमदुद्धवं प्रत्युक्तं 'सर्वेषां मनुपासन'मित्यारभ्य, 'इति मां यः स्वधर्मेण
भजन्नित्यमनन्यभाक्' इत्यन्तेनानन्यमजनस्यैव स्वधर्मत्वम् । तस्माद्दर्माकाङ्क्षायां
भगवदीयानां धर्मरूपो भगवानेव भजनीय इति भावः । किञ्च, अन्यधर्माणामधिकारि-
परत्वमुक्तं, प्रभुचरणैः स्वभजनस्य च सर्वेषामधिकारित्वम् । तेन सर्वेषामधिकारिभिर-
वस्तुनो नाधिकारादिकमपेक्षितम् । तस्माद्दर्मपदस्य भगवद्भजन एव शक्तिः । तथा च
तेजवत्स्वन्यत्रापि दृश्यते । अतिरोहिताधिदैविकगुह्यास्त्राने पापनिवर्तकत्वं, अग्रेषु दाह-
करणेऽपि चारस्तथान्यधर्मादिषु धर्मत्वं चेत्स्यात्तदेष्टरूपभगवत्प्राप्तिरपि स्यादेव, सर्वेषां च

तत्करणेऽधिकारोऽपि स्यात्परं तदभावे तत्र धर्मपदप्रयोगो गौण एवेति भावः । हीति युक्तश्चायमर्थः, सर्वान्प्रकृत्य भावत एव सेवनमात्मधर्म इति । यद्वा, हीति युक्तश्चायमर्थः, यदन्यसम्बन्धरहितस्यैव भगवद्भजनस्यैव धर्मत्वम् । यतो भगवताप्युक्तं ' भक्त्या त्वन्नन्यया प्राणः ' ' अनन्याश्चिन्तयन्तो मामित्यादिनेति भक्तानां भगवद्भजनमेव स्वधर्म इति स्वधर्मत्वेन भगवानेव सेव्यो नन्वन्यधर्मेषु मनो निवेशनीयमिति भावः ॥ १ ॥

एवं धर्मरूपमुक्त्वा अर्थस्वरूपमाहुः एवमिति ।

एवं सदा स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।

प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

सदा एवं कर्तव्यं यथाग्रे निरूप्यते । तदेवाहुः प्रभुरिति । प्रभुः स्वामी भक्तानाम् । सर्वरूपश्रासौ सम्यगर्थरूपश्च यतः, तस्मात्स्वयमेव करिष्यति ततः कारणाश्चिन्ततां निश्चिन्तस्य भावं व्रजेदित्यर्थः । एवमेव कर्तव्यमिति । स्मेति प्रसिद्धिरुक्ता । अर्थः सर्वदा गोप्यो भवति, तद्रूपमेव गोपायति । प्रभुः सर्वसमर्थस्ततः स्वयं कर्तव्यं रक्षादिकं प्रभुरेव करिष्यति । एवं सदा निश्चिन्ततां व्रजेदित्यर्थः । यथार्थस्य रक्षार्थं स्वयं यतः क्रियते तस्य जडत्वात् प्रभुरेव तदुक्त्या यो गोप्योऽस्तं प्रभुरेव भावादिरूप गोप्यं करिष्यतीति स्वयं निश्चिन्तो भवेदिति भावः । अत एवाचार्यैर्नवरत्ने उक्तं, ' चिन्ता कापी'त्यादि । यथार्थस्य सम्पन्गोपने कृत एव निश्चिन्तता भवेत्तथात्र तं भावधर्मरूपं बहिर्मुखान्दिर्चोरेभ्यो भगवान् स्वयमेव गोपायतीति सिद्धवत्कारेण निश्चिन्ततां व्रजेदित्युक्तम् । यथार्थस्य गोपन सर्वेभ्यः क्रियते तथास्यापि भावस्यातिगोप्यत्वात् शोक्तं, परं निश्चिन्ततोक्त्या गुप्तत्वेनोक्तमिति भावः ।

यद्वा, प्रभुः सर्वसमर्थस्ततः स्वयमेव कर्तव्यं करिष्यति, सदैवं ज्ञात्वा निश्चिन्ततां व्रजेदित्यर्थः । यथार्थेनैव सर्वसाध्यादिकं भवति तथात्र प्रभुः स्वभोगयोगशुद्धेहयोवनादिमामग्रीसम्पादनं कर्तव्यत्वेनोच्यते तत्स्वयमेव करिष्यति । यतः सर्वपदेन भक्तानां सर्वेषां सम्यगर्थः स एवेति सदैवं तथा भवेदिति भावः । अयमेवाप्ये रसात्पिमुधाकरश्रीपत्न्युचरणे रससर्वस्वे निर्णीतः । ' विनैव समयरूपं सखि तदा यदासीदतिस्फुटं नवल्लयौवनं त्रिदशमोहिनीमोहनम् । तद्भगगुणो न तद्गतकृतोऽन्यदीयोपि वा विचित्ररसभावितमियवतासगोयं परम् ' ' य एव यदीदृशं तदीय किमु वाच्यं सखि विमहाद्यजोपम् । रसरूपमितीन्द्रिरादुरापं रमयापुर्षुदुदारतो रसाब्धेरित्यादिना । तेनार्थस्यार्थिदेवस्थायास्तैस्या यदुरापं तदर्थसाध्यं तु भवन्त्येव, भगवता च स्वीयेषु तन्संपाद्यते । तस्माद्भगवानेवास्मान्मर्थरूपोऽस्ति, स एव सर्वं करिष्यतीति ज्ञात्वा,

एवं पूर्वोक्तसर्वात्मभावेन सदा भजनं कर्तव्यम् । ततः प्रभुरपि सर्वसमर्थस्तथैव करिष्य-
तीति भावः । ननु तथाकरणं प्रजवरकुमारिकास्यैव सभरति, तासा योग्यत्वादन्येषा-
मयोग्यत्वात्कथमेव बोधनमिति चेत् ? सत्यं, तदयोग्यत्व जीवानां, तथापि सर्वात्मभावेन
तथा चेद्भजेत्तदा भगवदनुग्रहेण तथा भवेत्तदा भगवानपि कुर्यादेषेति भावः । अत
एव पुष्टिसरसिजमार्तण्डायितचरणाचार्येण भ्रमरगीतविवरणे प्रकटीकृत 'तदुरापत्वेपि
तदाज्ञया तद्भजनमेव कार्य'मित्युक्तम् । तदप्राप्तिश्चेत्स्यात्तदा 'तदाशये'ति नोक्तं स्यात् ।
तथा च श्रीगोपीजनमेघकुमुदयन्पुत्रीविह्वलनाथैरपि विद्वन्मण्डने रससर्वस्ये चालेखि,
'सर्वात्मभावेन चेत्तथा भजनं करोति तदा भगवानप्यङ्गीकरोत्येवे'ति । 'यद्भानज्ञे'त्यस्मि-
न्पद्येपि 'यस्मिन्महानुग्रहस्तस्मिन्प्रोपनितम्प्रिनीत्वमचिरात्कृता मियः प्रायज्ञ' इति ।
तस्मात्तदनुग्रहेण तथाभवतीति भावः । अत एव यदुकुलरत्नाकरेन्दुना 'ये यथा मा प्रपद्य-
न्ते' इत्युक्तम् । यद्वा, स्वयं कर्तव्यं भजनादिकं व्रजसुन्दरीषु समर्थो हि प्रभुः करिष्य-
त्येवास्मद्दर्शनार्थम् । सदा एव निश्चिन्तता व्रजेत् तत्प्रकारकभगवत्कालादर्शनार्थं चिन्ता न
कार्या । प्रभुः स्वत एव करिष्यतीति भावः । स्मेति प्रसिद्धिः । यतः प्रभुर्नैवोक्त 'अहं
भक्तपराधीन' इति । तदधीनत्वेन तन्मनोभिलषितभरणं स्वत एव सिद्धम् । हीति निश्च-
येन युक्तव्यायमर्थः । यतो भगवदर्थं 'सन्त्यज्य सर्वप्रिया'नित्यादिवये त्यजन्ति तेषा
मनोरथपूरणं च भगवता कर्तव्यमेव । अत एव भगवतैवोक्त 'ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थं
तान्निभर्ष्येहम्' इत्यनेन । भरणकरणोक्त्या यथा तेषा स्वलीलादर्शनं भवति तथैव कृत्वा
स्वलीलायामेव स्वरूपात्मिकाया स्वस्मिन्नेव स्थापयामीति भावः । अर्थेनैव स्वमनोरथाभि-
लापो भवति, अन्यथा तु जलतरङ्गवदुद्भूतदीनमनोरथापूर्तिरेव सदा, तथात्र श्रीमत्प्रभुचर-
णत्वेनैवैव भक्तमनोरथपूर्तिरिति भक्तानामर्थरूपोपि भगवानेव सेव्य इति भावः । यथार्थं
विना लौकिकरमणादिकं भोगश्च न सिध्यति तथात्रार्थाभिदैविकलक्ष्मीप्रवेश विना भगवद्रम-
णभोगौ च न सम्भवतः । सा सम्भतिरपि स्वस्मिन् स्वत एव सेवनसन्तुष्टः करिष्यत्येव प्र-
भुस्तदा श्रीमदनुग्रहेण तत्प्राप्तिस्तेन च तौ सभवेताम् । भगवदाज्ञैव भगवदेकशरणायास्त-
स्याः प्राप्तिरिति भगवानेवार्थरूप । अत एव श्रीगोकुलनाथवाग्धिपतिश्रीमत्प्राणेश्वरैः फल-
प्रकरणे 'सर्वत्र तामु सा भगवदाज्ञया निविष्टे'ति । अस्यार्थस्यात्यन्तं योग्यत्वात्सर्वसमर्थ-
इतिपदेन परोक्षेणैव गुप्ततया प्रभुचरणैः प्रकटीकृतमित्यल लेखनेन । तच्चरणाञ्जमकरन्दपा-
नमत्तानां हृदि प्रभुमुल्लेन्दूदयेन स्वत एव भावाधिबीचिप्रचारो भविष्यतीति भावः ॥२॥

एवमर्थस्वरूपमुक्त्वा कामस्वरूपं निरूपयन्ति यदि श्रीगोकुलाधीशोति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।

ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्नैवैकैरपि ॥ ३ ॥

श्रीगोकुलाधीशः सर्वात्मना यदि हृदि धृतस्ततो लौकिकैः लोक-
सम्बन्धिसुखैः वैदिकैरपि वेदोक्तकर्मजन्यैः स्वर्गादिसुखैरपि किमपरमस्ति ? न किम-
पीत्यर्थः । त्वं ब्रूहि । स्वं मानसमेव साक्षीकृत्योच्यते । यदीतिपदेन कस्यचिदेव
परमभागवतः कृतपुण्यपुञ्जस्याग्रिकुमारीणामिव भावो भवतीति दुर्लभत्वं ज्ञाप्यते ।
गोकुलाधीशनाम्ना भगवतस्तदधीनत्वं ज्ञाप्यते । अत एव स्वःस्वामित्वाभिमानिभि-
रपीन्द्रादिभिर्भगवान् तत्पतित्वेनाभिपिक्तो, भगवन्मनोनुवृत्तिज्ञानेन । एतदेवोक्तं 'इति
गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य स' इति । गोगोकुलोक्त्या गोप्यो, गोपा, गावश्चोच्यन्त इति
भावः । तेन तासांमधीशोतिरसिक्तः भेदरसद्वय । अन्यथा पूर्णपुरुषोत्तमः कथं गोपीनां
पशुतुल्यानां स्वयं प्रभुत्वमङ्गीकुर्यात् । तासां केवलं भेष्णीवाङ्गीकारात्स चेद्ब्रूहि तयोग्य-
स्वरूपभावेन धृतस्तदा तथैवाङ्गीकुर्यादेवेति गोकुलाधीशनाम्ना द्योत्यते । सर्वात्मना
सर्वथा सर्वभावेन कामभावेनेति यावत् । अत्र सर्वात्मपदं कामपरमेव । यथा व्रजभाग्य-
रूपाणां सर्वात्मभावः कामभावान्मरु एव, अत एवोक्तं 'गोप्यः कामा'दिति । तथा-
स्मिन्नाचार्यप्रकटितपुष्टिमार्गे तादृक्वाग्निरेवोच्यते । स एव भाव उपदिश्यते । ता एव च
गुरव इत्याचार्यैरेवोक्तं संन्यासपरकरणे 'गोपिकाः शोक्ता गुरवः साधनं च तदि'ति ।
तेन सर्वात्मना कामभावेनेति भावः । अस्यात्पन्तं गोप्यत्वात्सपुष्टनया नोक्तम् । एवं
प्रकारेण चेद्ब्रूहि स्वयं धृतः । स्वधारणोक्त्या बलात्कारेणैव 'मैवं विभोर्हती'त्यादिरीत्येति
भावः । तथा चेद्ब्रूवस्तदा लौकिकैः पतिभिः वैदिकैः स्वर्गादिभिः, पुत्रादिभिर्वाञ्छरं
किं ? न किमपीत्यर्थः । अत एव लौकिकैर्वैदिकत्वागपूर्वकं कामभावेन भजनं श्रीव्रज-
नाथमाणवल्लभाभिरैवोक्तं 'सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तवे'ति, 'पतिसुतादिभिरार्निदं किम्'
इत्यादिभिस्त्यागगुणत्वा पश्चाद्भजनार्थगुणं 'तद्यो निषेही'त्यारभ्य 'तप्तस्तनेषु च शिरस्यु
च किङ्करीणा'मित्यादिना । भगवतापि तथैवाङ्गीकाराज्ज्ञायते चास्यैव भावस्य प्रावक्ष्यम् ।
तस्मादपरं न किमपीति भावः । त्वया चेज्ज्ञायते वा किमप्यपरं तदा ब्रूहि । यद्वा,
गोपदमिन्द्रियवाचके, तेनेन्द्रियदुलस्य प्रभुः सर्वात्मना पूर्वोक्तकामभावेन हृदि मनसि
सर्वेन्द्रियाधिष्ठातरि यदि धृतस्ततो लौकिकैः पतिभिः किं ? न किमपीत्यर्थः । अत्रायं
भावः । यदि भगवान् धृतस्तदा सर्वाणीन्द्रियाणि भगवत्पराणि भवन्ति, तदैव च जन्मे-
न्द्रियसाफल्यम् । तदेवोक्तं व्रजवररणीयाभि'रसप्तवनां फल'मित्यत्रे । श्रीमद्ब्रूवैश्च 'किं
ब्रह्मजन्मभिरिति तासां भावदर्शनेनान्यजन्मवैफल्यमुक्तम् । तस्मादेवं यदि प्रभुर्धृतस्त-
दापरं लौकिकैः पतिभिः किं भविष्यति न किमपीति भावः । वैदिकैरिति पति-
विशेषणम् । वेदोक्तैरपि लौकिकैः किमिति । अपमर्थः । वेदे पतिभजनेन मोक्षः
स्यादित्युक्तं, तद्यु संनाप्तदेहेन्द्रियाणामसम्बद्धतरम् । अत एवोक्तमाचार्यैः 'इदमेपेन्द्रिय-
वनां फलं मोक्षोपि नान्यथा । यथान्धकारे निपता स्थितिर्नाक्षणीः फलं भवेत् । एवं

मोक्षोपीन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा न हि' । तस्माच्चैः किं ब्रूहि ? पूर्वपक्षिणं प्रत्युच्यते-
अपरमपि किं तैरिति जानासि चेत्तदा ब्रूहि । ननु भगवद्मासिसमये लौकिकेष्वेव
संबन्धात्कामस्य च बलिष्ठत्वात्कदाचित्तेषु मनश्चलति तदा तत्कृतमप्यकृतं भवति
ततो वेदानुसारेणैव करणमुचिततरमिति चेत् । न । भगवन्निवेशितमनसां सर्वथान्यत्र
कामो न संभवत्येवेति श्रीव्रजकुमारिकाकामपूरणपारिजातवरणेन श्रीनन्दकुमारेणोक्तं
'न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते' इति । यद्वा, लौकिकैरपि दृश्यादिगुणैरपि,
सर्वात्मना कामभावेन वा वैदिकैर्वेदेन्द्रदिङ्मुखालङ्करणमुखचन्द्राभिरुक्तधर्मैः 'चूतप्र-
वालबर्हस्तबकोत्पलाब्जे'त्यादिभिर्यदि श्रीगोकुलाधीशो घृतस्ततोऽपरं किं, न किम-
पीति भावः । एवं सर्वमकारैरपि कामभावेन प्रभुरेव सेव्य इति भावः ॥ ३ ॥

कामस्वरूपमुक्त्वा मोक्षस्वरूपमाहुः ततः सर्वात्मनेति ।

ततः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः ।

स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

ततः कामभावात्मरुभक्त्यनन्तरम्, पुनः सर्वात्मना सर्वात्मभावेन, शश्वत्
निरन्तरं, गोकुलेश्वरपादयोः स्मरणं तथैव भजनमपि न त्याज्यमिति मे मम
मदीया मतिरित्यर्थः । अत्रायमाशयः । कामभावेन भगवत्सम्बन्धानन्तरं तत्संबन्धस्व-
भास्यमादाननितुल्यत्वप्रमदात्वमदेनान्यथाभावे सति मानादिना द्रोपभावेन तद्वाचा-
द्भ्रुतिः स्यात् । ततः सर्वात्मभावेन भजनमेव कार्यमिति भावः । शश्वदितिपदेन क्षण-
मप्यन्यथाकरणे सर्वथाऽसुरप्रवेशः स्यादिति ज्ञाप्यते । गोकुलेश्वरनाम्ना यथा तेषां सर्व-
भावप्रपत्त्या सन्तुष्टधातुर्गादिरहितेष्वपि स्वामित्वमङ्गीकृतवान्, तथात्रापि तत्रापि करिष्य-
तीति ध्वन्यते । पादेषु द्वन्द्वरूपेण श्रीस्वामिनीपादसाहित्यं ज्ञाप्यते । स्मरणपदेन स्मरणं
चेतसो धर्म इति चित्ते भगवद्विषययोगसमये स्मरणमिति भावः । अन्यथा तद्विषययोगस्या-
तितीक्ष्णत्वेन जीवनमेव न स्यादिति भावः । भजनं सेवा, सापि निरन्तरं तथैवेति
भावः । चकारेण भजनं चित्तपूर्वकमेव वर्तव्यमिति भावः । अपिशब्देन भगवान् भजतु
वा मा भजतु, स्वस्य भजनीय एवेति भावः । अत एव श्रीगोकुलाधीशरतिमार्गांश्चमार्त-
ण्डापितपादप्रदेशैः श्रीवेष्टलन आदि, 'मार्गे वरणे गपि दासीनां नामभृगुतिरिति ।
अयमेवार्थः स्वयं न त्याज्यमिति स्मरणकालत्यागोक्त्या ज्ञाप्यते इति भावः । मे मति-
रिति स्वयत्किरुथनेन स्वात्मभयः प्रदर्शितः । भक्तिमार्गे भक्तिरेव परमपुरार्थः । मोक्षाद्-
प्यभित्तं भक्तेः सिद्धमेव । तस्मात्पुष्टिमार्गे मोक्षरूपत्वं च भजनरूपेणैति भजनमेव निरु-
पिनम् । भक्तेर्भोक्ष्यभित्तं तु श्रीभागवते बहुधरोक्तम् । तथा हि 'सान्त्वयसाष्टिसा-

मीप्यसारूप्ये'त्यारभ्य 'विना मत्सेवनं जना' इत्यन्तः; 'स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थ-
दर्शिन' इति च । 'वीक्ष्यान्नकावृते'त्यारभ्य 'भवाम दास्य' इत्यन्तेन पत्रेन च । तेन
भजनं सेवा मोक्षाधिका सैव कर्त्तव्येति भावः । मोक्षनिरूपणे भजनस्य स्वरूपका-
त्यागोक्त्या पूर्वोक्तधर्मादित्रयरूपेण भगवान् स्ववशे भवतीति ज्ञाप्यत इति भावः । एवं
मोक्षस्वरूपनिरूपणे स्वमतित्वरूपनेन स्वीयानामेव कर्त्तव्यमिति भावो ज्ञापितः ॥ ४ ॥

इति श्रीगोमूलाधीशवागधीशसुखच्युतम् ।

स्वमार्गधर्मार्थकाममोक्षाणां रूपमद्भुतम् ॥ १ ॥

तत्पादपद्मकृपया विवृतं हि यथामति ।

तेनाचार्या मयि ज्ञात्वा स्वीयता कृपयन्तु वै ॥ २ ॥

यत्पदाब्जमरन्दालिभावस्तुच्छीकरोति वै ।

मुक्तिं तच्चरणाम्भोजरेणुर्मथं प्रसीदतु ॥ ३ ॥

श्रीविद्वलपदाब्जमोक्षरेणुसङ्काङ्क्षिणा मया ।

स्वाचार्योक्ता चतुःश्लोकी निर्णीतेयं यथामति ॥ ४ ॥

इति श्रीब्रजवधूपाणेनपादपद्माभ्ररुपुष्टिमार्गचकोरनेत्रानन्दधीवह
भाचार्योक्तचतु श्लोकीविवृतिभाचरसदीपिका

श्रीश्यामलतनुजब्रजराजकृता

सम्पूर्णतामगात् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

चतुःश्लोकी ।

श्रीवल्लभप्रकटितप्रकाशसमेता ।

श्रीमद्वल्लभनाथचरणसरोवरहरेणुभ्यो नमो नमः ।

श्रीकृष्णाऽऽस्याचार्यवर्षाङ्घ्रिपत्रेणुन्नत्वा भक्तितो यद्भवोऽर्थाः ।
दुर्विज्ञेया यत्प्रसादं विनातस्त्वद्वाक्यार्थं तत्प्रसादाद्विद्वे ॥१॥

लोके पदार्थाश्चत्वारो धर्मायस्मरमुक्तयः ।

स्मृत्युक्तसाधनैर्लभ्याः पूजामार्गानुसारतः ॥ २ ॥

तत्र प्रतिज्ञा नो मुक्तिर्विना ब्राह्मणदेहतः ।

भूतशुद्ध्या विनिर्वाहः साङ्गोपाङ्गः स्वमन्त्रतः ॥ ३ ॥

चेत्तदाप्यक्षरप्राप्तिरूप्या मुक्तिर्भवेत् क्वचित् ।

अतो निःसाधनानां यद्दृष्या जन्म तदा भवेत् ॥ ४ ॥

तदर्थं श्रीहरिः साक्षात्स्वास्थ्यवर्द्धिं स्ववापपतिम् ।

चकार प्रकटं लोके श्रीवल्लभमिलितले ॥ ५ ॥

तैरेव श्रीमदाचार्यैः पुष्टिप्रागानुगामिनाम् ।

स्वसिद्धान्तावबोधार्थां चतुःश्लोकीं निरूपिता ॥ ६ ॥

यस्याः पूर्वपदार्थेभ्यः पृथग्धर्मादितुर्परम् ।

सत्त्वं बुध्यते तस्या विद्वतिः क्लिपते मया ॥ ७ ॥

श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयानां स्वमार्गीयपुरुषार्थचतुष्टयप्रापनार्थं स्वसिद्धान्तचतुः-
श्लोकीं निरूपयितुकामास्तत्र प्रथमं स्वधर्माचरणरूपं प्रथमं पुरुषार्थमनुष्ठान्दसाहुः
सर्वदा सर्वभावेनेत्यादि ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।

स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः कदापि कदाचन ॥ १ ॥

ब्रजाधिपः पूर्णपुरुषोत्तमः सविदानन्दो भजनीयः सर्वनाथ इत्यर्थः । पुष्टि-
मार्गीयैरित्यप्याहार्यम् । तदेवोक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः श्रीभागवतदशमस्कन्धे जन्मपद-

रणविवरणे 'निःसाधनफलात्मायं प्रादुर्भूतोस्ति गोकुले । अगो वयं मुनिश्चिन्ता जाताः सर्वत्र एव ही'त्युक्तेर्निःसाधनानां कृते भगवतः पुरुषोत्तमस्य प्रादुर्भावः सिद्धः । स एव निःसाधनेर्निर्विदेवसृष्टयुक्त्यैः सेव्य इतिभावः । अयं स तैः कथं सेवनीय इत्याहुः सर्वभावेनेति । सर्वेद्देहिन्द्रियमाणान्तःकरणादिभिः कृतो यो भावः सर्वात्मभावस्तेन सेव्यः । एतदुक्तं भवति । देहेन्द्रियमाणान्तःकरणस्त्रीपुत्रधनगृहादिकं सर्वं भगवत् एव न ममेत्येवंभूतो यो भावः स संसारनिवर्तकः, तस्मिन् सति जीवे निश्चिन्तता भवति । एवं सति मुक्त एव भगवन्पयो भवति । तदुक्तं भक्तिवर्द्धिन्यां ' गृहस्थानां वाधकत्वमनात्मत्वं च भासते । यदा स्याद्भयसंनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तर्देव हि' । तेन सर्वात्मभावोयमेव दैवजीवस्य मुख्यो धर्मः कर्तव्य इत्यर्थः । तदुक्तं श्रीभागवते एकादशस्कन्धे 'केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः स्वगा भृगाः । येन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा' । नन्वपमपि सर्वथा धर्मान्तरवदेककालीनो वैकदेशीयो धर्मो भविष्यतीत्याशङ्कानिरासायाहुः नान्यः कापि कदाचनेति । अन्योस्मदुपदिष्टधर्मात्पुष्टिपार्गायाद्विरुद्धः पूजापार्गायो यो धर्मः स न वैष्णवानां कार्यसाधकः, किन्तु धाधकः विभूतिपर्यवसायित्वात् । कश्चिन्नेन देशकालयोरपि धर्मविपर्यासौ दृष्ट्वा तत्राप्ययमेव धर्म आत्मीय इति मन्तव्यम् । कदाचनेतिशब्देन कालान्तरप्यस्य धर्मस्य त्यागो न विधेय इतिभावः । सर्वदेति सर्वकालं निरन्तरं भजनीय इत्यर्थः ॥१॥

एवं प्रथमपुरुषार्थं पुरुषोत्तमसेवनरूपं पुष्टिपार्गानुसारिधर्मं निरूप्यातः परं द्वितीयपुरुषार्थमर्थरूपं निरूपयन्तीत्याहुरेवमिति ।

एवं सतां स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।

प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

एवममुना प्रकारेण स्वधर्माचरणरूपे प्रथमपुरुषार्थे सम्यक्तया निर्णीते तदनन्तरं विश्वासयुक्तहृदयेन स्वनुष्ठिते च सति, कालानवच्छेदेन स्मर्तव्यः । वैष्णवैरिति शेषः । इति निश्चितम् । सतां वैष्णवानामैहिकं पारलौकिकं च सर्वकार्यं स्वयमेव विनैव प्रार्थनेन करिष्यति, सर्वथा सम्पादयिष्यति स्म । कुतः स प्रभुरिति । यतोसौ सर्वसमर्थः स्वतन्त्रश्च । कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थो हरिरेव । अतो वैष्णवानां चिन्ताकरणं व्यर्थमेवेतिभावः । उक्तं च 'भोजने छादने चिन्तां दृष्ट्वा कुर्वन्ति वैष्णवाः । योसौ विश्वम्भरो देवः स किं भक्तानुपेक्ष्यत' इति । अतोत्र भगवद्भक्तस्तेन भगवदीयानामैहिकामुष्मिन्मनोरथानां भगवतः स्वयमेव कर्तव्यरूपेण हेतुना निश्चिन्ततां व्रजेत् प्राणुयादित्यर्थः । यथोक्तं दशमस्कन्धे 'तथा न ते माधव तावकाः कांचद् भ्रश्यान्ति मागीन्नायं बद्धसो-हृदाः । स्वयाभिमुग्धा विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो' इति ॥ २ ॥

एवं भगवत्प्रमेयबलं वैष्णवानां समस्तकार्यसाधकमर्थरूपं द्वितीयं पुरुषार्थं निरूप्यातः परं कामरूपं तृतीयं पुरुषार्थं निरूपयन्ति यदीति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।

ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

हे मनुज यदि स्वहृद्यन्तःकरणे सर्वात्मना सर्वात्मभावेन श्रीगोकुलाधीशः भक्त्युत्पत्तिस्तदा ततः श्रीगोकुलाधीशात्पूर्वपुरुषोत्तमादपरमन्यत्सर्वस्मादत्युत्कृष्टं भक्तानां सर्वकामपूरकं वस्तु किमप्यस्ति तर्हि ब्रूहि कथय । लौकिकैर्लौकिकसाधनतिसिद्धयुक्तैर्वचनैस्तथा वैदिकैर्वैदिकयागादिसाधकवचनैर्निर्द्धारितफलं मुक्तिसाधकं मुमुक्षूणां कामपूरकमपीदमेवेति भावः । उक्तं च श्रीमदाचार्यचरणैरन्तःकरणप्रबोधे 'अन्तःकरणं मद्भावं सावधानतया शृणु । कृष्णात्परं नास्ति देवं वस्तुतो दोषवर्जितम्' । किञ्च । 'एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव । मन्त्रोप्येकस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवेति' । अर्थाद्भगवत्प्राप्त्यर्थं भगवदीयानां भगवत्स्वरूपसेवनमुपदिष्टं प्राचीनैर्भगवदीयैर्नारदाद्यैर्मुनिभिः । यदि स एव हृदये स्थापितो निविष्टस्तदा तस्य वैष्णवस्य सेवाफलं किमपरमन्यदृष्टिप्राप्त्यर्थं, न किमपरमन्यदपीति सिद्धान्तः ॥ ३ ॥ एवं कामरूपं तृतीयं पुरुषार्थं निरूप्यातः परं चतुर्थं मुक्तिरूपं पुरुषार्थमुपदिशन्ति-अत इति ।

अतः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः ।

स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

अतः परं श्रीगोकुलेश्वरस्य स्वहृदि स्थापनानन्तरं मुक्तिसाधनं निर्दिशन्त आहुः श्रीगोकुलेश्वरपादयोः स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम् । इतीति समाप्तौ । यथा औपशसेवनात्सुखीभूतस्यापि पुनरौपशसेवनं पुनर्व्याध्यनुत्पत्तिकरं भवति, तद्भक्त्यापि भगवत्प्राप्तौ सत्यामपि पाञ्चभौतिकदेहभृतो जीवस्यासुरादिसद्भादासुरावेशसम्भावनायां तदनुत्पादकं साधनं कर्तव्यमेव वैष्णवेनेत्यर्थः । अतोऽत्रेदमौपशसेवया न त्याज्यं भगवतः स्मरणं तथा भजनं चेत्यर्थः । स्मरणं त्वन्तःकरणमलापहारकं जीवस्य । भजनं भगवत्स्वरूपं शरीराङ्गीकारज्ञानार्थम् । यद्यपि शरीरत्यागानन्तरमन्यशरीरं प्राप्य भजनानन्दप्राप्तिरूपं मुक्तिफलं भविष्यति परन्तु तदपि फलमनेन देहेन भगवत्सेवाकरणादुत्पन्नमस्ति तेनास्यैव रक्षार्थं निरूपितम् । भगवता देवजीवोद्धारार्थं स्वामीशरूपः प्रकटीकृतस्तेनोक्तं श्रीमदाचार्यचरणैर्भक्तिरिति । भगवदीयेषु स्वकृपात्प्राप्त्यर्थमिति दिक् ॥४॥

इति श्रीकृष्णवागीशसिद्धान्तस्य प्रकाशिका ।

चतुःश्लोकी प्रसादेन तस्यैव विवृता मया ॥ १ ॥

इति श्रीमत्विष्णुचरणैकतानधीयहृदयविरचित

चतुःश्लोकीप्रकाशः समाप्तः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

चतुःश्लोकी ।

विवृतिसमेता ।

नमः श्रीबल्लभाचार्यचरणाब्जनसेन्द्रे ।

धर्मार्थकाममोक्षार्थं सेव्याय स्वजनैः सदा ॥ १ ॥

अथ श्रीबल्लभाचार्यचरणाः कृष्णाश्रयग्रन्थे शरणार्तिं निरूप्य शरणागतानां स्वमार्गीयप्रमाणार्थान् धर्मादींश्चोपदेष्टुं पूर्वं धर्मं निरूपयन्ति सर्वदेति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।

स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः कापि कदाचन ॥ १ ॥

सर्वदा सर्वस्मिन्काले । एतेन निरोधलक्षणोच्यमाना सर्वेन्द्रियैः सेवा सूचिता । फलरूपा मानसी वा, अन्यथा कालापरिच्छेदनासम्भवात् । सर्वभावेनेति । सर्वपा-
मिन्द्रियाणामहमहमिकया प्रवृत्तिः सर्वभावः । 'तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिका'
इतिश्लोकोक्तवत् । 'तस्मात्सर्वात्मना नित्य'मिति नवरत्नवाक्याच्च । यद्वा, पतिपुत्रादिभा-
वेन । ब्रजस्य निःसाधनस्यानन्यस्वामिनः अधिपः । अत एवावश्यं सेवनीयः । स्व-
स्यात्मनो जीवमानस्य अयं मुख्यो धर्मः । अन्ये त्वेतदङ्गभूता इत्येवकारः । धर्म इति
'पुष्टिमार्गं हरेर्दास्यं धर्म' इतिकारिकोक्तो विध्युक्तः । विधिस्तु नारदीये 'प्रातर्मध्यन्दिने
सायं विष्णुपूजां समाचरेत् । यथा सन्ध्या तथा नित्या विष्णुपूजा स्मृता बुधैः' । एतदे-
वोक्तं भक्तिहंसे 'स्त्रियाः स्वपतिभजनव'दित्यादि । हीति युक्तोयमर्थः । अन्यो देवतान्त-
रभजनरूपो धर्मः, कापि कस्मिन्नपि देवो, कदाचन कस्मिन्नपि काले न भवति ।
एवकारस्तु अयोग्यवच्छेदकः । अधिमे 'ब्रह्मी'तिपदाद्ब्र हे अन्तःकरण हे भक्त इति
याऽऽधाहार्यम् ॥ १ ॥ एवं ब्रजाधिपतिभजनरूपं 'पुष्टिमार्गं हरेर्दास्यं धर्म' इतिवाक्योक्तं
धर्मं सप्रमाणं निरूप्य प्रमेयमर्थरूपं भगवन्तं निरूपयन्ति एवमिति ।

एवं सतां स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।

प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां ब्रजेत् ॥ २ ॥

देवतान्तरभजननिवृत्तिपूर्वकं भगवद्भजनं कुर्वतां गुसां, स्मेति प्रसिद्धौ । यत्क-
र्तव्यमर्थादिसम्पादनं तत्सर्वं प्रभुः स्वयमेव करिष्यति । स्वकर्तव्यमिति पाठे स्वैः
कर्तव्यम् । शेषं पूर्ववत् । भगवतः स्वयमेव कर्तव्यत्वे प्रभारवोधनायाहुः प्रभुरिति । मकार्षेण

भवति, स्वयमेव भक्ताभिलषितवस्तरूपो भवति । यथा मैथिलश्रुतदेवयोर्द्वयोर्कृप्यादिवा-
हनादिसर्वरूपो भूत्वा विवेश । अत एव 'यद्यद्विद्ये'तिवाक्यम् । ननु सर्ववेदमतिपाद्यो
भगवान्भक्ताभिलषितरूपमुच्चावचत्वं कथं भजत इत्यत आहुः सर्वसमर्थ इति । सर्वेषुच्चा-
वचभावेषु समस्तुल्योऽर्थो भावो यस्य । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'तिश्रुत्या वस्तुतः सर्वस्य भगव-
त्त्वात् । हि युक्तोऽयमर्थः । तेन भगवतः सर्वसमर्थत्वेन निश्चिन्ततां ब्रजेत्याप्नुयात् । विधौ
लिङ् ॥ २ ॥ एवमर्थो हरिरेव हि 'प्रमेयं हरिरेवैक'..... प्रमेयं हरिं निरूप्य सकामं
साधनदशां प्राप्तं हरिं निरूपयन्ति यदीति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।

ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

एतेन दुर्लभत्वमुक्तम् । अत एव दिदक्षा । श्रीयुक्तो गोकुलाधीशः । 'कामः स्त्रीषु मति-
ष्ठित' इतिवाक्यताभिर्युक्तः कामरूपः हृदि धृतः, हृच्छयः कृतः । तत्रापि सर्वात्मना
सर्वेन्द्रियैः 'एकादशेन्द्रियैः काम' इतिनिबन्धवाक्यात् । यद्वा, श्रीभिर्गोपिकाभिर्युक्त इत्यु-
क्त्या साधनं निरूपितम् । 'कौण्डिन्यो गोपिकाः मोक्ता गुरवः साधनं च त'दितिवाक्यात् ।
ततः साधनसहितकामरूपहरेर्हृदि धारणादपरमुत्कृष्टं स्वस्तिपरं किं स्यात् । एतादृशं कि-
मपि न । अस्ति चेद्ब्रूहि । लौकिकैरित्युद्यमादिभिः । वैदिकैरिति यज्ञादिभिः साधने-
रपि ॥ ३ ॥ एवं हरेर्दिदृक्षारूपं कामं साधनं निरूप्य फलं मोक्षं निरूपयन्त्यत इति ।

अतः सर्वात्मना शश्वत्कुकुलेश्वरपादयोः ।

स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

यतो हृदये श्रीगोकुलाधीशधारणादन्यत्साधनं नास्ति, अतः सर्वात्मना देहे-
न्द्रियमाणान्तःकरणैः शश्वत्किरन्तरं, गोकुलेश्वरपादयोः गवां कुलस्य 'कुल संस्त्याने
वन्धुषु वै'ति धात्वर्थात्समूहस्य, गोबन्धूनां गोपगोपीनां, गोकुलग्रामस्य वा ईश्वरस्य नि-
यामकस्य, पादयोः स्मरणमाध्यानं भजनं सेवनं तनुजवित्तजमानसमकारैः परिचरणं न
त्याज्यं, अन्यत्यागपूर्वकं सादरं सर्वथा विवेकम् । चकारः अयोग्यवच्छेदकः, अनुक्त-
श्रवणकीर्तनसमुच्चायकश्च । अविः संभावनायाम् । त्यागसम्भावनेव नास्ति । इति एवंश-
कारिका मम मतिः । मन्मतेः पर्यवसानमत्रैव । इदमेव फलम् । मोक्षश्चायम् । 'मोक्षः कृष्ण-
स्य चेद् ध्रुवमि'तिवाक्यात् । 'ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यमि'ति वृत्रासुरोक्तेथेति दिक् ॥४॥

एवं श्रीबल्लभाचार्या घर्मार्थेच्छाऽमृतान्निजान् ।

लोके प्रदर्शयामासुः प्रमाणार्थांश्च येद्यशः ॥ १ ॥

इति विवृतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनबद्धभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

चतुःश्लोकी ।

श्रीमद्गोस्वामिश्रीमथुरानाथकृतव्याख्यानान्विता ।

श्रीहरिवागीशो विजयनेतराम् ।

नत्वा श्रीवल्लभाधीशपादाब्जप्रगले मया ।

क्रियते तच्चतुःश्लोकीव्याख्यानं विदुषां मुदे ॥ १ ॥

अथ श्रीपुरुषोत्तममुखारविन्दाधिदैविकानन्दमयामिस्वरूपश्रीवल्लभाचार्यचरणाः परमस्मरणिक्काः स्वान्तःकरणोपदेशद्वारा स्वसमीपस्यान्तरङ्गभक्तोपदेशव्याजेन वाखिल-स्वकीयनिरूपयितुःखमहरणेच्छया स्वमकटिनभक्तिमार्गं श्रीकृष्ण एव धर्मादिचतुष्टयपुरु-षार्थरूप इति तातुपदेष्टुं शिक्षितुं च तावच्छ्लोकैरेवैतद्धर्मादीनुपदिशन्तस्तत्रापि 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' 'धर्मेण पापमपनुदति' 'धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वद-न्ती'त्यादिधुतिभिर्मर्षादायापि तत्परमोत्कर्षत्वं यत्र, तत्र फलमार्गीयभक्तिमार्गतत्परमो-त्कर्षत्वे किं वाच्यमिति कैमुतिकन्यायमतमपि मूचयन्तो, भजनरूपे धर्मे क्रियमाण एव तद-र्थादित्रितयं सेन्सपतीति न तदर्थं पृथगायासः कार्यं इति मार्यादिकतच्चतुष्टयतो भक्ति-मार्गीयतच्चतुष्टये वैलक्षण्यमिति सौख्यमिति च ध्वनयन्तस्तच्चतुष्टुं च सर्वत्र प्रथमं धर्म एवो-दिष्ट इत्यत्रापि तावदादौ तमेव दृश्यन्तो निरूपयन्ति सर्वदेति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।

स्वरयायमेव धर्मो हि नान्यः कापि कदाचन ॥ १ ॥

सावधानतया श्रवणार्थमाभिमुखीकरणेन हे अन्तःकरण ! हे भक्त ! इति वा सम्बोध्य सर्वदा सर्वस्मिन्काले सर्वभावेन ब्रजाधिपो भजनीय इत्यन्वयः । भग-वदीयेन त्वयेति शेषः । उपदेशोदेशाश्रवणनस्तथासम्बोधनं वक्तव्यमन्ययोत्तरे 'ब्रूही'ति पदं न सहृष्टेत् । आसुरप्रवेशाभावाय सर्वदेति कालापरिच्छेद उक्तः । सर्वभावः सर्वेषां भावः पतिपुत्रधनादि सर्वं प्रभूरेवेति । अत एव पुष्टिधुतिरूपाभिस्तामसप्रकरणपी-यफलप्रकरणे 'अस्त्वेवमेतदि'त्यत्र तथैव गीतं 'प्रेष्टो भवांस्तनुभृतां किल चन्द्रुरात्मे'ति । एतदर्थस्तु 'नत्करस्यचित्पियो देह' इत्यारभ्य 'भगवत्सेवैवोचिते'त्यन्तं तद्वाक्याशयेन प्रभु-

चरणैस्तथैव निरणायीति तत एव विभावनीयः । यद्वा, सर्वेषु पदार्थेषु भावो भगवत्स-
 म्वन्धित्वभावनं, तेनेत्यर्थः । अत एव दृष्टासुरेणापि तथा प्रार्थितं 'त्वन्माययात्मात्मज-
 दारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयादिति । अथवा सर्वभावः सर्वात्मभावः, तेन
 तथेत्यर्थः । आत्मपदमन्तरेण कथनं तु 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः' 'परोक्षं च मम प्रिय-
 मि'तिव्याहारतः परोक्षकथनाभिप्रायेण । स्वरूपं तु सर्वेषामिन्द्रियाणामहमहमिकया
 निरूपधिभगवत्प्रवृत्तिः । विशेषतो जिज्ञासायां तु विवेचितोस्मत्प्रभुचरणैरनुभाष्यतृती-
 याध्यायतृतीयचरण इति सुधीभिस्तत एव परिभावनीयः । तदधिकरणरूपास्तु ब्रजे
 रासमण्डलमण्डना एवेति न तद्वावाधिष्ठानान्वेषणपयासः । सर्वभावेनेत्यत्र हि करणे
 तृतीया, तद्धि व्यापारवत्कारणं, व्यापारस्तु 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्' । तथा
 च सर्वात्मभावजन्यफलं भजनानन्दानुभवस्वरूपं, तच्च रसात्मकप्रभुस्वरूपात्मकमेव ।
 'रसो वै स' इतिश्रुतेः । मध्ये रमणमवान्तरव्यापारः । अत एवोक्तं फलप्रकरणारम्भे
 तथैव प्रभुचरणोक्तिरुभयत्र । 'पञ्चधा रमणं मतं' 'ततो रूपं प्रतिष्ठितम्' । 'हरिप्रियास्त्रि-
 ति शेष' इति । अत एतद्ब्रमणस्य तज्जनकत्वम् । एवं चोक्तप्रकारेण भजने फलाभाव-
 शङ्का निराकृता । करणं तु फलवन्न तु फलात्मकं, तेनास्य साधनत्वं न तु फलरूपत्व-
 मिति पूर्वपक्षिमतःकलिलतां ब्रजाधिपपदेन निरस्यन्ति । ब्रजस्य 'अदद्यापृतं निशि
 शयानमतिश्रमेणै'तिवाक्याग्निःसाधनस्याधिपः प्रभू राजवन्निपामरुः, 'अनन्यगोकुलस्वा-
 मिफलदाता फलात्मक'श्चात एव 'निःसाधनफलात्पायं प्रादुर्भूतोऽस्ति गोकुल' इति श्री-
 मदाचार्यचरणोक्तिरपि । स एव भजनीयः सेव्यो नान्यस्तदंशः कलादिवेत्यर्थः । एवञ्च
 सतीदं भजनं फलरूपं साधनरूपं च । यथा चारखण्डभूषण्डलाखण्डलस्य हि हेममणि-
 माणिव्यमयहचिरपात्राणि, कोशविशेषे सद्वाद्याणि व्यवहार्याणि च तान्येव । यतस्तस्यैव
 सर्वाधिकैश्वर्यत्वात् । तेषामपि तत्तज्जातीयैभ्यस्तथात्वात्तथाप्रापि । न हि ततोपि जीवमात्र-
 नियामकोऽपरोऽस्ति येन सोपि नियम्यः स्यात् । अतो भक्तिमार्गं सकलसाधनमूर्धन्यमेव
 साधनं सकलफलमूर्धन्यमेव फलमिति नानुपपत्तिः काचित् । किञ्च, प्रामाण्यापेक्षया-
 माप्तवाक्यं शब्द एव प्रमाणम् । आप्तत्वं तु यथाभूताद्योपदेशकर्तृत्वम् । प्रकृते तादृग्महा-
 नुभावाः श्रीमदाचार्यचरणा एवेति नेतरप्रमाणाकाङ्क्षा । युक्तं चैतत् । न हि साक्षात्पुरु-
 षोत्तममुखारविन्दाधिष्ठातृरूपानन्दप्रयामिस्वरूपादितरः कश्चन तथाभक्तिमुर्हतीत्यलं वि-
 शेषजल्पनेन । अत एवाचार्यं मां विजानीयादिति भगवदुक्तिरपि । वस्तुतः पुरुषोत्त-
 मा एव श्रीमदाचार्याः, तत्त्वं च कस्यचिद्भक्तविशेषस्य तद्गत्युद्रेकदशायामेवानुभूतं
 भवति, अनुभूतं चासकृत्चादृशैः । अत एव ब्रह्मभाष्ये 'अनुभवनिगमाद्युक्तमार्गै'रित्यत्र
 श्रीगोकुलनाथचरणैर्विविच्य तेषु तथात्वं निरणायि । एवञ्च तादृगाचार्यसचनानि श्रुतिरू-
 पाण्येव । 'निःशसितमस्य वेदा' इतिश्रुत्या भगवद्विश्वासरूपस्य तस्योक्तदृष्टोस्तत्रैव संभ-

वान्न तच्छङ्काग्न इति दिद् । प्रस्तुतं वदामः । ब्रजपटं तन्निष्ठपदार्थमात्रोपलक्षकमिति तत्रत्याः सर्वे एव भूयियमुनापुलिनाद्रिनिवृद्धगङ्गद्वेषलक्षणापक्षिगोगोपालगोपीजनमृगाद्यो लक्षिताः । अत एव 'धन्येयमय धरणी'-यादि भगवता गीतम् । किञ्चात्र 'भजनीय इति विधिस्तत्राप्यपूर्वनियमविरी तु न सम्भवतस्तत्तल्लक्षणभावात् । तथा हि नहीश्वरभजनममाप्तं, न वा तद्भजनं पाक्षिकमिति भोभगलक्षणभावसरः । अतः 'स्तत्र चान्यत्र च प्राप्त' इतिलक्षणः परिसंख्याविधिरेवायं पारिष्टोप्यादिति सिद्धम् । एवं च तदकरणेऽपराधरूपप्रत्ययायोपि सूचितः । यथा मर्यादाया तदकरणे प्रत्ययायस्त्वनमार्गीयफलाभावश्च, तथात्रापि पुष्टिमार्गीयाचार्यनिदेशोल्लङ्घनेऽपराध एतन्मार्गीयफलाभावश्चेतिभावः । ननु यत्र रागतः प्रवृत्तिस्तत्रैव स, अत एव 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' इति तार्किका इति चेत्, न । तथालक्षणस्यानुपलब्धेर्विनिगमकाभावाच्च । यद्वा, मास्त्रयं प्रमाणवृत्तान्तः, प्रमेयपदतो विधेरनियामकत्वात् । वस्तुतस्तु आवश्यकार्थेऽनीय 'आवश्यमाधमर्ष्ययोः' 'कृत्या-श्चे'त्यनुशासनात् । तेन सदानन्दरूपत्वाच्छ्रीमोकुलाधिपतिरवश्यमेव भजनीय इति भावः । अपरञ्च, 'प्रजशतोगर्मनार्थेऽन्येन प्रजतीति ब्रज इतिव्युत्पत्त्या पचायन् । भगव-तस्तस्याधिपत्येन सोपि ध्यापिवैकुण्ठात्मन् इत्यमूचि । तेन भक्तहृदयप्रदेशादौ भगवदावि-र्भावयोग्यतायां तद्विच्छया ततः पूर्वमेव तदाधिर्भाव इत्युक्तं भवति । अन्यथा तस्य तद-धिष्ठानता न स्यात् । न वा भगवतः साधारणवद्यत्र कुत्रचित्तन्तरेणाधिर्भावः । इतरथा निखिलजीवनियामकस्यानन्दरूपफलात्मकस्य त्रैलोक्यस्याधिपतेस्तत्राधिपत्यमात्रकथनेन को वा तदुत्कर्षः स्यात्, प्रत्युतापत्रर्पाधायकश्च भवेत् । न चेन्द्रादिलोकवत्स्योत्कर्षः कुत्रचि-दपुराणादौ प्रख्यातो येन तदधिपतित्वेन तादस्यापि तादृङ्माहात्म्य, यतस्तथात्वं वदेयुः । कदाचित्तादृशश्रवणमपि भूलोक एव न स्वर्गादिषु, क्वचिच्छ्रूयतेऽपि न तादृशः, सोपि तत्तादृशलीलादर्शनानन्तरमेव, न तदवाङ् । तादृगपि न सर्वजनावच्छेदेन किन्तु कैपा-श्चिदेव भूरिभास्यभाजा तथात्वं भासते, सोपि भगवतः सकाशादेतस्यैव, नापि तत्रो भग-वतः । किं बहुना तादृशस्यापि प्रादुर्भावोपि माहात्म्याच्छादक एव । अत एव क्वचित्सु-राणामपि तन्नावरोधः । अत एव श्रीभागवते पुराणान्तरीयप्रसिद्धाध्यायत्रयकथा । तत्रैव श्रीमोवर्द्धनोद्धरणप्रस्तावे पुरन्दरगर्वश्च । सोपि तत्र तज्जन्मादिभ्रमहेतुक एव नान्यया । नन्वेवं चेत्तर्हि तत्रैव स एव तेषामेव कथं स्तुत्यो जात इति चेत्, सत्यम् । परं सा स्तुतिः पूर्वं तन्माहात्म्यज्ञानत एव । यतस्तत्स्वरूपज्ञान, तत्रापि गर्भे एव ज्ञानादेव तादृक्तन्माहा-त्म्यावरोधनं, ब्रह्मणो भगवद्वयतरणसम्बन्धिनिखिलवृत्तान्तावरोधात् । अत एव जन्मप्र-करणीयप्रथमाध्याये राजमश्राभिनन्दनानन्तरं 'भूमिर्दत्तवृष्याजे'त्यादिना श्रीशुकैस्तत्र तज्ज्ञानं निरूपितम् । न चैवं क्लृप्तवारणचरित्रे तस्य तद्वरणप्रशक्यवचनं स्यात्तन्मोहा-सम्भवादिहासम्भवादिदि वाच्यं, सर्वमेतदस्मत्प्रभुचरणैस्तामसप्रकरणीयप्रमाणप्रकरण-

चरमाध्यायसमाप्त्यनन्तरमेव 'कथामात्रं हरेर्वाच्य'मित्यादिना समाहितं । श्रीविट्ठलचर-
णैरपि तदर्थविवरणे विविच्य निरणायीति नात्रानुग्रहे विस्तरभीक्षित इति नात्र पूर्वप-
क्षावसरः । अतो व्यापिवैकुण्ठात्मको ब्रज इति ब्रमाधिपत्तपदेन ध्वनितम् । अत एवाय-
वर्णे कृष्णोपनिषदि 'वैकुण्ठं गोकुलवनं तापसास्तत्र ते द्रुमाः' । तैत्तिरीयश्रुतावपि 'ते ते
धामान्युष्मसि गमध्वै गावो यत्र भूरिशृङ्गा' अयासः । अत्राह तदुत्सापस्य विष्णोः परमं
पदमवभाति भूरेः' । 'विष्णोः कर्माणि पश्यत, यतो व्रतानि पश्यते । इन्द्रस्य मुज्यः सखा ।
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुरातत'मिति । एतदर्थः प्रपञ्चितः
श्रीविट्ठलवरैर्विद्वदाभरण इति नास्माभिरत्र विस्तरणीयस्तथापि तदध्ययनमाधुनिकानां
सर्वेषां दुर्घटमिति तत्र एव तमेवार्थमल्पतोऽनुब्रूमः । तथा हि हे भगवन् ते तव ते तानि
'सुपुतिडुपग्रहलिङ्गनराणा'मित्यनुशासनाल्लिङ्गव्यत्ययः । धामानि क्रीडास्थानानि ।
गमध्वै प्राप्तुं । उष्मसि कामयागदे । तानि कानीत्याकाङ्क्षायां गूढाभिसन्धिमुद्धाटयति
श्रुतिः । यत्र श्रीगोकुले भूरिशृङ्गा दीर्घशृङ्गा गावो वसन्तीति शेषः । अथवाऽऽरण्य-
ग्राम्यपशुपक्षणाथम् । भूरिशृङ्गा बहुशृङ्गा रूपभृतयो मृगा गावश्च तथा । कीदृशाः ?
अयासः शुभाः शोभावहाः शोभाधायका इति यावत् । तस्येति शेषः । अत्र स्थाने
भूमौ । तथापि स्वस्य तादृग्भाग्याभावाद्गुणोचरो न भवतीति त्वेदेनाहेत्याह श्रुतिः ।
तल्लोकवेदमसिद्धम् । उरुगायस्योऽकीर्तितेभगवतो, विष्णोर्व्यापकस्य । अत एव भूरेव-
दुरूपस्य, रासोत्सवादी तथा प्राकट्यात् । तच्छ्रीगोकुलं परमं पदं, स्थानं वैकुण्ठं
पदं, तस्मादप्यधिकं परमं पदं, प्रकृतिमिपत्वेनापि परमं तादृशं पदमवभाति प्रकाशते' ।
अत्र स्वयं नित्या श्रुतिः 'अवभाती'ति वदन्ती स्वभानविषयस्य श्रीगोकुलस्यापि नित्य-
त्वमेव ब्रूते । अन्येषामनवभानपक्षेपि वर्तमानमयोगतो विषयस्यापि तत्त्वमेवापातीति
भावः । एतदनन्तरमेव च 'विष्णोः कर्माणी'ति पठ्यते । तथा पूर्वस्मिन्मन्त्रे 'यत्र भूरिशृङ्गा
अयासस्तत्तस्य परमं पद'मित्युक्त्वा, तत्र तदनन्तरं कृतानि विष्णोः कर्माणि यज्ञो-
दास्तनपानपूतनासुपयःपानरिङ्गणादीनि पश्यत, गूयमिति शेषः । यतः कर्मभ्यो हेतु-
भूतेभ्यो व्रतानि कात्यायन्यर्चनादीनि, सान्निध्यादिःशुभेव पश्यते स्पृष्टवान् । अयं भावः ।
तत्फलत्वेन तत्कर्माणां विर्भूय तासु सर्वा लीलां कृतवानिति । 'स्पृष्ट वाधनस्पर्शयो'रिति
धातोर्लिङ्गि रूपम् । यद्वा, अयं धातुरुभयाथेरुस्तेन व्रतानि लोकर्थ्यादात्रतानि पाति-
वत्त्वादीनि ववापे । अयमप्यर्थः । धेदमर्थादात्पाजकानां कर्मणां सदोपत्वशङ्कापरि-
हाराय 'यत' इत्यवयवयोगः । तथा चैतत्कर्मणामविकृतत्वमुक्तम् । किञ्च, स्वव्रतानि
आत्मारामत्वपूर्णकामत्वादिनियमरूपाणि ववापे । अस्मिन्नर्थे नञ्प्रत्ययेऽत्रतानि स्पृष्टवा-
नित्यप्यर्थो युज्यते तदा, तानि कर्माणि गोपीभिः सह रमणरूपाणि पश्यतत्युपदेशः ।
अत्र कथनार्थविशेषस्तत्रैवोपपादित इति तत्र एव परिभाषनीयो, विस्तरभयतो नात्र

वितन्यते । इन्द्रस्य युज्यो योज्योनुकूलः सखा । अयमाशयः । प्रभुणा इन्द्रयागभङ्गे कृते
 वदन्नाहकासाधारणवर्षेणेन्द्रेण तद्रोहे कृतेपि सर्वसमर्थोपित देतुक्तन्मदमेव दूरीकृतवान्,
 न तु तत्तदधिभार येति तथा । तदन्तरमिन्द्राभिषेकगोविन्दनामधारणादिभिस्तन्तमान-
 वमस्तथा । एव निरूप्य तत्पूर्वोक्तं विष्णोः लीलास्यानं परमं पदं सूरयो विद्वांसः, तत्त्वं
 च शब्दब्रह्मपरब्रह्मस्वरूपविचित्रम् । तत्र परब्रह्मबोधस्तु भक्त्यैवेति सिद्धान्तः, 'भक्त्या
 गामभिजानाति' 'भक्त्याहमेकया श्राद्ध' इत्यादिवाक्यैः सूरयो भक्ता एव । नन्वत्राह
 तद्गुणायस्ये'ति 'सूरयः सदा पश्यन्ती'तिवाक्यैरुवाक्यताया भूमौ तत्परमं पदं भक्ता
 एव सदा पश्यन्तीत्यर्थोऽवसीयते, एवञ्च ध्यानकालिन्दीतनुलि नगिरिवरगङ्गराद्यात्मकत्वे-
 नोद्धतरूपवन्महच्च । तदेव हि द्रव्यं यच्चाक्षुषं, यन्महत्त्वे सति उद्धतरूपवदिति तर्कोक्तिः ।
 तच्चाक्षुषं द्रव्यात्मकं च तत् परमं पदं कथं भक्तैकदृश्यमेव, न साधारणजनगोचरमित्या-
 शङ्काया दृष्टान्तमाह-दिवीयं चक्षुराततम् । दिवि स्वर्गं यथा आ समन्तात् तत् व्याप्त
 'यन्न दुःखेन सभिन्न'मितिवाक्याल्लुखैःसाधनतद्रूप तत्पदार्थं तत्रस्थानामेव चक्षुः
 पश्यति नान्येषाम्, तथैतद्वीलामध्यवर्तिनामेव तद्दृश्यमित्यर्थः । शाखान्तरेपि, 'ता वा
 वास्तुन्युष्मसि गम'यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः । अत्राह तद्गुणायस्य दृष्टः परमं
 पदमवभाति भूरि' । अर्थस्तु, ता तानि, वा युवयोः कृष्णरामयोः गोपीमाधवयोः,
 वास्तूनि अनेकविधकुञ्जादीन्येव वस्तूनि, गम'यै माम् 'तुमर्षे से स' इत्यनुज्ञासना
 देतुं साधु । दृष्टः कामान् वर्षतीति दृष्टा, तस्य । गोपिकासु कामवर्षकस्य । भूरि बहुरूपं,
 पदविशेषणम् । अग्रिपार्थस्तुक्त एव । परमपदा'दधिकं तत्रानुप्रविष्टमिति न्यायो ध्वनितः
 अन्यथा तत्पदमित्येव ध्रुतिर्वेदेत् । एवञ्च, लक्ष्मीतुल्यतायामपि यथा भक्तेषु तत्र उक्तृष्टत्वं
 'गोप्योन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्री'रितिवाक्यात् । अत एव 'स्वानन्दानुभवार्थ'मि-
 त्यस्य विवरणे श्रीविद्वल्वरै'स्तथा च स्वपदस्य स्वामिनीवाचकस्ये'त्यादि व्याख्यान
 कृतम् । तथा च प्रसिद्धतदपेक्षया प्रभो रतिमीतिसाधकत्वेनानिर्वचनीयच्छनिर्विधाय-
 कत्वेन च तस्य तथात्वमितिभावः । 'न स्त्रियो व्रजमुन्दर्य' इत्यादि तत्रत्यबृहद्गामनपुरा-
 णीयकथाप्युक्तार्थेऽनुसन्धेयेत्यल विस्तरेण । प्रस्तुतमनुसरामः । एतादृशस्याधिपो 'भज-
 नीयः सैव्य इत्यर्थः । सेवा हि सेवकस्यैव धर्मः । 'भज' धातोः स एवार्थो निरूढः ।
 तथा चाशेषजीवाना सहजदासत्वममूचि । तदकरणे तदण्डयोग्याश्च त इत्यपि । उक्तमेवो-
 ष्टायन्ति स्वस्येति । स्वस्य भगवदीयस्यायमेव भजनारण्य एव धर्मो न तु मार्या-
 दिकः स इतिभावः । एवकारस्तु पुरुषोत्तमभजनधर्मानिरिक्तधर्ममात्रव्यवच्छेदकः ।
 अथवा स्वस्यैवाय धर्मो नेतरेषाम् । तेन भगवदीयव्यतिरिक्ता निवारिताः । ततो गोप-
 नमप्यमूचि । अत एव 'न बुद्धिभेदं जनयेत्', 'त्वं च रद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि
 कारये'त्यादि भगवद्भाषितम् । एतदर्थमेव शङ्करमभृतीनामुद्धवः । यद्वा, अयं धर्म एव

भगवदीयस्य सर्वपुरुषार्थसाधकस्तत एव सजातीयार्थादिव्रितयसिद्धेः । अधवाऽयं धर्म एव स्वस्य तथा, न ज्ञानादयः । 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्ये'तिवाक्यतः । हिशब्दः कैमुति-कन्यायेन युक्तार्थं ध्वनयति । भगवता गीतायां 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मानेकं शरणं व्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच' इति स्वधर्मातिरिक्तसर्वधर्म-परित्यागपूर्वकं निजशरणमुपदिष्टं, तत्फलं च पापमोचनमुक्तं, न स्वरूपसम्बन्धादिकम-तोऽप्यमुक्तभागो मार्यादिक एव स इत्येवं निश्चीयते । इतरथा स्वयमपि पापमोचनमेव फलत्वेन नोक्तं स्यात् । एवञ्च यत्र निखिलधर्मतो मर्यादामार्गावोपि शरणमार्गः साधी-याँस्तत्र फलमार्गीयभक्तिमार्गोक्तमकारेण सेवाकरणं, तत्रापि श्रीपुरुषोत्तममुत्तारविन्द-विरचितपद्धत्या, द्युतरां तदात्मजनिर्मितरीत्या, सेव्योपि श्रीकृष्णः सदानन्दः फला-त्यकस्तत्राप्युक्तभावेन भजनं सर्वधर्मपरित्यागपूर्वकं सर्वोक्तप्रमफलं स्वरूपानन्दात्मक-मिति किं वाच्यमिति । अतः सर्वात्मनाऽन्यं निराकुर्वन्ति नान्यः कापि कदाचनेति । अन्यः प्रेरणादिलक्षणो धर्मो न भगवदीयो भवतीत्यर्थः । मार्यादिकत्वाद्भगवदीयैर्न कार्ये इति भावः । कापीति देशश्रमापरिच्छेद उक्तः । कदाचनेति कालापरिच्छेदश्च । उक्तमकारेण दासैस्तदास्यमेव विधेयमिति भावः । अत एव 'भक्तिमार्गे हरेर्दास्यं धर्म' इति तन्मार्गमर्षैर्दास्यमेव धर्मत्वेनोक्तम् । अत एव वृथासुरेणापि इष्टपुष्टिफलेन 'अहं हरे तव पादकमूलदासाजुदासो भवितास्मि भूय' इति प्रभुं मति तदेव प्रार्थितं नेतरत् । प्रभुताक्षात्कारे साक्षात्प्रार्थनमनुचितं भक्तस्येति परम्परया तत्प्रार्थनम् । एतेन स्वस्य दीनभावो दर्शितः । प्रभुसन्तोषाधायको यतस्तादृग्भाव एवात एव 'भक्तानां दैन्य-मेवैकं हरितोषणसाधनमि'ति भाषितं प्रभुचरणैः ॥ १ ॥

एवं श्रीपुरुषोत्तमस्य भक्तिमार्गीयप्रथमपुरुषार्थरूपत्वं सोपपत्तिकं निरूप्य तस्यै-वार्थरूपत्वं प्रतिपादयन्ति एवमिति ।

एवं सति स्वकर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।

प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

एवं सति उक्तमकारेण भजनरूपे धर्मे क्रियमाणे सति । स्वकर्तव्यं स्वामिकार्यं यत्तत्स्वयमेव स्वाम्येव करिष्यति न तु तदंशावतारादि । अतः प्रभोः स्वातन्त्र्यमप्य-सूचि । न जीववत्केवलं पारतन्त्र्यमेव । 'अहं भक्तपराधीन' इत्यादिवाक्यैः कालादि-नियामकस्य प्रभोस्तत्केवलं स्वभक्तमाहात्म्यावबोधनायैव नान्यथा । अत एव 'ह्रस्वतन्त्र इव द्विजे'ति तद्वाक्ये इवशब्दः । अस्वतन्त्र इव, नत्वस्वतन्त्र एवेति ध्वनयति भगवता तथो-क्तमित्यवसीयते । भक्तवात्सल्यतोपि क्वचित्पथा, अत एव दामोदरलीलापि । 'यस्य च भावेन भावन्नृत्तण'मित्यनुशासनात्सतीति सप्तमी । ततः स्नेहनावच्छेदतो दास्यकरणेऽप्यभिचा-

रि नित्यं स्वामिर्नैव्यमिति च ध्वनितम् । नपुंसकलिङ्गोक्त्या स्वयमिदं व्यप्योक्तेश्च श्चुटते-
 वास्तवत्वमानन्ददायकत्वमविचारित्वं च । अन्यर्थं कृते कृत्येति वा द्रुपुः । स्वकृतीरिति
 च । ननु श्रीमदस्मदाचार्यैर्यचरणसरसिजरजोभूषणभूषितैस्सेवैर्वाङ्मयद्रुवास्वादि-
 स्वान्तैस्तद्विधासेन तत एव 'स्मिन्मभ्य'मित्यादिवाच्यार्थानुसन्धानतः मार्थनमन्तरेण
 भजनोपयोगिनिखिल्यपदार्थसम्पत्त्या तादृग्भावेन स्वभाष्यसौभाग्यसञ्चयमिव तद्भजनं
 फलव्यमेव, परन्त्राधुनिकाना तत्स्वरूपानभिज्ञतया तदनुभवाभावाच्च जीवधर्मत्वेन कदा-
 चिद्विधासेनोक्तप्रसेवासाधनरूपतनुजनिचजसेवासिद्धपर्यमयापेक्षायां तत्र मयत्ने कृते
 कदाचिद्वाहिर्मुख्यसेवाप्रतिबन्धौ च स्याताम्, 'त्रैवर्गिकायासे'तिवाक्यात्मभुक्तप्रति-
 बन्धोपि सम्भवेत् । न च सेवार्थं यत्ने त्रियमाणे न भगवन्कृतप्रतिबन्धः, अत एव
 'त्रैवर्गिके'तिपदम्; आयासमात्रविघातहेतुत्वे 'त्रैवर्गिके'तिपदं न बदेत्; अतो भज-
 नार्थं यत्ने कृतेपि न दोषः; मर्यादाप्रवाहसंबलितानामेव वाहिर्मुख्यादिभावो, न पुष्टाव-
 द्धीकृतानामिति वाच्यं, नवरत्ने 'वापी'तिपदव्यारयानेऽस्मत्प्रभुचरणैरेवैतदुत्तरितत्वात् ।
 अपरञ्च, भगवान् पूर्णपुरुषोत्तमः सर्वैररणसमर्थोपि स्वसेवार्थमप्यर्थयत्नसापेक्षश्चेत्तत्सेवा-
 यामेव को विरोधोऽप्यसेवैव कुतो न कार्या, यत्नायासस्य तुल्यत्वात् । तस्यास्मिष्टकर्मत्वं
 च भज्येत । वाहिर्मुख्यसेवाप्रतिबन्धौ च कथञ्चिदपि दुर्निवारौ स्याताम् । स्वामिकृत-
 प्रतिबन्धस्याप्यतिवन्निवृत्ततः स्वकृतोपि मयत्नोपि व्यर्थः स्यात् । वस्तुतस्तु अस्मि-
 न्फलपार्गायभक्तिमार्गे सेवैव धर्म इति राद्धान्तः । अत एवात्रैव मन्येऽस्मत्प्रभुभाषण-
 सुधाधारा, 'स्वस्यायमेव धर्मो ही'ति । इतोऽपि स न कार्यं एवेत्युक्तं भवति । 'योगक्षेमं
 ब्रह्मस्यह'मितियाचयं च व्यावृष्येत । 'तुष्यतु दुर्जन' इतिन्यायेनास्तु वा मार्यादिक
 एव स तथा'प्यधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्दानिः' । अत्रायमभिमन्धिः, परमकारण्यैक-
 सिन्धुः श्रीगोकुलजनैरुजीवनः स्वाश्रितस्य स्वल्पमप्यापासमसहमान एव सर्वैकरण-
 समर्थस्तत्पयत्नमन्यथाकरोति स्वस्मिन्निश्वासदाढ्याय नान्यथा । तथा च यत्र मर्यादा-
 प्रवाहसंबलितानामपि भक्ताना यत्नकेशासहिष्णुः करणाकोपलो हरिस्तत्र पुष्टावे-
 वाङ्गीकृतस्य यत्किञ्चिदपि तदसाहिष्णुः श्रीमद्गोकुलजनलोचनचकोरचन्द्र इति किं वाच्य-
 मत एव 'किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकतने' इति वचनामृतं च । 'भगवदर्थोपि
 सा न कार्य'त्युक्तं नवरत्नेऽस्मत्प्रभुचरणैरत एव । किञ्च, प्रजरत्नानामपि निजनाथनिदे-
 शतोपि न निजप्रजगृहगमनमपि । यत्रैवं सूक्ष्मेक्षिका तत्रेतेरेषा वाहिर्मुख्यादौ का वार्ता ।
 अत एव तामसमकरणीयफलप्रकरणे 'यद्वाङ्मयाक्षे'तिश्लोके प्रजरत्नैर्निरुक्तं यत्प्र-
 भृति त्वत्पादतलमस्पाक्ष्य तत्प्रभृति वयमञ्जसा अन्यसमर्क्षं स्थातुं न पारयामः । विद्वत्
 चैतदस्मत्प्रभुचरणैर्यथा देहाभिमानी व्याघ्रस्य देहविघातकत्वात्तत्संनिधौ स्थातुं न शक्नो-
 ती'ति । एवं च सर्वथोक्तदोषसम्भवप्रयतो न मयत्नं कुर्यात् । अकृते तस्मिन्सेवासाधनानुपल-

विद्यस्तदनुपलब्धौ भजनोच्छेदस्तदुच्छेदे स्वधर्मात्यन्ताभावादुक्तोपदेशे घटकुटीप्रभात-
 वृत्तान्तो वृत्त इति निजजनस्वान्तभ्रान्तिमपनयन्तः प्रवदन्ति-स्वयमेवेति । स्वयं प्रभु-
 रेव सर्वं करिष्यति । स्वाश्रितजनयत्नयन्तरेणापि भजनापेक्षितसकलपदार्थान्तिपाद-
 यिष्यतीत्यर्थः । सेवकैः सेवोपयोगिसमस्तपदार्थाथित्वेनेतरतोऽर्थार्थिनेन मनो व्याकुलं
 न विधेयम् । अत्रायमाशयः, आश्रयान्तररहितः स्वाश्रितजनो यदि भजनानुसृ-
 लनिखिलन्यासपुरस्सरं तदनुकूलसकलवस्तुविकारतो निजभजनमेव सर्वतोऽधिकं
 फलरूपं स्वसर्वस्वं ज्ञात्वा विदधाति तदा सर्वात्मरूपः फलात्मा सर्वकरणसमर्थः
 कालादिनियामको भगवान्पूर्णान्दो हरिः परमकृपालुर्येतो यत्किञ्चिदपि स्वकी-
 यपरिश्रमासहमान एव स्वसेवासाधकमेव तदपेक्षितसमस्तसामग्रीरूपं कृतो न विद-
 ध्यात् । अन्यथा 'योगक्षेमं ब्रह्माय्यह'मितिदृढमनिज्ञां न बदेदेव प्रभुरकुतोभयः । अमा-
 सस्य प्रापणं योगः । प्राप्तस्य परिपालनं क्षेम इति तयोरर्थः । यद्वा, स्वयमेव स्वत
 एव सर्वं करिष्यति प्रार्थनानपेक्षः । एतेन सेवकैर्न प्रभुः प्रार्थनीय इतिभावः ।
 अत एव 'निजेच्छातः करिष्यती'ति नवरत्नेऽस्मत्प्रचरणैर्गौतं, 'प्रार्थिते वा ततः किं
 स्या'दिति विवेकधैर्याश्रयग्रन्थे च । यद्वा, स्वयमेवेत्यादि पूर्ववत्, न कस्यचित्प्रे-
 षणा देवतान्तरद्वारा वा । कालादिदेवतान्तरप्रेरकोऽपि हरिरेवेति भावः । अस्मिन्नर्थेऽत्रा-
 योगव्यवच्छेदक एवकारः । अथवा सेवकप्रार्थनस्य दोषावहत्वात्तत्प्रार्थनमन्तरेणैव ततः
 पूर्वमेव तदभिलषितं कुर्वन्न तत्प्रार्थनत्वात्सनां समीक्षते । अन्यथा 'यस्त आशिष आशास्ते
 न स भृत्यः स वै वणिक्', 'आशासानो न वै भृत्य' इत्यादिवाक्यैस्तत्सेवकत्वहानौ स्वस्वा-
 मित्वभावस्तत्र दुर्लभ इतिभावः । एतेन प्रभोः परमभक्तपरमहितकारित्वं समसूचि ।
 अत एव 'योगक्षेमं ब्रह्माय्यह'मितिवाक्यम् । यद्वा, स्वयं करिष्यत्येवेति क्रियया सहान्वये-
 नात्यन्तायोगव्यवच्छेदक एवकारस्तेन प्रभुविश्वासेनैव सेवकैः स्थेयमतोऽस्मिन्प्रागे तद-
 भाव एव परमवाधकः । अत एव विश्वासतदभावयोर्ब्रह्माह्वचातकौ भाव्या'विति तयोरनु-
 सन्धानं तत्रैवोक्तम् । ननु सर्वसमर्थोपि प्रभुः सर्वथा साधनसम्पत्तिमन्तरेण तादृक्फलदाने
 कथं समर्थो भवेत्, भवेद्वा यथाकथञ्चित्सम्पत्तावेव । अत एव 'ये गया मां प्रपद्यन्त'
 इतिवाक्ये प्रपत्तिरेव तत्सम्पत्तिरिति चेत्, सत्यम् । परं तत्रेदमवधेयम्-यस्य येन प्रकारेण
 प्रपत्तिस्तस्यै तत्प्रकारेण प्रपच्छतीति प्रभुः 'तांस्तथैव भजाम्यह'मितिवाक्यत एवमेव ।
 एवञ्च, यत्र पर्यादाभार्गोकरीत्या प्रपत्तिस्तत्र तद्रीत्यैव फलदानं मावाहिकेभ्यः प्रावाहिक-
 रीत्या घृष्टे तद्रीत्या तथेति विवेकः । इतरथा 'यथा तथे'तिपदे न बदेत् । ये जना मां
 प्रपद्यन्ते तानेवाहं भजामि हीन्सुक्तेपि चारितार्थ्यं स्यात् । उक्तार्थं यथाशब्द इत्यत्र
 'प्रकारवचने थालि'तिपाणिन्यनुज्ञासनं नामरूकमेवेति नानुपपत्तिः काचित्, तथाश-
 ब्दार्थोप्यनेनैव व्याख्यातः । तथा चात्र भजनोपदेशः पुष्टिपदत्पनुसारेणैति तथैव फल-

दानमिति दिक् । इत्थं च मर्यादायां साधनापेक्षो भगवान्यथासाधनं फलं ददातीति पुष्टौ तन्निरपेक्ष इति निगर्वः । अत एव श्रीमद्भागवते श्रीगोवर्द्धनोद्धारणप्रस्तावे 'गोपा-
येस्वात्मयोगेन सोऽयं भे व्रत आहित' इति श्रीमद्भोक्तुलनाथोक्तिः । अन्यथा ब्रजजन-
स्वरूपानन्ददानं च मुतरामशक्यवचनं स्यात् । न च तत्रैव पूर्वोक्त एव प्रस्तावे पूर्वाद्धिन
'तस्मान्मच्छरण'मित्यादिनोक्तमेव वक्ति चेच्छरणगमनादिकं तत्साधनमप्यस्तीति वाच्यं,
'निस्साधनफलात्माय'मिति प्रभुराक्यविरोधापत्तेः । यदि ग्रहिल्यता तदाच्यं तथापि
प्रभुणैव तत्सम्पादितं न तु तैरपि किञ्चित्कृतम् । किञ्च, कदाचित्कृपाञ्चित्सम्भवेपि
तत्रत्योपरिभागस्थशुकमयूरभृगादीनां मुतरां तदसम्भवः । वस्तुतो नास्त्येव तेषामपि
तद्वन्धसम्भवोपि, प्रत्युत विपरीतं च तत् । अत एव श्रीमद्भोक्तुलनाथमिना महता यत्ने-
नापीन्द्रबलिभागो निवारितः । अत एवा'न्यापृत'मित्तिवाक्यं च । न च जन्मान्तरीयं
तदस्तीति चेत्, न । तथाभ्यने मानाभावात् । न चैतत्फलान्यथानुपपत्तिरेव तदिति
चेन्न । उक्तोक्त्युच्छेदापत्तिः । ननु क्वचित्चादृगुक्तिरपि स्यादिति चेत्, न । 'अस्ति
चेदुपलभ्येते'तिन्यायो व्याकृष्येत्, प्रत्युत भगवत्सर्व सम्पादितमित्युक्तिर्लभ्यतेपि ।
अत एव 'प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरि'रितिवाक्यमिति चेत्, समः समाधिः, 'अहो
अमीषां क्रिपकारि शोभन'मित्तिवाक्यात् । अत्र द्रुमः । यद्यप्येतद्रचनमपि कोटिद्वयावबो-
धमवगाहते तथाप्युत्तरदले यथोपोद्बलक'मन्यापृतं', 'निःसाधनफलात्माय'मित्तिवाक्यं न
तथा पूर्वदले इत्यनेनापि भगवत्कृतिरेव निरणाधि, न ब्रजवासिनामतो मर्यादायां तत्सा-
धनेरेव फलं यतस्तदक्षरूपि प्रभुरेव । पुष्टौ तद्विनापि स्वबलेनैव सर्वं कर्तुं समर्थ इति
कृतं वाचां विन्यासः । इदानीमुक्तार्थमेवोद्धाटयन्त्यस्मत्प्रभुचरणाः प्रभुरिति । प्रभुः
सर्वनियामकः । 'अन्ये चाशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वय'मित्तिवाक्यतः । अत एव
समर्थ इति हेतुगर्भं विशेषणम् । सर्वेभ्यः कालादिभ्योपि समर्थः । कालसाध्यपदार्थ-
स्यापि स्वयमेव साधकः । यद्वा, सर्वेष्वश्रमेषु देशेषु बाहोस्विदुर्णेषु तथा कालत्रितयेषु
वर्णाश्रमादिषु तथा । देशादिपदसाधनानपेक्षः । यद्वा, सर्वस्मिन्साधनविषये तथा । तत्तत्सा-
धननिरपेक्षः । यद्वा, सर्वैः कालादिभिः कृत्वा समर्थः सर्वकरणक्षमः । कालाद्योपि
तदधीना एवेति तत्साध्यपदार्थस्यापि प्रभोरिच्छामात्रेण त एव साधका न तु विघ्नक-
तारः । अथवा सर्वेषु देवजीवेषु साधनसम्पत्तिं साधयितुं तथा । स्वस्मिन्नेव ज्ञानादेः
सिद्धत्वात् । यद्वा, असाधनमपि साधनं कर्तुं समर्थः, अद्भुतमर्थत्वात् । अत एव तत्त्वा-
र्थदीपे 'असाधनमपि साधनं करोती'त्यस्मत्प्रभुचरणोक्तिः । हिशब्दोपि समर्थमनु-
मोदते । तथा हि यत्र मर्यादाप्रागीयसाधनाभाववत्पापात्यन्तासक्ताजापेन्यादिभ्यः स्वांश-
कलाप्रवतारः परम्परसम्बद्धेपि नामवर्णाज्ञानेन कथनेनापि परमस्नेहभरतः केवल-
स्वपुत्रनाममात्रजन्यनेन स्वसम्बन्धगन्धसम्भावनाऽभावेपि तन्नामवर्णमाहात्म्यावबोधार्थं

साहकृफलदानं तत्र सासात्कलात्मकश्रीपुरुषोत्तमस्यैव पुष्टिमार्गीयस्वगुणारविन्दरूपाचार्यो-
पदेशपूर्वकतदुक्तप्रकारेण भजने स्वयमेव किं किं न विधास्यतीति निखिलमनिर्वचनीयम् ।
य एतादृक् प्रभुः समर्थः, तेन प्रभुणा कृत्वा तेन कारणेन वा हेतुना वा भक्तो भगवति
स्निग्धः निश्चिन्ततां निराकुलतां व्रजेत्प्राप्नुयात् । अत्रायं भावः । पूर्वं श्रीमदाचार्यो-
पदेशमात्रेण तद्विधासोद्रेकेण भजनपक्षात्परिस्तदुद्रेकेण स्निग्धः सन् तथा स्यादित्यर्थः ।
इदं भजनमेव सर्वस्वमिति ज्ञात्वा यदि भजनमेव कुर्वन्प्रभुं क्षणमात्रमपि न त्यजेत्तदा स
तथास्वं प्राप्नुयादिति भावः । तथा चैतन्मार्गीयो द्वितीयपुरुषार्थोपि सोपपत्तिको निरूपितः ।
तथैवाभिहितं भक्तिरससारपरिशीलनशीलैरर्थो हरिरेव ही'ति ॥ २ ॥

एवं मार्यादिकौ तौ निराकृतौ तथा कृतेऽप्यर्थे सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यमित्यतः
कामस्यापि तत्र तदुत्कर्षत्वमाशङ्क्य तदपि प्रभुस्वरूपापेक्षया सुतरामेवापयोजनमिति
दृष्टीपमपि तं तमेव निरूपयन्तस्तत्परिहर्तुमुपक्रमन्ते यदीति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।

ततः *किमपरैर्ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

यदि चेद्गोकुलाधेशो यशोदोत्सङ्गलालितोऽन्यगोकुलस्यामी । भ्रूपदोत्थया
तादृगन्तरङ्गभक्तसहितः । यद्वा, 'अथत इन्दिरा श्वभद्रश्च ही'तिवाक्यतः श्रीपुक्तं यद्गो-
कुलं, तस्य तथा । पूर्वोक्तवाक्यतः सर्वोत्कृष्टशोभापुक्तं यत्तत्तस्य तथा । तादृशोपि सर्वा-
त्मनोक्तभावेन धृतः भवता त्वया वेति शेषः । धृत इतिपदात्कायवाङ्मानसैस्तदेक-
परता ध्वनिता । विशेषतश्चेत्तस्त्ववणता यतः स प्रभुस्तत्सम्बन्धेव । अतः फलप्रकरणे-
ऽस्मत्प्रचुरणैर्गीतं 'सोऽन्तःकरणसम्बन्धं विरोधत्' इति । आश्रयान्तरं परित्यज्य केवल-
तदेकनिष्ठो जात इति यावत् । तदा ततः पूर्वोक्तफलात्मकप्रभोः सकाशादपरैस्तुच्छै-
ल्लौकिकैर्वैदिकैरपि किं ? न किमपीत्यर्थः । अयमर्थः । लौकिकैर्लौके परमोत्कर्षभापकै-
स्तामसराजससात्त्विकैः । बहुवचनं त्रिविधत्वसूचनाय । वैदिकैस्त्रिविधगुणरूपैर्महालोक-
योगसिद्धिभोक्तैः । बहुवचनं पूर्वोक्ताभिप्रायेण । चतुर्विधमौक्तानादिसूचनायापिशब्दः ।
उभयविधैस्त्वैर्ज्ञानादिपिथ कृत्वा किं ? न किमपीत्यर्थः । अपरमिति षाठे उत्कैरतैः कृत्वा-
ऽपरशुक्लं वस्तु किमप्यस्ति । न किमपीत्यर्थः । यद्वा, अपरैर्देवतान्तैः किं ? सर्वेषां
तद्विभूतिरूपत्वात् । अत एवोक्तमस्मत्प्रचुरणैस्तत्त्वदीपे 'कृष्णान्देन परं वस्तुच्यते' ।
'कृष्णात्परं नास्ति देव'मित्यन्तःकरणप्रबोधे च । अत्रायमभिसन्धिः । रसात्कलादिपु
भूम्यपेक्षयाप्यानन्दाधिक्यं, तदपि वामनावतारैर्णोचोद्धृतमतः प्रभोरनयायिन्याः त्रियः
सकाशादपि तदप्रयोजकम् । एवं सर्वभूमीश्वरत्वं लोके यज्ञस्करं, तच्च यज्ञदानादिसापे-

समत औपाधिकं सावधि च । न च राज्यमन्ते परलोकोपकारि, 'राज्यान्ते नरकं ध्रुव-
मितिवाक्यात् । अतो भगवदनुरयज्ञसस्तकाशात्तथा । एवमेवेन्द्राधिपत्यमपि परि-
णापपायि । भगवद्वखण्डितैश्वर्यात्तत्तथा । एवं लौकिकत्रिविधमपि निराकृत्य वैदिक-
मपि निराकुर्वन्ति । अपरिपक्वयोगिनो हि स्वयोगरलेनाभिलषितपदार्थानाविर्भाव्य तद-
नुभवं कुर्वन्तस्तस्मादपि भ्रष्टाः सन्तो दुःखिता एव पुनर्जन्मार्हन्तीति भगवज्ज्ञानापेक्षया
तदज्ञानमपि तथा । भगवज्ज्ञानस्य नित्यत्वात् । ब्रह्मणो रजोवतारत्वात्तल्लोकोऽपि
राजसः, तत्र हि 'ब्रह्मणा सह मुच्यन्त' इतिवाक्यात्तत्साहित्येन पारतन्त्र्यतो भोगफलयोः
सिद्धिरिति स्वपराक्रमतिक्रमः । भगवद्गीर्वापेक्षातस्तौ तथा । 'तमेव विदित्वाति-
मृत्युमेति । नान्यः पन्था विद्यतेऽप्यनाये'त्यादिश्रुत्या ज्ञानतो मोक्षस्तत्र 'सत्त्वात्सद्भायते
ज्ञानमि'तिवाक्यतस्तज्जन्यं तदपि साच्चिकमेव भवितुमर्हतीति तत्साध्यो मोक्षोपि तथा ।
सोऽपि गणितानन्दात्मकोऽतः पूर्णानन्दमभ्वपेक्षया सोऽत्यन्तं स्वल्पतर इति तथेति
वैदिकमपि तत्तथाकृतम् । किञ्च, पार्यादिकवैराग्यमपि प्रभोर्भक्तातिरिक्ते रागाभावा-
ह्योकोत्तरवैराग्यतः पूर्ववदिति भगवद्धर्मरूपतत्पङ्कणत । पङ्क्तिधास्तेऽकिञ्चित्करा
यत्र तत्र किं वाच्यमन्तरङ्गधर्मिरूपतद्गुणतस्तथात्वमिति कैमुतिकन्यायोपि ध्वनितः ।
किञ्च, 'अस्पैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'तिश्रुत्युक्तेर्भगवदानन्द-
लेशस्तदतिरिक्तसरुल्लथेषु निर्णीतः । तर्हि विषयानन्दनिमिचमात्रपुत्रार्थादिरूपं तदा-
नन्दाभासरूपं वस्तुतो दुःखात्मकमेव तत्तथे'त्यधिकं तत्रानुपविष्ट न तु तद्धानि'-
रितिन्यायमपि सूचयन्तः स्वान्तरङ्गस्वाश्रितमभिमुखं विधाय मानोचन्-ब्रूहि
त्वमेव वद । अत्र ब्रूहिपदतोऽस्मदाचार्यवर्षकृपाभाजुर्पतस्तत्कालावच्छेदेन तस्य स्वरू-
पानन्दानुभव इत्यभ्यवसीयते । इतरथा ब्रूहीतिप्रश्नः कथमपि न सङ्घटेतैवेति पूर्वमेवावो-
चाम । न च तादृग्भाग्यशालिनस्तस्य तादृगाचार्यचरणकृपाकटाक्षपक्षपाततस्तादृक्तदनु-
भवो दुर्घटस्तस्य तादृङ्मुखारविन्दरूपत्वात्तद्रसपूर्णत्वाच्च । अत एवास्मत्प्रभुचरणै'स्तत्ता-
रभूतरासस्त्रीभावपूरितविग्रह' इति सर्वोत्तमे तादृगस्मत्त्वामिनाम गीतम् । एवञ्च भक्तो-
पदेशपक्ष एव साधीयाचान्तःकरणोपदेशपक्षः । कल्पकरणे 'शृहि किं करवाणि व'
इतिवत् । अन्यथा स्वमनोवचोपे यथा 'किं स्यादिति विचारये'ति तत्रत्यवदंस्तथाप्रापि
तत्पदमेव वदेयुः, यतो विचारो ह्यन्तःकरणधर्म एव, परं तादृग्गेषणीय एवेति यदी-
तिपद भाषितपस्मत्सौभाग्यमुभगभूषणैः श्रीमदाचार्यचरणैरिति दिक् । अत्रायं निगूढा-
शयः । पूर्वं देवभजनमेव दुर्लभ, तत्रापि देवाधिदेवस्यातिदुर्लभम् । क योगिध्येयो
भगवान्ब्रह्मादिदुर्लभो निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आनन्दमात्रवरपादमुखोदरादिः, क सरुल-

चार्यवरणवचनरचना भक्तिवर्धिन्याम् । ननु 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इतिश्रुतेस्तद्वरणेनै-
 वोक्तभावेन तत्वरणस्वरणादिसम्भयेऽयमुपदेशमयासः मयास एवेति कस्यचिद्द्विगुण-
 मौल्यं परिहरन्तः स्वमतिं प्रमाणयन्ति इति मे मतिरिति । मे मत्सम्बन्धिनी मदीया,
 मतिः बुद्धिरिति एवंरूपा उक्तप्रकारे व्यवसायात्मिकेत्यर्थः । अत्रायमभिसन्धिः । यद्यपि
 पूर्वोक्तमुक्तश्रुत्यादिना तदनुग्रहसाध्यं, तथापि स्वस्य तादृग्भगवन्मुखारविन्दरूपायिष्ठा-
 त्वात्तदभिहतया मे मतिरित्युक्तिर्भगवदुक्तिरेव । तथा चोक्तप्रकारेण तत्करणेऽनुग्रहं
 करिष्यत्येव परमदयालुः श्रीमन्नन्दाजकुमारः श्रीगोकुलजनलोचनचातकचेतोहरनवनीर-
 दगुन्दरो, यतो यथा श्रीगोकुल उत्तरखलबन्धनप्रस्तावे प्रसङ्गतो नारदोक्तमपि निनोक्तमे-
 वेति तदवस्थातोपि तत्साधनमन्तरेणापि स्वमयत्नेन तदुक्तमात्रेण महदायासेन स्वयमेव
 तत्र गत्वा मलकूबरमणिश्रीवीयोस्तद्वरूपयोरन्तरगत्योल्लखलतत्सङ्घट्टनेन तौ भूयौ पातयं-
 स्ततो निरुतलन्वस्मृतदिव्यशरीरयोस्तपोस्तादृक्स्तवननमनपदक्षिणादीनङ्गीकुर्वन्नुदुत-
 वानत एव 'तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मने'ति श्रीकृष्णचन्द्रोक्तिः । एवञ्च
 स्वमुखारविन्दोक्तमखिलं स्वोक्तमेव कुतो न कुर्यादिति मद्दिशासेन पूर्वोक्तमदुक्तकरणेन
 भगवदीयैर्निश्चिन्ततया स्थेयमिति भावः । यद्वा, मे मतिरिति भेदबोधकपष्ठया स्वमतेः
 स्वातन्त्र्यमसूचि । अत एवासमाप्तोक्तिरपि । अन्यथा मन्मतिरित्येव बदेयुः । तेनाय-
 माशयः । भारते भीष्मपुष्टे पार्थरथार्थं श्रीमच्छुकुलजलधिसुधाकरः स्वमतिज्ञातामप्यन्ना-
 यरूपां स्वोक्तिं वितथीकृत्य तत्पार्थनाभावेपि स्वत एव तत्स्यन्दनकगिरिशिखरतः
 सत्वरमुत्तरंक्षपलजलद इव चक्रपाणिस्तेन सह युद्धार्थं प्रवृत्तस्तत्प्रतिज्ञामेवापालयत् । यत्र
 मर्यादायामपि तद्भक्तकृतप्रतिज्ञानिर्वाहकरणं तत्र पुष्टौ निजाज्ञया शकटीभूतसाक्षात्स्व-
 स्यैव मुखारविन्दाधिष्ठातृरूपस्य वस्तुतः स्वस्यैव तस्य तत्साधनसम्पत्तौ सत्यां स्वयमेव
 स्वस्यैवाभिलषितसम्पादनेन स्वोक्तमेव तदुक्तं कथं न करिष्यतीतिभावः । स्वानभिल-
 पितमपि वा पूर्वोक्तहेतोर्मदुक्तमिति करिष्यत्येव । एतेन स्वस्य धर्मिणामाभिमानमौढत्वप-
 पि ध्वनितम् । अत एव सिद्धवत्कारेणास्मत्प्रमुखरणात् तादृग्याहार इत्यलं शङ्कान्वेषणा-
 विलासैः । एतेन तदीयत्वसिद्धिस्तस्मिन्प्रौ पुष्टिमागंयचरमपुरुषार्थोपि सिद्ध इत्युक्तं
 भवति । अत एव 'मोक्षः कृष्णस्य चेद्भुव'मित्युक्तलक्षणो मोक्षस्तदभिज्ञैरेव भाषित
 इति संक्षेपः ॥ ४ ॥

यद्यप्यनुचितमेतन्मत्वोचितं रचितमेतदस्माभिः ।

सन्तुं तमपि प्रभवो मन्तुं मे बल्लभप्रभवः ॥ १ ॥

मया नापानुसारेण महानेवानयः कृतः ।

यत्कृतचतुःश्लोकीन्याख्यानं विष्टता मतिः ॥ २ ॥

श्रीमद्रोस्वामिश्रीमधुसूतनाघटतज्याख्यानान्विता ।

कृपालवस्त एवैतदागःसन्तुं ममेदशः ।

मभवो विद्वलाधीशा मर्दायोयमिति स्वतः ॥ ३ ॥

रमणी रचिरा टीका भूयान्मधुरभाषिणी ।

करसम्बन्धपात्रेण विद्वदानन्ददायिनी ॥ ४ ॥

इति श्रीमच्छास्त्राचार्यचरणशरणीकधनिना श्रीविद्वलपद्कमलय-

रागपरिमल्लुधमधुना निर्मिता

चतुःश्लोकीच्याख्या गृत्ता



श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनकृतभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

चतुःश्लोकी ।

श्रीकृष्णरायभट्टविरचितसर्वार्थबोधिकाव्याख्यासमेता ।

श्रीमद्ब्रह्मभपादाब्जपुगले विगलन्मधु ।

नमाम्यहं सदानन्दरूपं सर्वार्थसिद्धिदम् ॥ १ ॥

श्रीविह्वलपदद्वन्द्वं नत्वा मधुमुपूरितम् ।

कुर्वेहं श्रीमदाचार्यकृपापूरितवराड्मनाः ॥ २ ॥

तस्मृतायाश्चतुःश्लोक्या व्याख्यां सर्वार्थबोधिकाम् ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयानां सकलनिरतिशयसाधनसाध्यफलमाप्त्यर्थं शुद्ध-
पुष्टिमार्गीयातिरिक्तसाधनासाध्यफलं चात्र ज्ञापयितुं समुल्लेख्येदान्तप्रतिपाद्यशुद्धपुष्टि-
मार्गीयभक्तिस्वरूपं तत्साधनं तत्सेव्यस्वरूपं च वक्तुं स्वसिद्धान्तोक्तमुबोधिन्यशुभाभ्या-
दिरहस्यं सङ्क्षेपतश्चतुःश्लोक्या आहुः—सर्वदेति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।

स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥

सर्वदेति न कालनियमोऽत्र । सर्वकाले निरन्तरम् । नो चेद्भजनभावे शासुरावेशः
स्यादित्यर्थः । सर्वभावेन ब्रजाधिपो भजनीयः । पाटशो भावो भगवता सम्पा-
द्यते, कोपि भावः । भावो मनोवृत्तिः । यथा नन्दयशोदादीनां वात्सल्यभावः । तथा-
भावेन भजनीयः । अथवा, सख्यभावेन । यद्वा, मुख्यस्वामिनीनामिवासाधारणस्नेह-
भावेन । तत्र साधनदशायां यावद्भगवति कोपि भावो नोत्पद्यते तावद्भजने क्रियमाणे
राजसेवकवर्जेषुपि रक्षणीयोपगमाभावार्थम् । नियमस्तु पतिव्रताया इव सर्वथैव भग-
वद्भजने रक्षणीयः । यथा पतिव्रतायाः पतिभजने विद्यापान्यद्दर्मादिकं गौणं, तथा भग-
वद्भजने विद्यापान्यद्दर्मादिकं गौणमेवेति । यद्वा, सर्वभावेन सर्वान्भवेन सर्वकारणा-
खनः स्वस्य जीवस्य भावो मनोवृत्तिर्भगवति । यद्वा, सर्वेषु स्थानरजहमेषु जात्यनो

भगवतो भावनाभावः । तेन तदुक्तं 'सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः । भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तम' इतिवाक्यात् । भजनीयः सेवनीयः । सेवा कर्तव्या । सेवा च स्वामिनो मनोनुकूला स्ववृत्तिः, तस्या ज्ञानं तु शास्त्रद्वारेति विवेकधैर्यपूर्वकं काय-वाह्मनोभिर्भगवदाश्रयपूर्वकं चित्तोद्वेगप्रतिबन्धभोगादिकं विहाय सेवनं कर्तव्यम् । यद्वा, 'श्रवणं कीर्तनं'मितियापाच्छ्रवणादिरूपा नवधा भक्तिः मेयरूपा कार्या । सेव्यस्वरूपमाहुः—ब्रजाधिप इति । ब्रजस्य निरसाधनस्याधिपः स्वामी नियामकः प्रभुः फलात्मा भक्तानां त्रिविधदुःखदूरीकरणार्थमाविर्भूतः साकारो व्यापक आनन्दमाधकरपादमुखो-दरादिरूपः पूर्णः परब्रह्म 'रसो वै स' इतिश्रुत्या रसात्मा युगलस्वरूपः । सर्वात्मभावेन विरहादुल्लिप्तहृदयेन 'पथ दुःखं यज्ञोदाया' इत्यादिभावनया पूर्वोक्तवास्तव्यादिभावाच्छिन्न सेव्यः । ननु 'धर्मण पापमपनुदति' 'धर्मं सर्वं प्रतिष्ठित'मित्यादिश्रुतिभिर्नै कर्मणा न प्रज-या धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशु'रित्यादिना त्यागेनैवामृतत्वप्राप्तेरुक्तत्वात्प्रथमं भजनमेवो-पदिश्यते इत्यपेक्षायामाहुः—स्वस्यात्यमेवेति । स्वस्य जीवस्यात्मनोयमेव भगवद्भजनमेव धर्मः । हीति निश्चये । जीवात्मनो भगवदंशत्वादंशिनः सेवा युक्तैव । तस्मादस्यैव मुरयधर्मत्वम् । अन्ये धर्मास्तु दैहिकाः । तस्मादन्येषां गौणत्वम् । अत एव 'त्यक्त्वा स्वधर्मं परणाम्युजं हरे'रित्यस्य व्याख्यानं 'अस्वधर्ममिति पदच्छेदं कृत्वा भगवत्परणारविन्द-भजनमभिहितम् । तदेव स्वधर्म इति घोषितम् । अत एव धर्मादिभिर्यद्भवति तद्भजनमेव भविष्यतीति दैहिकधर्माणां गौणत्वं घोषितम् । अत एव भगवद्भावयं 'यत्कर्मभि-र्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतथ यत् । योगेन दानधमेण श्रेयोभित्तिरैरपि', 'सर्वं मज्जकियोगेन पद्गतो लभतेऽसत्ते'ति । 'यत्र योगेन साहच्येन दानवतनयोध्वरैः । व्याख्यास्वाध्याय-संन्यासैः प्राप्नुयात्तत्त्वानुष्ठीयते'तीतरसाधनाप्यत्वं स्वस्योक्तम् । धर्मादिप्राप्यं तु भक्ते-रानुपदिश्रुत्स्वल्पमुक्तम् । नान्य इति । षापि ह्यत्रापि पदान्निदम्पन्यो धर्मो नास्ति । अन्यथा, य भगवान्स्वीयन्नेनानुष्टुहति 'यमेवैव वृणुत' इतिश्रुतेर्भक्त्या त्वनन्ययेत्यादिवा-चयैव भजनमेव स्वधर्मः । निश्चयः, 'त्रैर्गिके तिरास्येन यस्मिन् महाननुमहस्तस्मिन्'त्रिंश-शत्याज्जनार्थं त्रिर्गविव्यातं स्वयमेव भगवान्करोति । मोक्षस्तु भक्तानामेव नापेक्षितो 'दायमानमि'तिरासपात् । तथा च भक्तिभागं कः पुण्यार्थे इत्यपेक्षया 'हरेर्दास्यं धर्मोयौ हरिरेव हि । कामो हरेर्द्विहोव मोक्षः कृष्णस्य चेद्भू'मिति श्रीमद्भक्तप्रवचण'रहं हरे तत्र पादिसमूहदामानुदास' इत्यस्य व्याख्याया निरूपितमिति जीवमात्रस्य भगवद्भ-जनमेव स्वधर्मः ॥ १ ॥

ननु सर्वेषां भगवद्भजनमेव स्वधर्मश्चेत्तर्हि सर्वं भगवद्भजनमेव किमिति न दुर्ब-न्धीत्यपेक्षायामाहुः—एवमिति ।

एवं सदा स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।

प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां ब्रजेत् ॥ २ ॥

एषमनेन प्रकारेण स्त्रियः स्वपतिमजनवत्सदा निरन्तरं दैवर्भावैः सद्भिर्त्य-
त्कर्त्तव्यं तदस्माभिरुक्तम् । दैवजीवानां सतां सत्पुरुषाणां सम्बन्धी कर्त्तव्यो यो भगव-
द्भजनरूपो धर्मः सोऽस्माभिरुक्तः । स्म इति प्रसिद्धिः । दैवजीवानामेवायं धर्मो, नत्वासुर-
जीवानाम् । आसुरावेशिनां तु ध्वभिवारिणीनामिवान्यधर्मेष्वपि प्रवृत्तिः । दैवजीवानां तु
गृहाध्यमिणां श्रौतस्मार्चादिकर्मानुष्ठाने घेद्रूपभगवदाज्ञया देवतान्तरयजने क्रियमाणे
भगवद्भक्त्येन तद्विभूतित्वेन यागकरणस्योक्तत्वाज्ञानन्यत्वमज्ञ इति । तथा च 'अन-
न्याश्चिन्तयन्तो मामि'तिवाक्याद्योगक्षेमनिर्वाहकत्वं भगवत् एवेति यद्दर्मादिभिरैदिका-
द्युष्मिकफलादिकं तदनायासेन भगवान्स्वयमेव करिष्यति सम्पादयिष्यति । कुत
इत्यपेक्षायामाहुः—प्रभुरिति । सर्वेषां ब्रह्मेन्द्रद्रादीनामपि प्रभुः स्वामी निष्पाकः सर्व-
सामर्थ्यविशिष्टः । सर्वैर्मिलित्वा यत्कर्त्तव्यं तत्स्वयमेव कर्तुं समर्थः । ह्येति प्रसिद्धिः,
सीरोदमयने पन्द्रानयने । तेन सर्वप्रकारेण देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्माद्यग्रहं परित्यज्य
चतुर्विधपुरुषार्थरूपो भगवानेवेति भगवदाश्रयेण भगवद्भजनमेव कुर्वाणो निश्चिन्ततां
ब्रजेत् । तेन दैवजीवैर्भगवदाश्रितैः कदापि कापि चिन्ता न कार्या । चिन्ताया आसु-
रधर्मत्वात् । सर्वं भगवानेव करिष्यतीति भावः ॥ २ ॥

ननु लौकिकवैदिकधर्माद्याश्रयपरित्यागेन भगवद्भजने क्रियमाणे कदाचिद्भगवा-
नप्येतन्मनोरथं न कुर्याच्चदा किं भविष्यतीत्यपेक्षायामाहुः—यदीति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।

ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

यदि कदाचिच्छ्रीगोकुलस्यानन्यसारास्यानन्यगतिकस्य 'तरमान्मच्छरणं गोष्ठं
मन्नायं मत्परिग्रह'मित्येवं भगवता श्रीनन्दनन्दनेनाङ्गीकृतस्य निरस्ताधनस्याधीशोपि-
पतिः स्वामी रक्षकः फलात्मा पालकश्च, सर्वात्मना कायवाञ्छनसा सर्वात्मभावेन वा
हृदये धृतो धारितः । येषां भगवन्त्वं विहाय दारागारसुतधनादिकं किमपि मियं नास्त्येव
सर्वस्वरूपेण भगवानेव येषामस्ति, भगवदर्थमेव यैः सर्वं त्यक्तं, येषां प्राणादयोपि
भगवदर्थमेव मिया नात्मार्षम् । यदीतिपदादेतादृश्यवस्या दुर्लभेति सूचितम् । भगव-
द्भरणातिरिक्तसाधनासाध्येति भावः । गोकुलाधीश इतिपदेन यथा श्रीगोकुले भक्त-
वश्यत्वेन भगवता स्वीयते तथैतस्यापि वशे भूत्वा भगवान् वर्त्तन इति घोषितम् । अत
एव 'एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भक्तवश्यता । स्ववशेनापि कृष्णेन यस्यैर्दं सेश्वरं वशे',
'नायं सुखापो भगवान्देहिनां गोपिकामुतः । ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमताभिदे-

ति । नन्वेवं भगवति हृदि विद्यमाने गृहस्थानां धनाद्यभावाद्भौक्तिकवैदिककार्यादेः कथं निर्वाह इत्यपेक्षायामाहुः—तत इति । यदा श्रीभगवानेव सर्वसामर्थ्यविशिष्टो हृदये स्थितस्तदा लौकिकैर्व्यवहारदि कर्मभिर्भेदिकैराश्रमवर्णादिविहितैः कर्मभिर्यागदानादिभिश्चैतस्य किं फलमन्यत् ? न किञ्चिदपीत्यर्थः । सर्वस्यैव ब्रह्मलोकपर्यन्तस्यापि फलं स्याद्ब्रह्म-भुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोर्जुने'तिवाक्यान्नश्वरत्वमेवेति न किञ्चिदित्यर्थः । ततस्तस्मा-दपरं किं फलमिति त्वमेव ब्रह्मता येषां सर्वभावेन भगवानेव हृदि स्थितस्तेषामैहिकं पारलौकिकं सर्वं भगवानेव करोति 'तेषामहं समुद्धर्त्ते'तिवाक्यात् । 'अहं त्वा सर्वपा-पेभ्यो मोक्षयिष्यामी'ति वाक्याच्च ॥ ३ ॥

ननु तर्हि जीवैः सदा किं कर्त्तव्यमित्यपेक्षायामाहुः—अत इति ।

अतः सर्वात्मना शश्वद्रोकुलेश्वरपादयोः ।

स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

यतः कर्मयोगज्ञानादिसाध्यं फलं तद्वक्तेरानुपङ्गिरमतः सर्वात्मना सर्वप्रकारेण शश्वद्विरन्तरं गोकुलेश्वरस्य निस्साधनफलात्मनो भक्तवश्यस्य परब्रह्मणो रसात्मरुस्य भगवतः पादगोश्रणारविन्दयोः स्मरणं भजनं चकाराच्छ्रवणं कीर्त्तनं कदापि न त्याज्यम् । स्नेहाभावेपि मनोधर्मत्वात्स्मरणस्य मुख्यतया स्मरणमेवोक्तम् । अत एव 'तस्माद्भारत सर्वात्मै'त्यस्य व्याख्याने श्रवणकीर्त्तनस्मरणानामेवोक्तौ कथं न तथा भक्तिर्नोक्तिति स्वयमेवाशङ्क्य समाहितम् । पादसेवनादारभ्यात्मनिषेदनपर्यन्तानां पण्णां प्रेमोत्तरभावित्वान्गुरूपतया श्रवणकीर्त्तनस्मरणमेवाभिहितम् । तस्माद्दर्शनं स्मरणं कर्त्तव्यं लीलाविशिष्टस्य । रासादिलीला अपि सर्वाधिन्तनीया भावाविष्टतया । तथैव भजनं सेरनं कर्त्तव्यं, कदापि न त्याज्यम् । 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'तिवाक्ये मानस्या एव फलरूप-त्वमुक्तम् । अत एव सेवाश्रवणं धेतसो भगवत्प्रवणत्वम् । भगवत्प्रवणचित्तसिद्धयर्थं तनु-वित्तगान्तरणम् । तेन सेवाकरणेन संसारदुःखनिवृत्तिपूर्वरत्नज्ञानागतिरवान्तरफलम् । परमफलं तु यथाधिरारतो भगवदनुग्रहेण नित्यलीलाप्राप्तिरेवेति मे मय मतिरिति ।

श्रीमदाचार्यकृपया व्याख्या सर्वाथंरोधिका ।

मया कृता चतुःश्लोकाः कृष्णरायाभिधेन हि ॥ १ ॥

तुष्यतां तेन भगवान्श्रीमदाचार्यवदम्भः ।

दासे निस्साधने दीने कृष्णराये दयानिधिः ॥ २ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मभट्टविरचितायाश्चतुःश्लोक्या कृष्णरायभट्टविरचिता
सर्वाथंवाधिका व्याख्या

सम्पूर्णा ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनकहृत्माय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

चतुःश्लोकी ।

मठेशश्रीनाथभट्टकृतटीकया संवलिता

श्रीकृष्णभाषिणोमि तान् स्वशास्त्रार्थतो मुदा ।

उपदिष्टा चतुःश्लोकी स्वीयेभ्यो यैः समासतः ॥ १ ॥

अथ श्रीकृष्णभाषार्यचरणाः स्वीयजनानां सुप्रहार्थं समासतः स्वात्मधर्मयनु-
शिक्षयन्तद्यतुःश्लोत्रया सर्वशास्त्रार्थं निरूपयन्ति सर्वदा सर्वभावेन भजनीय इति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।

स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः कापि कदाचन ॥ २ ॥

परमेश्वरो देवः सेव्य इति सर्वशास्त्रार्थः । स च केषाञ्चिन्मते निराकारः, केषा-
ञ्चिन्मते साकार उपास्यः । तत्र निराकारस्तु नोपपन्न एव । तथा हि, स्मिाकारो देह
आत्मा येति विचारणीयम् । तत्र देहस्तु पाश्चात्तोरः प्राकृतः स नोपपद्यत एव, 'देहे-
न्द्रियासुहीनाना'मितिरावपात्तदीयानां पार्पदानां यत्र तथात्वं तत्र तन्मृत्स्वामिनः
परस्य ब्रह्मणः पुरुषोत्तमस्य तथात्वे किमु वाच्यमिति कैमुतिक्रियायः । अत्र एव आन्वित
परः स तथाभूतो दिव्यः स्वीकार्यः । न च दिव्यपदवाच्यो देह एव तत्रारारः
स्वीकार्य इति वाच्यं, देहदेहिनिभागाभावात् । 'स यथा सन्धरयन आभ्यन्तरो वायः
कृतो रसयन, एवं वाग्नेर्ययमात्रे' स्याद्विभ्रुतिभिर्माहृतन्वाद्य । दिव्यपदेन द्विवि भवो
दिव्य इतिव्युत्पत्त्यामश्चेत्तदा देवानामिव तथादेहस्य प्राकृतन्वायतिः, देहेष्वनपञ्चोक्त-
तत्त्वस्यैव दिव्यपदवाच्यत्वस्वीकारात् । यत्तु 'अन्य कर्म च मे दिव्यमि'भ्युक्तं तदप्यनाह-
तत्वाभिवायेण, दिव्यपदस्य कर्तार्यन्वस्वीकारात् । अत्र एव 'देहेन्द्रियासुहीनानामि'त्यत्र
सम्बन्धः । न च तत्र सायान्मोषया निषेध एव देहादेगारयन इति वाच्यम्, पुनस्तन्व-
यनात्, 'बहुच्छुदुर्वासिनां पश्यतां दुर्गतां गानमि'त्यनुपपदेव तथाकारणेन निरूपणात्,
वेन प्राकृतकारस्य निषेधस्तत्र पर्यस्यति, न न्यसाकृतकारस्य । प्राकृतभौतिकादिका-
काम्ने न तथा भगवतीतिशोभ्यम् । अत्र एवोक्तं 'साकारब्रह्मतरङ्गम्पारतो पेशारग' इति

स्वाचार्यनाम सर्वोत्तमे । तत्रैकशब्दो मुख्यार्थवार्त्ता । साकारत्वमुक्त्वा यद्ब्रह्मत्व निरूपितं, तद्यथा ब्रह्म केवलं सच्चिदानन्दमयं तथा तत्परचरणादीनामपि केवलसच्चिदानन्दमयत्वं ज्ञापितम् । साकारत्वमर्थनेन पुष्टिपार्श्वोपपत्त्यस्य तत्स्वरूपस्य सर्वेन्द्रियास्वायत्त, फलानुभवाप्रकार उक्तः । नन्वियदत्रधि सर्वशास्त्रार्थविचारैकरपि परब्रह्मणः साकारत्व-निरूपणात् कथमाचार्याणामेव साकारत्वनिरूपणत्वमिति चेत्, उच्यते । ब्रह्मणोऽय-लौकिकत्वाच्चतुरादीना लौकिकप्रमाणत्वात् चतुरादिगम्यत्वं ब्रह्मणि, किन्तु स्वंच्छया संभवतीति श्रुतीनामलौकिकमानत्वेन श्रुतय एव परब्रह्मणि प्रमाणमिति तत्प्रतिपाद्यमेव ब्रह्म । तास्तु 'स ईशाञ्चक्रे' 'तस्मादेकाकी न रमते' 'स द्वितीयमैच्छत्' 'स हैतावानासे'-ति साकारमेव निरूपयन्ति । गीता च 'सर्वतः पाणिपादान्त सर्वनोक्षिशिरोमुखमि'त्यादि साकारत्वमेव वदति । ननु निराकारवादिभिरपि निराकारप्रतिपादने 'अस्थूलमनश्चह्रस्व मदीर्घमि'त्यादिश्रुतय एव प्रमाणत्वेनाङ्गीक्रियन्ते कथं न निराकारत्वमिति चेत्, उच्यते । निराकारत्वप्रतिपादना अपि श्रुतयो ब्रह्मणि देवाद्याकारत्वं प्राकृताकारत्वमेव प्रतिपे-धन्ति, न त्वानन्दमात्रकरपादमुखोदराद्याकारम् । यदि सर्वथा निराकारत्वमेव शुभ मत स्यात्तदा निराकारत्वमुक्तवापि अग्रे 'स ईशाञ्चक्रे' इत्यादिना साकार न प्रतिपादयेयुः । अत एव व्याससूत्रमपि 'प्रकृतनावस्वं हि प्रतिपेधति ततो ब्रवीति च भूय' इति । अस्या-प्यर्थः, प्रकृतमेतावत्तत्र प्राकृतं साकारत्व, तन्निपेधति निराकारश्रुतिः, न त्वानन्दैकाका-रत्व, तत्र हेतुः 'ततो ब्रवीति च भूय' इति । अस्याप्यर्थः ततोऽग्रे । पुनरपि 'स ईशाञ्चक्रे' 'अपा-णिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचतुः स शृणोत्यकर्ण' इत्यादि साकारत्वमेव वदतीति निराकारवादिषा यत्किञ्चिच्छ्रुतिज्ञानवत्त्वेपि सर्वशास्त्रीयोपनिषद्ज्ञानाभावात्तानामु च प्रका-रभेदतो ब्रह्मनिरूपणात्, तत्र परस्परविरोधपरिहारपूर्वकविषयव्यवस्थया यत्सिद्ध्यति तादृग् ब्रह्म मन्तव्यम् । निराकारवादिना सर्वशास्त्रीयोपनिषत्तात्पर्यज्ञानाभावात्स्वबुध्यनुसारेण यत्किञ्चिच्छ्रुतितात्पर्यं स्वसिद्धान्तानुसारं कल्पयित्वा निराकारत्वकथनमिति न तदुक्त प्रमाणम् । स्वाचार्यस्तु सर्वशास्त्रीयोपनिषत्तात्पर्यस्य विरोधपरिहारेणावगमात्तत्र च साकार-स्यैव निरूपणात् सर्वमवगत्यैव साकारत्वमुक्तमिति सिद्ध साकारत्वम् ।

स च साकारः परमेश्वरः को वा भजनीयः, शिशोः त्रिणुवां व्यूहात्मा वा नारा-यणो ब्रह्माण्डविग्रहो विश्वरूपादिर्वैतिकाङ्क्षायामाहुः ब्रजाधिप इति । अनेन सर्वनो व्यावृत्त्यावतारदशापन्नेष्वपि भगवदशेषु स्वरूपेषु भजनीयः श्रीकृष्णः पुरुषोत्तमो ब्रजाधिप एवोक्तः । 'वचित्याण्डित्यमि'तिश्लोके निर्णीतत्वात् । सोपि नोपास्यः किन्तु भजनीयो, 'भज' सेवायामिति धातोः । उपासनायाः कर्मान्तर्गतत्वेन मन्त्रोपा-सनवैदिकनाम्निकदीक्षादीनादिविषयधीनत्वं भजनीयस्यापातीति विभूतिरूपं व्याव-र्त्यते । भजनञ्च सेवा, सैव भक्तिपदस्यवार्थः । 'धात्वर्थः सेवा, प्रत्ययार्थः स्नेह'

इति निबन्धोक्तेः । 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' इति भक्तिसूत्रात् । 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तथा मुक्तिर्न चान्यथे'ति नारदपञ्चरात्रोक्तेः । ज्ञानपूर्वकत्वे विहितस्नेहो भक्तिपदवाच्यः, अन्यथा त्वविहितः स्नेह इत्यन्यत्र विस्तरः । सा सेवा तनुविराजा कायिक्येव केवला संभूतेति मानसीत्वमपि लक्षणे निवेश्यते । 'प्रत्ययार्थः स्नेह' इत्यान्तरो धर्म उक्तः । तथैतदुक्तं सिद्धान्तमुक्तावस्थां 'चेतस्तत्त्ववर्णं सेना तत्सिद्धयै तनुवित्तजा' इति । तथा च देहेन्द्रियमाणान्तःकरणैर्निवेदितात्मभिः तत्तद्विनियोगात्मकस्तेन सेव्यः । सर्वात्मभावेनेति केचित् । सोऽप्यत्र पुष्टिमार्गीय एव । सर्वापि आत्मनो भावो, न तु सर्वत्रात्मत्वभावनं, तस्य पर्यादापार्गीयत्वादिति विवेचनीयम् । किञ्च, स सर्वदा भजनीयः, न तु कदाचित् कर्ममार्ग इव, नैमित्तिकरुदेववद्वा । ननु वैदादिप्रमाणान्धेषु तु तदुपासनं विहितमभिहितं न त्वेतदित्यप्यविहितमेव भजनमिति चेन्न, सर्वतः पृथक्त्वेनैतत्प्रमातो व्यवस्थापितत्वात् । 'अनित्यममुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व मामि'ति भगवद्वाक्ये भजनविध्युपपादितत्वाच्च । 'मन्मना भव मद्रक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे' इत्यादिना । अत एवात्राप्यावश्यकत्वार्थकतयानुशिष्टानां तेष्वचव्यानीयरप्रत्ययानां मध्ये अनीयरप्रत्यय उपात्तः । तथा विध्यर्थकश्च । न चैवं विध्यधीनत्वमसङ्गः । पर्यादातो व्यतिरेकात् पुष्टिमार्गीयत्वाच्च । अत एवोक्तमेकादशस्कन्धे भागवते भगवद्दर्शनरूपणमसङ्गे 'यानास्थाय नरो राजन्न प्रमायेत कर्हिचित् । धावन्निमीलय वा नेत्रे न स्वलेन पतेदिहे'त्पादि । अयमेव धर्मः ॥ १ ॥

इति मठेशधीनाथभट्टवृता चतुःश्लोक्याः प्रथमश्लोकटीका समाप्ता ।

(१) तन्व्यमप्यानीयर (३-१-२६) इति पृथात् । (२) नापिका लक्षणा ।

धीऋष्णाय नम ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नम ।
धीमताचार्यचरणकमलेभ्यो नम ।

चतुःश्लोकी ।

श्रीद्वारिकेशविरचितव्याख्यायुता ।

श्रीगोवर्धनधराय नमः ।

नत्वा श्रीमद्भगवत्पात्राणां निवृत्तेशांश्च सद्गुरुन् ।

स्वसिद्धान्तचतुःश्लोकीं विदुषोमि यथामति ॥ १ ॥

अथ श्रीमद्भगवत्पात्राणां कृष्णाश्रयमन्ये सपरिकरस्याश्रयस्य निरूपितत्वादा-
श्रितान् स्वपार्गीयममाणप्रमेयसाधनफलानि निर्देष्टुं तद्बोधरूपमार्थिकापमोक्षांशोपदेष्टुं
पूर्वश्लोके धर्म प्रमाणं च निरूपयन्ति सर्वदेति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।

स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः कापि कदाचन ॥ १ ॥

सर्वदेति सर्वस्मिन्काले । सर्वभावेनेति पतिपुत्रादिभावेन । तदुक्तं 'प्रेम्णो भवां-
स्तनुभृतां किञ्च बन्धुरात्मे'ति, 'सर्वपापात्मजो बान्धा पिता माता स ईश्वर' इति,
'येषां च त्वं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो देवतञ्च' । ब्रजाधिपः । ब्रजस्य
निःसाधनस्यानन्यस्वामिनः अधिपः स्वामी । कर्तव्यं निर्दिशन्ति भजनीय इति । काय-
वाङ्मनोभिरवश्यं सेवनीयः । यद्वा, सर्वपापिन्द्रियाणां भावेन 'तन्मनस्कास्तदाला-
पास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः' इतिरीतिकेन, निरोधवृत्तये वक्ष्यमाणरीतिकेन वा सेव्यः ।
स्वस्येति 'देवोऽसुरो मनुष्यो वे'तिवाक्यात्, 'को नु राजन्नि'तिवाक्याच्च स्वस्यात्मनो
जीवमात्रस्य । स्वस्य कृष्णाश्रितजीवस्याप्येव धर्मः । तदेव भक्तिर्हन्ते 'स्त्रियाः स्वपति-
भजनव'दिति । अकर्तव्यं निषेधयन्ति

ण काले श्रौतकर्तव्यस्य । 'वर्णाश्रमवतां धर्मः श्रुत्यादिषु यथोदितः । तथैव
विधिवत्तार्यः' बालबोधे 'स्वधर्ममनुतिष्ठन्वै भारद्वाङ्गुण्यमन्यथा' । अत एव सर्वोत्तमेऽपि
'कर्ममार्गप्रवर्तकः' 'यागादौ भक्तिमार्गिकसाधनत्वोपदेशकः'; 'यज्ञभोक्ता यज्ञकर्तृ'त्यादि-
नामानि । तथाकृतिश्च परम्परया दृश्यते । न चैवं 'सर्वदा'पदवाचः शङ्क्यः, भक्तिमार्गे
साधनफलपौरुषेणैव तोषामपि सेवा मध्यपातिनीति न बाधः ॥ १ ॥

एवं 'सर्वदा सर्वभावेन भजनीय' इत्यनेन प्रमाणं निरूप्य 'धर्मो हीत्यनेन
धर्मं च निरूप्य प्रमेयमर्थं च निरूपयन्ति एवं सतामिति ।

एवं सतां स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।

प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

उक्तप्रकारेण भजताम् । इमेति प्रसिद्धिः । भगवद्गीतासु 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यह'मिति भगवद्वाक्यात् । एकादशस्कन्धे च 'यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि, सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽज्ञसो'ति भगवद्वाक्यात् । कर्तव्यं सेवोपयुक्तपदार्थसम्पादनं स्वयमेव करिष्यति । स्वकर्तव्यमिति पाठे स्वस्य जीवस्य भगवतो वा यत्कर्तव्यं तत्तद्धरिः स्वयमेव अतिकृत एव अपार्थित एव करिष्यति, न त्वन्यद्वारा । नापि कल्पवृक्षादिवत् । स हि पार्थित एव करोति । अत एव दशमस्कन्धे 'व्रजस्योवाह वै इयं भगवान्बालचेष्टितः' । सर्वोच्येऽपि 'स्वदासार्थकृतारोपसाधन' इति । मार्यादिकभक्तेषु नृसिंहमहत्तरादिषु तथाकृतपि श्रूयते । ननु भगवान् केन प्रकारेण करोतीत्याशङ्क्यापानाह प्रभुरिति । प्रकरणेण भवतीति । भगवदीयाभिलषितशय्यासिंहासनादिरूपो भवति । यथा वैधिल्लुतदेवयोर्ऋषयोर्ऋष्यादिवाहनादिसर्वरूपो भूत्वा विवेश । तदुक्तं 'उभयोराविशद्रेहमुभान्यां तदलक्षित' इति । यथा च षोडशसदृशनायिकाविराहे श्रीनमुदेवादिवीरपात्रिकसर्ववस्तुरूपो भूत्वा सर्वत्र विराहं कृतवान् । तदुक्तं 'अयो मुहूर्त एकस्मिन्नागारेषु ताः स्त्रियः । अधोपयेने भगवोऽस्तावद्रूपधरोऽव्यय' इति । ननु सर्ववेदप्रतिपाद्यो भगवानुच्चावचभावं कथं भजते इत्यत आहुः सर्वसमर्थ इति । सर्वं कर्तुं समर्थः । अथवा । सर्वेषूच्चावचभावेषु समस्तुल्योऽर्थो यस्य । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति श्रुत्या वस्तुतः सर्वस्य भगवन्त्वात् । तथा चोक्तमष्टमस्कन्धे 'उच्चावचेषु भूतेषु चरन्वायुरिवेश्वरः । नोच्चावचत्वं भजते निर्गुणत्वाद्धियो गुणैः' । हि युक्तोऽयमर्थः । एतेन सिद्धमाहुः तेनेति । भगवतीव संपादितेनार्थेन निश्चिन्ततां भगवदेकतानतां व्रजेत् । निश्चिन्तो भूत्वा सेवां कुर्यात् । अत एव भक्तिवर्द्धिन्यां 'अप्यावृत्तो भजेःकृष्णं पूजया श्रवणादिभिः' । नवरत्नपत्राशोऽपि 'भगवद्दर्यापि सा न कार्या' । विवेकैर्याश्रयेऽपि 'प्राप्तं सेवेन निर्ममः' । गदगधरदासीनां तथाकृतिषु श्रूयते । एवं प्रभुपदेनार्थं सर्वसमर्थपदेन प्रमेयं च निरूप्य 'भक्तियोगस्य तत्सर्वमन्तरायतयार्भक' इत्युपक्रम्य, 'यस्य आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिकः । आशास्तानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः । न स्वामी भृत्यनः स्वाम्यमिच्छन्वो राति चाशिष' इत्युक्तत्वात् ॥ २ ॥

एवं तु भगवतार्थसंपादने कृते भक्तिमार्गान्तरायः, स्वयं कृते सेवाऽनिर्वाह इति प्राप्ते, भक्तिमार्गीयं साधनं निरूपयन्तो हरेर्दृष्टारूपं कामं निरूपयन्ति यदि श्रीगोकुलाधीश इति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।

ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्बैदिकैरपि ॥ ३ ॥

एतेन दुर्लभतोऽप्यने । अत एव दिदृक्षा । श्रिया युक्तो गोकुलाधीश, एतेन कामसम्पत्तिर्निरूपिता । 'कामः स्त्रीषु प्रतिष्ठितः' इतिवाक्यात् । 'कौण्डिन्यो गोपिकाः मोक्ता गुरवः साधनं च तदित्तिवाक्यात् साधनसंपत्तिर्निरूपिता । तयोः स्वस्मिन्समावेशमाहुः धृतः सर्वात्मना हृदि । 'एकादशेन्द्रियैः काम' इतिवाक्यात् । अत्राऽऽत्मपदं इन्द्रियपरम् । सर्वपदं एकादशपरम् । सर्वेन्द्रियैः कामसाधनसंयुक्तो गोकुलाधीशो हृदि धृतो हृदये कृतस्तदा लौकिकफलस्य स्वाधीनपतित्वस्य वैदिकफलस्य चित्तशुद्धेश्च 'हृदि स्थितो यच्छ्रुति भक्तिपूत' इतिवचनादाप्तत्वेन लौकिकैरुद्यमनादिभिः वैदिकैर्यज्ञादिभिरपि किं ? नास्ति परमुत्कृष्टं, यस्मादेतादृशमत्कृष्टमस्ति चेद्ब्रूहि ॥ ३ ॥

एवं श्रीपदेन कामं साधनं च निरूप्य भगवदीयत्वरूपं मोक्षं स्मरणसेवारूपं फलं निरूपयन्ति—अत इति ।

अतः सर्वात्मना शश्वद्भेकुलेश्वरपादयोः ।

स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

यतो हृदये श्रीगोकुलाधीशपारणादन्यसाधनं नास्ति, अतः परं सर्वात्मना देहेन्द्रियमागन्तःकरणैः शश्वद्विरन्तरं, गवां कुलस्य, गवां यन्त्रुनां गोपगोपीनां, गोकुलग्रामस्य वा ईश्वरस्य नियामकस्य पादयोर्भगवदीयदेहसंपादकयोः स्मरणमाध्यानं भजनं सेवनं, चकारेण श्रवणं शीर्तनं च, न त्याज्यम् । सादरं सर्वया विधेयम् । अपिः संभावनायाम् । त्यागतंभावनैव नास्ति । एवं भगवदीयत्वरूपमोक्षं सेवारूपफलं चेति । स्वयं स्वाभिप्रायाप्येन ग्रन्थं समापयन्ति—इति मे मतिरिति । मे श्रीकृष्णवद्वभस्य इति एवं प्रकारिका मतिः ॥ ४ ॥

एवं भगवदीयानां धर्मार्थैश्छामृतपदा ।

ध्यारपातेयं चतुःश्लोकी प्रमाणादिप्रदर्शिका ॥ १ ॥

तेन श्रीवद्वभाचार्याः स्वदासे मयि वंशजे ।

प्रसीदन्तु स्वकृपया सान्ध्याः सहस्रेणाः ॥ २ ॥

इति श्रीवद्वभाचार्यचरणैकतान्त्रधीमशुपानायाःमज्जारिकेशविरचिता

चतुःश्लोकीव्याख्यान्यपयोधिनी

समाप्ता ।

परिशिष्टम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-श्रीमद्-विठ्ठलेश-प्रभुवरण-विरचिता

श्रीवृत्रासुरचतुःश्लोकी विवृतिः

व्याख्यात्रय-समलंकृता

१. श्रीहरिरायणां टिप्पणी
२. श्रीवल्लभानां टिप्पणी
३. श्रीपुरुषोत्तमानां प्रकाशः

दास्ये तु न तथेत्याशयेनास्मच्छब्देन भेदमुपपादयति-अहमिति । ननु दास्यं कथं सौत्स्यतीत्यत आह-तत्रेति त्वदीयोहमित्यर्थः तेनावयोः सेव्यसेवकभावः सहज इति सूचितम्, अन्यथा त्रिवर्गविधातमसुररजेपि सति कथं कुर्याः, तनो मोक्षे चानधिकार उक्तः, एवं चेत् कथं दास्यं न करोपीत्यत आह-भवितेति, जीवस्य त्वदीयत्वेपि देहस्यासुरत्वेनायोग्यत्वादेहान्तरे दासो भविष्यामीत्यर्थः, अतस्त्वदनुग्रहेणैव तथा भवितेत्यत्र विश्वासमाह-अस्मीति । साक्षात्प्रभुदास्ये हि स्वस्य दीनभावो गच्छतीति परम्परादासत्वमुक्तं, यद्वा, प्रभुदास्ये हि स्वस्य सर्वोत्तमत्वाभिमानेन भक्तान्तरे अपराधसम्भवात् प्रभुदास्यादपि भ्रंशो भवेत्तच्चानुभूतं चित्रकेतुदशापाम्, अतः परम्परादासत्वेन दैन्यमेवोचितमिति भावः ।

अथवा तवेत्यादिपदसमुदायेन मोक्षादिक्रमेण वक्ष्यमाणपुरुषार्थचतुष्टयेष्वधिकाररूपं चतुर्विधं दास्यमुच्यते, तत्र पुष्टिमागं मोक्षो हि भजनानन्दानुभवः, स च देहेन्द्रियमाणा-न्तःकरणयुक्तानामेव, 'अक्षर्यतां फलमिदं न परं विदाम' इत्यत्र श्रुतिप्रतिपादितः, तत्र चाधिकाररूपं प्रभुदास्यं 'भवाम दास्यः' 'पुरुषैर्भूषण देहि दास्य'मिति श्रुतिवाक्यादतस्तवेति पदान्मोक्षाधिकाररूपं प्रभुदास्यमुक्तपतस्तवेत्यसमासः, अन्यथा त्वत्पादेति वेदेत्, तव पादावेवैकं मूलं येषां ते तथा, अर्थाद्भजस्थितभक्ता एव, 'तेद्द्वि-मूलं प्राप्ता' इति तेषावोक्तेः, तेन कामाधिकाररूपं तदासत्वमुक्तमन्यथा कामासिद्धेः, अत एवोक्तमाचार्यचरणैः 'तेद्वारा पुरुषाणां च भविष्यन्ति न चान्यथे'ति । अनु-पदेन तदासदासत्वमर्थाधिकाररूपमुक्तम्, ततस्तव दासत्वं धर्माधिकाररूपमुक्तम् ।

ननु सत्सद्भावोप्येवम्भावस्तव कथं जात इत्यत्र आह-भूय इति, पूर्वमहं चित्र-केतुर्दास एव स्थितोऽनः गुणरपि तथा वितेति भावः । एवं स्वस्याधिकारचतुष्टयं प्रतिपाद्य तत्तमभावादादौ धर्मं प्रार्थयते मनः स्मरेतेति । अस्युपतेरिति गुणानामिति च कर्मणि षष्ठी, तथा च मनः अस्युपतिं स्मरेत् चिन्तयेत्, स्मरणत्पातममुल्लैकसापन्नत्वादात्मने-पदम् । वाक् तस्यैव गुणान् शृणीत कीर्तयेत्, कीर्तनस्यापि मुख्यः स्वार्थ एव परार्थ-स्त्वानुपद्विक इत्यात्मनेपदम् । क्वायस्तस्यैव कर्म सेवां करोतु, सेवा तु यथा प्रभोः सुखं भवति तथा क्रियते, न तु तत्राणुमात्रमपि स्वार्थपरत्वमनः परस्मैपदम् । स्मरणकीर्तनयोः श्रवणाधीनत्वेनान्यकथनसापेक्षत्वाद्विधिरक्तः । सेवायां स्नेह एव नियामकः, स च प्रभुकृ-पैकसाध्य इति तत्राशीर्निरूपिता ॥ १ ॥

एवं मनोवाक्यभेदेन त्रिविधमपि धर्मं सम्माध्यर्थं निरूपयति—न नाकपृष्ठमिति ।
 न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
 न योगसिद्धीरपुनर्भवं वां समञ्जस त्वा विरहस्य काहे ॥२॥

लौकिको वैदिकश्चार्थसिद्धिः प्राकृतेर्गुणैः ।
 क्रमेण ते भगवतो गुणैः पद्विनिराकृताः ॥ १ ॥
 स्वर्गभूमिरसैश्वर्यं साच्चिदादि तु लौकिकम् ।
 मोक्षश्च पारमेष्ठ्यं च सिद्धयमेति वैदिकम् ॥ २ ॥
 प्रवृत्तिधर्मसाध्यत्वात्सामान्यं तच्च लौकिकम् ।
 निवृत्तिधर्मसाध्यत्वादिशेषाद्वैदिकं परम् ॥ ३ ॥
 मत्प्रेकमेव ते धार्या न तु सम्भूय कुशचित् ।
 भगवत्पशिलात्मत्वाद्भवन्त्येव तथा हि ते ॥ ४ ॥
 अतोऽर्थो भगवानेव पुष्टिमाहर्तुमन्यतः ।
 सर्वतो नैरपेक्ष्यं च तथात्र विनिरूप्यते ॥ ५ ॥

आदौ लौकिकमात्रिकमर्थं निराकरोति—न नाकपृष्ठमिति, नाकः स्वर्गस्तस्य
 पृष्ठं रागासनम्, इन्द्रासनमितिपावत्, तथा नश्यति बान्यान्तरे, अतस्त्वरथवन्तिर्भर्षस्य
 विद्यमानत्वात्तत्र काहे नेच्छामोत्यर्थः) वैदिकराममर्थं निराकरोति—न पारमेष्ठ्य-
 मिति, परमेष्ठी मन्त्रा, रजो रत्नारत्नात्तत्थानं राममम्, तत्र च 'ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते'
 इति वारयात्पारतन्त्र्येण कलसिद्धया स्वार्थिदानितेव, त्वयि चात्यन्त्रिनवीर्यस्य विद्यमान-
 त्वात्तदपि न काहे । लौकिकराममर्थं निराकरोति—न सार्वभौममिति, सार्वभूमैराश्वत्थे
 हि सर्वत्र लोके यत्रो भवति, तथा दानादिसाधेन्द्रादीपापिकं भावपितं च 'सोऽद्यमं
 तीर्थ'मिति पञ्चनारत्वरूपतोपि दुष्टं 'राज्यान्ते नरकं भुव'मिति वचनराइरगानतोपि
 तथा, त्वयि पानत्रयपदमो विद्यमानत्वात्तदपि न काहे । लौकिकराममर्थं निराकरोति-
 न रसाधिपत्यमिति, रमेगुपपत्तुणं तेनाधोऽज्ञाः सर्वं निरन्विताः, तत्र च भुङ्क्तेतथा
 एतन्मोपोषिः स प यिया भवति, मा प त्वया बनेरपदना दणा च, त्वयि पानना-
 पित्याः धियो निर्यं विद्यमानत्वात्तदपि न काहे । वैदिकराममर्थं निराकरोति—न योग-
 सिद्धीरिति, अरुकोमिगिनो हि सिद्धिच्येनापेक्षितवपान संगृह्य भोगं कुर्वन्ति तेन पौ-
 गादपि भ्रष्टा भवन्तीति तेनां ज्ञानं भ्रान्तदेव, त्वयि च नित्यात्यन्त्रिनज्ञानस्य विद्यमानत्वा-

या अपि न काङ्क्षे । वैदिकगारिरहमर्थं निराकरोति-अपुनर्मथं वेति, ' भवेत्वात् म-
 श्रापते ज्ञानमिनिश्चयनाङ्गानप्य मारिरहन्वेन कर्माध्यमोसस्यापि तथास्वमुच्यते,
 म च गणितानन्दोऽनेन न्वदानन्दोऽय एव न तु त्वम्, तथापि सेव्यमेवकमावेन नान्योन्यं
 सांभ्रमता भेदाभासादहमन्मार्थन्याभासाशापुनर्भरदम्, जन्माभासातिरिक्तविशेषामा-
 वात्, तं तु पूर्णानन्दो भक्तमार्यसंश्रयेति 'मैदन्त्ये न जानन्ति नाहं तैम्यो मनाग-
 र्पा'ति वाचयादने भक्तान्तिरिक्तगमाभावेन त्वत्पत्त्वष्टिनरैरान्यस्य विषयानत्वात्तपि
 न काङ्क्षे । मर्यादायां मोक्षधुर्गीयपुण्यार्थः म च पुष्टा हेतवेनार्थमध्ये गणित इत्यनादरयो-
 तनार्थं वेत्युक्तम्, यत्र मोक्षस्याप्यनादरमथान्येषां किं वाच्यमिति च । तर्हि सार्थस्तत्रापेक्षित
 इत्यन आह-ममञ्जनेति, हे ममञ्जम पूर्णान्तामार्थरूप्य, अतस्तस्या र्थां विरहप्य
 पृष्यन्त्योक्तार्थानरं न काङ्क्षे, किन्तु त्वामेव सर्वार्थरूपन्यादर्थन्वेन काङ्क्षे निरन्तरविच्छा-
 मीत्यर्थः । यदा उक्तार्थानृपदृश्य त्वामेव चार्थन्वेन काङ्क्षे ॥ २ ॥

एवमर्थं निरूप्य कामं निरूपयति-अजातपदाद्वेति ।

अजातपता इव मातरं स्वगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधानाः ।
 मियं प्रियेव व्युत्पिनं विषण्णा मनोरविन्दाक्ष दिदक्षते त्वाम् ॥ ३ ॥

पुष्टिपार्श्वे हरे रूपदिदक्षा मनमोम्य हि ।
 कामो निरूप्यते तत्र दृष्टान्तावितयं यथा ॥ १ ॥
 द्वितयं लौकिकं योक्तभेदं शारीर्यमुत्तमम् ।
 लौकिकस्त्रिगुणीभूय दृष्टान्तः स्यादलौकिके ॥ २ ॥
 अन्यथैवतरेणापि सिद्धेयं त्रितयेन किम् ।
 क्षुद्रयो लौकिकः कामो रसरीत्या तु शश्वतः ॥ ३ ॥
 प्रभोस्तु रसरूपतरास्वस्यैवन्वेन चोत्तमः ।
 अयमेव हि दृष्टान्तस्तेनान्ते चैकतोदिता ॥ ४ ॥

हे अरविन्द ? मनुस्त्वां दिदक्षन् इति सम्मन्त्रः । नेत्रयोरमनुजत्वेन तदिदक्षया
 मनसो मनुष्यं चोपितम् तथा चारविन्दे विकसिते मनुष्यस्य कामः सिद्धयति नान्यपेति तथा दृष्टिं
 मयि संपादयेति प्रार्थितम्, दिदक्षादेतुभूतं स्वरूपसोन्दर्यं च संशोधनेन ध्वनितम् । मनसः
 स्वतन्त्रत्वायाम्च्छब्दप्रयोगाभावः । किञ्च, दिदक्षा दृशो धर्मः, स च मनसो निरूप्यते, तेन
 सर्वेन्द्रियाणामपि मनःमनिकर्णाल्लुर्णाः कामो निरूप्यते, अन्यथा भक्तानन्दानुभवो न स्यात्

तस्य सर्वेन्द्रियैकवेद्यत्वात् । प्रथोः पूर्णकामत्वेन क्रियाफलस्यान्वयामित्वायात्पनेपदम् । मनसश्चञ्चलत्वान्मधुपत्वबोधनेन च कामान्तरं संभवतीति तदभावात् प्रष्टान्तपाह-खगा इवेति, यथा पक्षिणः कदा किमानीय दास्यतीति मातरं द्रष्टुमिच्छन्ति, रगानां नियतमहस्याभावादनियतस्य च क्षुधार्ततयार्थसिद्धत्वात्तदन गौक्तम्, तदपि न सर्वदा किन्तु क्रियस्कालपर्यन्तमेवेत्याह-अजातपक्षा इति, पक्षोदपानन्तरं न तथेति तावदेव दृष्टान्तनेर्षवः । तथाचान कुदुपाधिकृतत्वमनियतविषयत्वमनियतकालत्वं चेति दूषणत्रयं संभाव्य द्वितीयं दृष्टान्तमाह-स्तन्यं यथेति । वस्तुतस्तथा अतिवालवत्सास्ने यथा कदा स्तन्यं प्राप्स्याम इति तदिच्छन्ति तथेत्यर्थः । तेषां स्तन्यमात्रैककामत्वात् तदेव प्रोक्तम्, मानुरभावे तद्दूषणपरस्या अपि स्तन्यं पिबन्तीति तदनुक्तिः । अत्रापि नियतविषयत्वेऽपि वस्तुतस्तथादानीयत कालत्वं क्षुदुपाधिकृतत्वं चेतिदूषणद्वयं संभाव्य तृतीयं दृष्टान्तमाह-मियं मियेवेति, मियपदादुभयत्र निरुपाधिकस्नेहो निरूपितः, स्नेहस्य तथात्वं नदभिज्ञेनोक्तं 'आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपी'ति, तेनोपाधिदूषणमत्र परिहृतम्, द्युपितमिति प्रवासे नमित्यर्थः, तेन गमनक्षणमारभ्यागमनावधि दिदृक्षाया एकरस-वादनियतकालत्व चाप्यस्तम् । विषण्णेतिपदादानीयतविषयत्वं च, अन्यथा विषादासम्भवात्, एवं दोषत्रयाभावादयमेव दृष्टान्तो युक्त इत्याशयेन स्वस्यैकत्वाद्वाग्नेकतचनमुक्तमन्यथा पूर्ववदत्रापि बहुवचनं वदेत्, बहुषु तथात्वस्यासंभवात्, अत एवान्ते च निरूपणे कृतम्, पूर्वोक्तदयमेकदेशाभिप्रायेणेति तत्कथनमपि नानुपपन्नम् । किञ्च, मिया हि विनयोगे केवलं विषादमात्रं न करोति किन्तु, मिये विविधरसमागमनःप्रकटयति, प्रकागन्तरेण जीवनमेव न स्यात्, जाते च जीवने मियत्वं तु बाधितं स्यात् । स्वस्य पुरुषत्वेन स्त्रीदृष्टान्तान्यथानुपपत्त्या च तज्जातीयरसभाव उक्तः, अतो रसस्याविगोप्यत्वादर्थं भावः मियापदेनाभिव्यज्यते, विषादस्य तु बहिरूप्यनुभूयमानत्वाद्दृष्टान्तविषयत्वात् तथाविज्ञेपणम्, एवमनेकरसभावविशिष्टं विषण्णं च मनस्त्वां दिक्षते, न तु दर्शनमात्रमिच्छन्ति, तत्तु पूर्वमर्थत्वेन वाङ्मनस्त्वाद्वात्तुपपद्यं विज्ञेयाभावात्, अन्यथा, अस्मच्छब्दप्रयोगो हि देहाभ्यामकृतो भवति साम्प्रतं तु रसात्मप्रयोगेदेहाभावाद्गमनार्थस्य च तन्वितेऽस्मच्छब्दाभावाभावात्मन एवोक्तं न तु मयेति । दृष्टान्ते च तद्दृष्ट्यासस्य दृष्टत्वात्प्रियेति निरूपितं न तु मनः, अन्यथा मियेवाहं दिदृक्षे इति दृष्टान्तमाधर्म्यं वक्तव्ये मनो दिदृक्षत इति न वदेत्, अतो रसमागोः कामो रसदृष्ट्यैव पूर्णोऽपि इति तथा सम्बोधनेन मार्यितम् ॥ ३ ॥

एवं कामं निरूप्य मोक्षं निरूपयति-भ्रमोत्तमेति,
भ्रमोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।
त्वन्माययात्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाय भूयात् ॥ ४ ॥

पुष्टिमार्गं हरेर्दास्यं धर्मोयं हरिरेव हि ।

कामो हरेर्दिदृशैव मोक्षः कृष्णस्य चेद् ध्रुवम् ॥ १ ॥

पुष्टिमार्गं* मोक्षो निरूप्यते,

श्रीमद्भगवद्गीताप्रसङ्गप्रसङ्गचरणमन्त्रेश्चम्यो नम ॥

अथ श्रीहरिरायचरणविरचिता टिप्पणी ।

श्रीवल्लभाचार्यपद स्वीयसर्तार्यसम्पद ॥

प्रणमामि तदुक्तार्थबोधनाय मुहुर्मुहु ॥ १ ॥

[१] अथ श्रीवल्लभाचार्यचरणा पुष्टिमार्गं धर्मार्थकामाना पूर्वपदेषु स्पष्टत्वमवगम्यमानत्वान्मोक्षमात्रस्य सन्दिग्धत्वादतिविलक्षणत्वाच्च तन्निरूपयन्ति-पुष्टिमार्गं इति पुष्टिर्हि प्रभोरनुग्रह स च फलदानेनैव, सापि द्विधा, केवला विशिष्टा च, तत्र केवला नि प्रकारा, साधन प्रकारस्त-द्रहिता, विशिष्टा ससाधना सैव फलप्राप्त्युपायतया मार्ग इत्यर्थः । तत्र मोक्षो निरूप्यत इत्यर्थः ।

अथ श्रीपुष्टिमार्गीयमुक्तिविवृतिप्रकाशः ।

दशदिगन्तविजयि-श्रीपुरुषोत्तमपाद-प्रणोतः ।

श्रीकृष्णाय नम

प्रणम्य श्रीमदाचार्यचरणोन्मत्तुपावलात् ।

तदीया पुष्टिमार्गीयमोक्षोक्तिं विवृणोत्ययम् ॥ १ ॥

[१] अथ श्रीमदाचार्यचरणा पुष्टिप्रवाहमर्यादाया पुष्टिमार्गीयत्वस्य विवृतत्वेन तत्र पुमर्याना-मवत्रयवक्तव्यत्वान् पुष्टे पष्टस्वन्वार्थत्वेन तत्र सपरिकरायास्तस्या निरूपितत्वात् सन्नत्वैर्वाक्यैरेव तान्विवरिष्य पूर्ववाक्येषु धर्मार्थकामाना सपष्टत्वात्तुतीयस्य चास्यइत्यात्तन्निरूपण प्रतिजानते-पुष्टिमार्गं मोक्षो निरूप्यत इति,† “पोषणं तदनुग्रह” इतिविलक्षणवाक्यात्पुष्टिरनुग्रह, स च धर्मान्तरमिति भक्तिहेतुनिर्णये स्थितम्, स एव फलसाधनत्वान्मार्गः । तत्र मोक्षो (भा० २, १०, ६.) “मुक्तिर्हित्वान्यधारुपं स्वरूपेण व्यवस्थितिर्” इतिवाक्योक्तलक्षणकमन्ययारूपत्याग-पूर्वक स्वरूपणावरधानम् । निरूप्यते इतरवैलक्षण्येन ह्याप्यत इत्यर्थः ।

† इयं चतुर्थश्लोकविवृति श्रीमदाचार्यचरणानामेवेति तद्विचारयेणवगम्यते इत्यते चैतत्प्रमाणक-पेक्षुपुष्टेसो ग पुस्तके । * पुष्टिमार्गीय इत्यपि पाठः । † भा २ १०, ६.

तत्र स्थितौ बन्धो नामाहन्ताममतास्पदेष्वासक्तिस्तदन्येषु सङ्गश्च, तस्य सहे-
तुकस्याभावो मोक्षश्च, पुष्टिस्तु तद्विपरीता, तत्र व्यवस्थया मोक्षद्वयाद्-ममोक्षमेति ।

टिप्पणी—[२] अत पर पुष्टिमागे बन्धमोक्षान्या वैलक्षण्य निरूपयन्ति तत्र
स्थिताविति, तत्र स्थितौ पुष्टिमर्यादाया बन्धोऽहन्ताममतास्पदेषु पुत्रदारगृहधनादिषु
आसक्तिः सर्वात्मना तन्निष्ठमनोवृत्ति, तदन्येष्व्वासक्तिविषयान्येषूदासीनेषु सङ्गश्च तस्य बन्धस्य
सहेतुकस्य तदुत्पादककारणकलापसहितस्य योऽभावः स मोक्ष इत्यर्थ । पुष्टौ तद्विपरीत्यमाहु -
पुष्टिस्त्विति, पुष्टिः पुष्टिमार्गस्ताभ्या बन्धमोक्षान्या विपरीता, पुष्टिमागे बन्धो हि पुत्रा-
दिष्वासक्तिविषयेषु भगवदीयत्वेनानासक्तिल्लासीनेषु भक्तेष्वतद्गन्ध, तदभावो मोक्ष । भगवदीयेषु
पुत्रादिष्वासक्तिर्भगवद्भक्तसन्त्य च मोक्ष इति विपरीत्यमित्यर्थ ।

प्रकाशः—[२] न्तु “मसङ्गमनरं पाशमात्मनः क्वयो विदुरि”ति (भा० ३,
२५, २०) “ स्नेहपाशैर्निबन्धाति भवान्सर्वमिद्भ्रजगदि”त्यादिकाभ्यैर्देन्वात्य स्पष्टत्वेन तद-
भावरूपमोक्षस्यापि तथात्वात्तस्य च मार्गमात्रतुल्यस्त्रादपार्याय प्रयास इति शङ्कायामाहु-तत्रे-
त्यादि, मोक्षस्येतरवैलक्षण्येन ज्ञाप्यतया वैलक्षण्यप्रतियोगिनोऽवश्यवक्तव्यत्वे, स्थितौ उपादेय-
तया प्रतियोगिभूतायाम्, बन्धः ससाराकारणभूत उच्छब्धिः, तस्य सहेतुकस्य “तत्र सत्त्वं
निर्मलत्वादि”त्यादिगीतावाक्याचञ्चेतनो गुणास्तत्तद्विषय बन्धस्याभावो ध्वसादिर्मोक्षः । पुष्टिः
पुष्टिसरणी, तद्विपरीता विरुद्धलक्षणा, तथा च तत्र ससारास्पदेषु प्रसङ्गासक्तौ मोक्षस्तदभावश्च
बन्ध इत्यर्थ । तत्र मोक्षस्तु अत्र सुटिव्यति, बन्धस्तु तृतीयरक्तबन्धमपाध्याये प्रकृत्युतौ
“अन्त्यापुतार्त्तकरण” इत्यस्य सुबोधिन्या व्युत्पादित । ये पूर्वजन्मनि प्रकृतमभावचिन्त-
नपरा स्तेभ्यः स्वोत्तनिवृत्तिमार्गकरणाद्भगवान्प्रसन्नो भूत्वा क्षत्यादिलोकेष्विह वा किञ्चित्प्रसाप
प्रयच्छति तदा नेदमस्माकमवक्षितमिति ततो विमुत्वा प्रजात्सभावचिन्तनेनैव “माप्तदेहाव-
सानाद्ये”विश्लोकोकरीत्येहैव सध्वरन्तीति रत्रमुक्तत्वाभिमानेन भगवद्वत्प्रसादागृहाणा कवी-
यामप्येव भाव इति ।

श्रीवृष्णाय नम

अथ श्रीमद्भ्रजभानामियं टिप्पणी ।

ममोक्षमेतिश्लोकीविवरणे तत्रेति श्लोकीविवरे इत्यर्थ, स्थिताविति मर्षादामर्ग इत्यर्थ ।
पुष्टिमोक्षमदशोचकतया प्राहुतत्रिरूपणस्यावश्यकत्वात् । तद्विपरीतवि, स्वस्वत साधनत कलत्रभ्रत्यर्थ ।
स्वरूप कृपया नि साधनाङ्गीकार, साधनं परदिधतिपुर्बक भजनम्, फल साधनाद्भजनान्दातुमव । अत
एव कलत्रकरणे प्रमाणनिष्ठत्वात्ताने तदनुभव, नो चेत् द्विजदारव्यसत्रिणायां श्रान्तमेव त्यात् । तत्र
व्यवस्थयेति, पुष्टिमागे व्यवस्थयेत्यर्थ ।

एवं कार्यं निरूप्य मोक्षं निरूपयति-ममोत्तमेति,
ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।
त्वन्माययात्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥ ४ ॥

पुष्टिमार्गं हरेर्दास्यं धर्मोपेयं हरिरेव हि ।

कामो हरेर्दिदृशैव मोक्षः कृष्णस्य चेद् ध्रुवम् ॥ १ ॥

पुष्टिमार्गं* मोक्षो निरूप्यते,

श्रीमद्भार्याचार्यविरचितप्रकरणसंग्रहस्योपमो मम ॥

अथ श्रीहरिरायचरणविरचिता टिप्पणी ।

श्रीवत्सवाचार्येण स्वयम्भार्याचार्येण ॥

प्रथमामि तदुक्तार्थबोधनाय सुदुर्मुहुः ॥ १ ॥

[१] अथ श्रीवत्सवाचार्यचरणा पुष्टिमार्गं धर्मोपेयमाणा पूर्वपदेयु स्फुटत्वपक्वगम्यमानत्वा-
-मोक्षमन्त्रस्य सन्दिग्धत्वाद्भक्तिविश्लेषत्वाच्च तन्निरूपयन्ति-पुष्टिमार्गं इति पुष्टिर्हि प्रभोरनुग्रह
म एव कल्पदाने-ज, सावि द्विधा, केचन विशिष्टा च, तत्र केचन नि प्रकाश, साधन प्रकारस्त-
-द्रहिता, विशिष्टा समाधना मेव कल्पप्रप्त्युपायतया भार्ग इत्यर्थं । तत्र मोक्षो निरूप्यत इत्यर्थं ।

अथ श्रीपुष्टिमार्गीयमुक्तिविवृतिप्रकाशः ।

दशदिगन्तविजयि-श्रीपुरपोत्तमपाद-धर्मातः ।

श्रीकृष्णाय नमः

प्रथम्य श्रीमदाचार्यचरणविरचितप्रकरणसंग्रहस्योपमो मम ॥

तद्वया पुष्टिमार्गीयमोक्षोर्गेति विवृणोत्ययम् ॥ १ ॥

[१] अथ श्रीमदाचार्यचरणा पुष्टिमार्गस्योत्तमपादोपमो मम विवृणोत्ययम् तत्र पुनर्याना-
-मवशक्यत्वात्पुष्टिं पुष्टे पठ्यन्तुवार्थेन तत्र सपरिच्छेदाकारणतया निरूपितत्वात् तत्राचैकैवैरेव
सावि-वशिरया पूर्ववद्वेषु धर्मोपेयमाणा सत्त्वत्वाद्युगीयस्य चार्यवृत्तात्तन्निरूपणं प्रतिमाने-
-पुष्टिमार्गं मोक्षो निरूप्यत इति, + "पौषणं तदनुग्रह" इतिश्लोकाकारणतयापुष्टिर्नुग्रह, म एव
धर्मोत्तममिति भक्तिहनुनिर्णये स्थितम् । म एव कल्पसाधन-व्यवहारः । तत्र मोक्षो (भा० २, १०,
६) " मुक्तिर्हित्वाण्यधारुणं स्वरूपेण व्यवस्थितिरि " तिकाक्योक्तत्वात्कल्पमन्यधारुणयाग-
-पूर्वक स्वरूपसाधनम् । निरूप्यते इत्यर्थेऽप्यनेन ज्ञाप्यत इत्यर्थः ।

१ इत्तं चतुर्थं चोक्तविरहितः श्रीमदाचार्यविरचितप्रकरणसंग्रहस्योपमो मम विवृणोत्ययम् तत्राचैकैवैरेव
वेदुःखो व पुनरुक्ते । * पुष्टिमार्गीय इत्यपि पाठः । । भा १ १०, ४

तत्र स्थितौ बन्धो नामाहन्ताममतास्पदेष्वासाक्तिस्तदन्येषु सद्गन्ध, तस्य सहे-
तुकस्याभावो मोक्षश्च, पुष्टिस्तु तद्विपरीता, तत्र व्यवस्थया मोक्षद्वयमाह—ममोत्तमेति ।

टिप्पणी—[१] अत पर पुष्टिमागं बन्धमोक्षाभ्या वैलक्षण्य निरूपयन्ति तत्र
स्थिताविति, तत्र स्थितौ पुष्टिमर्यादाया बन्धोऽहन्ताममतास्पदेषु पुत्रदारगृहवनादिषु
आसक्तिः सर्वात्मना तन्निष्ठमनोवृत्ति, तदन्येष्व्वासक्तिविषयान्येषुदासीनेषु सद्गन्ध तस्य बन्धस्य
सहेतुकस्य तदुत्पादककारणकलापसहितस्य योऽभावः स मोक्ष इत्यर्थ । पुष्टौ तद्वैपरीत्यमाहु —
पुष्टिस्त्विति, पुष्टिः पुष्टिमार्गस्ताभ्या बन्धमोक्षाभ्या विपरीता, पुष्टिमागं बन्धो हि पुत्रा-
दिष्वासक्तिविषयेषु भागवदीयत्वेनानासक्तिरदासीनेषु भक्तेष्वसद्गन्ध, तदभावो मोक्ष । भागवदीयेषु
पुत्रादिष्वासाक्तिर्भगवद्भक्तसख्य च मोक्ष इति वैपरीत्यमित्यर्थ ।

प्रकाशः— [२] ननु “प्रसङ्गमजर पाशमात्मनः कवयो विदुरि”ति (भा० ३,
२५, २०) “ स्नेहपाशैर्निबन्धाति भवान्सर्वमिद्रज्जगदि”त्यादिवाक्यैर्बन्धस्य स्पष्टत्वेन तद-
भावरूपमोक्षस्यापि तथात्वात्तस्य च मार्गमात्रतुल्यत्वाद्वाप्यर्थोय प्रयास इति शङ्कायामाहु—तत्रै-
त्यादि, मोक्षस्येतरवैलक्षण्येन ज्ञाप्यतया वैलक्षण्यप्रतिबोगिनोऽत्रयवक्तव्यत्वे, स्थितौ उपादेय-
तया प्रतियोगिभूतायाम्, बन्धः ससारकारणभूत उक्तविध, तस्य सहेतुकस्य “तत्र सर्वं
निर्मलत्वादि”त्यादिगीताकाव्याचक्षेत्तत्रो गुणास्तःसहितस्य बन्धःयाभावो ष्वसादिर्मोक्षः । पुष्टिः
पुष्टिसरणी, तद्विपरीता विरुद्धलक्षणा, तथा च तत्र सत्तारास्पदेषु प्रसङ्गात्तस्मिन् मोक्षस्तदभावश्च
बन्ध इत्यर्थ । तत्र मोक्षस्तु अत्र स्फुटिष्यति, बन्धस्तु तृतीयस्कन्धनवमाध्याये ब्रह्मरतुतौ
“अन्धापृतात्तर्ककरणा” इत्यस्य सुबोधिन्त्या व्युत्पादित । ये पूर्वजन्मनि ब्रह्मात्मभावचिन्त-
नपरा स्तोभ्य स्वोत्तनिष्ठमार्गकरणाद्भगवान्प्रसन्नो भूत्वा सत्यादिलोकैष्विह वा किञ्चित्प्रसाद
प्रयच्छति तदा नेत्रमस्माकमपक्षिनमिति ततो विमुखा ब्रह्मात्मभावचिन्तनेनैव “प्राप्तदेहाव-
सानाश्रे”तिश्लोकोत्तरीःयैर्हैव सञ्चरन्तीति स्वमुक्त्वाभिमानेन भगवदत्प्रसादापुहाणा कपी-
णामप्येव भाव इति ।

श्रीरुप्याय नम

अथ श्रीमद्ब्रह्मभानामियं टिप्पणी ।

ममोत्तमेतिश्लोकविवरणे तत्रेति मोक्षविषये इत्यर्थ, स्थिताविति मर्यादामार्ग इत्यर्थ ।
पुष्टिमोक्षमदबोधकतया प्राप्तत्वरूपणस्यात्रस्थत्वात् । तद्विपरीतेति, स्वरूपत साधनत फलतत्रेत्यर्थ ।
स्वरूप कृपाया नि साधनाङ्गीकार, साधन यद्विधितपूर्वक भजनम्, फल साक्षाद्भजनानन्दानुभव । अत
एव फलप्रकरणे प्रमाणनिष्ठात्प्रागेन तदनुभव, नो चेत् द्विजदारवत्तत्रिजया यद्भगमनमव स्यात् । तत्र
व्यवस्थयेति, पुष्टिमागं व्यवस्थयेत्यर्थ ।

मोक्षो हि द्विविधः, पुष्टिमर्यादाया पुष्टिपुष्ट्या च । † (मर्यादाया ज्ञानेनैव मुक्तिः, पुष्टौ च ज्ञानेन भक्त्या वा मुक्तिः) भगवत्पारोक्ष्यापारोक्ष्याभ्यां व्यवस्था, प्रत्यक्षेपि भगवति

टिप्पणी—[३] अथ पुष्टे शुद्धमिश्रभेदेन द्विविधाया मोक्षैक्यस्य नाहितत्वाद्यवस्थया तद्व्यमाहु —तत्रेति, पुष्टिमार्गे व्यवस्थयैकेन पद्येनार्द्धाभ्या मार्गभेदेन मोक्षद्वयमाहेत्यर्थ । ममोत्तमेति मोक्षो हि द्विविध इति, कर्मभि सत्तारचत्रे भ्रमणेन भगवदीयत्वप्रकारेण पुत्राद्या सत्तया, चोत्तमश्लोकजनसख्य मोक्ष इति द्विविध इत्यर्थ । उपायद्वैविध्यमाहु —पुष्टिमर्यादयेति, पुष्टिमर्यादा ह्यनुग्रह साधनसाहित्यम् । पुष्टिपुष्टिश्च तत्र तद्गाहित्यमिति भेद ।

[४] ननु प्रकारभेदेपि तत्सख्यस्यैकरूपनाया कथ व्यवस्थया द्वैविध्यमित्याशङ्क्याहु — भगवत्पारोक्ष्येति, पुष्टिमर्यादाभेदरूपमख्ये भगवत्पारोक्ष्ये शास्त्रार्थतया गुणगानकर्तृशुकादिसख्ये तथात्वस्य स्पष्टत्वात् । अत एव * “ मथुराया व्रजज्ञता ” इत्यादिपु परोक्षेणैव कथनम् । पुष्टिपुष्टौ तु गुणगानविपयलीलाविशिष्टप्रभोरपारोक्ष्यम्, † “ नन्दसूनुरय ”मित्यादिपु तथाक्ते स्त्वन्याययेत्याभिमुख्योक्तेश्च स्पष्ट एव व्यवस्थया भेद इत्यर्थ ।

प्रकाश—[३] ननु मार्गैक्ये साधनस्य समानतया वैजात्याभावात्कले कथ भेद इत्यत आहु तत्रेत्यादि, तथा च मार्गे अवांतरभेदान्मोक्षभेद इत्यर्थ ।

[४] ननु किंनिबन्धनो भेद, कथ च मोक्षभेद इत्यत आहु —मोक्षे हीत्यादि । वेदोक्ता कर्मज्ञानभक्तयो मर्यादेति पुष्टिप्रवाहमर्यादाया स्थितम्, तेष्वत्र प्रकरणवशाद्विहितज्ञानभक्ती प्राह्य योगोपासनादिमहणे त्रयो वा, तथा च तथा ताभ्या तैर्वा मिश्रितोऽनुग्रह पुष्टिमर्यादा, तथैक । अनुग्रहान्तरेण मिश्रितोऽनुग्रह पुष्टिपुष्टिस्येतर इति भेदनिबन्धकमुक्तम् । स्वरूपभेदकमाहु —भगवदित्यादि, तथा चागत्या भगवत् परोक्षाणुभव, इतरथा च प्रत्यक्षानुभव, इति ताभ्या कृत्वा भक्तरूपावस्थितिरूपमोक्षस्यापि स्वरूपभेद इत्यर्थ ।

[५] एव श्लोकार्थं सङ्ग्रह पूर्वस्य गुणभाव स्पष्टयितु पूर्वाद्धैत्यपदानि विवृण्वन्त पूर्वश्लोकेषु हरेसामन्तसारत्रि-दाक्षपदै समोभनेन भगवत्प्रयक्षताया स्पष्टत्वाद्नापि सबुद्धि सभाव्यते, तथा सति हे उचामश्लोक? उक्तविषय मम जनेषु सत्प न भूयादिति जनतादिधर्मवत्सख्याभावप्रार्थन श्लोकार्थो भवति स वाऽपुनर्भवपर्यन्तमनाकाङ्क्षतो मनसा भगवन्त दिदृक्षतश्च प्रतिनन्धनविरासस्य प्रागेव जातत्वाच्चादृशा सख्याभावे स्याद्व निरस्त इति न युज्यतेऽत समासमाहृत्यान्य एवार्थो वक्तुमुचित इत्याशयेनाहु —प्रत्यक्षेपीत्यादि, अप्रत्यक्षवादिनापि सम्बो

श्रीवद्वभटि०—ननु एकस्मिन्मार्गे कथ व्यवस्थाभेद † तत्राहु —भगवत्पारोक्ष्येति, पुष्टिमया दास्या परस्पर गुणसमाजनेनान्त प्रकटेनैव भगवता पूर्णतां मन्वाना लोकोपकारिण शुकादय इवात्मभाराना रमन्ते । शुद्धपुष्टिमार्गीयास्तु साक्षाद्दृष्टि सन्धमन्तरा नैतावद्वैव पूर्णतां मन्वन्त इति एतत्कृता यवस्थाभेद । अत एव कल्पप्रकरणे भगवद्वाचसम्पत्त्या गुणगानेन च न तापशान्ति, पश्चादाविरुति एव तस्मिन्स्तच्छान्ति ।

ननु पुष्टिमयादास्या कदाचिप्रयक्षे भगवति प्रमाणनिर्वा परिचय्य तमेव श्लोपुस्तदा कथ

† इय पट्टिनहि वैरिदिपि टीकापरिष्यात्पाना तथा च च ” पुस्तकयोरपि नोपलभ्यते ।

शास्त्रार्थत्वाय उत्तमश्लोकजनेत्विति समासः । भक्तसंवलित एव भगवास्तद्वारा फलं द-

टिप्पणी—[६] नन्वस्ति भगवान् शास्त्रार्थ “वेदैश्च सर्वै” रितिस्यूते “ त लौ-
पनिपदं पुरुषमिति” श्रुते “ सर्ववेदान्तप्रत्ययमि” ति न्यायाच्चातस्तत्माहर्ग्यं तज्ज्ञानार्थं च
तथाप्रतिपादकमक्तसख्यापेक्षा इति तदुपायापेक्षा । तत्र परोक्षे भगवति गुणगाने भक्तवाक्यत्र
तिपाद्यतया तदपेक्षा । प्रत्यक्षे वचसा गौणतया न शास्त्रार्थता, साक्षाद्बुभूयमानत्वादिति तदुत्तर
तदुपायरूपभक्ता नापेक्षन्त इति तदा किमिति तत्सख्यप्रार्थनमित्याशङ्क्याह—प्रत्यक्षोपीति ।

उत्तमश्लोकजनेत्विति समासेनैकार्थताबोधकेन प्रभोर्भक्तानां च परस्पर सापेक्षता सूचिता ।
तथा च भक्तानां प्रभुसंवलितत्वमेव तत्सापेक्षत्व, प्रभोश्च तद्वद्वै फलदातृत्वमिति सापेक्षत्वात्प्र-
त्यक्षेपि प्रभौ भक्तापेक्षासत्त्वान्न भक्तप्रतिपाद्यतारूपशास्त्रार्थत्वव्याहतिरित्यर्थ । एतेन प्रभुस्वरू-
पमनुभूयमानमपि भक्तनिरूपितमेव विदितं भवतीति भाव ।

मकाशः—

धनानुरोधेन बौद्धसन्निधानस्य “*अहं समाधाय मनो यथाह सङ्कल्पेणस्तच्चरणारविन्द ”
इतिशास्त्रात्पूर्वैतर्वस्मरणस्य चावश्यंवाच्यत्वात्तस्यैका-तभक्तवचनवश्यं वाच्यम्, तथा तादृशस्या-
नुभवागावसरे भीष्ममुक्ताविव भगवदनुकम्पा, तथा दर्शनदानं चावश्यं मन्तव्यम्, तथा सति
कानुष्पसि- प्रत्यक्षे ? तस्मादुक्तं प्रत्यक्ष इति । एव यद्यपि भगवान्-प्रत्यक्ष इति मम त्वदीयेषु जने-
त्विति वक्तव्यम्, तथापि यदेवमुक्तं तेन उत्तमैर्यथार्थशास्त्रार्थविविदि श्लोकव्यते कीर्त्यत इत्युत्त-
मश्लोकः । उत्तमा परापरविद्यागोचरा वा श्लोका कीर्तिव्यस्य स तथा । तस्य ये जना, “न
कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां च विद्यते, विष्णोस्तुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिणः” इति पाद्मा-
चाटशत्रु-मयुचास्तेत्विति यं समास स शास्त्रार्थत्वाय, भगवतः शास्त्रार्थरूपत्व ज्ञापयितुमित्यर्थ ।
अत्र “ क्रियायौपपदस्य च कर्मणि स्थानिन ” इत्यनेन तुमुन प्रयोगे चतुर्थी । फलेभ्यो
यातीतिवत् ।

ननु शास्त्रार्थत्वमुत्तमश्लोकपदीयसमासेनैव प्राप्यते, न तु श्दत्रयसमासेन । तथा च तादृ-
शत्वेन सम्बोध्य प्रतिबन्धकाभावप्रार्थनं सरसङ्गादौ पर्यवसास्यतीति कथं सम्पूर्णतया तद्यर्थ इत्यत
आहु-भक्तेत्यादि । तथा च वैयासकिः स भगवानथ विष्णुरातमि” इत्येव तादृशत्वसङ्गे

श्रीविवृति—तद्वेदस्त्वत्राहु—प्रत्यक्षेपोत्यादि । कदाचित्तयात्वेपि तेषां शास्त्रार्थत्वमेव ।
गुणसमाजनरूपेण शास्त्रेणैवार्थं पुरुषार्थो यथा ते तथा । तत्रावस्तव्यं तदर्थमित्यर्थः । समास्तादर्थमाहु—
उत्तमिति । उच्यते शुक्रादिभिः शास्त्रद्वारा श्लोकवत् एव न तु पुष्टिरीरिव नदिरनुभूयते । तत्सम्बन्धिनी
जना । ययोरुभयानां भगवत्तस्य श्लोकेतुश्लोकप्रभाय एव सम्बन्धो न त्वन्योपि बाह्यस्तया तेषु समासेन
पदैकत्ववचनैकत्वमपि शक्तिमिति तद्वैव त इत्यर्थः । तादृशजनेषु सख्यप्रार्थनया तत्समाजनरूपत्वसत्त्व
विद्वो मुक्तता सिद्धेति सरास्य मोक्षरूपत्व सिद्धमिति स एव प्रार्थते ।

ननु भगवत्सख्यमेव फलं न प्रार्थते तत्राहु—भक्तसंवलित इति । तादृजनसख्यद्वारा ननु
पदादी लक्ष्यादिभक्तसंवलित एव फलरूपं स भवतीत्येकम् ।

दातीति पौरुषसभाजनञ्च (“ येन्योन्यतो भागवता ” इति तृतीयस्कन्धे दर्शनकारणं पौरुषसभाजनमुक्तं) फलम् । भक्तेषु दास्यपर्यन्तस्य साधनन्यातस्यार्थं मार्यते ।

टिप्पणी—[६] ननु प्रकृते प्रभौ फलरूपे तस्यैव होषयन्त्यने तस्य तु गुणगानमाधन-
त्वादत्त कथं शास्त्रार्थप्रत्यय इत्यन आहुः—पौरुषसभाजनञ्च फलमिति । उभयत्रापि
पारोक्ष्यापारोक्ष्ययो पौरुषसभाजनं लीलाभिनन्दन विषयज्ञाप्ययेत्यान्वित्य तदेव फलं,
स्वरूपस्य तु गुणगानावमरमारप्रकृत्यस्य तद्रूपस्य तदनुभवाधीनानुभवस्य तच्छेषत्वमिति
तस्यैव फलत्वाया प्रास्त्येपि तद्रूपमध्योपयोगेन शास्त्रार्थत्वमिद्विदिति भावः ।

[७] ननु भक्तानामीदृशान्ते तेषु दास्यमप्रार्थयित्वा साम्यमप्यादक सत्यं कथं प्रार्थयित्वा-
नित्याशङ्क्याहुः—भक्तेष्विति । भक्तेषु “ मैदत्तपूजाभ्यधिकं ”त्यादिना श्रवणमारभ्य दास्य-
पर्यन्तस्य सर्वस्य सत्यरूपफलसाधनन्यातफलप्रवर्तणत्वान् फलरूप सत्यमेव प्रार्थयत इत्यर्थः ।

मनाशः—

तेष्वविष्टो भगवास्तद्वारा फलतीति पदत्रयसमासमद्भिन्ना लभ्यते, तदभावे तु केशलेन सम्बोधने-
नोदासीनतया सत्सद्भाषेपात्प्रार्थनमसङ्गतं स्यादत्त पदत्रयममाम एवाङ्गणीय इत्यर्थः ।

[६] ननु पाटशस्त्रसङ्घेपि शास्त्रार्थरूपस्य परोक्षेण प्रकाशात्तत्र चानुभवामीति प्रत्य-
याभावात्कथं फलनीत्युच्यत इत्यन आहुः पौरुषेत्यादि । “ नैर्गुण्यता मे स्पृहयन्ति केचि-
न्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः । येन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजनयन्ते मम पौरुषार्णी—”
एत्र श्रीकपिलदेवैर्गुणवदीयानां परस्परसत्तिपूर्वकं भगवत्पौरुषममाननरूपं जीवता साधनमु-
क्तं, तदपि “ प्रायेणं मुनयो राजत्रिट्वा विधिपेधनः, नैर्गुण्यस्या रमन्ते स्म गुणानु-
कथने हरेः ” “ पेरिनिष्ठितोपि नैर्गुण्य उतापश्रोत्रनील्या, शृहीनचेता राजर्षं आत्मानं
यदधीतवान् ” “ तद्दह तेभिधास्यामि ” “ निवृत्ततर्पणगीयमानाद्भवोपधा श्रोत्रमनाभिरि—”
त्यादिषु गुणातीतानां स्वरूपावस्थितानां रतिविषयत्वेन च कथनात्फलम् । तत्र च तदानेन फल-
तीत्यर्थः । यद्वा च सगुण्ये । तथा च यथा काठकश्रवणं कर्णनीयस्य परोक्षज्ञानेऽपि विगलिन-
धेयान्तर आनन्दो लौकिकानां, तथात्र स्वानन्दवद्वटुणाश्च सभाजनयन् स तथेत्यर्थः ।

[७] नन्वेतादृशं फलं श्रवणपि भवति यथा परीक्षितं, तस्यापि “ नानुवृत्त्यै जुषन्पुष्प-
द्वचो हरिक्रुषामृतम् ” “ येन येनावतारेणे ”त्यादीनां गुणसभाजनवाक्यानां दर्शनान् । तत्र च
वक्तुरपेभया हीनभावस्य स्पृहत्वात् सद्भममात्रमेव तदर्थं प्रार्थ्यं, मध्ये को विशेष इत्यन
आहुः—भक्तेष्वित्यादि । इमानि वाक्यानि सभाजनप्रयोजकानि न तु सभाजनरूपाणि । स्वरूपादि-

श्रीब्रह्मभट्टि—६६ वाक्ये सः गुणसभाजनं देहधर्मनियामण्युक्तं ब्रह्मानन्दादप्यधिकविक्षणपर-
सानुभवे भवतीत्यपर फलम्, तदप्युक्तं पौरुषसभाजनञ्च फलमिति । तेन तत्सत्ये फलद्वयमिति
तत्प्रार्थनेत्यर्थः । भगवत्सत्ये तु स एवैव फलमिति कदाचिदनुवत् (गीता अ ११-७-४१)
“ अक्षयवृत्त्यापससङ्गोऽसि ” इति वाक्येऽप्यप्यसङ्गोऽसि न तु श्रवणमिति भावः ।

ऋशसाधनपदेन कृपया साधनसंपत्तिश्च सूचिता । योग्यायोग्यदेहानां
बहुधाजातत्वादिदानीं तदभावार्थं प्रार्थना । हेतुः स्वामिनामग्रहणस्य हेतुत्वे-
नापुक्तत्वात्कर्मपदम् । आवश्यकत्वाय स्वपदम् । निरवधित्वाय बहुवचनम् ।

टिप्पणी—[१२] ननु तथापि भगवद्भक्तमूल्ये किं साधनं, न हि ते संसारपरिभ्रमणमा-
त्रेण मिलन्ति तत्सङ्घस्य भवापवर्गसाधनत्वात्, “भैवापवर्गो भ्रमत” इति वाक्यादित्याशङ्क्याहुः—
ऋशसाधनेति । ऋशसाधनपदेन परिभ्रमणपदेन कृपया सत्तां तत्सङ्घस्यसाधनसंपत्तिः सिद्धिः
सूचितेत्यर्थः । ते हि कर्मभिर्भ्रममाणमवलोक्य सहनवस्त्रणा कृपाल्वो भवन्ति । सैव च साधन-
मिति तथेत्यर्थः । एतेन भक्तिमार्गस्य सांशस्यापि नि साधनत्वं द्योतितं, न हि तद्विद्योश
कोपि साधनैः सिद्धयति ।

नन्वेवं सति कथं प्रार्थनेत्याशङ्क्याहुः—योग्यायोग्येति । संसारचक्रभ्रमणेन योग्यायोग्य-
देहा बहवो जाता इतीदानीं हेतुः सैवकर्मविकार्यापि तदभावार्थं प्रार्थना, न फलार्थमित्यर्थः ।

[१३] ननु कथं भक्तिमार्गीयस्य वृत्रस्य सख्योपयोगिवत्त्रभ्रमणहेतुत्वेन कर्म पुन्यं
इत्यत आहुः—ऋश इति । स हि भक्तिमार्गीय एवेति भ्रमणरूपे हेतुः हेतुत्वेन स्वामिनो नाम-
ग्रहणमयुक्तमिति हेतुत्वेन कर्मोक्तवानित्यर्थः । ननु तानि कर्माणि त्यक्तव्यानि भ्रमणमाधनत्वा-
दित्यत आहुः—आवश्यकत्वायेति । स्वकृतत्वेनावश्यंभोक्तव्यतया कर्माणि न त्यक्तुं शक्यन्त
इति भावः । ननु किं कर्मणां स्वसाध्यत्वादित्यत आहुः—निरवधित्वायेति । बहुवचनेन
कर्मणां निरवधित्वमुक्तं, न हि कश्चिदिति वाक्यात् ।

प्रकाशः—[१२] ननु तथापि संसारपदेन ऋशसाधनतापि स्पृष्टतीति कथं दुःखासम्भेद
इत्यतस्तत्तात्पर्यमाहुः—ऋशसाधनेत्यादि । तथा च तेन पदेन भगवन्तं प्रति तथा सा सन्धितेति
तदर्थं सत्पदप्रयोगो न ऋशशोधनार्थेति न दुःखासम्भेद इत्यर्थः ।

नन्विदं मूचनं प्रार्थनाफलकं तथा सति कथं हेतुभावात् इत्यत आहुः—योग्येत्यादि । तथा
पेवः परं भगवद्वययाऽन्तिमदेहभावनादितः प्रागेव हेतुः, न त्वेतदुत्तरमपीति न दुःखासम्भेद इत्यर्थः ।

[१३] ननु कार्यमात्रं प्रति भगवद्विच्छायाः कारणत्वेन हेतुः सत्या एव तथात्वादीदृश-
मफलस्य तस्सु तैरेवोचितत्वात् कथं तदनुचितित्यत आहुः—ऋश इत्यादि, बहुवचनपित्यन्तम् ।
आवश्यकत्वायेति । तत्फलभोग्यावश्यकत्वाय । तथा च तत्रोचितं, हिन्दु कर्मपदमेवो-
चितम् । तदेतदहेतुः प्रार्थनाप्युचितेत्यर्थः ।

ननु “जनो वै लोक एतस्मिन्नविधाकामकर्मभिः, उवाचवासु गतिषु न पेद स्यां
गतिं भ्रमन्ति” इत्यत्र प्रयाणां भ्रमणकारणत्वसिद्धेः कथं कर्मनाश्रयैव कारणत्वेन कथनमित्यत
श्रीवह्नमटि०—

हेतुः हि । ऋशसाधनं समास्तत्पदेनेत्यर्थः । तत्र पतितस्य चेतस्यनमन्तत्परुणसाधननिर्गमिः, सा तदेवेत्यर्थः

चक्रपरिभ्रमणे दण्डस्येव मुख्योपयोगे नृतीया । अस्या मुक्तेर्गौणत्वाय नात्र प्रार्थनापद
मयोगः । तथा च तादृशभगवद्भक्तसख्यं पुष्टिमर्यादाया मोक्ष इत्युक्तम् ।

टिप्पणी—ननु सप्ताचक्रभ्रमणे साधनान्तराणामविद्याकामादीना सत्त्वात्म्य कर्ममात्र
तत्साधनत्वेनोक्तमित्यत आहु—चक्रपरिभ्रमण इति । सर्वेषा निमित्तकारणत्वेऽपि कारणता
भोगविषयत्वेन मुख्योपयुक्ताना कर्मणामेव । घटे दण्डस्येवेति ज्ञापनाय तृतीयैत्यर्थः ।

[१४] नन्वर्धत प्रार्थनासिद्धावपि तद्वाचिपदप्रयोगाभावतात्पर्यमाहु—अस्या इति ।
अस्याः पुष्टिमर्यादामुक्तेर्द्वितीयापेक्षया गौणत्वज्ञापनायात्र प्रार्थनापदानुक्तिः । निर्गलितार्थमाहु—
तथा चेति । एतादृश पूर्वोक्तवर्धनिशिष्ट चक्रभ्रमणादिज्ञेयाप्राप्य भगवद्भक्तसख्य पुष्टिमर्यादाया
मोक्ष इत्युक्तम् ।

प्रकाशः—

आहु—चक्रेत्यादि । कर्माभावे ताभ्या तथाभ्रमणाभावस्यानुभवसाक्षिकत्वाद्भ्रमणे मुख्योपयोग
कर्मणामेवातस्तेषामेव तथाच बोधितमित्यर्थः ।

[१४] ननु भवत्वेव तथापि सरय प्रार्थयत इति यदुक्तं तदसङ्गतम् । प्रार्थनावाचक
पदस्यात्रानुपलम्भादतो व्याख्यान सर्वमेव सन्दिग्धमित्यत आहु—अस्या इत्यादि । तथा च
तदप्रयोगमात्रेणोक्तस्यै न सन्देहमित्यर्थः । सिद्धमाहु—तथा चे त्यादि । पुष्टिप्रवाहमर्यादाया
“तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न सशय ” इति जीवभेद पूर्वोक्तेतुभिर्निगमयित्वा
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टि, तेषा स्वरूपादिभिर्भगवत्तुल्यत्व, सेवासिद्धिर्धर्म्यमीपत्तारतम्य चोचवा तेषा
शुद्धमिभ्रमेदेन द्वैविध्य प्रतिज्ञाय मर्यादामिश्राणा गुणज्ञत्व लक्षणमुक्तं, तत्र भगवद्रूपसेवार्थं संपूर्णत्वे
सति स्वरूपादिभिर्भगवत्तुल्यत्वे सति सेवार्थमीपत्तारतम्यत्वे सति भगवद्गुणज्ञत्व मर्यादामिश्र
पुष्टिजीवत्वमिति कल्पति । तथा “ वैदिकत्व लौकिकत्व कापत्र्यापोषु नान्यथा । वैष्णवत्व हि
सहज ततोऽन्यत्र विपर्यय ” इत्यन्यथारूपज्ञापनपूर्वक सामान्यलक्षण त्रयाणा तत्रोक्तम् । तन्मूले
“नैकात्मता मे ” “प्रायेण मुनयः ” “परिनिष्ठितोपी” चेतुषु “तत्रोभवद्भगवान् व्यासपुत्रः”
“तं शृष्टवर्षं” “द्वैपायनाच्छुको जज्ञे भगवानेव शङ्करः । अशाशोनावतीर्योर्व्यां समाप परम
पद ” “ त स्कन्द इत्याचक्षते ” सुहृत्पदिदक्षितभङ्गे “गोविन्देभुजगुप्ताया द्वारावत्या
कुरुदह । अवात्सीनारदोभीक्ष्ण कृष्णोपासनलालस ” इत्यादिभि शुक्लसनत्कुमारनारदेषु स्पृ-
ष्टम्, तथा “कायेन तु फल गुणवि गति पुष्टिफलस्य स्वरूपसाध्यत्व तत्रोक्तम् । तदत्र “वैयासकिः
स भगवानि”त्यनेनोक्तम् । तेन लौकिकत्ववैदिकत्वरूपा इत्यर्थः । अत्रापि पूर्वकक्षा परीक्षिति, उत्तर-
कक्षा सनत्कुमारादिषु श्लेषा । छान्दोग्ये सनत्कुमारनारदसवादे सर्वोत्तमभावविवरकतया तस्मिन्सत्ता-
त्वस्य शक्यवचनत्वाच्छ्रुतिगीतायनिर्णयस्य भजनार्थताया मुयोधिन्त्या निर्णोतत्वाचेति । अय
मोक्ष प्रायस्तुरीयाभ्रमाणा हसपरमहंसानामेवेति भाति । सदाहरणस्य तेष्वेवोपलम्भादिति दिक् ।
श्रीबल्लभटि०—अस्या इति । शुद्धपुष्टिमुक्तवेष्यया गौण वादित्यर्थः ।

द्वितीयमाह—त्वन्माययेति । समासादेव भिन्नतया न मायामोहनम् ।

टिप्पणी—[१५] पुष्टिपुष्टिमोक्षं वक्तुं सजातीयत्वबोधनायामासमाह—द्वितीयमाहेति । द्वितीयं भक्तिमार्गीयं मोक्षमाहेत्यर्थं । तस्य मर्यादाऽप्राप्यकेवलपुष्टिप्राप्तिप्राप्तत्वात् तत्सजातीयत्वसिद्धिरित्यर्थं । त्वन्माययेति । संसारचक्रे भ्रमतो भगवदिच्छया कुटुम्बासक्तस्य न किन्तु, त्वन्मायया तदासक्तस्य मे भूपादिति संबन्ध । पूर्वस्मद्द्वैलक्षण्यमाह—समासादेवेति । त्वन्माययेतिसमासेन तस्या स्वरूपसंबन्धित्वमुच्यते । सा च स्वरूपसंबन्धेन तदर्थं मोहयति न तु रूपभावेन स्त्रीलाभमेव तस्या प्राक्कालाद् एव तदुपक्रमे तस्या आशार्पणम् । वैष्णवी व्यतनोन्मायामित्यादिनपि सैवोक्तं । सा च भगवान् गत्र प्रकट्रीभूय लीला करोति तत्रैवोपयुज्यते, तदभावे स्त्रीलाऽसमतात् । एवं सति पुष्टिपुष्टिमोक्षस्य प्रकटलीलाविशिष्टप्रमुखस्वरूपान्तररमणत्वात् तदुपयोगित्वेन गृहादिप्रासक्त्यपेक्षणात् त्वन्माययेत्युक्तम् । पूर्वत्र तु पारोक्ष्येण साशास्त्रीलाऽसंभवात्तान्मत्तेश्चयोगः । माया तु तत्रापि भगवदीया पर न स्वरूपसंबन्धिनी, “मयै माये—” क्तियायासेन कथनात् तरणोक्तेश्च । अत एवात्रोक्तं न भिन्नतया प्रमुपृथग्भावेन मायामोहनमिति, किन्तु प्रमुरेव तया मोहयतीत्यर्थं ।

[१५] प्रकाशः—अतः परं पुष्टिपुष्टिमोक्षं विवरितुमाहुः—द्वितीयमित्यादि । ननु “प्रसङ्गमजरं पाशनात्मनः कवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारपपादृतं ” “न एते सौषवः साध्वि” “सर्तसङ्गेन हि दैतेया ” इत्यादिवाक्यैः सासङ्गस्य मोक्षद्वारत्वात् पूर्वोक्तवाक्येषु गुणगानस्य फलत्वसाधनात् पुष्टिमर्यादासंभवात् तत्संख्यरयोचितम् । एष पूर्वार्द्धे भूपादि-त्यद्वान्वयाङ्गीकारेण सिद्धम् ।

अतः परमुच्यते देहायासक्तिशोभकं स्वविशेषणमवशिष्यते, निषेधो नायपदश्च । तया सति देहायासक्तिनिषेधः प्रार्थनीयत्वेन फलिष्यतीत्यासक्तिरूपो मोक्षः कथमत्र कथं वा देहायास-केमोक्षत्वमित्याकाङ्क्षाया भगवदपरोक्षतानेन पुष्टिपुष्टिमोक्षस्य पूर्वं व्यवस्थापितत्वाद्गत्र तादृशत्वेन तस्या मोक्षत्वं वक्तुं देहायासक्तिजनकमोहने विशेषमाहुः—समासादित्यादि । मायासक्तिर्हि मोहने अचिक्रता । तत्र यदि “माया चाविद्या च स्वयमेव भवतीति ” श्रुत्या मायाविद्ययोरभेद आश्रित्ये तदापि “सर्तसङ्गेन हि दैतेया ” इति “सर्तसङ्गेन हि दैतेया ” इति द्वादशविंशत्यायवाक्ययोः पञ्चमभेदेनाविद्याभेदस्य तृतीयरक्तन्भसुषोभिन्त्या विंशत्याये अग्यरक्तन्भसुषोभिन्त्या

१ मच्छ देहि मत्तं इति । २ भा. १०, ८, ४३. ३ गीता ७, १४ मम माया दूरत्ययेति गीताशब्दे मन्मायेति परं मोक्षं तत्र साक्षात् मोक्षरत्वात् तदात्मनश्चुचिन्मत्तं न तु लीलाकारमायायास्तत्त्वम् । ४ भा ३, २५, २५. । ५ भा. ११, १५, ३. ६ भा ३, १२, ३. ७ भा ३, २०, १८ ।

पूर्वस्मादेतस्य विशेषस्त्वत्पदेनोक्तः । आभिमुख्यञ्च । त्वदिच्छया प्राप्तस्यात्मात्मनादिषु
सख्यं पुष्टिपुष्टिमोक्षः ।

टिप्पणी—[१६] ननु को विशेषो मोहस्यैकजातीयविषयत्वादित्याशङ्क्याहु-पूर्व
स्मादिति । पूर्वस्मात् मोहादेतस्य पुष्टिपुष्टिमोक्षाय मोहस्य विशेष आदरणीयत्व मोक्षाद्भवा
दिरूपस्त्वैतपदेन प्रकारतया तत्सम्बन्धसूचकनोक्त इत्यर्थ । यद्वा, नन्वेतस्मिन्नपि मोक्षे मायामो
हस्य तुल्यत्वात्को विशेष इत्यत आहु-पूर्वस्मादिति । एतस्य पूर्वस्मात् मोक्षाद्विशेषस्त्वत्पदे-
नोक्त । एतत्सम्बन्धमायाया अपि सदा स्वरूपसाहित्यादिति भाव । किञ्चात्र मोक्षे विशेष
प्रसारान्तरेणान्युपपादनीय इत्याहु-आभिमुख्यं चेति । एतत्प्रार्थनावसरेपि यत्र वृत्रस्य प्रभु
प्राकट्यम्, अन्यथा त्वत्पद न प्रयुज्यान् । तत्र तदनुभवे तस्य का वार्तेति भाव ।

प्रकाशः—

दनात्पूर्वापेक्षयोत्तमत्वस्य च ततोपि दहाहङ्कारो भगवत्सेवोपयिकत्वादुत्कृष्ट इति पञ्चमपर्वव्याख्या-
नेन सूचनान्नाह्वयवैमुख्येन महाभोगेच्छारूपस्य तत्प्रथमपर्वण इन्द्रे वर्त्तमानस्य मत्त्वभङ्गसुखरहरण-
लीलोपयोगिताया, भोगेच्छारूपस्य द्वितीययोमसेनादौ, अज्ञानस्य तृतीयस्य “सद्यो नष्ट-
स्मृतिरिति”त्यादौ, मोहस्य चतुर्थस्य कालियदमनादौ, महामोहस्य पञ्चमस्य सेवोपयिकभाया सर्वत्र
स्युटत्वाच्च तदुत्तमताया स्युटत्वेन प्रकारभेदो मोहने । यदि च “विद्याविद्ये मम तनु विद्वद्युद्धव
शरीरिणा । मोक्षबन्धकरि आद्ये मायया मे विनिर्मित” इतिवाक्ये कार्यकारणभावोपपत्त्या भेद
आद्रियते तदाप्यविद्यास्य मोहन ससाराय, मायास्य तु भगवद्दीलार्थ, तदपि “वैष्णवीं व्यत-
नोन्माया मजास्नेहमयीं प्रभुरिति”त्यादौ स्युटम् । प्रकृते च तदभिप्रेतमतस्त्व माया त्वन्मायेवि
साक्षात्सम्बन्धरोधकाद् त्वदविनाभूता माया त्वन्मायेति वा तथाभूतात्समासादेव भिन्नतया
भगवत्सम्बन्धराहित्येन केवल ससारार्थतयेति यावत् । तथा न मायामोहनमित्यर्थ ।

[१६] ननु शक्ते शक्तिमदविनाभावस्य साक्षात्सम्बन्धस्य च सर्वजनीनत्वात् सर्वतत्प्रसिद्ध-
त्वाच्च सर्वदेव तथात्वेन प्रागपि वेणुव इति पूर्वजन्मीनस्यापि देहपुत्रायास्तत्त्वरूपमोहस्य तथात्वेन
स्य च बन्धकताया मूले पुत्रशोकदापादिकथया स्युटत्वेन प्रकृते तत् को विशेषो ? येन मोक्षत्वमि-
त्यत आहु-पूर्वत्वादि । अविनाभावस्यानुत्सिद्धत्वेन तद्वोक्तपदोक्तिप्रयोजनाभावेपि वा तदुक्ति
सोदानी प्रार्थमानस्य मोहस्य तद्विकीर्णितलीलार्थत्व बोधयतीत्येष पूर्वस्माच्चन्मनो विशेष इत्यर्थ ।

ननु भवतु लीलार्थत्व तथापि मायामोहो भगवदज्ञानस्य “ये संवसन्तो न विदु-
र्हीरि मीना इवोडुपमि”त्यादिषु सिद्धत्वान् परोक्षज्ञानमपि चेदूरे हुतस्तर्हि प्रत्यक्षसमाभावेनेति
पूर्वोक्तव्यवस्था तु भग्यैतैवेत्यत आहु-आभिमुख्यं चेति, तद्धि भगवतो नाभिमुख्ये, प्रकृते

श्रीवह्मभटि०—पूर्वस्मादित्यत्र । पूर्वत्र माया भिन्ना, तस्याच्च परित्याग । अत्र तु स्वरूपाभिन्ना
सेति न तत्परित्याग प्रत्युत स्वरूपविषयकास्तत्तिजनकत्वेन कलसापकत्वाद्युण एव, अतो विद्यापत्तेनेत्यर्थ ।
आभिमुख्यञ्चेति । प्रत्युत एव तत्परित्यागहार इति तत्प्रार्थनायामेव भगवदाभिमुख्यमितीदमपि विशेष
वर्तेतित्यर्थ ।

त्वत्सेवैपयिकत्वेन चित्तस्य तेष्व्वासक्तिं नाधपदेन मार्ययते । तेषां नायत्वे तथा भवतीत्यर्थः । चक्र एव परिभ्रमतः सख्यं न भगवदिच्छया हिरण्यकशिपुप्रभृतिष्विव कुड-
म्भासक्तस्य, सर्वथानन्यत्वमङ्गमसङ्गात् ।

टिप्पणी—[१७] ननु त्वन्माययेति को विशेषो ? यथान्यत्रिदपि पुरादेर्मग्वदीयत्वेन तदासक्त्या तत्सख्यस्य मोक्षत्वादित्याशङ्क्याहु —चक्र एवेति । चक्र एव परिभ्रमतस्तत्सख्यं भक्तु, अनन्यत्वास्ते पुष्टिमर्यादागोक्षरूपात्वात्, न तु भगवदिच्छया स्वावतारकारणीभूतया, हिरण्यकशिपुप्रभृतिषु यथा देवताया प्रह्लादे पुत्रतया आसक्तिं सख्यस्य पुत्रत्वात्सख्यरूप, अनन्यथा न शिक्षा दापयेत्, तथा कुटुम्भासक्तस्य मे न भूयात्किन्तु त्वन्माययेत्यर्थ । सोपि पुरा भक्त एव शापेनासुरो जात इति साम्येन प्रार्थना तज्जातीया मन्येत प्रसुरितिभिया निषेवप्रार्थ-
नमिति भाव ।

ननु तथापि भगवद्भक्त्यासक्तस्तत्सख्यस्य विद्यमानत्वात् को दोष इति चेत्तत्राहु —सर्वयेति । भगवन्मायामन्तरा केवलं भगवदीयपुरायासक्त्यावप्यनन्यत्वमङ्गस्तदशे तैस्तन्नन्मायूतै । न हि अनन्या कदाचिदपि तदसंबद्ध किञ्चिदपि स्मरन्ति । यद् यद् हिरण्यकशिपौ प्रष्टादासक्त्या शिवम-
ननमतोऽन्यथा सर्वथानन्यतामङ्ग एव । तस्मात् त्वन्माययैव तथासक्तस्य सख्यं भूयादिति भाव ।

मकारः—

प्रत्यक्षं भगवन्तं प्रति युष्मत्प्रदोक्त्याभिमुख्यं सूच्यते, तेन यथा “ वैष्णवीं ज्यतनोदि”त्यादां मोहनं तथाभिप्रेत, तच्च प्रत्यक्षं इति न व्यवस्थाभङ्गलेशोपीत्यर्थः ।

[१७] उक्तं विशेषं निगमयितुं पूर्वं जातयोः सख्यासक्तयोः स्वरूपं परिच्छिन्दन्तं प्रथमं सख्यं परिच्छिन्दन्ति—चक्र एवेत्यादि । पूर्वं नारदाङ्गिरसोर्मर्यादापुत्रमत्स्योर्यत्सख्यं सत्स्वकर्मभिः संसारपथे भ्रमत एव । अत एव “ ज्ञात्वान्पाभिनिवेशं ते पुत्रमेव तदावह्मि”त्यन्वान्वद्वि-
रोवाच्यानि, जमेन्विकारापो वृष्टदेहात्त्रिंश न भगवदिच्छया परीक्षित इव न कर्मदन्धत्या-
जिज्ञया सयेति, वीरविक्रमसख्यस्वरूपं परिच्छिन्नम् । तेन एतादृशभगवत्प्रकृतस्य पुष्टिमर्यादायां मोक्ष इत्यत्रापि कर्मदन्धत्याजिज्ञया भगवदिच्छयेति विशेषणीयमिति बोधितम् । अतः परमासक्तिं परिच्छिन्दन्ति—हिरण्येत्यादि । अथ सख्यपदरहिता पूर्वं क्लिप्तमनुपगम्यासक्तिपदं चाभ्याहृत्य योजनीयम् । तथा च तद्व्यमृतिष्विव स्वस्यापीतः पूर्वं वृष्टदेहे विप्रवत्सुरदेहे च शापप्रदोजकशिवो-
पहासादिना सयादादासचिरपीनं प्राचन्ता पथे परिभ्रमत एव । न तु कर्मत्याजकचूर्णोत्थो-
दसपादकभगवदिच्छयेत्यर्थः । तेनैव प्राचन्तोभवत्स्वरूपनिष्कर्षेण प्राथम्यमातवोर्विरोधो निगन्तव्य इति भावः ।

श्रीवृत्रमटि०—चक्र एवेत्यत्र । यद्यपि हिरण्यकशिपुप्रभृतिषु भगवदिच्छया गनेन लोके जन्तेषु सत्पुत्रभिर्ना सख्ययुक्तमभोक्तजनसख्यम्, तथापि तत्र मोक्षरूपम् । पुत्रुभिः श्रेयसधिपुत्रसख्यम् । भगवदीयस्यपुत्रमेव सत्तया, सर्वथाऽनन्यत्वस्यपदसख्यम् । तथा च तत्रैव परिभ्रमताऽपुत्रुशिवयः । टिप्पणी-
विना तज्जातीयां जन्मात्मवत्पुत्रुशिवत्वेन सत्स्याभव इति भगवदिच्छयेऽपुत्रुम् ।

१ पुत्रावात्मनस्येति । २ भगवन्मन्त्रात्कर्म । या १, १५, १० ।

कृतार्थेन तु नाथपदप्रयोगादेव सूचितम् । तदन्ते च प्रार्थना, * 'भगवदीय-
त्प्रेनेनैव परिसमाप्तसर्वायां' इति सिद्धान्तात् ।

दिष्णी—[१८] नन्वय प्रफारस्तु लीगगष्टिरूपेणैव, वृत्रस्य तु कर्मवैक्यना-
विहार इत्यत आहु—कृतार्थेनैव त्विति । स हि तद्भावद्वयागत्यैव कृतार्थं पूर्णसर्वार्थं । न ह्येत
दतिरिचमन्यप्य मिथिल्व भवति । रसाजुभवस्तु तेषामेव । अन्य कामयमानोप्ययोग्य पेतद-
तस्तद्भावद्वयत्वेन भगवदीयत्वसिद्ध्या कृतार्थं एव । अन्यथा नाथपदं न प्रयुज्यान् । न हि केचि
दप्यभगवदीया भगवत नाथत्वेन संबोधयन्ति, तदन्तविहारान् । अनधिकारत्वेनस्य दोषावहत्वाच्च ।
प्रयुक्ते तत्त्वनाधिकारमिद्धौ सिद्धं तर्थावयमिति भाव ।

[१९] नन्वेव सति फलान्तरानभिन्नापिण प्रार्थना न घटत इत्याशङ्क्याहु—तदन्ते
चेति । नाथपदप्रयोगान्तेपि या सत्यप्रार्थना सा भक्तिसिद्धान्तबोधनाय । तत्र हि भगवदीयत्व-
मेव परमपुरार्थं । “ भगवदीयत्प्रेनेनैव परिसमाप्तसर्वायां ” इति वाक्यात् । स च तत्सत्ये-
नैव भवतीति ज्ञापनाय तथाप्रार्थनमेति भाव ।

प्रकाशः—[१८] नन्वत्वेन तथाप्येव प्रार्थितं सेतयतीत्यत्र किं गमकमत आहु—
कृतार्थेत्यादि । पूर्वसन्दर्भे भक्तत्वस्य स्तुतत्वाच्च च नाथपदप्रयोगेण दैन्याविभावबोधना—“इ-
त्ताना दैन्यमेवैकं हरितोपणसाधनमि”ति सधेन दर्शनेन भगवदोपादिति तत्प्रयोगादेव
तत्सिद्धि सूचितेत्यर्थे ।

[१९] नन्वत्रासक्तिरूपैव कृतार्थेत्यत्र किं गमकमत आहु—तदन्त इत्यादि । इदं वाक्य
पञ्चमस्कन्धीयपद्ये ऋषभचरितसमाप्तावस्ति, तत्र च पूर्वपद्ये चरित्रध्वज्यावाक्यायो फल भक्तिरिति
“ भगवति तस्मिन् वासुदेव एकान्ततो भक्तिरनयोरपि समनुवर्तते ” इत्यनेनोपा । तदभिमे
“ यस्यामेव कवय आत्मानमविरत विविधवृजिनससारातापोपतप्यमानमनुसवन स्नापय-
न्तस्तथैव परया निर्दृश्या क्षपवर्गमात्यन्तिक परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादित नो एवाद्रि-
यन्ते भगवदीयत्प्रेनेनैव परिसमाप्तसर्वायां ” इति बर्तते । तत्र ससारावस्थावस्थिताना कवित्वेन
भगवदुपभातृणा भक्तिजन्यसुखेन भगवदत्तपरमोक्षानादपूर्वकं भगवदीयत्वभर्जनं सर्वैव सम्भ-
वमाप्तसर्वपुरुषार्थव्युत्तम् । वाक्या “ सालोर्नैवसाष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमान
न गृह्णति पिना मत्सेवन जनाः ” “ स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत ”

श्रीवह्मभट्टि०—ननु सर्वसाधनावेधारहितेन कृतार्थेन पुष्टिमोक्ष सार्थं इति तथाहु—कृतार्थत्व
निति । सर्वसाधनेस्त्व चेन्नायस्तदा न किञ्चित्कर्तव्यमिति त्वत्तदेत तत्सूचितमित्यर्थः । तदन्ते चेति कृतार्थ
त्वान्ते । पुष्टिमोक्षप्रार्थनेत्यर्थः । पुष्टिमोक्षत्वस्वरूपमाहुर्भगवदीयत्प्रेनेनैवेत्यनेन ।

धर्मार्थकाममोक्षचतुर्विधपुरुषार्थसिद्धयर्थं माया क्रमाद्देहाद्यध्यासं करोति । तत्र देहाध्यासे धर्मसिद्धिः प्रसिद्धा । पुत्रापेक्षया अन्यार्थस्योत्कृष्टस्याभावादर्थसिद्धिः ।

टिप्पणी—[२०] नन्विदमद्भुतमिनामाति यन्मोक्षे मायात्कार्यसंपन्वसाहित्यमित्या-
शङ्क्य मोक्षेऽद्भुतत्वसाधनाय वैलक्षण्यं निरूपयितुमाहुः—धर्मार्थेति । अत्रायमाशयः मर्यादासार्गी-
यमोक्षे हि तन्मात्रानुभवो न धर्मार्थकामानां प्रत्युत विरुद्धत्वं च । प्रकृते तत्साहित्याविरुद्धत्वा-
दिनोपनायात्मात्मजदारोग्येहेष्वासक्तचित्तस्येत्युक्तम् । यतो माया क्रमात् देहेन्द्रियादिक्रमाद्दे-
हाद्यध्यासं चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धयर्थं करोति । तत्रैकेनैव देहाध्यासेन धर्मार्थकाममोक्षान्तात्सा-
धयति । एवमिन्द्रियाद्यध्यासेनेति क्रमो ज्ञेयः ।

[२१] तत्र देहाध्यासं विवृण्वन्ति तत्रेति । तत्रैतेष्वध्यासेषु देहाध्यासे धर्मसिद्धिः
प्रसिद्धा, तदध्यासवतामेव तत्राधिकारात् । अर्थसिद्धिरपि देहाध्यासेन यत्र पुत्ररूपस्योत्कृष्ट-

प्रकाशः—

इति च स्मारितम् । तेन तादृशपरमभक्तियुजां संसारस्य मुक्तयाभिन्त्यं तत्र स्फुटति, तदत्रापि स्ववि-
शेषणनाथपदप्रयोगाभ्यां स्फुटतीति तदन्ते तादृशसिद्धान्तं हृदि धृत्वा प्रार्थनैव तादृशासक्तिरु-
पकृतार्थत्वगमिवेत्यर्थः । सिद्धान्तादिति ल्यन्लोपे पञ्चमी ।

[२०] ननु भवत्वेवं तथापि त्रिवर्गस्य गृहाश्रमे संसिद्धिमोक्षरथेतेषु संसिद्धेः प्रकृते च
दारुणमपशदाभ्यां गृहाश्रमशोभनात् तस्मिन्नितरेतरविरुद्धत्वंतुर्धर्मानुभवसिद्धिर्न बुद्धिमन्निरोद्धती-
त्याकाङ्क्षायां तदनुभवप्रकारमाहुः—धर्मैत्यादि । मायेति पूर्वोच्यते । करोतीति पुष्टिपुष्टिभङ्गनां
करोति ।

[२१] तत्रेति । तेष्वध्यासेषु । प्रसिद्धेति । प्राण्यत्याद्यभिमानाभावे वासन्तिष्ठापाना-
दिधरणायोगात्तदुपदेशशास्त्रादरत्तत्करणाभ्यां प्रसिद्धा । पुत्रेत्यादि । पुत्रे प्राणाधिकप्रियत्वभा-
नाद्यत्र ममत्तारूपस्तत्साधन्यवैकल्ये स्वसाधन्यवैकल्यन्यभानाप्राप्ते देहप्राणवियोगाच्च तदाद्येऽद्भुता-
रूपो वा प्राणाध्यासस्तस्मिन् सति तदुपार्जनयत्नान् प्राणाध्यासेर्धर्मसिद्धिः । प्रसिद्धेत्यध्याहारोऽत्र

क्षिया कामसिद्धिः प्रसिद्धा । * 'भक्तानां गृह एव विशिष्यते' इति न्यायान्वोक्तम् ।

टिप्पणी—

स्वार्थस्य तद्व्यासनेन भिद्रे । कामसिद्धिरपि श्रीमापंशा देहाध्यात्ममूलैव । गृहासक्तिरपि तन्मूलैव ।
[१२] चतुर्विधस्यापि मोक्षरूपत्वमाह — भक्तानामिति । भगवन्मायया लीलोपयोगि-
पदार्थत्वेन तत्रात्मतया तस्मिन्निरोधेन ब्रह्मभावप्राप्तया गृहमेव भक्तानां विशिष्टं, यतो ब्रह्मभावेऽवि-
त्पुररूपाननुभव इन्द्रियादिकल्प्य च । अनोऽत्रौचित्यदेहात्मन्या प्रमुप्रास्तयेनास्मिन्पुररूपव्य-
लीनयात्मद्रक्तमाहित्येनान्तरमणामकोनुभवो मोक्ष इति भिदम् ।

प्रकाशः—

योग्यम् । तत्रैव ममत्वारूपोऽध्यात्मो वा । मूले पुरुषदमर्थमात्रोपलक्षणमित्याशयेनैवमुक्तम् ।
स्त्रियेत्यादि । अत्र इन्द्रियाध्यासः स्त्रियामेव, ममतादि वा तेन कामसिद्धिर्भवत्यर्थः ।

[१२] भक्तानामित्यादि । + “ ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखममा । सद्भान्तस्य
विलीनत्वाद्भक्तानां तु विज्ञेयतः ” “ सर्वेन्द्रियैस्तथा चान्तःकरणैरात्मनापि हि । ब्रह्म-
भावानु भक्तानां गृह एव विशिष्यते ” इति निगन्धकारिकाभ्यां, † “ पश्यन्ति ते मे
रचिरावतंसमसलवत्रारण्योचनानि । रूपाणि दिव्यानि वस्त्राणि साकं वारं
स्पृष्ट्वायां वदन्ति ” तर्दशनीयावयवैरुद्धारविद्यासमासेधितवाममुक्तैः । हतात्मनो हतप्राणांश्च
भक्तिरनिन्दतो मे गतिमर्थां प्रयुद्ध ” इति श्रीरघुदेवशाक्यद्वयाथं सङ्गृहीत, तद्व्यासाया-
न्मोषानिन्दापूर्वकभगवदकनानतात्त्व्यान्मोक्षलक्षिणीर्षिणीलीलोपयुक्तप्रामतिपूर्वकमग्नयदानन्दा-
नुभवरूपो मोक्ष । गोपिनादिपुस्त्यानां प्रसिद्ध इति योजना । तथा च हृष्टरात्यम्पराविरोधो
ब्रह्मभक्तादीनामित्यर्थं प्रसार इत्यर्थः ।

श्रीरघुभट्टि०—

त्वान्, तेन तत्सिद्धिरित्यर्थः । उत्कृष्टत्वानु भगवदर्थवरादितार्थं धरनेन मुच्यतया सर्वोपपिङ्गवेन
वसन्तनराश परम्परया सेवादिर्गोदकलोभैर्नामतिपुण्योद्भवत्वेन च । लोके पुत्रत्वार्थत्वेन प्रसिद्ध
मावात् सा नोक्ता ।

विद्येति । तथा यथा विषयार्थं कामसिद्धिः प्रसिद्धा तद्वदकानि सेवाध्यात्मयोश्चित्तचञ्चल्यभावात्
भगवदीप्युत्पत्त्यैव तत्सिद्धिरित्यर्थः । भक्तानामिति । यथा तेषां भक्तानामप्योसिद्धयेन विशिष्यतीत्यस्य
भाष्यत्वेन द्यूयसिद्धितुल्यमोक्षापेक्षया गृहमेव विशिष्यते तन्मावेनैवस्यापि पुष्टिमार्गावलात्मनोर्षि-
तमावधायनया भवने तथैव परमानन्दाप्युपये न ततो विशिष्यते । अथमेव “ सोऽश्रुते सर्वान् कामान्
सङ्गृह्यन्वच मुच्यतया निरुपिण पुत्रिमागर्थो मोक्षो, न तु कैवल्यम् ।

चित्तस्य वासुदेवात्मकत्वान्मोक्षप्रकरणत्वाचित्तपदप्रयोगः । क्रीडामतिवन्धकत्वा-
रपकृते विरोधाच्च निषेधप्रार्थना ।

टिप्पणी—[२३] ननु कथमस्य तदधिकत्वेति मोक्षरूपत्वं, चित्तसक्तेः संसाररूपत्वा-
दित्याराह्याहुः—चित्तस्येति । चतुर्विधेऽन्त करणे चित्तस्य वासुदेवात्मकत्वात्तस्य च मोक्षदातृ-
त्वात्तद्वाचित्तपदप्रयोगेण मोक्षरूपत्वं सिद्धमित्यर्थः । किञ्च, प्रकरणमपि मोक्षन्येतित्तापनायापि
चित्तपदप्रयोग इत्याहुः—मोक्षप्रकरणत्वादिति ।

[२४] ननु भगवन्मायागमितासक्तिमात्रं प्रार्थ्येत, किं केवलासक्तिनिषेधप्रार्थनेनेत्यत आहु —
क्रीडामतिवन्धकत्वादिति । केवलासक्तिनिषेधाभावे 'अप्रतिषिद्धमनुमतं भवती'तिन्यायेन भग-

प्रकाशः—[२३] प्रकृते तादृशोनुभवप्रकारो विवक्षितोन्तःकरणव्याप्तसाध्यध्वेन्यत्र किं
गमकमत आहुः—चित्तस्यैत्यादि । *यत्तत्सत्त्वगुणं स्वच्छं शान्तं भगवतः पदम् । यदाहुर्वा-
सुदेवाख्यं चित्तं तन्माहृदात्मकमितिकपिलवाक्येन सर्वेष्वन्तःकरणेषु चित्तस्य वासुदेवात्मकत्वात्
सृष्टिरियतिप्रलयमोक्षकर्तृषु प्रदुग्नादिषु चतुर्षु वासुदेवस्य मोक्षदातृत्वाद्भव मोक्षप्रकरणात् चित्तपद-
प्रयोगः । तथा च स एवोक्तप्रकारानुभवस्य तस्यान्तःकरणव्याप्तसाध्यतायाश्च विवक्षितस्वगमक
इत्यर्थः । अनेन तादृशासक्तेर्मोक्षत्वे युक्तिरपि स्मारिता । तथा हि यत्रेदं चित्तस्य वासुदेवात्मकत्व-
बोधकं वाक्यं तत्रैव मनसोऽनिरुद्धत्वबोधकमहङ्कारस्य सङ्कर्षणत्वबोधकं च वाक्यमस्ति, तेन तत्त-
दन्तःकरणविधैविकत्वं तेषां व्यूहानां तत्र सिद्धम् । मत्तान्तःकरणरूपाश्च त एव । किञ्च, यो योऽ-
ध्यासः स सर्वोप्यहङ्काराध्यासमुल्लङ्घय, अहङ्कारश्च सङ्कर्षणात्मकः, तत्रास्याहमित्यध्याससत्तदहङ्कारो-
पासनातुल्यकक्षो भवति, अहङ्कारोपासना च सर्वतापनीयसिद्धा । तथा च सा यथा मोक्षकृ-
त्वान्मोक्षरूपा तथायमध्यासोऽपि मोक्षकलकत्वान्मोक्षरूप इति तन्मूला देहाद्यासक्तिरपि तथेति ।

[२४] ननु सर्वमिदं तदोपपद्येत यदन्तरा ननुयोगो न स्यात्, टपयते च स इति नायमर्थः
साधीयान् । किन्तु स्वकर्मभिः संसारचक्रे भ्रमतो मम उत्तमष्टोकजनसदस्यं भूयान् तस्य प्रार्थ-
नीयत्वे हेतुः त्वन्माययात्मात्मजज्ञासौहेष्वाप्तकचित्तस्य नेति "भेदापवर्गो भ्रमतो यदे"ति-
वाक्योद्देशाद्यासक्तौ तत्र भवतीति तदभावपूर्वकतत्सदस्यमात्रप्रार्थनेत्ययं युक्त इत्यत आहुः—क्रीडे-
त्यादि । उक्तसदस्यायेति शेषः । अयमर्थः, स्वया हेतुस्यासाधुत्वेन अनुपपत्तिमात्रमविवक्षितवत्-

श्रीवल्लभटि०—चित्तस्येति । चित्ती छदान इति पातोभिश्च शान्तात्मकम् । तस्य क्वत्तन्वम् ।
उदधिदत्ता वासुदेव इति तदात्मकत्वमुच्यम् । इतः पूर्वं चिभिः श्लोकैः पुष्टिमागीयपुष्टार्थप्रस्तुतम् । अप
तन्वागीयो मोक्षो निरुच्यते इति तत्प्रकरणत्वम् । "ज्ञानान्मोक्ष" इतिन्यायेन चित्तपदप्रयोगो मूले ।
तेन दृष्टशान्तात्मकत्व एव तस्य यथा मोक्षतापकत्वं तथा दृष्टपुष्टिमागीयभावात्मकत्व एव तन्मोक्षवाच-
कत्वमित्यर्थो ज्ञापितः । क्रीडेति । संतारहेतुभूतमायामोहापन्म एव तदृहे मगत्वात् श्रीवतीति तद्वतिवन्ध-

तथा च कर्मसंबन्धव्यतिरेकेण केवलभगवन्मायया रमणरूपया भगवत्सेवाश्रवणादित्यर-

टिप्पणी—

वन्मायायामपि तत्सत्त्वे तन्मिथ्येनैव पुत्रादिपुण्यप्रतीतुद्धौ केवलभगवन्मायाभावात् भगवान् क्रीडतीति क्रीडायां प्रतिबन्धकत्वात्तन्निषेधप्रार्थनमिति याव । अत एव “सैमागतान्पूजयती ब्रजौकस” इत्यत्र भगवद्गीतयेपि ज्ञातिबुध्या तत्रासक्तौ मातृचरणानां तर्थाभाववर्णनं, लीलारसा-
नुभवप्रतिबन्धकशास्त्रमङ्गलमिति । किञ्च, मोक्षविरुद्धत्वादपि केवलासक्तिनिषेधप्रार्थनमित्याहुः—प्रकृते विरोधाद्येति । प्रकृते विरोधो नामाकर्त्यां शक्तभेदविरिणे लौकिकभाववर्णनं चेति । मोक्षो हि भगवद्गी-
यत्वं, तच्च सर्वोशो तदीयन्त्रानुभवानरूपं, तत्र केवलासक्तेरंशत इत्या अपि भावकत्वात्निषेधप्रार्थनमि-
त्यर्थ । [२९] सिद्धमर्थमाहुः—तथा चेति । कर्मसंबन्धव्यतिरेकेण संसारेपि प्रभुसंबन्धात्सर्वा-

प्रकाशः—

गमकतपोच्यते, सा तु नास्ति । तथा हि अत्र सर्वं “अहं समाधाये”त्यादिवाक्यैर्नृत्नस्य स्वपूर्व-
जन्मीनसर्ववृत्तान्तस्मरणं निश्चीयते । “त्रैवर्गिकायासे”तिवाक्यात्स्वस्मिन्प्रसादोऽनुमित इति
च । एवं सति पूर्वजन्मीनान्याभिनिवेशाद्द्विरःसद्गुत्रदानतच्छोकनारदोपदेशमगवत्प्रसादविद्या-
धराधिपत्यविशेषवहासाऽन्विकाशास्त्र अपि तस्य सृष्टिगोचरा इति पूर्वसादस्य परमकला-
साधकत्वं स्मृत्वा साम्प्रतं प्रसादे किं भगवता विधेयमिति तदाशये सन्दिहानः इदानीं च
मरणकाल इतीदानींगोचरो मोचयिष्यत्येवेति निश्चिन्वानः अगुह्यत्वत्वात्पौष्टिकमेव हास्य-
तीति निश्चित्य पूर्वजन्मीननारादाद्द्विरःसत्त्वस्य भ्रमत्सत्त्वत्वञ्च निश्चित्य यदि पुष्टिमयांइया
दिससति तदा पूर्वजन्माभूदिति सख्ये सन्निवेशेणे हीति प्रकारनिषेधस्य पूर्वापेन प्रार्थना, सख्यं
भूयात्परं तथा न भूयादिति । यदि पुष्टिपुष्ट्या हित्सति तदा तथाऽसक्तचित्तस्य पूर्वार्हेप्रार्थितं
सख्यं न भूयादितिनिषेधे निषेधस्योत्तरार्हेन प्रार्थनेति प्रकरणबरोनात् वाक्यद्वयाद्वाङ्गीकारस्योप-
श्रवणान् तत्र नोपपत्तिरिति न सौम्यः किन्त्वयमेव साधीयानिति ।

[२५] सिद्धमाहुः—तथा चेत्यादि । “वैष्णवत्वं हि सद्गमि”ति पुष्टिप्रवाहमर्कादायां
पौष्टिकानां सामान्यलक्षणात्तादृश, “न कर्मबन्धनं जन्मे”तिपाद्यात्तद्व्यतिरेकेण केवला
“अविद्याकामकर्मभिरितिवाक्योक्तप्रमणसाधककामकर्मासंशुष्टा या क्रीडासाधिका भाववन्माया,
तथा गृहे गृहाश्रम एव “परयन्ति ते म” इत्यत्रोक्तीत्या ददनुभवत्, “पुष्ट्या चिमित्राः
सर्वज्ञा” इति तेषां विशेषलक्षणात्सर्वं भगवद्शास्यप्रमेयं ज्ञानत् भगवद्दीयः “यावन्न मयि ते
श्रीबह्मपति०—

वत्सम् । प्रकृतेऽर्थात् क्रीडेव प्रार्थ्यत इति तद्वाप्यसाधकविरोधात् तज्जगितासक्तिनिषेधप्रार्थना । तेन स्वन्माय-
याऽऽसक्तचित्तस्य ममात्मादिषु सख्यं भूयात्तेरमायासक्तचित्तस्य लोकवदिति मलायां पर्वतस्यति । तथा
चेति । लोके कर्मबन्धनमन्तरा पुरुषार्थाननुभवत्तथा तं विनात्त ददनुभवः । “तस्मिन् दृष्टे परावत्” इति

१ भा. १०, ७, ६, १२ इतिर्जलगतव इत्यर्थः । मदीया अप्येवं इतिर्जलता जावन्ते इति इतोपिनी ।

तथा गृह एव चतुर्विधपुरुषार्थसुखमनुभवन् भगवदीय इति द्वितीया मुक्तिरियमेव मुख्या, आशीरिति सर्वान्ते क्रियाप्रयोगः । हे नाथ ? मर्यादाज्ञानयोक्षो मे मा भूयादिति ॥

॥ इति श्रीमत्पञ्चरत्नकृता वृध्नासुरचतुःश्लोकीविभृतिः संपूर्णा ॥

टिप्पणी—

या तत्सन्धराहित्येन केवलं भगवन्मायया लौकिकासक्तिस्त्वन्वरहितया गृह एव लीलारूप-चतुर्विधपुरुषार्थसुखमनुभवन् भावप्रकारेण लोकाद्वातीतप्रसुप्तरूपेण सह सर्कलीलातुभवं कुर्वन् भगवदीयः स्वतन्त्रमक्त इति द्वितीया पुष्टिपुष्टिमार्गीया मुक्तिरित्यर्थः ।

[२६] तद्गुदाहाणं तु स्वामिन्य एतान्मन्त्र्या, एतस्यैव सकल्पफलमूर्द्धन्यफलत्वज्ञाप-नायाहु-इयमेवेति । इयमेव नान्या मुख्याखिलफलेषु, आशीरिति ज्ञापनाय सर्वान्ते पद्य-निष्ठभ्रंशानतिरूपणान्ते भूयादित्याशीर्वादीयं क्विपदप्रयोग इत्यर्थः ॥

प्रकाशः—

नाथे"तिविज्ञानिच्छोकोकरीत्या भगवता स्वीयत्वेन निश्चित इति द्वितीया पुष्टिपुष्टिवा मुक्तिः । तथा च गृह एव तयानुभवत्वेन मर्यादापुष्ट्युक्तव्यावृत्तत्वे सति "निर्गुणो यदपा-श्रय"इत्येकादशे गुणातीतरुल्लक्षणाद्भगवदीयत्वेन त्रिविधलौकिककर्तृव्यावृत्तत्वं पुष्टिमिश्र-पुष्टिजीवत्वं तेषां स्वरूपं तेन रूपेण यावज्जीव स्थिति संसर्गार्थं । अत्रापि पूर्वकक्षा यादवादी, उक्तमा श्रीमदुद्धवादी शेषा, "नोद्धेवोऽप्यपि मरुपूनो गदुर्णैर्नादित" इति कर्मबन्धव्यतिरेकस्य "दृक्पणध मे मोहमहान्यकार" इत्यत्र "प्रकारेत सृष्टिविशुद्धये त्वये"ति भगवन्मायया देहाघासक्तेः, 'अप्यापि त्वभिप्रेत जानन्ति'ति तादृशत्वस्य स्पुष्टत्वादिति ।

[२६] एव पुष्टिमार्गे द्विविध मोक्ष निश्चित्य "शुद्धाः भ्रमणातिदुर्लभा" इत्यत्र विषा-रिवाता शुद्धपुष्टानां फलस्य स्वरूपस्य चेतोऽप्यधिकत्वं हृदि कृत्वा प्रकृतानामेतदन्वता शाप-यितुमाहु-इयमित्यादि, इयमेव, नेतोधिरेत्यर्थः ।

मन्त्रत्रायमेवाशय इत्यत्र किं मानमिति चेत् उच्यते । अत्र "भक्तानां गृह एव विनिष्पद्यत" इतिन्यायोपक्षेयान् तद्गुदाहाणं साधन भक्ति फल मोक्षस्तथापि फलदशात् साधनदशैवीरामैति-कपत्नेन "अनिच्छतो गतिपर्यायं प्रयुङ्क्त" इति मुक्तिदित्वासूचनात् । शुद्धपुष्टानां तु मुक्तिच्युत्वाया-मपि तन्मुक्तिरिति आनीदि । न च भक्तानामित्यस्य स्वतन्त्रभक्तानां गोपिकादितुल्यानामिति व्याख्या-नात्तत्रमिति शङ्क्य, तस्य साधनदशामात्रोत्प्रेक्षाफलपरत्वात् । अन्यथाफलदशाकपनविरोधापा-क्यात् । प्रप्रथेषु येषुगीते "स्वाश्रयमापणं च प्रत्यापत्तिरिति" प्रकाशतेरेकाङ्गीकारात् ।

श्रीवृद्धभट्टि—

वाक्याद्भगवदीयस्य सर्वकर्मजन-पुष्टयर्थः । भक्तिमार्गे हरेर्दृष्टमित्यादौ चतुर्विधपुष्टयस्येष्टमितिपर्यः । अपे स्यात् ॥

इति श्रीश्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रीकर्मभट्टाः "समोत्तमे" एवाय टिप्पणी समाप्ता ॥

टिप्पणी—

इति श्रीवल्लभाचार्यकृपया विनिरूपित । ममोत्तमंतिपद्यर्थव्याख्यानाभ्यां मया मुदा ॥ १ ॥
 मयोदितमिदं मत्ता अवलोक्य विचारितम् । मवन्दु सतत श्रीमदाचार्यवरणाश्रया ॥ २ ॥
 एतत्कल तत्कृपातो भविष्यति न सदाय । अतस्तदुक्तमार्गेण भवनीय प्रमु सदा ॥ ३ ॥
 स एव श्रीमदाचार्यपक्षपाती मम प्रमु । करिष्यति स्वकीयानामैहिक पारलौकिकम् ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्प्रमुपादभ्यदाप्तानुदासहरिदासविरचिता

ममोत्तमेतिपद्यन्याकृतिटिप्पणी समाप्ता

प्रकाशः—नन्वस्त्वेष, तथापि परममसिस्वरूपे साधने तारतम्याभावात् फलमेदं
 किंप्रयुक्तो य स्वरूप भिनत्तीति चेद्, उच्यते । उत्तरतन्त्रतात्पर्यिकवृत्तीयगादीयाऽ‘क्षरंधिया
 त्वविरोध’ इतिमुक्तौपसदन्यायेन भगवदिच्छाभेदादेवेत्येवेहि । ततस्तेष्वपि तारतम्य धमर-
 गीतोक्तदेशस्वरूपांश्चात्तव्यम् । एकादश्याद्वादशाध्यापत्या ‘न्न रोषयति मा योग’ इत्यारभ्य
 “पासपसे ह्युक्तोपयमि” इत्यन्ताद् सर्वात्मभावपूर्वकशरणोपदेशसद्वर्माश्च । तेन शर्धो हि पुष्टि-
 मर्यादायामङ्गीकृतो न तु पुष्टिपुण्यविति “न्यासादेशे” इत्यत्र प्रमुचरणोक्ते । सात्त्विकप्रकरणो-
 क्तानां तत्समाप्तौयभाववता वादा, राजसप्रकरणोक्तानां तादृशा चेतः, तामसप्रकरणोक्तानां
 तु प्राणप्रचित्तेरेवेति लीलापरिकरस्य यथास्थितस्य नित्यत्वमस्वामेव लीलायां सिद्धवतीति । किं
 च पूर्वोक्तोपदेशप्रकरणोत्तरमपि “संशयः शृण्वतो वाच तव योगेश्वरेश्वर । न निवर्तत आत्म
 स्यो येन मे भ्राम्यति मन ” इतिश्रीमदुद्धवोक्तेरय भावोविदुर्लभो भगवत्वरमनसादादेव उच्य
 इति च । तथापि “स्वर्भक्तियोग च महद्भिन्म्य” “आलयादी” इति प्रभे ‘भक्तियोगः पुरै-
 वोक्त’ इति द्वादशाध्यायोक्त तत्स्वरूप स्मारयित्वा “गुणय फययिष्यामि मङ्गलेः कारणमि”-
 न्वादिना तदुपायकवनात्तया तदुपायस्वज्ञानपूर्वकतत्करणेन प्रसन्नाद्भवत् एव तादृशमसावसिद्धि-
 नैतरथेत्यादिकमालोचनीयमिति तदेतत्सर्वं हृदि छत्वोपभियमेवैत्यादि । इति दिष्ट ।

इति सन्निवृत्तमुत्तरवारिहोद्वत्पुष्टिपुष्टिगच्छन्वत्सा ।

इति कुण्डचन्द्रकृपया विदितं पुष्टयोत्तमेन वचसा विद्वत् ॥

इति श्रीमत्प्रमुभगवन्मन्त्रचरणीयतानश्रीपीताम्बरतनुजपुष्टयोत्तमकृता
 पुष्टिमार्गायमुक्तिविवृतिप्रकाश सपूर्णतामगात् ॥

॥ समाप्तोप ग्रन्थः ॥

१ अ० भा० सू० १ ३ ३३ अत्र उपसंग्रहे कमपि एकं तानत्रपूरणार्थं श्रीपसद् कमोति,
 अस्मिन् कर्मणि सर्वेषां अस्तिर्मां तानत्रपूरणं समान, तथापि “अथ यत्र यत्तदुपपद्येति” ति यत्रमानस्य
 यस्मिन्नेहातिथय तमेव कृत्स्नं यत्रवानी उच्यते न हि तत्र तत्रानेव तेषु कर्म इच्छानेव इति प्रथ संभवति ।
 यत्रवशापि भगवदिच्छा फलमेदं इत्याद्य ३ २ भा० ११ १२ १६

भक्तवर्धिनी

चतुर्विंशटीकाभिःसमलंकृता

- | | |
|------------------------|-------------------------------------|
| १. श्रीबालकृष्णानाम् | ८. श्रीवल्लभानाम् |
| २. श्रीगोकुलनाथानाम् | ९. श्रीजयगोपालभट्टानाम् |
| ३. श्रीरघुनाथानाम् | १०. श्रीलालुभट्टानाम् |
| ४. श्रीकल्याणरायणाम् | ११. केयाञ्चित् |
| ५. श्रीहरिरायणाम् | १२. श्रीवल्लभात्मजश्रीबालकृष्णानाम् |
| ६. श्रीगोपेन्द्वराणाम् | १३. श्रीगिरिपराणाम् |
| ७. श्रीपुण्योत्तमानाम् | १४. श्रीद्वारकेशानाम् |

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-वंशावतंस-गोस्वामि श्री १००८

श्रीगोपीनाथ-महाराजश्रीत्पेतैः — प्रकाशिता

प्रकाशक:

गोस्वामिश्री १००८ श्रीगोपीनाथजी महाराज,
बडा मन्दिर, श्रीजीवनजी महाराज लैन,
भुलेदवर, बम्बई-४०० ००९, भारत.

साधारण सस्करण २००० प्रति

राज सस्करण १००० प्रति

श्रीवल्लभाब्दाः ५०३.

ग्रन्थ-परिचय लेखकः गोस्वामी इयाम मनोहर

मुद्रकः

स्टूडियो बहाद, २३-ए, मेट्रोल चोगाटी बिल्डिंग, पोपाटी,
बम्बई-४०० ००७.



सोवियतों १९०८ पीलेलेपावरी हत्याकांड

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ--परिचय

चीरासी बंणवोकी वार्ताके भावप्रकाशके अनुसार भक्तिवर्षिणी ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने साचोरा पुरुषोत्तम जोशीके लिए लिखा था. एक किंवदन्तीके * अनुसार इस ग्रन्थका प्रणयनकाल वि. स. १५५२ माना जाता है तथा प्रणयनस्थल प्रयाग, परन्तु भावप्रकाशके अध्ययन करनेपर लगता है कि इस ग्रन्थकी रचना गुजरातके किसी गावमें हुई होनी चाहिये

“तब एक समय श्रीआचार्यजी गुजरात पधारे. सो पुरुषोत्तम जोशी मध्याह्नके समय एक तलावपर सन्ध्या करत हुते तब श्रीआचार्यजी तलावपर पधारिके सन्ध्या-बन्दन करन लागे. सो पुरुषोत्तम जोशीकी ओर कृपा करिके देखी जानि देखे. तब पुरुषोत्तम जोशी श्रीआचार्यजीके पास आई नमस्कार करि पूछयो- ‘महाराज ! यह कर्ममाराग बडो के ज्ञानमाराग बडो ?’ तब श्रीआचार्यजी कहे- ‘जाके मनमें दृढ जो माराग आवे, जामे जाको विश्वास होय, वाके भाये तो यह माराग बडो, और बडो तो भक्तिमाराग है जामे जीव कृतार्थ होई. और ज्ञानमाराग कर्ममाराग सो कृतार्थ कठिनतासो होई सो बाहूसो निर्वाह होय नाही कहते ? कष्ट साध्य है सो या कालमें शरीरको कष्ट बर्यो न जाई कोऊ शरीरको कष्ट सहै तो मन ठिकाने रहे ताते भक्तिमारागमें जीव कृतार्थ होई और आश्रय नाही

“तब पुरुषोत्तम जोशीने नही जो ‘महाराज ! भक्तिको स्वरूप कहा, कृपा करिके कहिय ।’ तब श्रीआचार्यजी कहे- ‘भक्तिको स्वरूप वर्णन करिये तो पार आवे नाही परन्तु कष्टुब तोको कहत हो’ तब ‘भक्तिवर्षिणी’ ग्रन्थ करि ग्यारह श्लोक पुरुषोत्तम जोशीको सुनाये सो यह उत्तम अधिकारी है, ताते सगरो बोध हो गयो.”

इस तरह भक्तिवर्षिणी पुरुषोत्तम जोशीके हृदयमें भक्तिवर्षिणी ग्रन्थके लिखी गई थी, गुजरातमें ही कही पुरुषोत्तम जोशीके गावमें इसके उपदेशके बाद पुरुषोत्तम जोशी सपत्नीक श्रीमहाप्रभुके अनुयायी हुए, और अख्यावृत्त होकर अपने घरमें कृष्ण-मेवामे तत्पर होगये- “सा दोऊ जन प्रीतिमो सेवा करन लागे पाछे श्रीआचार्यजी शारिका पधारे सो पुरुषोत्तम जोशीने बहोन दिन सेवा बरी भगवद्भावमें मगन रहने-अख्यावृत्त होई रहे काहूके आगे अपने हृदयको भाव प्रकट न करने”

कर्म-ज्ञान-भक्ति

भगवद्-गीताके तीसरे अध्यायमें अर्जुन भी भगवान्‌में ये ही प्रश्न कर बैठ था कि ज्ञानयोग यदि श्रेष्ठ है तो कर्मकी क्या आवश्यकता है, और कर्म यदि आवश्यक है तो फिर ज्ञानयोग किस अर्थमें श्रेष्ठ है. भगवान्‌ने वहाँ अर्जुनको समझाया है कि कर्मोंके अनारम्भ या त्यागके कारण ज्ञानयोग श्रेष्ठ नहीं बन जाता क्योंकि फलासक्ति-रहित कर्म अर्थात् निष्काम-कर्म भी इस दृष्टिसे ज्ञानयोगसे मिलते लाभोको देनेमें सक्षम है कर्मके फलोमें आसक्ति बनी रहती तो ज्ञानमार्गीय साधकके नैष्कर्म्यका भी अपने-आपमें कोई मूल्य नहीं है. कर्मके फलोके आकर्षणके रहने हुए कर्मका त्याग निरा पाखण्ड है.

भगवान्‌ कहते हैं कि उन्हें, आत्माराम-आप्तकाम होनेपर भी, कर्मत्यागके बजाय लोकसंग्रहार्थ ही सही पर कर्म अधिक सुहाता है. कोई भी ज्ञानी स्वयम् परमात्मासे अधिक निष्काम या आप्तकाम हो नहीं सकता फिर ज्ञानयोगके नामपर कर्मत्यागकी क्या आवश्यकता है !

ज्ञानयोगी हो अथवा कर्मयोगी दोनोंको ही स्वधर्म-स्वकर्मवा अनुष्ठान फलासक्तिके बिना करना चाहिये क्योंकि परधर्मका भलीभाँति अनुष्ठान भी स्वधर्मके बिन-भली-भाँति किये गये अनुष्ठानसे श्रेष्ठ नहीं है अर्जुनने इस सन्दर्भमें एक महत्वपूर्ण प्रश्न, भगवान्‌के समक्ष उपस्थापित किया है वह पूछता है कि स्वधर्म-पालनकी जब इतनी अधिक महत्ता है तब धर्म लोप कभी स्वधर्मके त्यागद्वारा तो कभी परधर्मोंके अनुष्ठानद्वारा पापाचरण क्यों करने है ?

भगवान्‌ने इस प्रश्नका विलक्षण उत्तर दिया है कि स्वधर्मत्याग अथवा परधर्माचरण के द्वारा मनुष्य पापीको बटोरता रहता है, अपने काम और क्रोध के बशीभूत होकर ज्ञानियोगी ज्ञानाग्नि भी बहूधा कामके धुएँ धिर जाती है काम ही ज्ञानियोगी चिरशत्रु होता है

भगवान्‌की बात बड़ी अटपटी लगती है कि क्यों केवल ज्ञानमार्गीय साधक ही कामनाओका शिकार बनता है, कर्ममार्गीय या भक्तिमार्गीय साधक क्यों नहीं ? कामनाओका आकर्षण तो सभी मार्गोंके साधकोमें प्रारम्भमें तो रहता ही है या कमसे कम रह सकता है ! परन्तु थोड़ा ध्यानमें देखनेपर पता चलेगा कि हमारी ममता और अहन्ता का ही अदम्य विस्फोट क्रमशः काम और क्रोधके रूपमें होता है. अतएव भगवान्‌ कहते हैं— "काम एव क्रोध एव रजोगुणसमुद्भव महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्" हमारी अहन्ता हमारे रजोगुणका साथ पाकर हमारे भीतर क्रोधके रोगका रूप धारण कर लेती है इसी तरह हमारी ममता हमारे रजोगुणका साथ पाकर हमारे भीतर कामके रोगका रूप धारण कर लेती है.

इन काम तथा क्रोधके रूपोंमें हमारी ममता तथा अहन्ता के राजस विस्फोटसे घ्वस्त होती साधकोकी साधनाकी सुरक्षाके उपायरूप अनेक मार्ग प्रवृत्त हुए हैं.

चार मार्ग

(१) बुद्धने आत्मचेतनाको काम-क्रोधके आवेगोंसे बचानेके लिए इनकी बीजभूत अहंता और ममता कोही तोड़ देनेका उपाय सुझाया था एतदर्थ अनात्मवादपर आधारित 'नाहम्' की भावना तथा विज्ञानवादपर आधारित 'न मम'की भावना को जगानेपर भार दिया गया मानो हमारी चेतनामें अहंता और ममता की ग्रन्थियोंमें यदि क्रोध और कामके व्रण हो गये हो तो उन्हें रक्षानेके वजाय इन ग्रन्थियोंकी ही शल्यचिकित्सा कर दी गई, वैदिक शास्त्रोंको यह शल्यकर्म सभी स्थितियोंमें मान्य नहीं था अतः बुद्धसे पूर्व ही कर्मयोग ज्ञानयोग एवम् भक्तियोग की प्रणालियोंमें अन्य अघोर एवम् अक्लिष्ट चिकित्सा इनकी सोची गई

(२) कर्मयोगकी प्रणालीमें अहंताको तोड़नेकी परवाह किये बिना ममताको विभिन्न देवताओंमें जोड़नेकी चिकित्सा-प्रणाली अपनायी गई है - 'अग्नये स्वाहा अग्नये इदं न मम— सूर्याय स्वाहा सूर्याय इदं न मम' इत्यादि "वित्तं च मे पुत्रं च मे पशुश्व मे" की ममतामयी सकाम-कर्म-वृत्ति वाले साधकोंकी ममताको - 'देवतायं इदं न मम' की प्रणालीद्वारा निष्काम-कर्मकी ओर कर्मयोग आये बढ़ाना चाहता है स्वयम्के उपभोगसे पूर्व देवताओंके यजनकी आवश्यकता है, अतएव कर्मयोगके निरूपणमें गीता हमें समझाती है

"कर्म किये बिना कोई रह नहीं पायेगा, अपनी प्रकृतिके अनुरूप विषय होकर कुछ न कुछ कर्म तो सभीको करने ही पड़गे ऐसी स्थितिमें कर्मोन्द्रियोंको सयत करनेके पापण्डमें विमूढ़ साधक अपने असयत मनको इन्द्रियायोंके चिन्तनमें डूबा देते हैं, जबकि सच्ची विराट्पटा तो मनसे इन्द्रियोंको सयत करके कर्मोन्द्रियोंसे आतन्त्रित-रहित कर्मयोगको करते रहनेमें है। अतएव नियत कर्मोंको करते रहना उत्तम है, उन्हें त्याग देनेके वजाय, सर्वथा कर्मत्याग करनेपर तो शरीरत्याग भी नहीं निभ पापनी और फिर इस लोकात् वे ही कर्म बन्धनरूप माने गये हैं, जिनका अनुष्ठान यज्ञकर्मके रूपमें नहीं होता अतः यज्ञार्थं विया गया कर्म तो असंग्रहमें करते ही रहना चाहिये, प्रजापतिने भी प्रजाकी सृष्टि यज्ञके साध ही की है अतः यज्ञ ही हमारी सारी कामनाओंकी अलीभाति पूर्ण करता है हम यज्ञके द्वारा देवताओंको देनेकी वस्तु उन्हें देनी चाहिये और यज्ञभाक्ति देवगर्ण जा हमें मिलना चाहिये वह हमें दोगे दोगे आदान-प्रदानमें हमारा परमार्थ रहा हुआ है जो देवताओंने हमें दिया है उमम में जो उन्हें देन लायक है उसे दिव्य बिना जब हम अपने उपागममें लेने है ता हम चार वन जाने हैं अतएव यज्ञके बाद बची हुई वस्तुओंके उपभोगकी जीवनप्रणालीमें पापस्पर्श नहीं होता है फिर भी जो बबल अपने लिए पकाने है और खाने है, वे अन्नना नहीं प्रस्तुत पावना ही भक्षण करते हैं"

इस विस्तृत उद्धरणमें अन्तर्गमने स्पष्ट हो जाता है कि कर्मयोग हमारी अहंता-

की परवाह अधिक नहीं करना चाहता किन्तु ममताको मार्गदर्शन देना चाहता है ममतामें रक्षे-भक्षे मनुष्य अपने उपभोगसे पूर्व यदि थोड़ी सी धीरज धरके देवताओंको लिए "इद न मम" कहना सीख पायें तो निष्कामताके मार्गपर आगे बढ़ा जा सकेगा यही निष्काम-कर्म अन्तमें आत्मसुख या साश्वत स्वर्गका सुख प्रदान करेगा. परन्तु अहन्ताकी उपेक्षाके कारण इस कर्ममार्गमें प्रारम्भिक साधनावस्थामें अहन्ता और राजसगुण के साहचर्यसे पनपे क्रोधकी सम्भावना पदे-पदे रहती है कर्मयोग ममताको ही स्वस्थ बनाता है

(३) ज्ञानमार्ग अत अहन्ताकी चिकित्सा— उने स्वस्थ बनानेका प्रयास है कर्म-योगमें जैसे ममता को देवताओंसे जोड़ा गया था इसी तरह ज्ञानयोगमें हमारी अहन्ताको ब्रह्मके साथ जोड़नेका प्रयास करना पड़ता है—“योहमस्मि ब्रह्माहमस्मि अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि अहमेवाह मा जुहोमि स्वाहा” अर्थ मैं जो कुछ हूँ—मैं ब्रह्म ही हूँ हा, मैं हूँ— मैं ब्रह्म हूँ मैं ही मैं मेरा होम (ब्रह्ममें) करता हूँ.

कर्मयोग जैसे प्रारम्भमें—“पुत्र च मे वित्त च मे” की कामनाओंमें धिरे सवाम कर्मकर्ताको निष्काम-कर्मकी ऊर्ध्वपर उठानेके लिए “इद न मम” में प्रसिद्धित करता है वहा यज्ञाग्निमें अपनी ममताकी आहूति देनी पड़ती है वैसे ही ज्ञान-योग ब्रह्माग्निमें अपनी अहन्ताकी आहूति देना विसरलाता है. ज्ञानयोग हमारे अहंकारकी चिकित्सा है ध्यान रहे कि ‘अहम्’ की आहूति ब्रह्माग्निमें देनी है— अपने अहंकार-की घटकती ज्वालाओंमें ब्रह्मकी आहूति ज्ञानयोग नहीं है ।

वाक्य उद्देश्य-विधेयभाव-घटित होता है जैसे “गाय प्राणी है” वाक्यमें ‘गाय’ उद्देश्य है और ‘प्राणी’ विधेय है. इसी तरह “अहं ब्रह्मास्मि” में ‘अहम्’ उद्देश्य है और ‘ब्रह्म’ विधेय है अतएव अहमास्पद जीवात्माको ब्रह्म मानना वास्तविक ब्रह्मबोध है, तथा व्यापक अशी परमात्माके साथ अशरूप जीवात्माकी अहन्ताको सच्चे परिप्रेक्ष्यमें देखना है. ब्रह्मको उद्देश्य मानकर अहंकारको विधाय बनाना सभी प्राणियोंको गाय माननेके जैसी भ्रुटी है ब्रह्म तो त्वकारारपद भी है—“तत्त्वमसि”में और इत्कारारपद भी है—“सर्वं खलु इदं ब्रह्म” में प्राणी तो गाय हाथी और घोड़ा आदि अनेक प्रकारके होते हैं अत सभी प्राणियोंको गाय माननेकी जैसी भ्रुटी यज्ञको अहमास्पद माननेवाले बर बैठते हैं अशीको अहम् नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वह त्वम् भी है और इदम् भी अहम्को किन्तु अश होनेके कारण अशी ब्रह्म कहा जा सकता है वापके जैसा बेटेका चेहरा होता है बेटेके जैसा चापका नहीं ।

अतएव श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि लट्टीको ‘समुद्रकी लहरे’ कहना चाहिये— समुद्रको ‘लहरोवाला समुद्र’ नहीं (सामुद्रा हि तरग वचन समुद्रस्तारग इति). किनारोपर पट्टुच बर लहर अपनी आहूति समुद्रमें दे देती है पर भला कभी समुद्रकी आहूति किसी लहरमें दी जा सकती है क्या ?

ज्ञानमार्गी अहन्ताकी चिकित्सापर भार देता है- ब्रह्मके साथ अपनी अहन्ताकी जोड़कर उसे स्वस्थ बनाना चाहता है परन्तु इस प्रणालीमें ममताकी उपेक्षा हो जाती है और उसी ममताके विकृत होनेपर ज्ञानीके ज्ञानमें कामके व्रण प्रकट हो जाते हैं। ममताकी छोड़कर केवल अहन्ताको ब्रह्मके साथ जोड़नेका प्रयास ज्ञानमार्ग है सफल होनेपर ब्रह्मानन्दकी उपलब्धि होती है और विफल होनेपर 'अह ब्रह्मास्मि' का उद्देश्य विषेयमें बदल जाता है प्रायः ज्ञानमार्गीय विविदिपुके 'अह ब्रह्मास्मि' के जपमें ब्रह्मके बजाय अहम्पर भार आजाता है और इस महावानपका अर्थ बदल जाता है।

कभी विफल ज्ञानमार्गीय साधककी उपेक्षित ममता ज्ञानमार्गपर दोड़ते हुए साधककी रजोगुणकी घोघ्रुलीकी वेलामे शिष्येयणा जैसी कामनाआका रूपधारण कर मोहपाशमें बाध लेती है अतएव भगवान् कहते हैं- "सद्गम चेष्टते स्वस्या प्रवृत्तेर्ज्ञानवानपि प्रवृत्तिं यान्ति भूतानि निग्रहं किं करिष्यन्ति ?"

ये दोनों ही मार्ग, कर्मयोग और ज्ञानयोग के, यात्राकी सफलतापर मुचिततक पहुचानेवाले मार्ग हैं, पर अहन्ता और ममता में से एक ही किसीको स्वस्थ करनेके ये अपूर्ण प्रयास होनेसे हमारे काम और श्रोत्र के रोगीकी पूर्ण चिकित्सा नहीं करते भक्तियोग ही हमारी अहन्ता-ममताकी पूर्णतया स्वस्थ रखनेकी एकमात्र चिकित्साप्रणाली है- अकठोर मूढु पूर्ण एवम् भयरहित।

(४) 'भक्ति' शब्द भज + क्तिन् को जोड़ने पर बनता है 'भज धातुकी प्रकृतिका अर्थ है सेवा 'क्तिन्' प्रत्ययका अर्थ होता है प्रेम अतः 'भक्ति' शब्दका कुल अर्थ होता है प्रेमके साथ की जानेवाली सेवा

यह भक्ति हमारी अहन्ता-ममताकी पूर्ण चिकित्सा है शरणागत पुष्टिजीवकी भगवत्सेवामें लगाकर यह उताकी अहन्ताकी भगवान्के साथ जोड़ देती है- 'मोहम्' की प्रक्रियासे नहीं किन्तु 'दासोहम्' की प्रक्रियामें सेवा मचाईमें हम उमीकी रर मवन है जिसके सामने हमारा अहंकार झुक जाये पुष्टिप्रभु दयाधिप श्रीकृष्णके सम्मुख आने अहंकारको 'श्रीकृष्ण शरणमम' कह कर अथवा 'दासोह कृष्णस्तव' कह कर झुका देना पुष्टिभक्त या पुष्टिभक्ति ही प्रकृतितम निहित अर्थ है अहंकारके झुकने ही तनकी भी झुकना पड़ेगा अतएव मिदान्ममुक्तावलीमें तनुक्तित्रा सेवा तथा मिदान्तरहस्यमें सर्वममर्षण की बात समझा कर पनु इलीरीम दयाधिपके भजनका ही स्वधर्म माना गया है

हमारी ममताके श्रीकृष्णके साथ जुड़नेकी वात चित्तकी कृष्णप्रवणताके रूपमें सिद्धान्त-मुक्तावलीमें समझायी गई है. चतुश्लोकीमें श्रीकृष्णके प्रति अपनी ममताको जोड़नेकी क्रियाको ही पुष्टिमार्गीय काम कहा गया है. वही काम- वही कृष्णदर्शन- कामना 'भक्ति' शब्दमें 'चित्तन्' प्रत्ययका अर्थ है.

चतुश्लोकीमें भजन और स्मरणके निरन्तर चक्की तरह चल पड़नेकी क्रियाको मोक्ष माना गया है (स्मरण भजन चापि न त्याग्यविति मति). अपरोक्षमें भजन या काविकी सेवा हमारी अहन्ताके कृष्णसे जुड़नेकी निशानी है परोक्षमें स्मरण या हमारे चित्तकी कृष्ण-सम्पत्ता हमारी ममताके कृष्णसे जुड़नेकी निशानी है. पुष्टिभक्त न तो अपनी अहन्ता या ममता को देह या विषयो म मुक्त छोड़ता है, और न उन्हें तोड़ता ही है क्योंकि तोड़ना आवश्यक नहीं है पुष्टिभक्त अपनी अहन्ता एवम् ममता को ब्रज्राधिय श्रीकृष्णके साथ जोड़ता है जिस दिन—जिस क्षण ये दोनों भलीभांति श्रीकृष्णके साथ जुड़ जाती है, उनी दिन पुष्टिजीव मुक्त हो जाता है इससे अधिक और कोई मतलब मुक्तिका पुष्टिजीवने लिए नहीं होता.

हमारी अस्वस्थ अहन्ता-ममताकी क्लेशरहित, सम्पूर्ण एवम् शुभ चिकित्सा भक्ति है अतएव श्रीमहाप्रभु पुरुषोत्तम जोशीको समझाया था कि "ज्ञानमारग अहं कर्म-मारग सो वृत्तार्थ नञिनतामो होई. ताते भक्तिमारगमें जीव कृतार्थ होई और आयय नाही."

जब भक्ति ही हमारे मसार-रोगकी पूर्ण चिकित्सा है तो भक्तिरसायनके अनु-पानको ही क्यों न बढ़ाया जाये ! वस्तुतः तो भक्तिकी औपची मानना भी भक्तिकी पूर्ण महत्ताका विवरण नहीं है क्योंकि भक्ति पुष्टिजीवके लिए औपचीमें कहीं अधिक स्वयम् स्वास्थ्य ही है परमात्माने प्रति जीवात्माकी भक्ति न होना जीवात्माके अस्वा-स्थ्यका लक्षण है पुष्टिप्रभु ब्रज्राधिय श्रीकृष्णके प्रति पुष्टिजीवका पुष्टिभक्तिके भावन रहित होना भी उसकी अस्वस्थताका लक्षण है गीताके छठे अध्यायकी समाप्तिपर अतएव भगवान् भी कहते हैं— "मुझे कर्ममार्गीय ज्ञानमार्गीय तपस्वी माधकीमे जो योषी हैं वे अधिक मान्य लगने हैं. योषियो मे भी श्रद्धापूर्वक जो अपनी अन्तरात्माका मेरे साथ जोड़ करके मेरा भजन करते हैं वे मुझे सभीमे बुक्ततम लगने हैं "

इस जन्तुमें आहार-विहारकी जिन अनियमितताओके कारण हम अपनी अहन्ता-ममताको अस्वस्थ बना लेते हैं, उनसे बचनेके लिए श्रीमहाप्रभुका स्वास्थ्यबर्धक उपदेश 'भक्तिवर्धिनी'को सुनना समझना और हृदयमें धारण करना अत्यावश्यक है भगवान्के अनुग्रहके कल्पतरुमें लिपट कर ऊपर उठनेवाली भक्ति-कल्पनाकी वृद्धिके उपायोको जानना अत आवश्यक है

भक्ति उम जीवात्माने प्रकट होती है जिसका भगवान् भक्तिके लिए वरण करते हैं अपनी भक्तिके हेतु परमात्माद्वारा किया गया जीवात्माका वरण जीवात्माने

बीजभावके रूपमें सर्वदा विद्यमान रहता है सत्सग गुरुकृपा या शास्त्रतात्पर्य-निर्णय के अनुकूल वातावरणमें कभी वह अकुरित हो पाता है और कभी नहीं श्रोत्रभुचरण नहते हैं कि स्वयम् परमात्मा इस एकान्तभक्ति या प्रजभक्ति के बीजको बोता है— सत्सग एगम् गुरुकृपा के जलमें उसे सींचता है— अपन अनुग्रह कल्पतरुका सहारा देकर उसे ऊपर उठाता है— उसपर उगनेवाले पुष्प-फलोंकी रक्षा भी एक सावधान मालीकी तरह वह स्वयम् ही करता है— तब इस भक्ति-कल्पतरुका नष्ट होना या मुरझा जाना, उसे कैसे पसन्द आयेगा ? अतः पुष्टिभक्तिका बीजभाव अनश्वर बीजभाव है जन्म-ज-मन्तो तक यह नष्ट नहीं होता एक एक जन्म श्रुतुचक्रवी तरह आते और जाते रहते हैं— किसी श्रुतुमें किसी लतापर फूल खिलते हैं और किसी श्रुतुमें नहीं इसी तरह भक्तिका बीजभाव भी किसी जन्ममें प्रमदने रूपमें अकुरित हो पाता है और किसी जन्ममें नहीं.

भक्तिकी यह कल्पलता बढ़कर इतनी सघन हो जाये— पुष्टिके कल्पतरुके इर्द-गिर्द इतनी फंल जाये कि दोनोंके पल्लवोंको पृथक् करना कठिन हो जाये— पुष्टिकल्प-तरु और भक्तिकल्पलता के पल्लव परस्पर मिलकर पुष्टिभक्तिके रूपमें दिखलाई देने लग जायें— ऐसा उपाय श्रीमहाप्रभु हमें दिखलाना चाहते हैं लता जब वृक्षपर भलीभांति दृढ़तासे लिपट जाती है— फंल जाती है— तब उसके नष्ट होने या मुरझा जाने का भय कम हो जाता है इसे ही 'बीजभाव की दृढ़ता' कहा गया है

दृढ़ बीजभाव तथा अदृढ़ बीजभाव वाले जीवोंके लिए भक्तिकी फलात्मिका वृद्धिके उपाय :

अपनी प्रेमतेवात्मिका भक्तिके हेतु परमात्माद्वारा समारोपित वरगना बीजभाव जिन जीवात्माओंमें दृढ़ हो जाता है वे तो निश्चय ध्वण-कीर्तनकी प्रणालीसे भी भगवान्की मानसी सेवामें सर्वदा मग्न रह सकने हैं. उन एमें भक्त गृहत्याग भी कर सकते हैं परन्तु जिन भक्तोंका बीजभाव ही दृढ़ न हो उन्हें गृहत्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत अपने घरमें रहते हुए ही भगवत्सेवा तथा भगवत्कृपा में अपने-आपना तस्पर बनाना चाहिये तभी बीजभाव दृढ़ होगा

भक्तिमें तीन भेद होते हैं

- १) भगवत्स्वरूपका बाह्य भजन
- २) भगवत्स्वरूपका आन्तर भजन
- ३) भगवत्प्राप्तात्मर भागवतका ध्वण-चिन्तन-कीर्तन

बाह्याभ्यन्तरभेदेन रूपे भेदद्वय मतम् ।

नाम्नि ध्वज तत्त्रया भक्तिमार्गो निरूपित ॥

जिसका बीजभाव दृढ़ हो गया हो अर्थात् पुष्टिभक्ति भाव-प्रमदने रूपमें अकुरित, भगवदात्मिके रूपमें पल्लवित तथा भगवद्-ध्वमनने रूपमें फलित होने लग गई हो ता

ऐसे भक्तको भगवद्-स्वरूपने स्वभाववशा ही भगवान्‌के विरहकी तीव्र अनुभूतिमें सिद्धान्तमुक्तावलीमें वर्णित मानसी सेवा अर्थात् भगवत्स्वरूपका आन्तर भजन सिद्ध हो जाता है और एक कदम आगे बढ़नेपर सर्वात्मभावके सिद्ध होनेपर आसक्तिभ्रम-न्यायसे सभी इन्द्रियोका भगवान्‌में विनिमोग भी मिट्ट हो जाता है ऐसे भक्तोंके लिए सर्वत्र भगवद्-भाव प्रकट हो जाता है घर और बाहर का भेद लुप्त हो जाता है— वे घरमें बंटे हुएहो या बाहर, उनके मन और उनकीसभी इन्द्रियों से निरन्तर भगवान्‌की अनुभूति चलती रहती है फलस्वरूप आसकरणदासजी (इष्टव्य २५२ वार्ता) की तरह उनका घरमें रहना अनिवार्य नहीं रह जाता है वे गृहत्याग कर सकते हैं— भगवत्लीलाओका श्रवण, भगवान्‌के स्वरूप, गुण एवम् लीलाओकी भावना तथा उनके कीर्तन की मस्तीमें, या कभी भगवद् विरहके तीव्रतामें ऐसे भक्त कब घरको छोड़कर बाहर निकल जाते हैं यह उन्हें स्वयम् भी मालूम नहीं पडता । (विरहानुभवार्थं तु परित्याग प्रशस्यते सन्ध्याम-निर्णय)

सर्वनिर्णय— निर्वन्धमें श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि केवल श्रीकृष्णको ही अपना स्वामी मानकर—आन्तर और बाह्य रूपमें सभी बातोंका त्याग कर— श्रीकृष्णवे विभूतिरूप सभी देवताओका सन्मान करते हुए— देहपातपर्यन्त केवल श्रीकृष्णमें ही अपने मनको जो एकाग्र कर पाते हैं— उनकी वाणीका और कायाका श्रीकृष्णमें विनियोग हो पाये या नहीं— उनके मनकी एकाग्रता स्नेहमयी बन पाये या नहीं— उन्हें श्रीकृष्णम सायुज्यका लाभ अवश्य ही मिल जाता है पर भगवत्प्रेमके प्रबल प्रवाहके कारण दारा-आणार-पुत्र आप्त-प्राण वित्त-आदिमें जिनकी ममताकी दीवार टूट जाती है और जो स्वयम् भी उस प्रबल प्रवाहके वेगसे घरके बाहर फिर जाने हैं— ऐसे भक्त व्यसनदशाके परम-भावोंकी मंढरोमें धिर जानेसे पुन पुन डूबते और उभरते रहते हैं ! करोड़ों भक्तोंम कभी-कभी एक ही कोई ऐसा कृष्णव्रसनी बन पाता है ।

बीजभावकी ऐसी दृढ़ताके अभावमें गृहत्याग श्रेयस्कर नहीं होता अतः पहले बीजभावके दृढ़ होने तक धीरज रखनी चाहिये

त्याग और वैराग्य भगवद्‌नुरागकी तीव्रताके कारण प्रकट होते हो तो उन्हें स्वस्थ एवम् सरस मानना चाहिये अन्यथा ससारमें केवल दोषदृष्टिके कारण जो वैराग्य पनपता है वह नीरस एवम् शुष्क, अतएव अस्वस्थ भी होता है ऐसे अस्वस्थ वैराग्य-वशा व्यर्थ ही किसी भी वस्तुका त्याग कर देनेके वजाय उसे भगवान्‌की समर्पित कर देना चाहिये हमारी अहंता और ममता के विषयोंको त्यागनेके वजाय उन्हें श्रीकृष्णको समर्पित कर श्रीकृष्णकी सेवाम उपयोग लानेवायेका बीजभाव दृढ़ हो सकता है अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि अध्यावृत्त होकर स्वगृहमें स्वयम्—भगवत्सेवा तथा भगवत्कथा-मय जीवनयापन करनेवालेका बीजभाव दृढ़ होता है “बीजदाढचंप्रकारस्नुगृहे स्थित्वा स्वयमेत अब्यावृत्तो भजेत् कृष्ण पूजया श्रवणादिभि ”

स्वगृहमे स्वधर्म-भगवत्सेवाके विषयमे शास्त्रार्थ प्रकरणमे एक विलक्षण बात श्रीमहा-
 प्रभुने समसायी है कि ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिके लिए मोक्षकी चाहनासे भक्ति करनेवालोंको
 यह समझना चाहिये कि साध्य मोक्षके बजाय साधन भक्ति अधिक श्रेष्ठ है जो जीव
 मुक्त होते हैं वे देहेन्द्रियादिके सघातको छोड़कर ही मुक्त हो पाते हैं - उनकी केवल
 आत्मा ही परमात्मासे लीम हो पाती है, जबकि भक्तोंके तो देह इन्द्रिय प्राण अन्त करण
 गृह परिवार आदि सभी कुछ उनके धरमे बिराजते प्रभुकी सेवामे काम आते हैं भक्तका
 तो सत्कार भी ब्रह्मात्मक हो जाता है फलत जीवभूषितके बजाय भक्तके लिए तो भग-
 वत्कृपाके साथ गार्हस्थ्य ही श्रेष्ठतर होता है अत वीजभाव दृढ करनेके लिए यह
 आवश्यक है कि धरमे स्वधर्माचरणको निभाते हुए अव्यावृत्त होकर भगवद्-भजन
 करता चाहिये

धरमे रहना है तो स्वधर्माचरणका त्याग सम्भव नहीं, पर स्वधर्मकी व्याख्या भी
 सरल नहीं है. 'स्वधर्म' का प्रथम अर्थ होता है स्वयम्के धर्म तथा आश्रम के अनुरूप
 यथार्थात्क शान्तविविहित आचरण करना शक्ति रहनेपर स्वधर्माचरणमे सकोच नहीं
 करना चाहिये क्योंकि जब तक यह देह है और इस देहके साथ हमारी अहंता-ममता
 जुड़ी हुई है, तब तक वर्णाश्रमधर्म ही स्वधर्म है—भगवद्धर्म भी विधर्म या परधर्म
 की तरह हो जाता है जब देहाभिमान शिथिल होने लग जाये तभी भगवद्दास्य या
 भगवत्सेवा आत्मदृष्टिसे स्वधर्म बन जाती है, तब वर्णाश्रमधर्म भी परधर्म बन जाता
 है (सुक्तो ३-२८-२), अत इस देहाभिमान और आत्माभिमान के अति कोमल और
 जटिल विवेकके साथ वर्णाश्रम-धर्मका निर्वाह करते हुए कृष्णभजनमे तत्पर रहना
 चाहिये कृष्णभक्तिमे जैसा कि हम देख चुके हैं अहंताको स्वस्थ करनेका उपाय कार्याकी
 सेवा 'भज' धातुका अर्थ है, और ममताको रचस्थ करनेका उपाय चित्तको कृष्णप्रेम-
 प्रवण बनाना है तदनु रूप अपरोक्षमे पूजा कायाकी भजनमे लगानेकी प्रक्रिया है और
 परोक्षमे श्रवण चिन्तन-कीर्तन मनको भजनमे लगानेकी प्रक्रिया है

सोहकी दृढताके विना कायामे प्रेमसेवा न भी निभ पाये पर माहात्म्यज्ञानको
 निभाते हुए पूजा तो निर्भाई जा सकती है पुष्टिप्रवाह्मर्पादाग्रणमे इसी पूजाको—
 "प्रवाहेण नियारता" कह कर स्पष्ट किया गया है सर्वनिर्णयमे २२७ वी कारिकामे
 लेकर २४६ वी कारिका तक भजनके इसी विश्वापक्षका निरूपण किया गया है यही
 "एतस्तथै प्रयत्नेन गृहस्यस्य प्रकीर्तितम्" कहकर गार्हस्थ्यमे इसकी आवश्यकता दिख-
 लायी है यही २४० वी कारिकामे श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि श्रवण-कीर्तन आदि द्वारा
 जब हरि हृदयमे निविष्ट हो जाते हैं तभी पूजाका निर्वाह निर्यग्रतया सम्भव हो पाता
 है अतएव पूजारी यदि केवल विचाररूप ही न रहने देना हो तो, श्रीमद्भागवतमे
 वर्णित भगवान्के स्वरूप गुण एवम् शीलाओंके श्रवण-भावन कीर्तनकी प्रणालीमे, उसे
 प्रेममय बनाना होगा (प्रेमोन्प्यस्तापन लोवे नास्ति मुख्यं पर मत् श्रीभागवतमेवात्र पर

तस्य हि साधनम् सर्वनिर्णय) अव्यया प्रेमरहित क्रियासे बहुधा व्यग्रता उत्पन्न होती ही है. श्रीमहाप्रभु अतएव कहते हैं—“सप्रेम इत्यनुद्वेगार्थम्” (सर्वनिर्णय २३०). भगवान्की पूजा करते समय अनन्य भाव नहीं जग पाया तो हम अव्यावृत्त होकर भजन नहीं कर पायेंगे—भक्तिके वजाय व्यर्थ ही मानसिक व्यग्रता बढा लेगे.

भक्तिमार्गीय जीव अव्यावृत्त भी हो सकते है और व्यावृत्त भी अत. दोनो तरहके जीवोमे भक्तिके बीजभाव की दृढ़ताके उपाय भी श्रीमहाप्रभुने दिखलाये है

अव्यावृत्त और व्यावृत्त अधिकारियोंकी भक्तिके धीजभावोंको दृढ़ करनेके उपाय :

सभी इन्द्रियो और मन की अहमहमिकता ('गहले में—पहले में' की उतावळ) से भगवान्के कार्योंम जुट जानेकी अर्थात् सेवामें तत्पर होनेकी वृत्ति हमारी अहन्ताका भगवान्मे विनियोग है एतदर्थ अनन्यभाव आवश्यक होता है 'भाव' का अर्थ होता है: हमारे अन्त करणमे निहित रुचि या अभिप्राय. वह यदि केवल भगवान्के ही वारेमे हो तो उसे 'अनन्यभाव' कहते हैं अन्यथा (१) किन्ही अन्य देवताओके वारेमे (२) अन्य लौकिक वस्तु या व्यक्ति के वारेमें, अथवा (३) पुष्टिमार्गीय फलसे भिन्न किनी फलके वारेमे, हमारे हृदयकी रुचि या भावना के प्रबल होनेपर हमारी वृष्णभक्ति अनन्य-भावात्मिका नहीं बन पायेगी

'अनन्य भाव'वाले भक्त ही अव्यावृत्त हो पाते है जिनकी भक्ति अनन्यभावात्मिका नहीं हो पाती वे अव्यावृत्त नहीं हो पायेंगे अन्यान्य भाव हमारे देह और अन्त करण को व्यावृत्त बनाये रखेंगे — वे अपनी पूतिरी कामनाके भावोंका हमारे भीतर पैदा करके हमे व्यावृत्त बना देंगे — हमसे अव्यावृत्तिमय भजन सम्भव न हो पायेगा ऐसी स्थितिमें पुष्टिभक्तिमार्गपर चलनेके बुद्धिगत निर्णयके बावजूद भी हृदय इन पूर्वोक्त अन्यभावोंकी पूतिके प्रयासमें यहाँ-वहाँ भटकता रहेगा — व्यावृत्त रहेगा ऐसी स्थितिमें श्रीकृष्णकी पूजा या कामिनी सेवा करते रहनेपर भी वह गोवाफलमें दिगलायी गयी — भोग, उद्वेग और प्रतिबन्धों से रहित सेवा नहीं हो पायेगी. फलम्बरूप चित्तमें यह व्यग्रता बढानेका ही कारण बनेगी

श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते है कि पूर्वोक्त देवान्तर, पदार्थान्तर, मार्गान्तर या फलान्तर के कारण जिनके देह और अन्तकरण बाह्य और आन्तर रूपमें व्यावृत्त न हो ऐने जीवोंको भगवापूजा और भगवत्कथा दोनोमें ही तत्पर रहना चाहिये पर जिनके देह या अन्त करण किसी न किसी तरह व्यावृत्त हो उन्हें वृष्णसेवाका अनुष्ठान सहमा प्रारम्भ नहीं करना चाहिये प्रारम्भमें केवल भगवत्कथाके श्रवण चिन्तन एवम् बीजन की प्रणालीमे चित्तको अनन्यभाव-युक्त अव्यावृत्त बनाता चाहिये (. भावान्तरम-हित्वा या स हि देवतान्तरविषय पदार्थान्तरविषय. नागान्तरविषयो वा तत्सहभावेन निविष्टते फलभावश्च. सुवो. ३-२५-२२) इन सुवोपिनीकी भागवतकारिकामें

भक्तिका स्वरूप यो दिखलाया गया है :

मद्यतन्येन भावेन भक्ति कुर्वन्ति ये दृढाम् ।
मस्कृते त्यक्तकर्माणिस्त्वक्तरवजनवाग्धवा ॥
मदाश्रया कथामृष्टा शृण्वन्ति कथयन्ति च ।

त एते साधव गाध्व । सर्वसगविद्विजिता ।
संगस्नेप्यथ ते प्रार्थ्यं सगदोपहरा हि ते ॥

(भाग २।२५।२२-२४)

व्याख्या जो भगवान्‌में अनन्यभाव रखते हुए भगवान्‌की दृढ़ भक्ति करते हैं, जिन्होंने आलस्यवश नहीं किन्तु भगवदर्थ वेदादिशास्त्रीकृत अलौकिक कर्मोंका तथा लौकिक स्वजन-वाग्धवोंका त्याग कर दिया हो, ऐसे भक्तोंकी सगति करनी चाहिये निरन्तर भगवत्सेवा अथवा भगवत्स्मरण में सभी कर्म तथा सम्बन्ध वापक बनते हैं—अनन्यभावम कुळ न कुळ वाधा पहुँचाते ही हैं अतः इनमें व्यावृत्त हुए बिना पूजा-श्रवणादिमें तत्पर होना चाहिये सभी अधिकारियोंम किन्तु ऐसी स्वरूपासक्ति सम्भव नहीं है फलतः कथासक्ति— भगवान्‌के स्वरूप गुण एवम् लीलाओं के श्रवण और कथन म आसक्ति— जिनकी दृढ़ हो एंगोंका सत्सग करना चाहिये ऐसे भगवदीयोंक सत्सगमें— उनके मुखमें कथाश्रवण करनेसे तथा स्वयम् भी चिन्तन-कीर्तन करनेसे लौकिक विषयोस्त समता हटकर भगवान्‌में जुट पायेगी

अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि जो व्यावृत्त है उन्हे स्वरूपभजनके बजाय नाम-भजनम प्रयुक्त होना चाहिये इसी श्रवण-चिन्तन-कीर्तनकी प्रणालीद्वारा उनका बीज-भाव प्रेम-आसक्ति व्यसनकी अवस्थाओंमें विकसित हो पायेगा

बीजभावको दृढ़ हुआ तभी समझना चाहिये जब हमारे देह और अन्त करण भी व्यावृत्ति देवतान्तर पदार्थान्तर मार्गान्तर एवम् फलान्तर के वारेम न्यूनमें न्यूनतर होती हुई सर्वथा समाप्त हो जाये परमें भगवत्सेवा जिनमें नहीं निभ पाती परन्तु भगवत्कथाके श्रवण-भावन-कीर्तनकी प्रणालीसे जो अपनी भक्तिके बीजभावको दृढ़ करनेके लिए आगे बढ़ते हैं, उन्हे इस यात्राम में कोनाम्ब (milestone) जिन भक्तिके मार्गपर मिलेगे

(क) जब बीजभाव भगवत्सेवामें रूपमें अङ्कुरित हो जाता है तब गृहस्थका अपने घर-परिवारम रहा अनुराग खतम हो जाता है यह अवस्था बड़ा विलक्षण है, भगवान्‌में अनुराग बढ़ने लगा तो भगवद्-भक्तिमें अनुपयोगी प्रत्येक वस्तुमें पर-परिवार आदिमें अनुराग घटने लगेगा,

जो व्यावृत्त हाकर अपने घरमें भगवत्सेवामें निराम बरते हैं उनका अनुराग नष्ट होना आवश्यक नहीं है बल्कि उनका घर उनकी अहन्ता-ममताको मन्त्रुष्ट करनेमें

लिए नहीं होता प्रत्युत भगवत्सेवाका स्थल - भगवन्मन्दिर ही होता है। उनका परिवार भी सासारिक ममताके बन्धनमें बंधा हुआ नहीं होता प्रत्युत भगवत्सेवा करनेवाले विभिन्न सेवकोंवा भक्तिके बन्धनमें बंधा हुआ परिवार होता है अतः बीजनाम प्रेमात्मना बहुरिक्त होता है पर दूसरी ओर रागविनाश नहीं होता।

(ख) भगवत्कथामार्गसे बीजभावकी दृष्ट करनेकी दिशामें आगे बढ़नेवाले यात्रीको द्वितीय श्रोत्रस्तम्भ भगवदासक्तिका मिलेगा जैसे ही भगवदासक्ति सिद्ध हुई कि अपने घर-परिवारमें जो अनुराग अङ्कित हुआ था वह अब घर-परिवारमें अशक्तिका रूप धारण करने लगेगा भगवदासक्त भक्तको यह प्रतीत होने लगेगा कि मेरे घर और परिवार न केवल मेरी कृष्णभक्तिमें अनुपयोगी हैं बल्कि ये मेरी कृष्णासक्तिमें किसी न किसी तरह बाधा पहुंचानेवाले हैं। वस यही मनोभाव उत्तममें अपने घर-परिवारके प्रति अशक्ति जया देता है अभी तक अपने घर और घरमें रहनेवाले जिन माता-पिता पति-पत्नी पुत्र-पुत्री या बन्धु-बान्धवों को वह अपना मान बैठा था अब उसे लगेगा कि ये मेरे सगे नहीं हैं। क्योंकि श्रीकृष्णके प्रति मेरे हृदयकी आसक्तिमें ये अपना हितसा वादना चाहते हैं। प्रत्येक सदस्य अपने परिवारके दूसरे सदस्यकी अपनेमें स्वाभाविकतया आमन्त्रित चाहता ही है। यही माग भगवदासक्त भक्तको अशक्तिकर लगने लगती है

परन्तु अपने घरमें कृष्णसेवा करनेवाले भक्तमें भगवदासक्ति तो प्रकट होती है पर घर-परिवारमें अशक्ति प्रकट होनेका कोई कारण नहीं होता।

(ग) तीसरा श्रोत्रस्तम्भ भगवत्कथा-प्रचालीसे भक्तिमार्गपर आगे बढ़नेवाले यात्रीको व्यसनदशाका मिलता है। यहा तक पहुंचनेवाले भक्तकी दशा बड़ी विकल हो जाती है। अब वह भगवान्के बिना एक क्षण भी रह नहीं सकता। भगवान्के स्वरूपका चिन्तन करता हुआ, भगवान्के गुणोंका स्मरण करता हुआ तथा भगवान्की विविध लीलाओंके मनोरमपर सवार भक्तका मन अब अपने भक्तिके पथपर सेतमान रुकावट या व्यवधान सहन नहीं कर पाता। वह अमहिष्यु बन जाता है। उसे श्रीकृष्णका व्यसन हो गया समझ लेना चाहिये !

यही यह अवस्था है जहा पहुंचते ही भक्तको यह समझमें आ जाता है कि "गृहस्थितेरत्कृष्टत्वं न भगवदोपत्वमात्रेण चिन्तु भगवता सह स्थित्वा भगवत्कार्यार्थं वा अन्यथा न स्यात्तथ्यम्" अर्थ स्वयम्को भगवदीय होना घरमें रहनेका स्वस्थ हेतु नहीं है, चिन्तु भगवान्के साथ रहना अथवा भगवत्सेवाार्थ रहना ही उत्कृष्ट हेतु है, अन्यथा गृहस्थान ही उचित होता है (सुबो. ३।१।२). एकदिन अधानर भक्तके अन्तःकरणमें ऐसी आवाज आयी शुरु होती है - फिर तो स्वयम् उसे भी पता नहीं चलता कि वह कब घरके बाहर हो गया ! इस आदरमें उठती आवाजको अनमुनी करनेमें वह समर्थ हो पाये तो समझ लो कि वह अटक गया या भक्तिपथसे वहीं भटक गया है ! अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं - "तादाशास्यापि सततं गेहस्थान विनाशव त्याग कृत्वा गतेद् यत्तु

तदर्थार्थिकमानस लभते मुद्गा भक्ति सर्वतोम्यधिका पराम् ?

कथाप्रणालीसे व्यसनभाव सिद्ध होते ही घरसे बाहर निकल जाना श्रेयस्कर होता है अन्यथा व्यसनदशासे फलित होनेवाला बीजभाव भी सर्वात्मभाव या अलौकिक सामर्थ्य में परिणत नहीं हो पायेगा. ऐसे घरमें रहनेसे क्या लाभ जो कृष्णभक्तिका अंग न हो ?

यह गृहपरित्याग कृष्णव्यसनके आवेशमें कृष्णके विरहके कारण होनेवाला परित्याग है. जगतमें पैदा हुई दोषदृष्टिके कारण किया गया अस्वस्थ नीरस-शुष्क त्याग नहीं, किन्तु श्रीकृष्णमें वृद्धिगत हुई प्रेमदृष्टिसे त्रिषा होकर किया गया सरस प्रेमपूर्ण स्वस्थ त्याग है. सर्वनिर्णयमें इस गृहत्यागके बाद एकाकी निष्पृह शान्ति-भावसे—कहो हके बिना— देहपातपर्यन्त निरन्तर तीर्थाटनका जम श्रीमहाप्रभुने समझाया है. यात्रा तीर्थोंकी करनी है न तो मूष्यकी खोजमें और न मोक्षकी खोजमें ही किन्तु श्रीकृष्णकी खोजमें—“कृष्ण एव तात्पर्यं न तु तीर्थादौ देहपातनपर्यन्तं च पर्यटनम्”

प्रेमके इस कठिन त्यागमार्गपर जो चलनेका साहस नहीं जुटा पाते परन्तु घरमें निकल पड़नेकी जितनी तैयारी हो ऐसे भक्तोंको सहसा दुःसाहस नहीं करनेकी सलाह श्रीमहाप्रभु देते हैं.

इस त्यागमार्गपर चलते हुए जरा चुके कि भक्तिहीन गृहस्थसे भी अधिक नीचे गिर पड़नेकी भीति रहती है गृहस्थमें तो पुत्रपत्नी वित्तपत्नी या लोभपत्नी के दोष रह सकते हैं परन्तु त्यागीमें वही ससारी जीवोंके ससगंसे निर्वापणा जग गई तो मारा त्याग चीरट हो जायेगा । पुत्र वित्त और लोच तीनोंकी वासना शिष्यसग्रहकी वासनामें मूढमत्तया विगुणित हो जाती है ।

घरसे बाहर निकलनेके बाद भी त्यागी भक्तका समगं तो ससारी और भगवद्बिगुण साक के साथ टूट नहीं पायेगा भगवत्का अनिर्वेदिन अन्न अथवा पञ्चमहापण न करनेवाले गृहस्थका अन्न धानर अन्नदोषवत् ही अथ पातकी सम्भावना अधिक रहती है अतः सर्वथा अमग और अपरिग्रह होनेके साथ जब तक व्यसनदशा प्राप्त न हो तबतक त्याग श्रयस्कर नहीं होता. केवल भगवत्प्राप्तिकी कामना हृदयमें रहे और गारी कामनाय वि शेष हो जायें तभी त्यागमार्गपर आरोहण करना चाहिये.

स्वगृहत्याग और हरिगृहवास

कथाप्रणालीद्वारा प्रेमाभक्तिव्यसनकी चमक प्रवस्थाभामें जब बीजभाव दृढ़ हो रहा हो और घरमें भगवत्सेवाका निवृत्ति वाक्य न हो तब एसे घरमें रह पाता भगवद्भीमके लिए अग्रवच हो जाता है पर भक्तिमार्गीय मन्वागपहण करनेके लिए भी यदि भक्त अपने-आपको समर्थ न पाता हो तो क्या करना चाहिये ?

श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि ऐसे व्यक्तिको ऐसे हरि-स्वानोपर जाकर बस जाना चाहिये जहाँ भगवत्सेवापरायण भक्तगण निवास करते हों (उदाहरणतया ब्रज, चोरासी बेंठन, नाथद्वारा, जगदीश, श्रीरंग, पदरपुर, द्वारका, निरुपति इत्यादि). इन भगवत्सेवापरायण भक्तोंकी सेवायें परिचर्या अर्थात् सहायक बननेका अवसर मिले तो सबसे अच्छी बात है अन्यथा इनके सत्सयका लाभ तो लेना ही चाहिये १

इन भगवदीयोंके साथ रहनेका तात्पर्य यही है कि जब वे भगवत्सेवायें रत हों तो हम भी उनको भगवत्सेवायें सहायक बन कर कुछ भगवत्परिचर्या कर पायें मेवासे वहिरण साधनको सम्पादित करनेमें उन्हें सहयोग दे पायें और इस तरह तनका सेवामें दिनियोग हो. यह सिद्धान्तमुक्तावलीमें वर्जित तनुजा-सेवा नहीं है, यह तो एक पुष्टि-मार्गीय सम्बन्धन बंधनेवाले एक व्यापक परिवारकी भावना है एक परिवारमें पिता भगवत्सेवा-अंतरंग-सेवामें परायण हो तो पुत्र भगवत्परिचर्यामें वहिरणसेवामें परायण होता है पत्नी सेवा करती हा तो पतिको परिचर्या करने चाहिये इसी तरह जन्मना एक परिवारमें न भी हां पर पुष्टिमार्गमें जिन दो भक्तोंको एक परिवारकी तरह साथ रहना हो ता एक अपन घरमें विराजमान प्रभुकी अंतरंगसेवामें तत्पर रहे और दूसरा वहिरणसेवामें यह अनुज्ञा श्रीमहाप्रभु देना चाहते हैं साथमें भगवत्सेवा करगे तो साथमें भगवत्प्रसाद भी लिया जा सकता है यह अति उदात्त भावनापर अवलम्बित होता है सवैतनिक तनुजासेवा अथवा उदरपूतिके हेतुसे नहीं वह तो सिद्धान्तमुक्तावलीमें ही वर्जित किया जा चुका है

इसमें एक सावधानी किन्तु अपेक्षित है कि न तो इतने अधिक समीप जाना चाहिये किमीके कि एककी दूसरेके दीप दिखलायी देने लग और न इतने दूर ही रहना चाहिये कि एक भगवदीय द्वारा की जाती भगवत्सेवा या भगवत्कथा से लाभते दूसरा भगवदीय बबधा वञ्चित ही रह जाये (अदूरे विप्रबर्ष या पथा वित्त न दुष्यति)

अपने घरकी छोड़कर निकल जानवाला भक्त भी इस तरह भगवत्सेवापरायण भगवदीयोंके साथ उनके हरिगृहमें वास करते हुए यदि भगवत्सेवा और भगवत्कथा को निभा पाता है तो बर्षा उसका नारा नहीं होगा यदि एक भगवदीयकी दूसरे भगवदीयके साथ इतनी धनिष्ठता न भी पनये कि दोनों साथ मिलजुलकर भगवत्सेवा कर पाय तो भी दोनों साथ मिलकर भगवत्कथा तो कर सकते ही है इस तरह यदि अपने घरकी छोड़ दिया हो पर दु सगमें बचना हो तो पुष्टिमार्गीय अथ भगवदीयका सत्सय प्राप्त

१ मूलत गोस्वामी धर्मचारियोंकी गृहसेवायें जो मुखिया भोजनारिया, जलधारिका आदि भगवत्सेवायें सत्ययोगी देखे जाते हैं वे इसी तरहके अपने घरको छोड़कर परिचर्यायें आनवाते महा प्रायश्चान भगवदीय होते थे- सवैतनिक कर्मचारी नहीं अपण्व इन्हें भगवत्प्रकारी जन्म करके देवकी मन्त्रीय वरिष्ठादी भी-वेतन नहीं बालकमें बहू विवृत होकर तनुजासेवायें परिणत हो गई

EDITORS' NOTE.

भक्तिचरितं is the twelfth of the Sixteen Sacred Books of श्रीमद्भक्त्यारण्यकम्. It is the foundation of भक्तिमार्ग, and it clearly shows the means by which भक्ति towards God may be increased and strengthened. Nothing is said here about the मुक्त्यर्थी भक्तियोगी, for his भक्तिबल is strong enough to lead him to final realisation; the मध्यम भक्तियोगी has to resort to त्याग and प्रवृत्तिनिवृत्ति after his बोधभाव : i. e. love towards God, which is produced only by His grace has been strengthened into आनन्दित and स्थान. Such a भक्तनी, who cannot live without God, should leave worldly surroundings, and realise His separation unobstructed. Such a मन्त्र is referred to in विशेष उक्ति and his state is described in मन्त्रो ह्यसौ... अस्मान्नि विभ्यति. It is for such a मन्त्र, that in संन्यासनिर्णय it is said विराट्पुरुषार्थे तु परिलग्नो प्रवृत्तये. His ध्यान is nothing else but आरोग्य भावना विदुः. For the हीन भक्तियोगी—and almost all the people of the modern times should be included in this category—the method of strengthening the बोधभाव : i. e. the divine love which is the gift of His Grace, is as follows—He must stay in गृहस्थाश्रम, observe वर्णधर्मधर्म, give up worldly pursuits and worship कृष्ण by पूजा, प्रवृत्ति &c. Even if he cannot give up worldly pursuits on account of poverty &c, he must concentrate his mind in हृदि, the remover of all pains, and always try for प्रवृत्ति &c, till the बोध germinates, and प्रेम, आनन्द and स्थान are produced. The test of divine love is उत्तराश्रमगत, the test of divine आनन्द is प्रवृत्ति, all the people in the house look like hindrances—nay, strangers. The test of स्थान is the inability to live without Divine Presence, तद्विना अस्तुमशक्ति. Even such a भक्तनी or विराट्पुरुष should not constantly stay at home, because it is a prison, full of many fetters.

The ज्ञान stated above is not easy, it is full of obstacles due to दुःसंयोग and दुष्टात्. Hence it is better to stay in a हृदिस्थान, in the company of भक्त, who are wholly engrossed in serving the Lord. There also the aspirant should stay near or distant, in such a way that his चित्त is not spoiled. श्रीमद्भक्त्यारण्यकम् says that he who is wholly engrossed in सेवा or कथा till his life will never perish.

EDITORS' NOTE

If one is really anxious to go to God, he will learn much from this **ग्रन्थ**. The fourteen commentaries that we have been able to collect and publish show the various aspects from which we can look at it. Of each of the first eight commentaries we had three to five copies, and from the ninth we had only one copy of each. Of श्रीकृष्ण-वाराहकी commentary we had got a mss written by his illustrious son श्रीहरिवंशी of श्रीपुरवोत्तमकी's we had a mss corrected by himself in his own hand writing, and of 10, 11, 12 and 13, we had the original mss written by the authors themselves.

A large collection of these commentaries we got from Pandit Gattulala's Library and we are grateful to the departed Pandit for his vast and varied collection of mss. Some mss we were able to get from the Bhandarkar Research Institute for which we are thankful to Dr S K Belvalkar. Shri Vallabhalal, son of Shri Devkinandanaji also gave us some mss and we acknowledge our gratefulness to him. Lastly some important original mss Mr Tehvala was able to collect while on tour at श्रीनाथद्वार कीटा कावरोली &c.

We note with pleasure the help that we have received in the preparation of press copies of some of these mss from Messrs Gopaldas Jhralani B A of Ujjain, Dhirajlal Kashinath Pandya of Anand, Chandulal C Shah, Becharadas Maganlal and Purushottamdas Tribhuvandas of Nadiad. This work is printed from the funds supplied by निरालोकाय गोस्वामी श्रीजीवनशालकी of बोखदर and his son श्रीरामछोडलालकी and our sincere thanks are due to them.

With feelings of joy we offer this fruit of our labour of love at the Lotus Feet of Ford Shri Krishna.

BOMBAY }
March 1921 }

MULACHANDRA T TELIVALA
DHIRAJLAL V SANKALIA



પ્રસ્તાવના.

સેવાકલાદિ ઘોડશઘ્નની માથા તે અમારાહારા પ્રકટ થાય છે તેના આગવદાતા શીશુદા મપુરીસ્થ શ્રીમદ્ગોસ્વામિ શ્રીજીવનલાલજી અત શ્રાવણુ કૃષ્ણુ નવમી-નદમહોત્સવને દિવસે નિલસીલામા પધાર્થ છે, અને તેથી સાપ્રદાયિક વિદ્યાકાર્યને મહાન્ અલાભ થયો છે શ્રીજીવનલાલજી પ્રાકલ્ય શ્રીમદ્ગોકુલમા સવત્ ૧૮૧૬ માર્ગશીર્ષે શુકલ નયોદશીને દિવસે થયુ હતું આપશ્રીનો ઉપનયનસસ્કાર શ્રીજીવનલાલજીમા થયો હતો સવત્ ૧૯૩૫થી આપશ્રી પોરબદર પધાર્થ અને નિવાસ ત્યંજ કર્યો ત્યારથી આપશ્રી પોરબદરવાલા શ્રીજીવનલાલજી એ નામથી સપ્રદાયમા પ્રસિદ્ધ થયા પડિત મદલાક્ષમા સપડંથી વિદ્યામા અભિરુચિ રાખનારા વ્રજુ ગોસ્વામી મહારાજે ત્યા ૧ ડિકેતે શ્રીગોવર્ધનવાલજી, ૨ શ્રીદેવકીનન્દનવાલજી, ૩ શ્રીજીવનલાલજી આ ત્રણુમા શ્રીદેવકીનન્દનજી નિલસીવામા પ્રથમ પધાર્થ શ્રીદેવકીનન્દનજીને વિદ્યાનુરાગ અપેક્ષિત રીતે સાપ્રદાયિક ન થયો અને તેથી જનમનોરજન કરીને યદપિ મહત્તી ધનસપત્તિ તથા કીર્તિ સપાદન કરી તોપણ આપશ્રીના જીવનમા સાપ્રદાયિક નોંધ તેવા જેવુ વિદ્યાકાર્ય એક પજુ ન થયુ એઓશીના લાવજી શ્રીવલ્લભલાલજી એ નૂનતા દૂર કરે એ કૃત દહીંવ છે ડિકેતશ્રીનો વિદ્યાનુરાગ ઉચ્ચવવ છે, પરન્તુ રાજકાર્યની ખટપટમા આચાર્યશ્રી તરીકેનુ પ્રધાન કર્તવ્ય-સાપ્રદાયિક વિદ્યાનુ રક્ષણ-તેમા અપેક્ષિત ધ્યાન અભાષિપર્યંત એઓશ્રી આપી શક્યા નથી ત્યાના આશ્રિત શૂની શૈલિના મુઢી દૃષ્ટિવાવા અને દેશકાન નહિ સમજનારા અને સાપ્રદાયિક સાહિત્યના રક્ષણુ ગોરવ અપરિચયથી નહિ અનુસરનારા પડિતો વલ્લે અસે આ પરિણામમા એજમદાર છે શ્રીજીવનલાલજીનો વિદ્યાનુરાગ જ્યારથી બીજરૂપે સેવાઓ ત્યારથી નિલસીલામા પધાર્થ ત્યામુધી વૃક્ષાદિકરૂપે વૃદ્ધિગત થતોજ ગયો આપશ્રીમા વિદ્યાની પરીક્ષા કરવાની અને કાર્ય તેવાની શક્તિ હતી જાજ અરણુથી આપશ્રીએ જીવનશક્તી તથા વાલશક્તીને આગ્રવ આપ્યો હતો જીવનલાલ શક્તી સાથે આપશ્રી શ્રીમુજોધિન્યાદિનુ વાચન કરતા એટલું જ નહિ, પરન્તુ સમવોચિત કેટલાક ધન્યો ગુર્જર ભાષામા લખાવી પ્રસિદ્ધ કરાવ્યા માલશક્તી સાથે પજુ આપશ્રી શ્રીમુજોધિનીજીનુ વાચન નિયમસ કરતા, અને અન્ન સમયે માસ્ટી હરિકૃષ્ણને પોતાના આગ્રવમા રાખીને આપશ્રીએ શ્રીમુજોધિનીજીનું વાચન પ્રવચન નિલસીલામા પધાર્થ ત્યામુધી સતત ચાલું રાખ્યુ

મહારાજશ્રીની બ્યાવહારિક કાર્ય કરવાની કુશલતા પજુ વળી હતી જાજ અરણુથી આ પક્ષી નિજ તાનુ શ્રીરણુજીકલાલજીને મહત્તી સમૃદ્ધિ વારસામા સંપી ગયા છે, અને તે સમગ્રી ચિન્તામાથી મુક્ત કરી ગયા છે શ્રીરણુજીકલાલજીએ પજુ નિજપિતૃચરણુનુ નામ તદ્ભીષ્ટ ત કલ સાહિત્ય સમેત શ્રીમુજોધિનીજીની પ્રસિદ્ધિજ કરવાનો સકલ્પ કર્યો છે તે અલનત વોચ છે એના જેવુ સ્મારક અન્ય શુ કોઈ શકે ?

મહારાજશ્રીનુ ડાયકોરાલ્ય અસાધારણ હજુ એટલુજ નહિ પરન્તુ સમયોચિત રીતે કાર્ય કરતા હતા દયાનન્દાદિના મોહથી લોકોને ઉપનયનાદિનો મોહ થતો આ મોહથી તે લોકો માર્ગમાથી ભ્રષ્ટ ન થાય તેથી આપશ્રીએ ઘણુ વૈખણેસોને ઉપનયનસંસ્કાર કરાવ્યા આ શ્રીની ઉદારતા ખલુ ઘણી હતી પ્રત્યેક જે એઓશ્રીના સબધમાં આવતું તેનો આપશ્રી તતુચિત રીતે સતકારાદિ કરતા આ મકાદે અનેક રીતે આપશ્રીનુ જગમગલકરુંવ તેમને સુરરું

મહારાજશ્રીની કાર્ય કરવાની દૃઢતા ખલુ પ્રસાસનીય હતી જ્યારે આપશ્રીએ મને લોકસ મનોની સકલ સાહિત્ય સમેત પ્રકટ કરવાની સેવા સોંપી, તે સમયે સપ્રદાયના અન્ય પડિ-તોએ તેમ નહિ કરવાને આપશ્રીને સૂચવેલું 'બીજાઓ તરફથી એ કાર્ય થાય છે, તેમા વચમા પડતુ નહિ, આ લોકો તો વચ્ચિ છે, તેમને એ કાર્ય સોંપાય નહિ' વચેરે વચેરે ઘણી રીતે મહારાજશ્રીને સમભવવામા આવેલા ખલુ એઓશ્રીની દૃઢતા તથા પ્રભુકૃપાથી જાને એ સેવા અમારાદારા થઇ, અને અમને જાણીને સતીય થાય છે કે ઉક્ત પરિતો ખલુ અમારા કાર્યથી પ્રસન્ન થયા છે આર્ટિસ્ટ પારે તૈયાર કરાવીને આપશ્રીનુ ચિત્ર આજ ધર્યું છે-

ગ્રન્થાદિસંગ્રહ.

- ૧ પ્રથમ ટીકા શ્રીમદ્વાચાર્યપીઠ શ્રીમદ્વાલકૃષ્ણુજ-શ્રીમદ્વિદુલ્લેશરના તૃતીય કુમારની છે. આ ટીકાના ત્રણ પ્રતિ પ્રાપ્ત થઇ હતી એક પદિત ગદ્વાલાના સમૃદ્ધમાથી અને બીજી જે યાત્રમાથી અમને મળી હતી
- ૨ દ્વિતીય ટીકા શ્રીશ્રીવલ્લ-શ્રીગોકુલેશ-શ્રીગુસાઈના ચતુર્થ લાલજની છે આ ટીકાની ચાર પ્રતિ મળી હતી-જે ૫ ગદ્વાલાના સમૃદ્ધમાથી, એક શ્રીવલ્લલાલજના સમૃદ્ધમાથી, અને એક લાઠારકર રિસર્ય ઇન્સ્ટીટ્યુટમાથી
- ૩ તૃતીય ટીકા શ્રીરઘુનાયક-શ્રીગુસાઈજના-પચમ પુત્રની છે આની ત્રણ પ્રતિઓ ૫ ગ લાલાના સમૃદ્ધમાથી મળી હતી, અને જે યાત્રમાથી
- ૪ ચતુર્થ ટીકા શ્રીગુસાઈજના પોત શ્રીકલ્યાણુરાયજની છે આ ટીકાની ચાર પ્રતિ મળી છે આમાથી એક તો શ્રીહરિરાયજના નિજ શ્રીહસ્તાક્ષરમા લખેલી છે
- ૫ પચમ ટીકા શ્રીહરિરાયજની છે આ કારિકામક ટીકાની પાચ પ્રતિ મળી છે ત્રણ પં ગદ્વાલાની સમૃદ્ધમાની છે, એક શ્રીવલ્લલાલજની છે, અને એક યાત્રમાથી અમને પ્રાપ્ત થઈ છે
- ૬ ૬ઠ ટીકા શ્રીહરિરાયજના લાઈ શિક્ષાપત્રવાવા શ્રીગોપેશ્વરજની છે આની જે પ્રતિ યાત્ર માથી અમને પ્રાપ્ત થઈ છે
- ૭ સાતમ ટીકા શ્રીપુરુષોત્તમજની છે આ ટીકાની પાચ પ્રતિ મળી છે ત્રણ ૫ ગદ્વા લાના સમૃદ્ધમાથી, એક શ્રીવલ્લલાલજથી, અને એક નદીયાદમાથી પ્રાપ્ત થઈ છે આમા એક શ્રીપુરુષોત્તમજના નિજશ્રી હસ્તાક્ષરમા શોધેલી છે એઓશ્રીનો પરિચય પૂર્વ પ્રકટિત અન્નોમા કરાવ્યો છે આ ટીકામા જાપેડ ટિપ્પણુ સીયોચી શ્રીગોપેશ્વરજના શ્રીહસ્તાક્ષ રમા લખેલુ છે
- ૮ અષ્ટમ ટીકા કાકા શ્રીવલ્લજની છે એઓશ્રીનો પરિચય પૂર્વ પ્રકટિત અન્નોમા કરાવ્યો છે આની ૫ ૫ પ્રતિ મળી છે જે યાત્રમાથી અને ત્રણ ૫ ગદ્વાલામાથી
- ૯ નવમ ટીકા મહાપતિ જ્યોત્ષ્ણુજની છે પરિચય એમનો સેવણુવમા કરાવ્યો છે. આની એકજ પ્રતિ યાત્રમાથી પ્રાપ્ત થઈ છે

- ૧૦ દશમ ટીકા દીક્ષિત લાલુભટ્ટની છે આની એક પ્રતિ યાત્રામાથી પ્રાપ્ત થઇ છે આ મૂલ પ્રતિ હોય એમ લાગે છે, લાલુભટ્ટનો પરિચય સેવાફલમા કરાવ્યો છે
- ૧૧ નવમી વિવૃત્તિ ભાઠારકર રિસર્ચ ઇન્સ્ટીટ્યુટમાથી મળી છે મૂલ જ પ્રતિ હોય એમ લાગે છે ટીકાકાર કોઈ જોસ્વામી મહારાજ હોય એમ લાગે છે
- ૧૨ દ્વાદશ ટીકા શ્રીવલ્લભાદ્રમજ શ્રીઆલકૃષ્ણજીની છે આ પલ્લુ મૂલજ પ્રતિ છે આ પ્રતિ યાત્રમાથી અમને પ્રાપ્ત થઈ છે
- ૧૩ ત્રयोदश ટીકા કોની છે તે અજ્ઞાત છે એ પુસ્તક ઉપર શ્રીગિરિધરજી નામ છે તેથી શ્રીગિરિધરકૃત એમ કહ્યું છે આ જોસ્વામી શ્રીકાકરો-નીમાં થયલા હોવાથી તેજ ગૃહના કોઇ ગુણ ઇજીની આ ટીકા હોવાનો સંભવ છે આ પુસ્તક પલ્લુ મૂલ જ છે કદાચિત્ આણ્ણદની એકકવાળા શ્રીવિદ્યાનાથજી આના કર્તા હોય
- ૧૪ ચતુર્દશ ટીકા કોની છે તે પલ્લુ અજ્ઞાત છે શ્રીદ્વારકેશજી નામ કલ્પનાથી મૂકેલું છે આ ક્રત અગ્રુદ્ધ તથા તરિત છે ૫ જ લાલાના સમઢમાથી મળી છે સશમતિ શોધી છે
- ગોપાળદાસ જાવાની થી એ ચદુલાલ ધીરજીલ ન પડ્યા એચરદાસ પુરુષોત્તમદાસા દિનો લિખનમાં ઉપકાર થયો છે લખિવધિનીનો સાર અન્તે અગ્રેલમા આપેનો છે
- ઉપર જણાવેલા સર્વનો અમે ઉપકાર માનીએ છીએ શ્રીલલનવાલજી તથા એઓશ્રીના લાલજી શ્રીરણુએડલાજી સાહાય્ય મુજા કંઠે સ્વીકારીએ છીએ અને શ્રીમત્પ્રભુચરણુકમલમા આ ર થને સમર્પીએ છીએ

મુંબઈ ૧૨ ૭૦
દોલોતસવ

}

મૂનચન્દ્ર તેક્ષીવાલા
ધર્મયાલ સાગલીયા.



श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीमद्ब्रह्मभाचार्यप्रणीता ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥
बीजदार्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अन्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥
व्याघ्रसोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।
स्नेहाद्भागविनाशः स्यादासक्त्वा स्याद्गृहाक्षुचिः ॥ ४ ॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥
तादृशस्यापि सततं गृहस्थानं विनाशकम् ।
त्यागं कृत्वा यंतेत्यस्तु तदर्थायैकमानसः ॥ ६ ॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोभ्यधिकां पराम् ।
त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथागतः ॥ ७ ॥
अतः स्वयं हरिस्थानं तदीयैः सह तत्परैः ।
अद्वैत विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न द्रुष्यति ॥ ८ ॥
सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥
बाधसंभाषनायां तु नैकान्ते वास हृष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥
इत्थं भगवच्छास्त्रं गृहं तस्यं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥
इति श्रीमद्ब्रह्मभाचार्यप्रकटिता भक्तिवर्धिनी समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीमद्बालकृष्णकृतविद्युतिसमेता ।

रत्यन्ते स्वेदविन्दुश्रितमुखकमलस्तामवष्टभ्य जातो
निःस्पन्दः श्रान्तियुक्तो मलयजपवनासेवितः पुष्पतल्पे ॥

श्रीराधावभ्रपवाद्भुतमधुचिरतःपानधूर्णायमानो-

द्रिक्तः खेहार्द्रदृष्टिः प्रतिफलतु दृशोः शीघ्रमेव व्रजेशः ॥ १ ॥

इह खलु खेनैव साक्षाद्भगवते निवेदितान् भक्त्यङ्कुरितचित्तान् सर्वान् भक्तिप्रवृद्ध-
र्थमुपायानभिज्ञान् परमकृपया तानुपायानाचार्या उपदिशन्ति यथा भक्तिरिति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्याद्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

येन प्रकारेण भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्, प्रकर्षेणैधमावोत्तरोत्तरं भगवति स्याद्, यस्या न
कदाचिदपि हासः । एतादृशस्तत्प्रवृद्धवतुकूल उपायो निरूप्यते नितरानुच्यते । यत्प्रकारक-
निरूपणानन्तरं न कोऽप्युपायस्तिष्ठत्यवशिष्टः । एवं प्रतिज्ञां कृत्वा दृढं बीजभावं तत्र प्रथमं
भक्तिप्रवृद्धौ हेतुमाहुः बीजेति । भक्तिकल्पतरुप्रवृद्धिकारणभावो बीजभावः । अनुग्रहो-
त्तरकालीनभाव इति यावत् । यद्वा । बीजपदं सत्पुरुषपरम् । तस्मिन्यो भावो भगवत्त्वेन
भावः । 'आचार्यं मां विजानीयात्' 'अविद्यो वा सविद्यो वेत्यादिवाक्यैः । स यदा वक्ष्य-
माणसाधनैर्दृढो भवति, तदा सा तथा भवति । अथवा, बीजपदेन भगवानेवोच्यते । त-
स्मिन्तस्य तथात्वे सा तथा भवति । ननु बीजभावोत्पत्तावनुग्रह एव हेतुरित्यत्र को हेतुः ।
उच्यते । नहि तदुत्पत्तौ कर्म । तन्नन्यत्वेनाभ्युपगमत्वात् । नापि स्वतः । चैत्सादृष्टः
स्यात् । नापि स्वभाववैचित्र्यं वक्तुं शक्यम् । अनुक्तत्वात् । तेन 'यमेवैष वृणुत' इति
'यदा यमनुगृह्णाती'त्यादिवाक्यैः स एव हेतुत्वेन वाच्यः । निश्चयार्थकस्तुशब्दः । हेत्व-
न्तरमाहुः स्यागादिति । स्यागाद्भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् । स्यात्स्तु भगवत्प्रणारविन्दप्रान्त्यर्थ
सवासनगृहादिविस्तृतिः । केवलस्यागेनैव सा तथा न भवतीत्यत उक्तं श्रवणकीर्तना-
दिति । प्राणिवर्जितजातिवाचित्वेनैकवद्भावः । श्रवणकीर्तनाभ्यामपि सा तथा भवति ।

एवं भक्तिप्रवृद्धौ हेतुप्रयमुक्त्वा बीजभावदाढ्यप्रकारमाहुः बीजेति ।

बीजदाढ्यप्रकारस्तु एहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

वीजस्य दाढ्ये यः प्रकारः स उच्यते । तुशब्दः पूर्वभेदकः । यत्स्रष्टृहे खिला स्वधर्मतः स्वधर्मभ्यो वर्णाश्रमधर्मभ्यः अव्यावृत्तस्तत्सहितः सन् कृष्णं पूर्णपुरुषोत्तमं भक्तै-
काम्यं भजेत् । कैर्मन्त्रेदित्वाकांक्षायामाहुः पूजयेति । कृष्णं पूजया भजेत् । पूजा त्वाग-
मोक्तप्रकारेणाह्नीगीयोपचारः । ननु पूजया भगवद्भजनं कथम् । भक्तेरेव पूजाविषयत्वात्,
ननु भगवतो, यतः 'भक्तियोगं स उच्यते एवं यः पूजयेत् मा'मिति भगवद्वाक्यविरोधात् ।
सत्यम् । अस्ति पूजाविषयत्वं भक्तेः, परन्तु मूले हि परम्पराकारणत्वामिप्रायेण पूजाव्यप-
देशो, न तु साक्षात् । तेन कृष्णपदं तु भक्तस्य पुरुषोत्तमगामिनी पूजापि भवतीत्यत उक्तम् ।
यद्वा । एवंविधनिःकामपूजाफलविषयनिर्धारार्थं कृष्णपदम् । एवं पूजया भजनं निरूप्य श्र-
वणादिभिरपि निरूपयन्ति श्रवणादिभिरिति । श्रवणादिभिरपि कृष्णं भजेत् । आदिपद-
शब्दे कीर्तनस्मरणे । तेनैतन्मार्गायस्य श्रवणादिव्यतिरेकेण क्षणमपि न श्लेषयित्वायातम् ।

ननु सततं कृष्णभजनं कथम्, कार्यान्तरव्यासक्तेस्तद्वाहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

वीजं तद्बुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

कार्ये व्यावृत्तो व्यासक्तोपि चेत्सदा गुरुरपदिष्टं यादृग्भगवत्स्वरूपं तत्रैव स्वस्य चित्तं
स्थाप्य भवेत्, अव्यावृत्तिमान् यदि भवेत्, तदा श्रवणादौ चित्तं यसेत् । यद्वा, प्रका-
रान्तरेणाप्यस्यावतारिका सम्भवति । तथा हि । ननु यदि स्वधर्मव्यावृत्तिरेव भजने प्रयो-
जिका, तदा त्वाद्यतोपदेशस्य देववशात्प्रत्युत्तधर्मस्य कस्यचित्प्रयोजकमावाङ्मनासम्भवः ।
तथाच तत्कृतमपि सर्वं व्यर्थं स्यात्, तस्मात्प्रसादनाद्धि पङ्क्त्येतिन्यायेन ग्रहणाभाव
एव चरमिति चेत्तद्वाहुः व्यावृत्तोपीति । अत्रेयं शङ्का न कार्या । यत्स्वधर्मव्यावृत्तिरेव
भजने प्रयोजिका । 'अपि चेत्सुदुराचार' इति भगवद्वाक्याद्भगवदीयस्य प्रत्युत्तधर्मस्यापि
भगवद्भजनस्य विहितत्वात् । परन्तु यावदारभ्य भगवद्भजनाभिनिविष्टस्ततःप्रभृति
तस्य दुराचाराकरणमित्यपेक्षितम् । अन्यथानन्यभाक्त्वमहत्प्रसङ्गः । दुराचारस्यापि भज-
नात् । तेन स्वधर्मभ्यो व्यावृत्तोपि हरौ सर्वदुःखहर्तारि चित्तं यसेत्प्रयत्नेन स्थापयेदित्यर्थः ।
एतादृशस्यापि स्वयत्तेनैवान्तरायान् द्रीकृत्व स्वरूपानन्ददानं करोतीति ज्ञापनाय हरि-
पदम् । पूर्वं हरिपदोक्त्या मध्ये चित्तपदोक्त्यान्ते श्रवणादिपदोक्त्या देहलीदीप्त-
बहुभयत्रापि सान्धेन चित्तवृत्तिः स्थाप्येति ज्ञेयम् । एवं सततं भजने क्रियमाणे उभयवि-
धानामपि यदेकजातीयं फलं तदाहुः सत्य इति । तदनन्तरमेवं भजनानन्तरमुभयविधानां
प्रेमोत्पत्तिर्भवति भगवति सर्वात्मना । तथैवासक्तिः, तद्भक्तिरेकेण स्थित्यसम्भव इति
यावत् । 'क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाऽभव' इति यथा । व्यसनं तु सततमन्य-

विष्णुतिपूर्वकं भगवत्परता । चः समुच्चायकः । एतन्नितयं यदा भवेत् तदा तद्वीजं
भक्तिशास्त्रे दृढमुच्यते । यत्कथमपि न नश्यति ॥ ३ ॥

तन्नाशाभावप्रकारपूर्वकं स्नेहादीनां त्रयाणां प्रत्येकं फलमाहुः स्नेहादिति सार्धेन ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद्द्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

भगवति स्नेहाद्गृहविषयको यो राग उक्तटेन्धारूपस्तस्य विशेषेण नाशः स्यात् । ना-
शपदेन पुनस्तस्मानुत्तरितिरिति ज्ञेयम् । अत एव न निवृत्त्यादिपददानम् । आसक्त्येति ।
यदा भगवत्यासक्तिर्जाता, तदा तद्व्यतिरेकेण स्थित्यसम्भवेन तदर्थं यत्ने जाते गृहस्थाः स्वार्थं
तं प्रेरयन्तीति तस्मिन्नरुचिः, तथा कृत्वा भगवद्भजने बाधकत्वं विम्वक्तृत्वं भासते, एत
आत्मीया न भवन्तीत्यपि । यदि स्युस्तदा किं प्रतिबन्धकाः स्युरिति । व्यसनं हीति ।
यस्मिन्काले अचिन्त्यानन्तफलदातरि कृष्णे व्यसनं स्यात्तदैव स कृतार्थः स्यात् । संशय-
व्युदासाय हीति पदम् ॥ ४, ५ ॥

एवं त्रयाणां फलमुक्त्वा तादृशस्य कर्तव्यतामाहुः तादृशस्यापीति ।

तादृशस्यापि सततं गृहस्थानं विनाशनम् ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थिकमानसः ॥ ६ ॥

स्नेहासक्तिव्यसनवतोपि पुरुषस्य तदनन्तरं यत्सततं सर्वदा गृहरूपं यत्स्थानं तद्विना-
शनम् । स्नेहासक्तिव्यसनानां विनाशनमित्यर्थः । तथा सति कृतमपि सर्वं व्यर्थं स्यात् । तेन
तत्प्राप्तं कृत्वा यो यतेत्यप्रयत्नं कुर्यात् । एतेन मध्ये तीर्थादिकमपि गच्छेदिति सततपदेन
ज्ञेयम् । ननु सोपि प्रयत्नो मायावादिबन्धिराकार एव भवेदित्याशङ्कान्युदासापाहुः तद्-
र्थेति । भगवद्रूपो योर्धेस्तदर्थमेकं मानसं यस्य स तथा । इदं तेषां न । शून्ये एव पर्य-
वसितमतित्वात् । 'येन्येरविन्द्राक्षे'त्यादिवाक्येन निन्दितत्वाच्च । तेषां गार्हस्थ्यपर्यवसायो
भगवदर्थं गृहात्यागो उभयतः प्रत्युता अधःपतन्ति । तेन त्यागस्तु भगवदर्थमेव मुख्यः ।
सोपि पूर्वमान्तरः, तस्मिन् सिद्धे ततो बाह्यतः । एकपदं सततमेतन्मार्गीयैकलभ्यफला-
त्यक्ते मनःस्थितिज्ञापनाय । तेनैतदतिरिक्तावतारो 'मूलसेकः शाखायामपि पर्यवसतीति
न्यायेन तदकरणं न विरुध्यते । तस्यां सत्यां देहव्यापृतिस्तत्रैव ॥ ६ ॥

एतादृशस्य यत्फलं तदाहुः लभत इति ।

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

त्यागो बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥

य एवं त्यागं कुर्यात्स भक्तिं प्राप्नोति । एवंविधत्यागस्य भक्तिफलकत्वात् । तेन

मुक्त्वादीनामेतत्फलत्वाभावः सूचितः । तत्रापि सुदृढा अविनश्यता । सततमेधमाना । सापि भक्तिः सर्वतो मोक्षादेरप्यधिका मुक्तानामपि दुःप्राप्या । 'भगवान् भवता'मिति वाक्येन । तत् पुष्टिरूपामपि लभते । परामिति । परामुत्कृष्टमुक्तभक्तेः । पुष्टिरूपमिति शेषः । एव त्यागफलमुत्त्वा पुनः सिंहावलोकनन्यायेन त्यागव्यवस्था वदन्ति त्यागे इति । कृत एव त्यागे न कोपि पुरुषार्थः । तस्मिन् बाधकानां भूयस्त्व बहुत्वम् । भूयासि बाधकान्युपस्थितानि भवन्ति । ततस्तु नाशयन्ति । ननु तस्मिन् सति तदुपस्थितिः कथम् ? तत्र हेतुमाहुः दुःसंसर्गादिति । तदुपस्थितिस्तु भक्तानां भगवद्भक्तविरोधिना संसर्गात् सगते । तत्संसर्गानन्तरं सोऽपि तथा भवति । तत्संसर्गेण भगवद्दर्शनामन्तर्हितत्वात् । तथैव दुष्टात्रग्रहणे दुर्बुद्धिर्भवति । तस्य पापान्नत्वात्, आन्त्युत्पादकत्वाच्च । यथा जीवानां भगवत्सम्बन्धाभावे सदोषत्वम्, तथात्रस्यापीति, तत्पृष्टद्विकामोऽसमर्पितः न भुञ्जीयादित्याशयः । उपलक्षणं चेत्तत् । वस्तुतस्तु वस्तुमात्रे तत्सम्बन्धव्यतिरेकेण तदभावः । तेन सम्बन्धैरसम्बद्धं न ग्राह्यमिति भावः । तेन यथाकथञ्चित्सम्पादितं तत्सम्बद्धं तदपि शुद्धमेव भवतीति तादृशैस्तथैव कार्यमिति भावः सूचितः । असद्रव्योपासितमन्नं कृपणाच्च च दुष्टात्रम् । तेन दुःसङ्गतिर्दुरन्नं च यत्र न भवति, तत्र सततं श्रेयम् । एतेनाटनाभावः सूचितः ॥ ७ ॥

तत्स्थानमेवाहुः अत इति ।

अतः स्वेषं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरनिप्रकर्षे वा यथा चित्तं न द्रुप्यति ॥ ८ ॥

यत् उभाभ्यां तद्भयस्त्वमन एकान्ते हरिस्थाने यत्र हरिः सर्वतः तिष्ठति तत्रैव श्रेयम् । तत्राप्येवमेव जडवन्नं । किन्तु तदीयैः भगवदीयैः भगवत्सम्बन्धिभिः सह मिलित्वा । ते हि तद्द्वार्ताभिज्ञा यतो भवन्ति । तेन सत्सङ्गे सति कृतार्थ एव भवति । एतेन दुःसङ्गो न भवतीत्यायातम् । दुष्टानप्राप्तिरपि न । तदुच्छिष्टमृशैरोपादेयत्वात् । अयमेव दासधर्मो यत् । असूयाधारोपोपि तेषु न कार्यः । यतस्ते तत्परा केवलं भगवत्परा । भगवन्तं विनान्यत्किमपि न जानन्ति । तस्मात्तेषु द्वेषादिषु सत्यु सोऽपि तं न सहते । भक्तद्वेषादेरसत्परात् । इदं तूच्यते । यस्य तत्सङ्गस्य तेषु तदारोपो भवति एव न । वस्तुस्वभावात् । तस्मिन्सति तु तथैवेति सम्भाव्यते । तदीयैः सह सेवायां अदूरम् दूराभावस्य विप्रकर्षं अनिशयेनाधिक्यं यस्मिन्देजे तत्र श्रेयम् । यथाहोरात्रमध्ये वा रक्षमेकवारं वा तत्सङ्गो भवति । वेत्यन्नादेरः । यतो मुख्यं पक्षं स एव यस्मिन्नेवाश्रयणादिकं मतम् । अस्मिन्सु केवलं श्रयणादि एव । तेनायं गौणः । मुख्यामम्भवेरीदं तु कार्यमेव । अन्यथा चित्ते दोषावात्यां भाग एव ॥ ८ ॥

नन्वेवं भगवदर्थं क्रियमाणायां सेवायां मध्य एव दैववशादुर्बुद्धौ जातायां नाशो-
पसितौ तु तत्कृतिर्व्यर्था स्यादत आहुः सेवायां वेति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

यस्य सेवायामासक्तिर्भवेत्सोपि कियत्कालपर्यन्तमेव, पुनर्नैत्येवं न, किन्तु ददा,
सेवायां तु कश्चिदेवाधिकारी भवतीत्यत उक्तं वेति । अनेन दुर्लभत्वं निरूपितम् । तथैव
कथायाम् । तदनन्तरं तामेव तदीयैः सह कुर्यात् । अन्यत्र मनो न निवेशयेत् । तेन मुख्यत
इदं द्वयमेव कार्यम् । कार्यान्तरव्यावृत्त्यर्थं वेत्युक्तम् । तादृशस्य नाशो न, किन्तुतरो-
त्तरसुन्नतिरेव । तर्हि यत्किञ्चिद्विनपर्यन्तं मा भवतु, ततस्तु कदाचिद्भवेदेवेत्याशङ्क्याहुः
यावज्जीवमिति । स यावज्जीवति तावत्तस्य नाशो न । क्वापीति । कस्मिन्नपि देशे
केनापि प्रकारेण न भवतीत्यर्थः । अनिशं तत्सेवाकथोद्यमे तदितरत्रानुपयोगः क्रियाशक्ते-
र्वातीयाधित्तस्यापि । अत्र प्रामाण्यार्थं स्वमतिरेव दर्शिता । मतिर्ममेति । अहं त्वेवमेव
जानामि, यत्सेवाश्रवणादिकमेव सततं कार्यम्, यतो नाशाभावप्रकारस्त्वयमेवास्मिन्
शास्त्रे मुख्यतया निरूप्यते ॥ ९ ॥

नन्वेवं तत्र स्थित्वा क्रियमाणायां सेवायां चेत्केनापि कृत्वा बाधसम्भवे सति किं
कार्यं तत्राहुः बाधसम्भावनायामिति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

बाधस्य सम्भावना यदा भवति सेवायां तदा त्वेकान्ते भगवत्स्थाने वासो नेष्यते ।
न च कलहद्वेषादिनापि श्रेयम्, सेवाया एवेष्टसाधनत्वादिति वाच्यम् । एवं च प्रतिबन्ध-
कस्य मलवत्त्वेन तदसम्भवे द्वेषादिर्मनसि स्थित्वा श्रवणाद्यसम्भवे चित्ते दोषाकान्त्या कृत-
वैयर्थ्यापत्तिः । तस्माद्भगवदिच्छयैवं जातमिति मनसि निश्चित्य ततो निःश्रुत्य निश्चिन्त-
स्तत्स्मरणं कुर्वन् तीर्थं तिष्ठति, गृहे वा । नन्वेवमेव चेद्भगवदिच्छा, तदा तु पर्य-
वसानतो नाश एवेत्याशङ्क्याहुः हरिस्तिष्ठति । सर्वतः सर्वेभ्यः सर्वप्रकारेण हरिस्तु रक्षां
करिष्यतीत्येवं मनसि निर्धार्य श्रेयम् । सर्वथाश्रितानां रक्षामेव करोति । अप्रामाण्य-
शङ्कानिवृत्त्यर्थमाहुः न संशय इति । अत्र संशयो न कार्यः । यमनुग्रहोत्तवासां पुनर्न
त्यक्ष्यति, सत्यसद्बलत्वात् । इदानीमिच्छाया एव तथात्वात्सेवाऽभावः । यदि कदाचित्
नविष्यति, तदा सापीत्यस्मिन्नर्थे न कापि चिन्ता विधेया ॥ १० ॥

एवमुपायान्निरूप्य तत्फलं निरूपयन्ति इत्येवमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गुढा रतिः ॥ ११ ॥

इति भगवच्छास्त्रं मया निरूपितम् । यद्भगवत्कृपैकवेद्यम् । तत्र हेतुः । यतो भगवच्छास्त्रं भगवदीयं शास्त्रम्, एतच्छास्त्रवेदको भगवानेव, यतो नान्यः, एतद्ब्रह्मत्वात् । अन्यस्यैतद्ब्रह्मत्वे हेतुमाहुः । गूढतत्त्वं गूढं गुप्तं सर्वज्ञातं यद्भगवत्स्वरूपं तदेव तत्त्वं सारभूतं यस्य तत्तथा । तदपि मया एवं निरूपितम् । अथ प्राक्कथ्यपूर्वकं निरूपितमित्यर्थः । भक्तिमार्गजिज्ञासूनां निमित्तम् । तेन य एतदुक्तप्रकारमाचरेत्तस्य भगवति रतिः स्यात्सापि ददा । एतदुक्ताचरणभावे यत एतत्प्रत्यहं सम्यग्धर्मावबोधपूर्वकं अधीयीत पठेत्तस्यापि तथा रतिः स्यादिति ॥ ११ ॥

विद्वलेशपादान्जैकदास्यसद्वाङ्मिणा सदा । प्रकाशिता यथाशक्ति मयेयं भक्तिवर्धिनी ॥१॥

इति श्रीपालकृष्णकृतभक्तिवर्धिनीविश्रुतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीश्रीवल्लभविरचितविश्रुतिसमेता ।

नत्वा स्वाचार्यपादान्जं कृपामधुमुपूरितम् ।

तत्परागारक्तबुद्ध्या व्याख्यासे भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥

तद्बुद्धिद्वन्द्वतासिद्धौ पितृपादरजांसहम् ।

हृष्यापाय प्रवृत्तोऽसि नान्ययेति हि निश्चितम् ॥ २ ॥

अथानार्यचरणाः स्वमार्गाद्दीकृतानां स्वमार्गीयभक्तिवृद्धिप्रकारमजानतां कृपया तज्ज्ञापनाय तद्बुद्धिप्रकाशं प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

वीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छूत्रणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन साधनेन भक्तिः स्वप्रवर्तितमार्गरूपा प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्नोति तथा तत्प्रकारक उपायः साधनं निरूप्यत उच्यत इत्यर्थः । ननु भक्त्युत्पत्तिप्रकाराः शास्त्रेषु पुराणादिपुक्ता एव । उत्पत्त्यनन्तरं वृद्धिस्त्वनुकसिद्धैव । तद्यथा । श्रीभागवते 'दानव्रततपो-

होमजपस्वाध्यायसंयमैः । श्रेयोभिविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यत' इति । एका-
दशेऽपि 'श्रद्धासूतकयाया'मित्युपक्रम्य 'एवं धर्मैर्मुखाणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । ययि
सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्धोस्वावशिष्यत' इति । प्रथमस्कन्धेऽपि 'यसां वै श्रयमाणानां कृष्णे
परमपुरुषे । भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहे'ति । गीताख्ये 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न
शोचति न कांक्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते परामि'ति भक्त्युत्पत्तिप्रकारा उक्ता
एव । यद्यप्युत्पत्तिप्रकारा उक्तास्तथापि वृद्धिप्रकारो नोक्त इति तद्वृद्धिप्रकारार्थमाचार्यक-
थनं सम्भवतीति चेत् । न । वृद्धिप्रकारोऽपि तत्रोक्तः । तृतीयस्कन्धे पञ्चमाध्याये 'पानेन
ते देव कथाशुभामाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये । चैराग्यसारं प्रतिष्ठ्य बोधं यथा-
स्रसान्वीयुरकुण्ठधिष्यमि'ति । अत्र प्रकारोऽप्युक्तः । यद्यप्यत्रोत्पत्तिवृद्धिप्रकाराः पुराणादि-
ष्वप्युक्ता एव, तत एवोभयसम्भवे सत्यपि 'यथा भक्तिः प्रवृद्धा सा'दिति पुनर्भक्तिवृद्धि-
प्रकारकथने को हेतुरिति चेत् । सत्यम् । पूर्वोक्तसाधनानां दानव्रतादीनां मर्यादामार्गी-
यत्वात् तदुत्पन्नभक्तेरपि तन्मार्गीयत्वमेवेत्यवधेयम् । 'कार्यकारणयोरैकजातीयत्व'मिति
नियमात् । वृद्धिप्रकारस्यापि तन्मार्गीयसाधनसाध्यत्वेन मुक्तिफलकत्वेन च मर्यादामार्गी-
यत्वमेव । आचार्यास्तु स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तिनिरूपणं कर्तुं तस्याश्च मर्यादाभक्ति-
वैलक्षण्यं ज्ञापयितुं तत्साधनानि तत्फलं च वक्तुं तत्साधनानां तत्फलस्य च वैलक्षण्यं वक्तुं
भिन्नतया स्वमार्गीयां भक्तिं तद्वृद्धिप्रकारसाधनं च निरूपयन्ति यथेति । यथा स्वमा-
र्गीयस्वप्रवर्तितसाधनैर्भक्तिः शुद्धपुष्टिमार्गीया प्रकर्षेण वृद्धा वर्धिता सात् । वृद्धौ प्रकर्षः
फलोन्मुखत्वम् । तथा तत्प्रकारकोपायस्तत्प्रकारसाधनसमुदायो निरूप्यन्त उच्यत
इत्यर्थः । पूर्वोक्तसाधनसमुदायानेवाहुः बीजभावे दृढे तु स्यादिति । अत्र बीजभाव-
स्वरूपं शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यानुग्रहपूर्वकं स्वमार्गीप्रकारकभगवन्निवेदनानन्तरं भगवदङ्गीकार
एव बीजभावः । तस्य दार्ढ्यं निरन्तरं तदेकपरतया तन्मार्गीस्थितिः । तुशब्देन मार्गीन्तरी-
यसाधनन्युदासः । तदा भक्तिः प्रवृद्धा सात् । वृद्धौ स्वमार्गीयसाधनान्तराण्यहुः त्यागा-
च्छ्रवणकीर्तनादिति । त्यागादेतन्मार्गीयातिरिक्तसाधनत्यागात् । तद्वदेवैतन्मार्गीयभग-
वद्धर्मश्रवणात् । तथैव तद्वदेव कीर्तनात् । अत्र श्रवणकीर्तनयोरैकवद्भावोक्त्योभयोरप्येक-
जातीयत्वं ज्ञापितम् ॥ १ ॥

यद्यपि पूर्वं बीजदार्ढ्यप्रकार उक्त एव । तथापि कदाचिदितरव्यासज्ञानान्तरायः
सम्भवति तस्मात्पयोत्तरव्यासज्ञानसावेन बीजदार्ढ्यं सिध्यति तदर्थं भगवद्भक्त्यरूपं प्रका-
रान्तरमाहुः बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

तुशब्देनैतदतिरिक्तप्रकारान्तरव्युदास उक्तः । स्वमार्गीयभगवद्भजनं तु गृहस्थित्वा-
 मावे न सम्भवतीति पूर्वं गृहस्थितिमेवाहुः गृहे स्थित्वेति । भगवद्भजनानुपूर्वकं गृहे
 सित्वा स्वपर्मताः कृष्णं भजेत् । अत्र स्वधर्मपदेन वर्णाश्रमधर्मां न विवक्षिताः, किन्तु
 स्वमार्गीयभगवद्भगां विवक्षिताः । कुतः, वर्णाश्रमधर्माणां स्वधर्मत्वाभावात् । तद्यथा ।
 धर्मो द्विविधः । एकः शरीरपर्यवसायी । द्वितीय आत्मपर्यवसायी । तत्र सन्ध्यावन्दन-
 मारम्य यागान्तानां वर्णाश्रमधर्माणां शरीरपर्यवसायित्वमेव । इन्द्रलोकादिभोगपर्यवसा-
 नात् । समाप्ती पुनः 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ती'ति वचनात् शरीरमुखपर्यवसा-
 यित्वमेव, न त्वात्मनः परलोकसाधकत्वम् । स्वपदस्यात्मपरत्वात् स्वधर्मपदेनात्मपर्य-
 वसायी धर्म उच्यते । स च भगवद्भगं एव । तथा च प्रमाणं सप्तमस्कन्धे प्रह्लादवच-
 नम् । 'यद्यन्नो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यया मुखश्री'रिति । किञ्च,
 फलप्रकरणेपि रासमण्डलमण्डनरूपाभिर्गीतम् । 'कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व
 आत्मञ्चित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः कि'मिति । किञ्च, स्वधर्म इति क्यनात् धर्मपदस्य
 तसित्त्रययान्तत्वेनाव्ययत्वादविकृतो धर्म उक्तः । तेनाविकृतो धर्मो भगवद्भगं एवेति
 स्वधर्मपदेन भगवद्भगं एवेति सर्वमनवधम् । स च स्वधर्मः क इत्याकांक्षायामाहुः अ-
 व्याघृत्तो भजेत्कृष्णमिति । अव्याघृतो भगवद्भजनानुपूर्वकव्याघृत्तिरहितः कृष्णं भजेत् ।
 अत्र भजने कृष्णपदस्य फलवाचकत्वेनेदं भजनं भग फलरूपमिति ज्ञात्वा भजनं कर्तव्यम्,
 ननु साधनबुद्ध्या । 'यैष्यग्रे 'लभते सुदृढां मक्ति'मित्यनेनालौकिकदेहसम्पत्तिपूर्वकं साक्षा-
 त्पुरुषोत्तमभजनस्यैव फलत्वोक्त्याधुनिकभजनस्य साधनत्वमावाति, तयानि पुष्टिमार्गे पुरु-
 षोत्तमस्यैव भजनीयत्वात्, यद्यपि आधुनिकभजने अलौकिकदेहसम्पत्तिर्नास्ति, तथापि
 आधुनिकभजनस्य पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वमेवेति अस्यापि फलरूपत्वमिति ज्ञापनायोक्तमिदं
 भजनं भग फलरूपमिति ज्ञात्वा भजनं कर्तव्यमिति । ननु एकस्यैव साधनरूपत्वं फलरू-
 पत्वं च कथं सम्भवतीति चेत् । सत्यम् । साक्षात्पुष्टिमार्गीयफलस्येतरसाधनासाध्यत्वात्
 पुरुषोत्तमभजनमेव साक्षात्पुष्टिमार्गीयफलसाधक(त्व)म् । यथा महाराजस्य धार्यमपि सुवर्ण-
 रत्नादिकमेव । व्यवहार्यमात्राण्यपि तन्मयान्येव । अथ च कोशे संग्राह्यमपि सुवर्णरत्नादि-
 कमेव । यतस्त्वस्य महाराजस्य सर्वतोधिकत्वात् । सुवर्णस्यापि सर्वभात्वपेक्षयोत्कृष्टत्वात् ।
 तथा तद्भद्रस्य फलस्य सर्वोत्कृष्टत्वमावात्सर्वोत्कृष्टमेव साधनमपेक्षितम् । सर्वोत्कृष्टस्य साध-
 नस्य विचारे क्रियमाणे भजनातिरिक्तस्य सर्वोत्कृष्टत्वाभावात्सर्वोत्कृष्टमेव साधनं सर्वोत्कृष्ट-
 फलमेवेति भजनमेव साधनम्, भजनमेव फलमिति नानुपतिः काचित् । अग्रे भजन-
 प्रकारमाहुः पूजया श्रवणादिभिरिति । अत्र पूजापदेन आगमोक्तप्रकारकपूजा न
 विवक्षिता । पूर्वं कृष्णपदेन सदानन्दफलरूपपुरुषोत्तमभजनस्य प्रकारत्वेनोक्तत्वात् । आ-

१ कुतः ! तेषां वर्णाश्रमधर्मत्वेन नित्यमाप्तत्वात् । अत्र केवलभक्तिमार्गीयधर्मविचारे पुन क्यने
 प्रबोधनभावात् न विवक्षिता इत्युच्यते । २ विद्वान्तर्गतं विष्णु प्रतिभाति, अन्यपुस्तकेषु कश्चिद्वचनान्तरम् ।

गमोक्तपूजायाः पुरुषोत्तमविभूतिपर्यवसायित्वात् न पुरुषोत्तमभजनपर्यवसायित्वम् । तथापि पुरुषोत्तमभजनप्रकारेषु पूजाया अपि गणनात्सा पूजा शुद्धपुष्टिमार्गीयैवेति ज्ञेयम् । अत एव शुद्धपुष्टिमार्गविद्धिः प्रमेयप्रकरणीयसमाध्याये गुणगाने हरिणीनां भावं निरूप्य पश्चात्तद्भावदोष्टैरेव पूजात्वमुक्तम् । 'पूजां दधुर्विरगितां प्रणयावलोके'रिति कथनात् । एतद्भावसजातीयभावपूर्वकं श्रीकृष्णदर्शनसेवाकरणमेव पूजया भजनम् । एतद्भावज्ञापनाय अत्रैतन्मार्गीयभजनसाधनपूजेयमिति ज्ञापनायोक्तं पूजयेति । अस्मिन्मार्गे भजनं सेवेव । अत्र 'केचित्स्नेहरहितसेवा पूजैवेति पूजापदं व्याख्यातवन्तः, तत्र विचारक्षमम् । कुतः ? मार्गभेदस्य नियामकत्वात् । आचार्यैस्तु स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गीयकृतस्वकीयजीवेषु स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तिबुद्ध्यर्थं भक्तिवर्धिनीरूपं शास्त्रं कृतम् । तदीयशास्त्रे तदङ्गीकृता एवापिकारिणः, नत्वन्ये । तेषामाचार्यानुग्रहेण शुद्धपुष्टिमार्गीयत्वात् तत्प्रदर्शितसेवाकरणं सलेहं स्नेहरहितं वा भवतु, परन्तु पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वाद्भक्तिमार्गीयमेव भवति । नतु पूजामार्गीयम् । किञ्च, शुद्धपुष्टिमार्गीयसेवाप्रकारसदृशाः प्रकारा ब्रह्माह्वारादिसमर्पणरूपाः पूजायामपि दृश्यन्ते । तथापि तेषां विभूतिपर्यवसानात्पूजामार्गीयत्वमेव, न तु सादृश्यमात्रेण तेषां भक्तिमार्गीयत्वम् । मार्गभेदस्य नियामकत्वात् । किञ्च । यो यन्मार्गीयस्त्वकृतं सर्वं भगवद्दर्मादिकं तन्मार्गीयमेव भवति । यथा 'श्रमादात्कुर्वतां कर्म'त्यत्र कर्मसाहचर्यार्थं कृतस्य विष्णुस्मरणस्य कर्ममार्गीयत्वमेव । अन्यत्र 'यस्य स्मृत्या च नामोत्तये'त्यत्र स्मृत्यादित्रयाणामपि कर्ममार्गीयत्वमेव, न तु नवधामत्तुक्तसादृश्यमात्रेण भक्तिमार्गीयत्वम् । एवं सेवोपयोगिनीं पूजामुक्त्वा तदुपयोगिश्रवणादिकमप्याहुः श्रवणादिभिरिति । सेवाकरणानन्तरमवशिष्टकाले इतरव्यासज्ञाभावार्थं श्रवणम् । आदिपदेन कीर्तनस्मरणचिन्तनान्यपि ॥ २ ॥

एवमप्यावृत्तिपूर्वकं भजनमुक्त्वा कदाचिद्भगवदर्थव्यावृत्तिसमयेपि हरौ सर्वदुःखहर्तरि चित्तव्यासङ्गपूर्वकमेव व्यावृत्तिः कर्तव्येत्यत आहुः व्यावृत्तोपि हरौ चित्तगिति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

व्यावृत्तिकरणानन्तरमवशिष्टसमये पूर्ववत् श्रवणादौ यतेत् श्रवणाद्यर्थं यत्नं कुर्यात् । एवं भक्तिमार्गीयभक्तिबुद्धिसाधनान्युक्त्वास्व भक्तिबुद्धिप्रकारमाहुः ततः प्रेमैति । पूर्वं प्रेम भवति । ततः स्नेहाङ्कुरो भवति । तदनन्तरं प्रौढभावे सति आसक्तिर्भवति । चित्तं भगवत्स्वरूपे व्यासक्तं उग्रं तदेकरं भवति । ततः प्रौढभावे सति व्यसनं भवति ।

१ 'तस्माद्त्र केचित्स्नेहरहिते, तत्र विचारसममिति यदुक्तं, तत्तर्कं शोषपतिद्वयुपपादितमैतत्समेतो-
पिकविचारेण ।'

व्यसनं नाम तद्द्व्यतिरेकेण स्यातुमेव न शक्नोति । तथा । दशमस्कन्धे 'गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने । क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवदिति । एवं यदा व्यसनं भवति, तदा वीजभावो दृढो भवति ॥ ३ ॥

एवं व्यसनपर्यन्तं वीजदार्ढ्यप्रकारमुक्त्वाग्रे वीजस दृढत्वं निरूपयन्ति वीजं तदिति ।

वीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

तत्पूर्वोक्तं वीजं व्यसनमावानन्तरं दृढं भवतीति शास्त्रे भक्तिशास्त्रे उच्यते निरूप्यत इत्यर्थः । दृढत्वस्य लक्षणमाहुः यन्नापि नश्यतीति । यत्केनापि लौकिकालौकिकनाशकेनापि न नश्यतीति । लौकिका दुःसङ्गादयः, अलौकिकाः कालादयः, तैरपि न नश्यतीत्यर्थः । अतः परं येन प्रकारेण त्रयाणां स्नेहादीनां मध्ये येन यथा स्थापनोदनं भवति, तथा तस्यापनोदनप्रकारं वदन्ति । अत्र स्नेहाद्युत्पत्तौ मुख्यापनोदकान्नयः, भगवदतिरिक्ते रागो गृहासक्तिर्भगवद्व्यतिरेकेणापि कालनिर्वाहः । तत्र रागादित्रयाणां क्रमेणैकैकापनोदकत्वमाहुः स्नेहाद्रागविनाशः स्यादिति । तत्र पूर्वं यथाकथञ्चिदल्पस्नेहाद्गुरोत्वत्यापि भगवदतिरिक्ते रागो न भवति । तदनन्तरं यदासक्तिर्भवति, ततः श्रीढभावो भवति, तदा गृहासक्त्यपनोदो भवति । भगवदासक्त्या गृहासक्तिर्गच्छति ॥ ४ ॥

आसक्त्यनन्तरं गृहारुचौ हेतुद्वयमाहुः गृहस्थानामिति ।

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

गृहे स्थितानां भार्यापुत्रादीनां, गृहे तिष्ठन्तीति गृहस्था भार्यापुत्रादयस्तेषां स्वस-
जातीयभाषामावात् तैः सह संबन्धस्य भावविधातकत्वस्फूर्त्या तेष्वरुचिर्भवत्येवेत्यत उक्तं
बाधकत्वं भासत इति । ननु पशपि भार्यापुत्रादीनां भावबाधकत्वमुक्तम्, तथापि 'न
वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति, किन्त्वात्मनः कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति'
इत्यादिश्रुत्या तेषु आत्मसंबन्धित्वेन प्रियत्वसापि स्फूर्त्या सर्वात्मना बाधकत्वस्फूर्तिर्न भवि-
ष्यतीत्याशङ्कानिरासय तेषु तादृशस्य भगवदासक्तस्य आत्मसंबन्धित्वस्फूर्त्यभावेन यथा
सर्वात्मना प्रियत्वाभावत्वं प्रकारमाहुः अनात्मत्वं च भासत इति । स्वस्य भगव-
दासक्त्या निरुपाधिस्नेहासदत्वेन भगवत्वेषाल्लत्वं स्फुरति, न तु स्वात्मनि । अतो
भगवदीयेष्वेवात्मसंबन्धित्वं भासते । न तु स्वात्मसंबन्धिप्रात्मसंबन्धित्वं भासत इति ।
तेष्व्वात्मसंबन्धित्वमनाभावात् बाधकत्वमेव भासते, न तु स्वात्मियकत्वमिति ज्ञापनायोक्तं

बाधकत्वमनात्मत्वमिति गृहारुचौ हेतुद्वयमुक्तम् । एवं तादृशस्य गृहारुचौ हेतुद्वयमुक्त्वा तस्यैव खेदबुद्धिपराकाष्ठामाहुः यदा स्यादिति । यदा यस्मिन्काले कृष्णे फलात्मके व्यसनं स्यात् । तददीनादिव्यतिरेकेण तत्संपन्धिव्यतिरेकेण स्थातुमशक्तिर्व्यसनं तद्यदा स्यात् । तादृशो भावो यदा स्यात्तदैव कृतार्थः स्यात् । कृतः अर्थो येन तादृशः स्यात् । अर्थात्र भक्तिमार्गीयसाक्षाद्भगवत्संपन्धफलरूपः । सः स्वस्मिन्कृतो भवति, सम्पादितो भवति, तदा कृतः अर्थः पूर्वोक्तफलरूपो, भगवता तस्मै दत्तो भवतीत्यर्थः । नहि एतादृग्भावयुक्तस्य एतत्फलदानातिरिक्तं फलं दातुं युक्तमिति ज्ञापनायोक्तं हीति ।

एवं तस्य व्यसनवतो योग्यताभावं फलं च निरूप्य तस्याग्रिमव्यवस्थामाहुः तादृशस्यापीति ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशनम् ।

त्यागं कृत्वा यत्तेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंतर्गात्तथात्रतः ॥ ७ ॥

तादृशस्यापि तादृग्भावयुक्तस्यापि, सततं निरन्तरं, गेहस्थानं गृहस्थितिः, तादृग्भावसत्सङ्गाभावाद्दिनाशकं तद्भावविपातकमित्यर्थः । यो यस्य विपातकः सतत्सन्निधौ स्थातुं न शक्नोति । अत एव फलप्रकरणे 'यद्द्विगुजाद्ये'तिपद्ये व्रजरत्नरूपामिर्निरूपितम् । यर्हि यत्प्रभृति त्वत्पादतत्त्वमस्राक्ष्म तत्प्रभृति अन्यसगंधं स्थातुं न परायाम इति । तदेव निवृत्तमाचार्यचरणैः । 'यथा देहाभिमानी व्याघ्रस्य देहविपातकत्वात्तत्संनिधौ स्थातुं न शक्नोती'ति । अत उक्तं तादृशस्येति । अतः परं पूर्वोक्तभावयुक्तस्य गेहस्थितेर्भावविपातकत्वेन तत्र स्थातुमशक्त्या स गेहत्यागमेव करोतीत्याहुः त्यागं कृत्वेति । तस्य गेहत्यागानन्तरं स्थितिप्रकारमाहुः यत्तेद्यस्त्विति । त्यागानन्तरं स यत्नमेव कुर्यात्, नतु प्रकारान्तरेण तिष्ठेत् । तस्य यत्नविषयमाहुः तदर्थार्थैकमानस इति । तादृशस्य यद्विषयको भावः स विषयो भगवानेव भवतीति । स एवार्थः । स चासावर्थश्च तदर्थः भगवान् तदर्थं भगवदर्थमेकं केवलं मानसं मनो यस्य तादृशो भूत्वा सुदृढां भक्तिं लभते । पूर्वं तस्य व्यसनपर्यन्तां सर्वानपनोद्यां भक्तिमुक्त्वापि पुनर्यत्तदर्थार्थैकमानस इत्युक्त्यापि लभते सुदृढां भक्तिमिति यदुक्तं तस्यापमनाशयः । ततोपि सुदृढां सर्वोत्पन्नभावरूपां भक्तिमिति साक्षात् स्वरूपातुभवफलिकां लभत इति । तद्भाभकधनेन तादृशस्य पूर्वोक्तातिविगाढभावेन विषयभावदेहापगमानन्तरं लीलापिक्कमलौकिकं देहं प्राप्य साक्षात्स्वरूपसंबन्धि फलं लभत इत्यर्थः । फलरूपभक्तेः स्वरूपमाहुः सर्वतोप्यधिकामिति । सर्वतश्चतुर्विधमुक्त्यपेक्ष-

सापि अधिकाम् । परामगणितानन्दपुरुषोत्तमपर्यवसाधिनीम् । एवं पूर्वोक्तभक्तिवृद्धिपर्य-
वसानं फलं चोच्यते । दुःखस्यागे वाधकभूयस्त्वकथनस्यापनाशयः । कदाचित्कश्चिद्भक्ति-
मार्गानुवर्ती पूर्वोक्तलागस्वरूपमज्ञात्वाहमपि गृहादित्यागं कृत्वा भक्तिवृद्धिं साधयिष्या-
मीति यदि गृहादिकं त्यक्तुमिच्छति तस्य तत्र निषेधमाहुः स्यागे वाधकभूयस्त्व-
मिति । तादृशस्य त्यागे गृहादित्यागेन भक्तिवृद्धिसाधने वाधकभूयस्त्वात्फलं न सिध्यति ।
('पूर्वोक्तप्रकारत्यागिनस्तु दृढं यन्नापि नश्यतीति वाधकभाव उपपादित एवेति पूर्वोक्त-
त्यागोत्र न विवक्षितः । तस्मात्सुनस्त्यागे वाधकभूयस्त्वं यदुच्यते 'स कदाचित्कश्चिदि'त्य-
नेन वक्ष्यमाणत्याग एव वाधकभूयस्त्वम् । ') वाधकान्येवाहुः दुःसंसर्गादिति । दुःसं-
सर्गः स्वस्य पूर्वोक्तत्यागेहेतुभूतमावाभावात्सर्वात्मना चित्तस्य भगवदेकपरत्वामावेन चित्तचा-
ञ्चल्याहुःसङ्गभगवद्भावाभाववतां लौकिकानां सङ्गः सम्भवतीति तस्य वाधकत्वं स्पष्टमेव ।
अथ च तस्य पूर्वसिद्धगृहादीनां बुद्धिपूर्वकर्त्तव्याभावाच्चरीरनिर्वाहार्थं यत्र कुत्रचिदन्न-
मक्षणनेन तस्यान्नस्य भगवदसमर्पणजनितदोषवत्त्वेन तदन्नमक्षणेन स्वस्यापि वाह्यिर्मुख्यदोषः
सम्भवति । यद्यप्येतादृशस्यापि वाधका दोषा इन्द्रियनिग्रहाभावरूपाः सम्भवन्ति, तथापि
दुःसङ्गाद्दोषयोरतिप्रबलत्वाद्दुर्भवेव गणितौ ॥ ७ ॥

एवं सति तादृशेन दोषाभावपूर्वकं कथं कालनिर्वाहः कार्यं इत्याकांक्षायामाहुः अतः
स्थेयं हरिस्थान इति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

यतः पूर्वोक्तप्रकारस्थितौ योगसम्भावना अतो दोषाभावपूर्वकं कालनिर्वाहार्थं
हरिस्थाने स्वस्य भक्तिमार्गीयत्वात् भक्तिमार्गीयसेवाप्रकारयुक्तभगवत्स्थाने श्रीगोवर्ध-
नादौ स्थेयम् । तत्रापि स्थितिप्रकारमाहुः तदीयैः सह तत्परैरिति । तदी-
यैर्भगवदीयैः सह स्थेयम् । तत्रापि तत्परैर्भगवत्स्वरूपतत्त्वेवातन्भूवणादिपरैः । एतत्प्र-
कारकसित्तमावे तत्रापि दुःसङ्गेन पूर्वसिद्धबुद्धिनाशसंभवात् जीवनवैयर्थ्यमेव सादिति
पूर्वोक्तप्रकारेण स्थेयमिति ज्ञापितम् । निरन्तरं तत्प्रकारकसित्तसंसर्गमे चित्तदोषाभावार्य
प्रकारान्तरेणापि स्थितिप्रकारमाहुः अदूरे विप्रकर्षे वेति । अदूरे पूर्वोक्तस्थानात्स्वत्या-
न्तराये । अथवा विप्रकर्षे ततोपि किमिदं स्थेयम् । 'तदीयैः सह तत्परैरिति स्थितिप्रका-
रमुक्त्वापि पुन'रदूरे विप्रकर्षे वे'ति यदुक्तं तस्यापमाशयः । अतिनिकटस्थितौ 'अतिपरि-
च्यस्यत्वे'ति न्यायेन कदाचिदन्नसङ्गतावत्रापि संभवति, तदभावापोक्तं 'अदूरे विप्र-
कर्षे वे'ति । तत्राप्येवमपि सित्त्वा तैः सह सङ्गः कार्य एव, न त्याज्य इत्युक्तं भवति ।
एवं प्रकारत्रयेण स्थितिप्रकारमुक्त्वापि स्थितिप्रकारनिर्गठितार्थमाहुः यथा चित्तं न दु-

प्यतीति । अस्यायमर्थः । पूर्वोक्तप्रकारैरथवा स्वमनोभिः पितृप्रकारैर्वा यथा च भगव-
द्वाहिर्मुख्यदोषेण चित्तं न दुष्यति तथा स्वयम्, न तु प्रकारान्तरेणेत्यर्थः । एवं पूर्वं
भक्तिवृद्धिप्रकारमुक्त्वा वृद्धेः परमकाष्ठामुक्त्वा तत्कार्यं फलं चोक्तम् ॥ ८ ॥

तदनन्तरं भक्तिवृद्धिप्रकारमुक्त्वा वृद्धेः परमकाष्ठामुक्त्वा शुद्धपुष्टिसाधनप्रकारमज्ञा-
त्वा शृङ्खलत्वा वृद्धिं साधयिष्यामीति प्रवृत्तस्य बाधसंभावनानिराकरणपूर्वकं फलसिद्ध्यर्थं
स्थितिप्रकारमुक्त्वा शुद्धपुष्टिभक्तिमार्गीयधर्मद्वयासक्तानामपि एतन्मार्गीयफलसिद्धिर्भवतीति
ज्ञापनायाहुः सेवायां वा कथायां वेति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

सेवायां शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यैः प्रकटितप्रकारकसेवायां, तदवशिष्टसमये तन्मार्गीय-
लीलाकथायां, यस्यासक्तिश्चित्तव्यासङ्गपूर्वको दृढाग्रहो यावज्जीवं भवेत्, तस्य न कापि देश-
कालभेदेनापि तस्य भावस्य नाशो न भवति । स भावस्वस्य फलसाधको भवति । अथवा ।
विकल्पेनोभयोः कथनाद्भगवदिच्छया कस्यचित्सेवायामेव दृढासक्तिर्भवति । कस्यचित्तस्य
लीलायामेव दृढासक्तिर्भवति । परन्तु सासक्तिर्वाजीवमपेक्षिता, न तु यत्किञ्चित्कालम् ।
सस्येति पदाद्भगवदिच्छया सेवासक्तस्य कथासक्तस्य च कापि नाशो न भवति । तन्मा-
र्गीयफलप्राप्तौ अन्तरायो न भवतीति मम मतिर्मदीया मतिः । तेन स्वमते फलविलम्ब्याभावे
हेतुत्वकथनेन फलप्राप्तौ निःसंदिग्धत्वमुक्तम् ॥ ९ ॥

एवं पूर्वश्लोके सेवासक्तकथासक्तयोः फलमुक्त्वा कदाचित्कथित् सेवासक्तं कथा-
सक्तं मक्तं दृष्ट्वा स्वयमप्यासक्तिन्यतिरेकेण उत्साहमात्रेण सेवां कर्तुमिच्छति तस्य पापः
संभवति, तत्र बाधस्वरूपं तन्निवारणप्रकारं चाहुः बाधसंभावनायां त्विति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

बाधसंभवे प्रकारान्तरेण बाधाभावव्युदास उक्तस्तुशब्देन । सेवाकरणे दृढासक्त्य-
भावात् उद्वेगेन भोगासक्त्या वा पापसंभवे सति स्वस्य सेवाकरणासक्तिजनितगलान्या
मरुः सेवा न भवतीति मया शृङ्खलत्वा एकान्ते भगवद्भामस्मरणार्थिकं कर्तव्यमिति
शुद्धा यथेकान्ते स्थितिं कर्तुमिच्छति, तादृशस्यापि सेवात्यागपूर्वकैकान्तस्थिनिरनुचितेति
निषेधमाहुः नैकान्ते वास इष्यते इति । सेवां विहाय तसैकान्तवासो नेष्टः, सेवा-
कृत्तिरेवेष्ट । उद्वेगादिना प्रतिनन्दे कथं सेवाकरणं भवतीति धेस्य समाधानमाहुः हरि-

स्त्विति । उद्देगादिकमपि सोद्वा यदि सेवामेव कुर्यात्तदा भगवान् तस्य सेवाग्रह दृष्ट्वा स्वस्य सर्वदुःखहरणसामर्थ्यं प्रवर्तीकृत्य सेवाविपातोद्देगादिकं दूरीकृत्य सेवासंपत्तिमेव कारयेदिति ज्ञापनार्थमुक्तं हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशय इति । 'न संशय' इति कथनापघस्मिन्नर्थे संशय कुर्यात्, तदा भगवानपि रक्षा न कुर्यादिति त्वर्थः । अत एव गीतास्वपि भगवतोक्तं 'संशयारामा निनश्यतीति । तस्मादस्मिन्नर्थे नि सन्दिग्धो भूत्वा 'भगवान् रक्षा करिष्यत्ये'वेति बुद्ध्या यदि सेना कुर्यात्तदा भगवानपि रक्षा करोत्येवेति ज्ञापनायोक्तं 'न संशय' इति । प्रकारान्तरेण रक्षाऽभावज्ञापनाय तु शब्दः । कयापि रक्षापि बाधसभावनाया पूर्वोक्तव्यवस्थेति ज्ञातव्यम् ॥ १० ॥

एष स्वमार्गीयभक्तिप्रवृद्धिप्रकारमुक्त्वा तस्योपसंहारमाहु इतीति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गृहा रतिः ॥ ११ ॥

इतीति समाप्ती । एवमुक्तप्रकारेण भगवतः पुरुषोत्तमस्य भक्तिवृद्धिशिक्षाप्रकारकं शास्त्रं निरूपितं प्रतिपादितमित्यर्थः । शास्त्रस्वरूपमाहु गूढतत्त्वमिति । गूढमत्यन्तं गुप्तं तत्त्वं बागविषयमनुभवैकवेद्यं स्वरूपं यस्य तादृशं निरूपितं प्रतिपादितमित्यर्थः । एव शास्त्रस्वरूपं निरूप्यैतदध्ययनकर्तुरपि यथैतन्मार्गीयं फलं सिध्यति तत्प्रकारकमध्ययनस्वरूपमाहु य एतदिति । य इति सामान्योक्त्या नाना वर्णाश्रमादिनियम उक्तः । एतद् भक्तिवर्धिनीरूपं शास्त्रं समधीयीतेति । अध्ययने सम्यक्त्वोक्त्या न केवलं पाठमात्रकरणम्, किन्तु प्रतिपदमर्थभिप्रायविचारपूर्वकमध्ययनमुक्तम् । एव विचारपूर्वकमध्ययनकरणे तत्प्रतिपाद्यार्थनिरन्तरानुसन्धानादन्तःकरणदोषनिवृत्त्या तन्मार्गस्वरूपस्य हृदि स्फुरणात्तन्मार्गस्य पुरुषोत्तमैकपरत्वात् तद्द्वारा स्वस्यापि तत्स्फूर्तौ भक्तिमार्गीयाचार्याङ्गीकारस्य सिद्धत्वात् तादृशस्यापि सुदृढा अत्यन्तं निश्चला रति रसभावमुक्तस्यैवो भवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

पितृपादनखालोकप्रकाशितधिया मया । स्वाचार्यचरणालयेन विवृता भक्तिवर्धिनी ॥ १ ॥

कृपया पितृपादान्जैर्दत्ता मे यादृशी मति । तन्मया विवृतं भक्तिवृद्धिशिक्षा सुदुर्लभम् ॥ २ ॥

यद्यपीश्वरबान्ध्यानि दुर्बोधानि सदा स्युः । तत्कृपातो यथाबोधं विवृतानि न चान्यथा ॥ ३ ॥

बुद्धिदोषेण यद्यत्र व्याकृतौ चेद्विपर्ययः । क्षमन्त्वाचार्यचरणा स्वकीयेषु दयालव ॥ ४ ॥

श्रीवैष्णवेन रचिता या विवृतिर्भक्तिवर्धिण्या । चित्रसगले लोके सजाता भक्तिवर्धिनी सापि ५

इति श्रीपितृचरणैकतानश्रीवैष्णवविरचिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीमद्रघुनाथकृतविद्युतिसमेता ।

वन्दे वृन्दावने वृन्दैर्गोपीनां वेष्टितं मुदा । हरिणीभिः कृष्णसारमिवाभातं तदीक्षणम् ॥१॥
अपारदुःखदावाग्निदग्धजीवनमीक्षितम् । यस्य तं यामि शरणं विष्टलेभ्रमहं सदा ॥ २ ॥

अथ केनचित्तरामपुण्येन प्राप्तमहापुरुषानुग्रहाद्भक्त्यङ्कुरितचित्तस्य कदाचिदन्तरासं-
भाविततद्गङ्गासाभावाय भक्त्युद्रेकोपायनिरूपणं प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

वीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येनोपायाचरणप्रकारेण भक्तिः पूर्वोक्तेन हेतुना अङ्कुरतां प्राप्य स्थिता सती
प्रवृद्धा प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्ता च स्वकार्यकरणक्षमा स्यात् भवेत्, तथा तेनैव प्रकारेण उपायः
साधनं निरूप्यते, सोपपत्तिकं कल्पत इत्यर्थः । अशयं भावः । यथा अन्तःस्थितपीजे
क्षेत्रादौ सेचनादिबाह्योपायकरणं सफलं भवति, नानुसवीजे, एवमत्रापि भक्तिस्पृशान्तःकर-
णसैवैतदुच्यमानसाधनप्रवृत्त्यधिकारो, नान्यसेति । इममेवार्थमुद्दिश्यामेत्याहुः वीज-
भावे दृढे तु स्यादिति । उक्तभक्तिप्रवृद्धिः कदेत्यपेक्षायां वीजभावे दृढे सम्पन्ने स्यात् ।
कुत इत्यपेक्षायां त्यागात् भगवदतिरिक्तविषयत्यागात् । श्रवणं च कीर्तनं च एकवद्भा-
वात् श्रवणकीर्तनादित्येकवचनम् । ननु को नाम वीजभावः । उच्यते । मत्प्रसाधारण-
कारणं वीजमित्युच्यते । तच्च महदनुग्रहरूपम् । तस्य भावः सद्भावः तस्य दार्ढ्यं निश्चयः ।
यस्य । वीजप्रदेन भगवानुच्यते । तस्मिन् भावस्वद्विपयिणी व्यवसायात्मिका बुद्धिः, मग-
वानेवाश्रयणीयो, नान्य इत्येवंरूपा । दार्ढ्यं तदनन्तार्हितत्वम् । तुशब्दः प्रसिद्धौ । तथैव
पश्यन्तीति च । 'वीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यती'ति ॥

मर्यादामार्गीषाणां गृहशानां वीजदार्ढ्यप्रकारमाहुः वीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

वीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

व्यावृत्तोपि हरो चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

वीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यत्रापि नश्यति ।

स्नेहाद्रागविनाश स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचि ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्व च भासते ।

यदा स्याद्द्वयसन कृष्णे क्रतार्थं स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

तादृशस्यापि सतत गेहस्थान विनाशकम् ।

गृहे स्थित्वा कृष्ण भवेदित्यवयव । कथं केनेत्याकाक्षाद्वयप्रासादावाद्याया स्वधर्मत स्वस्य यो धर्मं श्रुत्याद्युक्तो वर्णाश्रमधर्मं तत्सहितं सन् अन्व्यावृत्तो भगवद्भजनविरुद्धो लोकवेदपरमव्यासङ्गो व्यापृत्तिस्तद्रहितं सन्नित्यर्थः । केनेत्याकाक्षाया पूजया श्रवणादिभिरिति योज्यम् । अत्र प्रत्येकसमुदायाभ्यां पूजादिकं ग्राह्यम् । तत्र पूजा वेदपुराणोक्ता ग्राह्या । ऋग्विधानाद्युक्तपुरुषसूक्तादिभिर्यां सा वैदिकी । आगमपुराणाद्युक्तान्या । श्रवणं तु श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहाससामान्यादिवाक्येभ्य एव । आदिपदेन चिन्तनलीलातुकरणादिकं ज्ञेयम् । सर्वापेक्षया श्रवणस्य प्राधान्यं ज्ञेयम् । अत एव महाभारते श्रूयते 'सर्वाश्रमाभिर्गमनं सर्वेतीर्थावगाहनम् । न तथा फलदं सौते नारायणकथा यथेति । व्यावृत्तिराहित्येन मज्जनासम्भवे उपायान्तरमाहुः कथावृत्तोपीति । व्यासकोपि सन् हरौ त्रिविधदुःखहरणशीले चित्तविधाय पूर्वोक्तश्रवणादिषु यत्नेत् यन्न कुर्वादित्यर्थः । यतेदिति परस्मैपदं नाम धातुना ज्ञेयम् । भगवत्शरणारविन्दोश्चित्तसंस्थाप्य बाह्यश्रवणादौ कृतस्य यत्नस्य निःफलत्वेपि न स्वार्थहानिरिति भावः । अत एवैतद्भजनमपि 'क्रियासु यत्त्वरणारविन्दोराविष्टचित्तो न भवाय कल्पते' इति । हरी चित्तमित्यनन्तरं क्रियापदमप्याहृत्याग्रे योजनीयम् । सदेत्येतद्गुणयुक्तं सम्बन्ध्यते । एवकृते यद्भवति तदाहुः तत इति । प्रेम स्नेहः । आसक्तिस्त्वद्विना स्यातुमशक्तिः । व्यसनं स्वभावत एव तद्वर्तमानं चिन्तनं नान्यत्रेण्यतः । इदं सर्वं यदा भवेत्सम्पद्यते तदेतद्विषयसम्पत्तिरूपशास्त्रे भगवन्शास्त्रे दृढं बीजमिति व्यवह्रियते । दार्ढ्यमेव सटीक्रियते यत्रापि नश्यतीति । प्रेमादीनामसाधारणं तत्तत्कार्यमाहुः स्नेहादिति । रागो भगवदतिरिक्तविषयकः । गृहारुचिरिति । गृहे अरुचिरनासक्तिः । गृहस्थानामिति । गृहविषयकरागायभावे स्त्रीपुत्रादिपौषणासम्भवरूपदोषोद्भावनेनाविवेकिना गृहस्थानां परमपुरुषार्थसाधकयोरप्यनयोर्धर्मयोर्बाधकत्वमेव भासते । अनविकारित्वात् अनात्मत्व चेति । आत्मनो भाव आत्मत्वम् । भावपदेन स्वाभाविकधर्म उच्यते । तेन गायनात्मन स्वधर्म इत्येव भासते । वस्तुतस्तु ज्ञानं तेषां नास्तीति ज्ञापनार्थं भासत इत्युक्तम् । व्यसनकार्यमाहुः यदा स्यादिति । यस्मिन्काळे स्वभावतो यत्किञ्चिक्रियमाणमपि नग्नवद्विषयकमेव स्फुरति, तदा किं वक्तव्यं कृतार्थतायामित्यर्थः । द्विशब्दः प्रह्लादादौ प्रसिद्धियोगेनार्थः । प्रह्लादसैवविषयत्वं विष्णुपुराणे श्रूयते । 'या

प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पत्वि'ति । तादृ-
शस्यापीति । उक्तश्लेहादिमतोपि गृहस्थस्य गृहरूपं स्थानं सततं सर्वदैव विनाशकं
विनाशहेतुः । श्लेहादिसम्पत्तेः पूर्वमेव विनाशकत्वेपि तत्सम्पत्त्यनन्तरं तथा न भविष्यतीति
मनसि गृहस्थैर्न धार्यमिति भावः । अत्र विनाशकत्वं प्रतिबन्धकत्वमेव । यद्वा । तादृ-
शस्यापि सततं गृह एव स्थानं स्थितिरिति । ईदृशगृहस्थेन मध्ये मध्ये भगवद्भक्तपुण्यक्षेत्र-
नवायतनेष्वटनं कार्यम् । न तु गृहमात्रैकस्थितिशीलतया भाव्यमिति भावः ॥ ६ ॥

पूर्वं गृहस्थितस्यैव श्रवणाद्युक्तमिदानीं तस्य बहुप्रतिबन्धकत्वानुसन्धानेन समी-
हितासिद्धिमाशङ्क्य निःप्रत्यहोपायमाहुः त्यागं कृन्वेति । लभेतेति ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभेत सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाद्भतः ॥ ७ ॥

यः पुरुषः सकलदुःखाकरगृहत्यागं कृत्वा पूर्वोक्तश्रवणादिषु यतेत्, सः
सुदृढामत्यन्तदृढामन्यैः प्रतिबन्धसहस्रैरप्यतिरस्कृताम् । सर्वतोपि ज्ञानादिन्योप्यधि-
कामधिकफलदायिनीं परां भगवत्प्राप्तेश्चरमकारणभूतां भक्तिं लभेत प्राप्नुयादित्यर्थः ।
तं विशदयन्ति तदर्थार्थैकमानस इति । स भगवानेवासावर्धश्च तदर्थः, अर्थः
प्रयोजनं उद्देश्यमिति यावत् । स चासावैकधार्थः । तदर्थः स एवार्थैकः, तदर्थार्थैकः,
तस्मिन्मानसं मनो यस्येति । एवंविधः सन् यतेदिति पूर्वोक्तान्वयः । यतेदिति पञ्चमै
कं कृत्वा पश्चात् नामधातुत्वात्परस्मैपदं ज्ञेयम् । ननु त्यागरूपोपाये विद्यमाने किम-
न्योपायकथनमित्यत आहुः त्याग इति । त्यागसिद्धौ सर्वं सुकरम् । सैव तु नोपपद्यते ।
तत्र हेतुः । बाधकानां प्रतिबन्धकानां भूयस्त्वं बाहुल्यादित्यर्थः । तत्र हेतुः दुःसं-
सर्गात् । दुष्टानां भगवद्भिर्मुखाणां यः संसर्गः सम्बन्धः शारीरादिस्तस्मादित्यर्थः ।
तथैवाद्भतः दुष्टदत्तादित्यर्थः । अद्भतदापास्तु पञ्चमहायज्ञाकरणाद्भगवद्निवेदनाद्योद्भवन्तीति
ज्ञेयम् । श्रुतिरपि 'भोषमन्नं विन्दते अप्रचेताः । सत्यं प्रवीमि यद्य इत्यतस्य । नार्यमाणं
पुष्यति नो सखायं केवलापो भवति केवलादी'ति । अर्थस्तु अप्रचेताः मूढः मोषं
व्यर्थमन्नं विन्दते प्राप्नोति । यतः सो अन्नलाभस्तस्य वध एव । इदं तु सत्यमेवाहं प्रवीमि ।
न श्रेयस्वर्थः । किञ्च । अर्थमाणं सूर्यं न पुष्यति, देवयज्ञाकरणात् । उपलक्षणमेतत्,
देवतामात्रमपि । सखायं अतिथिं नो न पुष्यति, मनुष्ययज्ञाकरणात्, किन्तु स्वयमेव
अश्नाति, अतः केवलादी पुमान् केवलाप एव भवति । तदन्नं नास्ति, किन्तु पापमत्तीत्य-
र्थः । इममर्थं भगवानप्याह 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वैकित्थिभ्यः । मुञ्चन्ते ते त्वयं
पापा ये पचन्त्यात्मकारणा'दिति । अनिवेदितमङ्गणेपि दोषः श्रूयते । 'अभ्यरीप नवं वज्रं
फलं अन्नापमौषधम् । अनिवेष हरेर्मुञ्चन् सत्रवन्मानि नारकी'ति पुराणान्तरे ॥ ७ ॥

त्यागसाधन्यत्वं उक्त्वा गुणभ्योपायमाह अत्र इति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरे निप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

उक्तहेतोर्हरिस्थाने भगवदधिष्ठितप्रदेशे तत्परैर्भगवदकपरै तदीयैर्मगवदीयैर्भक्तै सह अदूरे नैकत्रय यथा स्यात्तथा श्लेयमित्यर्थः । अतिनैकव्यासम्भवे निप्रकर्षे वा, किञ्चिद् दूरेपि श्लेयम्, नत्वतिदूर इति भावः । नन्वेव स्थितौ किमत आहु यथेति । येन प्रकारेण स्थितिरुक्ता तथाकरणे चित्तमन्तःकरणं न दुष्यति, न दोषप्रसक्तं भवतीत्यर्थः । एन भगवदीये सह स्थितौ यन्म परमभाग्यवत् सेवाया स्वशरीरसाध्ये भगवद्भजने कथाया तद्गुणश्रवणे वा आसक्तिः तद्विहाय स्यात्प्रसक्तिः दृढा निश्चला भवेत् तस्य पुनो यावज्जीव आदेहपात क्वापि कस्मिंश्चिद्देशे काले वा नाश अन्यथाभावो न भवतीति । अस्मिन्नर्थे मम मतिः सम्मतिरेवेत्यर्थः । वाञ्छन्दावन्योन्यं ममुञ्चिनुत ॥ ८ ॥ ९ ॥

नन्वेव सति पूर्वोक्तत्यागस्य वैयर्थ्यमेवोत सार्थकत्वमपीत्याकाङ्क्षायामाहु यथेति ।

याधसंभावनयां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

त्यागे सर्वथा याधः सम्भावितश्चेद्भवेन्न तत्कृतस्तदा एकान्ते वासः सर्वत्यागपूर्विका स्थितिरण्णयादो नेष्यते न सम्मतेत्यर्थः । तदभावे त्विष्टेयेति भावः । नन्वेकान्तस्थितौ व्याघ्रादिभिरपमृत्युरपि सम्भाव्यते, वर तदपेक्षया गृहस्थितिरित्यत आहु हरिस्तित्यति । हरिशब्दार्थस्तु पूर्वोक्तोलुसन्त्येव । तुयन्द प्रसिद्धौ । सर्वतः सर्वदुःखहेतो रक्षणं करिष्यत्येव, न संशय इत्यर्थः ॥ १० ॥

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

उपसहरन्ति । एवमुक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं भगवत्सम्बन्धिशास्त्रं शिक्षयन् । गूढं गुह्यं तस्य यस्य तादृशं निरूपितम् । यः पुमानेतदुक्ताचरणेऽशक्तं सज्जेतच्छास्त्रमुपादित्स्वुः सम्यग्धीयीत, अर्थावुत्सन्धानपूर्वकं पठेत्, तस्याप्येतच्छास्त्रोक्ता रतिर्दृढा भवेदित्यर्थः ॥ ११ ॥ मत्स्यङ्कुरितचित्तस्य तदुद्रेकाय साम्प्रतम् । आचार्यसासुतोद्भूता विवृता भक्तिवर्धिनी ॥ ११ ॥

इति श्रीवृद्धभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथकृतौ भक्तिवर्धिनीविवरणं संपूर्णम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीकल्याणरायविरचितविद्युतिसमेता ।

यामे करे गिरि स्त्रीषु गुदमिन्द्रे च साध्यसम् । धारयन्तमहं वन्दे चित्रं गोपेषु गोप्रियम् ॥१॥
यदहीकृतितो भक्त्या स्नानन्दं नन्दनन्दनः । ददाति तान्प्रभून् वन्दे सर्वकामार्थसिद्धये ॥ २

श्रीकृष्णभक्तिसृष्टान्तःकरणानां स्वकीयानां तत्फलविलम्बासहिष्णवः श्रीवल्लभा-
धार्या एकादशेन्द्रियशोषिका भक्तितरित्सेकादशभिः श्लोकैर्भक्तिप्रवृद्ध्युपायनिरूपण प्रति-
जानते षथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्यात्स्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

येन प्रकारेण भक्तिः प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्नुयात्तेन प्रकारेण साधनं विनिरूप्यत इत्यर्थः ।
वृद्धौ प्ररूपोऽत्र फलोन्मुखत्वम् । भक्तिप्रवृद्धेरुत्तरावधिः क इत्याकाशायामाहुः बीजभावे
दृढे तु स्यादिति । बीजरूपो भावोऽल्पस्रोहः, तस्मिन् दृढे व्यसनात्मके सति प्रवृद्धिं पूर्णां
सादित्यर्थः । भावे बीजत्वोक्तिः फलेऽस्य निदानत्वयोपनाय । प्रथमतस्तत्र किं साधन-
मित्याकाशायामाहुः स्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिति । भक्तिमार्गविरोधिनोऽन्यमजनादेत्या-
गात् । श्रवणं कीर्तनं च ताभ्याम् । इदमुपलक्षणम् । स्मरणमाचार्यभक्तिर्निश्चासभेत्यपि
ज्ञातव्यम् । श्रवणकीर्तनयोरैकवद्भावः कर्मणोरित्यनात्र विरोध इति ज्ञापयति । न हि ययै-
कस्मिन्कर्मणि क्रियमाणे नान्यत् क्रियते, तथा श्रवणकीर्तनयोरपि ॥ १ ॥

भक्तिप्रवृद्धौ साधनान्युक्त्वा प्रकारमाहुः बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्या स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

बीजरूपस्य भावस्य रतनामिदार्थमय वक्ष्यमाणः प्रकारः । इममेवाहुः । गृहस्थिते-
र्भजनानुष्ठानत्वात् । 'धुनिस्थिती मधेमात्रे' 'वर्णाश्रमाचारवना पुरोने'त्यादियास्यै. न्य-
वर्णाश्रमाचारधर्मेण गृहे स्थित्या व्यावृत्तिः कार्यान्तरभ्यामत्र न द्रष्टव्योऽभ्यावृत्त । श्रव-
णादिभिः सहितया परिचर्यया कृष्णसदानन्दं पुरुषोत्तमं भजेत् । कृष्णराजपुत्रत्वेन भजनं,

न साधनत्वेनेति ज्ञाप्यते । तत्राप्युक्तपूजायां शीतलशंखोदकस्नानादिमत्त्वेन भक्तिमार्गा-
याणामनधिकारात् । स्नेहाभावे सेवापि पूजातुल्येव भातीति ज्ञापनार्थां पूजापदोक्तिरत्र ज्ञेया ।

‘तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनोवचः । नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वर’
इत्यादिवाक्यैर्भगवद्भजनभावे जन्मादिवैयर्थ्यात् व्यावृत्तिराहित्येन सेवाया असंभवेपि
यथासंभवं शक्त्यनुसारेण श्रवणादिकमेव कार्यम्, न तन्वया स्यात्तद्व्यमित्याशयेनाहुः
व्यावृत्तोपि हरौ चित्तमिति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

कार्यान्तराद्यासक्त्योपि हरौ दुःखहरणशीले चित्तं निषाय श्रवणादौ यत्नं कुर्यादि-
त्यर्थः । यमु प्रयत्ने । यतेदिति पाठे अनुदात्तात्मात्मनेपदानित्यत्वात् साधुत्वम् । एवं
वर्तमानस्य प्रेमादिकं भवतीत्याहुः ततः प्रेमेति । भगवत्सेवया श्रवणादितोपि चित्ता-
सङ्गावस्थावत् प्रेम भवति । स्वविषये स्वतः प्रवर्तको भावः प्रेमशब्देनोच्यते । प्रेमानन्तरं
तथा पूर्वोक्तादेव सङ्ख्यावस्थावदासक्तिर्भवति । स्वविषये विविधमनोरयजनको भाव
आसक्तिः । व्यसनं च यदा प्रशुक्लपया भवेत्, तदा तद्बीजं बीजरूपो भावः शास्त्रे भग-
वच्छास्त्रे दृढमन्यापरिभूतमुच्यते, यत्फलं जनयति, दृष्टसंसर्गादिना नश्यत्यपि न । व्यसनं
स्वविषयं विना स्यात्प्रशक्तिजनको भावः ।

प्रेमासक्त्योर्ज्ञापके आहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्वृहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

यथा यथा भगवति स्नेहस्तथा तथान्यत्र हीयत इत्यर्थः । भगवत्यासक्त्या
भगवदनुपयोगिगृहादिषु अरुचिरप्रीतिर्भवति । भगवति प्रेमासक्त्योः सर्वपुरुषार्थसा-
धिकयोरपि गृहस्थानां गृहासक्तानामविवेकिनां गृहादिषु रागाभावजनकत्वेन स्त्रीपुत्रादि-
पोषणासंभवरूपदोषोद्भावनेन बाधकत्वं, स्वस्य प्रवृत्तेर्मार्गस्वत्वेनानात्मधर्मत्वं च भासते ।
अथवा । सर्वेषामात्मरूपे हितकारिणि भगवत्यनात्मत्वं भासते । वस्तुतस्तु ‘तेषां नित्या-
मियुक्तानां योगक्षेमं बहाम्यहम्’ ‘न मे मत्तः प्रणश्यति’ ‘किमलम्भं भगवती’त्यादिवा-
क्यैस्तेषां भयवानेवैहिकपारलौकिकसाधक इति तेषामेवेदमज्ञानमिति भासत इत्युक्तम् ।

यदा कृष्णे पूर्णानन्दे व्यसनं स्यात्, तदैव जीवः कृतार्थः पूर्णार्थः स्यात् । एवकारेण प्रेमा-
सक्तोर्बुदासः । हि सुक्तोयमर्थः । यतः तादृशस्यापि प्रेमासाक्षितमतापि सततं निरन्तरं
गेहस्थानं गेह एवावस्थानं विनाशकं भावसेति श्रेयः । तेन सत्साक्षादिकं कर्तव्यमिति भावः ।

भक्तिप्रवृत्तिसाधने प्रकारान्तरमाहुः त्यागं कृत्वयेति ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाज्ञतः ॥ ७ ॥

यस्तु पुरुषो गृहे भगवद्भजनप्रतिबन्धं ज्ञात्वा गृहत्यागं कृत्वा श्रवणादीं यजेत् यत्नं
कुर्यात् । 'यतेदि'ति पाठे पूर्ववज्ज्ञेयम् । तदर्थार्थैकमानसः तदर्थं भगवन्निमित्तं योर्थः श्रव-
णादिः तस्मिन् । यद्वा । भगवतोर्थः प्रयोजनं लीला तदर्थार्थं तन्निमित्तं एकमनस्य मानसं
यस्य एतादृशः सन् सुदृढां विषयाद्यपरिभूतां सर्वतोपि ज्ञानयोगादिभ्योप्यधिकामधिकफल-
दायिनीं परां प्रेमलक्षणां फलरूपां भक्तिं लभेत प्राप्नुयादित्यर्थः । तर्हि निर्विघ्नेस्मिन् प्रकारे
विद्यमाने किमर्थं प्रकारान्तरमाश्रयणीयमित्याहुः त्यागे बाधकभूयस्त्वमिति ।
दुःसंशसर्गात् । दृष्टानां भगवद्दहिर्गुहादीनां सदमोजनादिना सज्जात् । तथाज्ञतः दुष्प्र-
ज्ञात् । वैभवेवमगवद्वरणामृतप्रक्षेपादिनाप्यन्नदोषनिवृत्तेः संभवात्सद्गदोपोऽधिक इति
तस्य प्रयमनिर्देशः । गृहत्यागे बाधकभूयस्त्वं बाधकानामन्तरायदहृतां घातुल्यमस्ति, तेन
यावद्गृहे भजनं संभवति, तावद्गृहत्यागो न कर्तव्यः, सर्वथा यजनाऽसंभवे कर्तव्यः ।
तदुक्तं श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपे 'भाव्यादिरतुकूलभेत्कारयेद्भगवत्क्रियाम् । उदासीने स्वयं
कुर्यात्पतिकूले गृहं त्यजे'दिति ।

तेन गृहस्य त्यागेऽत्यागेपि यावद्भजनं संपद्यते, तावत्सत्साक्षादिकं कर्तव्यमि-
तित्याहुः अतः स्वयं हरिस्थान इति ।

अतः स्वयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरविप्रकर्ये वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

यतः पूर्वोक्तं बाधकमतः कारणान् हरिस्थाने प्रजगपुरादी तदीयैर्भगवन्मार्गस्यैर-
नन्यैः तत्सहैः सेवाकीर्तनादिना भगवत्परैः सह अदूरं निकटं यथा भवति नया स्वयम् ।
निकटस्थितसंभवे दूरेषु स्थित्वा तदनुसरणं कर्तव्यमित्याहुः विप्रकर्ये घेति । भक्ति-
मार्गस्थत्वाभावे स्वयंभ्यवसद्वात् स्वस्य कार्यं न सिध्यत्, तत्परत्वाभावे भगवत्सेवाकृपा-
यमावात् स्वस्य लाभो न सादिति द्वयमुक्तम् । निकटे दूरे वा स्थित्वा तादृशभगवदी-
यातुसरणे तत्कृपा वित्तं जुष्टं न भवतीत्याहुः यथा चित्तं न दुष्यतीति ॥ ८ ॥

एवं सत्सङ्गे सति केवलमनिष्टनिवृत्तिरेव न, किन्त्विष्टप्राप्तिरपि भवतीत्याहुः से-
वायामिति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यवाज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

यस्य महत्कृपया सेवायां स्वशरीरसाध्यश्रीकृष्णभजने, कथायां तद्गुणलीलादिश्रवणे
दृढा विषयायनभिभूता आसक्तिर्भवेत्, यावज्जीवमादेहपातं, तस्य क्वापि कुत्रापि देशे
कालेपि नाशः भगवद्भजनाननुरूपफलप्राप्तिर्न भवति । अथवा । भावस्य नाशो भावा-
न्तरोत्पत्तिर्वा न भवति इति मम मतिः । प्रभुः कृपया को वेद किं दास्यति । वाश-
ब्दावनुक्तस्मरणादिसमुच्चयार्थो ॥ ९ ॥

ननु भगवदीयानामपि सङ्गः किमर्थं कर्तव्यः, एकाकिना अरण्यादौ भगवद्गीतादि
चिन्तनं कुर्वता कथं न श्लेषमित्यत आहुः बाधसम्भावनायामिति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

तुशब्दः तं पक्षं व्यावर्तयति । बाधोत्र चित्तोद्रेगविक्षेपादिः, स चेन्न सम्भ-
वति तदा तथैव श्लेषम् । बाधसम्भावनायां सत्यामेकान्तेऽरण्यादौ वासो नेष्यते, न
इष्टम् । नवांतनशाधामावेपि बहिश्चौरव्याघ्रादिभयसम्भवे सति कथं श्लेषमित्यत आहुः
हरिस्त्विति । सर्वदुःखहर्ता प्रभुः सर्वतः सर्वस्मात् सुदर्शनादिना रक्षां करिष्यति ।
'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च वादिने । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ।'
'न मे भक्तः प्रणश्यती'त्यादिवाक्यैरस्मिन्नर्थे न संशय इत्यर्थः ॥ १० ॥

श्रीब्रह्ममाचार्याः सगुणनिर्गुणभेदेन दशधा भक्तिरिति दशभिः श्लोकैर्भक्तिवर्धिनीप्र-
क्रियां निरूप्य, एतदुक्तचरणैतत्पाठयोः फलमाहुः इत्येवमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इतीदं गूढं गुप्तं तत्त्वमनारोपितं रूपं यस्मैतादृशं भगवच्छास्त्रं भक्तिप्रतिपादकम् ।
अथवा । गूढतत्त्वं यथा स्यात्तथा, एवममुना प्रकारेण निरूपितम् । य एतदुक्तमाचरेत्तस्य
भगवति दृढा रतिः प्रीतिः स्यात् । यो नैतदुक्ताचरणाशक्तः स त्वेतद्भक्तिवर्धिनीरूपं समधी-
यीत श्रद्धामक्तिपूर्वकं पठेत् । तस्याप्यग्रे दृढा रतिः स्यादित्यर्थः ।

श्रीमत्कल्याणरायेण श्रीगोविन्दात्मजेन वै । गुरून् नत्वा यथाबुद्धिं विवृता भक्तिवर्धिनी ॥

इति श्रीविह्वलेश्वरचरणैकतानश्रीकल्याणरायविरचिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीहरिरायविरचितभक्तिवर्धिनीविवृतिः ।

श्रीवल्लभाचार्यपदानुकम्पाबलेन किञ्चित् परिचिन्त्य चित्ते ।

निरूप्यते भक्तिविवृद्धयुगायनिरूपणग्रन्थनिरूपितोर्थः ॥ १ ॥

श्रुतिप्रत्ययार्थ्यां भक्तिः सप्रेमसेवनम् । चेतस्वत्प्रवणं तत्र तनुवित्तप्रसाधितम् ॥ २ ॥
तत्र मूलं हरेरंगीकारोय शरणागतिः । ततः समर्पणं जीवदेहसंभन्धिवस्तुनः ॥ ३ ॥
ततो योग्यत्वसम्पत्त्या सेवनं तु प्रवर्तते । पूर्वोक्तरूपतद्दृष्टिस्तनुवित्तजसेवनात् ॥ ४ ॥
तदुपायापरिज्ञाने सा कथं वृद्धिमेष्यति । अतस्तद्दृष्टयुगायोत्र ग्रन्थे प्रभुनिरूप्यते ॥ ५ ॥
यथा येन प्रकारेण चेतस्वत्प्रवणालिका । भक्तिर्धनपर्यन्तं वृद्धा भवति सर्वथा ॥ ६ ॥
तथा तेन प्रकारेण य उपायः स कथ्यते । उपायस्तु स एवात्र तनुवित्तजसेवनम् ॥ ७ ॥
त्यागात्प्रायश्चित्तेन एहे भक्तएहे तथा । धीजभावः प्राथमिको यतः सेवा प्रवर्तते ॥ ८ ॥
स्वामिसेवकमावाप्त्वा तदादर्शाद्द्विसंभवः । अथवा त्यागपक्षेण कृतश्रवणकीर्तनात् ॥ ९ ॥
अनायासेन सुखदभक्तिप्राप्तिसंशयः । अत्यागपक्षे कमसौ भक्तिवृद्धिरिदोच्यते ॥ १० ॥
अतो हि धीजदौर्बलस्य प्रकारोत्र निरूपितः । गृहे स्थितिः स्वर्णैर्णवर्णश्रमगतेन हि ॥ ११ ॥
विधेया नापि सेवार्थमधर्मेण कथञ्चन । अधर्मे स्थितितो मुद्दिनाशाहुःसङ्गतस्तथा ॥ १२ ॥
ततो दुष्कर्मकरणे चेतस्वत्प्रवणं कुतः । अतस्त्वयाविधं कृष्णं सदानन्दं परं वृहत् ॥ १३ ॥
लोकभेदफलाधर्यव्यावृत्तिरहितो जनः । भजेत्सेवेत तन्वायैस्त्वत्र व्यावृत्तिपूजनम् ॥ १४ ॥
प्रेमैव भजनं तत्र माहात्म्यज्ञानसिद्धये । पूजाश्रोतान् नियन्धे या मघादिरहिता हरी ॥ १५ ॥
बाहिर्मुख्योद्भवामावसिद्धये श्रवणादयः । अयं तु मुख्यकल्पो हि सर्वथा साधको मतः १६ ॥
यथा रोगशतार्तस्य कुप्य्यरहितौषधम् । एवंविधस्य निर्वाहं स्वयमेव करोति हि ॥ १७ ॥
योगक्षेमोद्गहे स्वीयप्रतिज्ञापरिपालकः । सेवकस्यापि विश्वासः कर्तव्योऽवश्यमेव हि ॥ १८ ॥
नहि सेवकनिर्वाहं विदधाति न हि प्रभुः । तथापि जीवप्रकृतिवशतो न त्यजत्यसौ ॥ १९ ॥
व्यावृत्तिं दद्विश्वासानावतो लोकत्रेदयोः । तस्य भक्तिप्रवृद्धयर्थनतु कल्पोऽपि रूप्यते ॥ २० ॥

१ कारणमित्यर्थः । २ अथा वृद्धयौजे सुखरूपेण पक्षपदंतावस्थापित्री इत्यस्य कृतपर्यन्ता इतिः

इत्युक्तस्य भवति, तथा भक्तिश्रेते स्वामिसेवकभावे स्वधनपर्यन्तावस्थानां सुखरूपेण स्थितौ भक्तिपूजनस्य

इत्युक्तस्य स्वधनपर्यन्ता इतिश्रेयसीति भावः । ३ इत्युक्तस्येति शेषः । ४ कृतपर्यन्तामित्यर्थः ।

व्यावृत्तिसहितो वापि चित्तमात्र हरौ परे । सर्वकार्येषु सतत यत्नेन स्थापयेत्सुन ॥ २१ ॥
 तथापि भगवत्कार्यातिरिक्त उपयोगिनि । तथाभावामाववता चित्तवैमुख्यसमव ॥ २२ ॥
 तदर्थं स्थापयेत्तनु श्रवणादावपि स्वतः । एवविधा तु सतत प्रेमासक्तिरूपेण हि ॥ २३ ॥
 भवेद्व्यसनससिद्धिं प्रवृद्धासौ तदा रति । यदेति वचनात्तनु व्यसन दुर्लभ मतम् ॥ २४ ॥
 प्रभुणापि यतो दत्त रासस्थास्वेव तत्सुन । यद्धि व्यसनपर्यन्तावस्य पीज तदुच्यते ॥ २५ ॥
 धीन भावात्मक शास्त्रे दृढ सद्गान्न नश्यति । कुत उत्पादयेद्भावान्तरमित्यपि नोदितम् २६
 आसक्तावपि दुःसद्गो बाधकत्वेन चोदित । श्रीस्वामिनीभिरप्युक्तपञ्चाध्याय्या प्रभु प्रति २७
 त्वयाभिरमिताः स्यातु पारयामोन्वयो न हि । विवृत तत्तयाचार्यैर्व्याधिदेहिनिदर्शनात् ॥ २८ ॥
 किं प्रेम का तथासक्ति किं वा व्यसनमुच्यते । व्यतिरेकमुखेनैव तल्लक्षणमुदीर्यते ॥ २९ ॥
 नहि भावे हरिर्वाच्यो 'यतो वाच' इति श्रुते । निषेधमुखतो वाच्यो नेतिनेतीति वाक्यत ॥ ३० ॥
 यतो रागविनाश स्यादौदासीन्येन च स्थिति । हरिभिन्ने विना हेतु स भाव प्रेमशब्दित ३१
 आसक्तिर्येन भावेन गृह्यादिव्यनुयोगिषु । अप्रीतिश्च तथा तेषा गृहस्याना निरोधनात् ॥ ३२ ॥
 प्रियान्तिकगतौ तेषु बाधकत्वेन बोधनम् । स्वासबन्धितया भान स भाव सा निगद्यते ॥ ३३ ॥
 स्वबाधकतया वापि यदा स्फूर्तिर्निर्वर्तते । गृहस्याना तदा कृष्णे व्यसन तदुदीर्यते ॥ ३४ ॥
 तदेव पूर्णसर्वायौ हृद्याग्निर्भावतो हरे । अपेक्षिता शरीरसालौकिकस्वातिरुत्तमा ॥ ३५ ॥
 तदभावे तादृशस्य निरन्तरगृहस्थिति । षड्दिवेदनाद्भावनाशिका समुदाहता ॥ ३६ ॥
 अस्याप्येव तदान्येषा का वार्तेत्यपि नोदितम् । अतस्त्यक्त्वा गृह कापि भगवत्सन्निधौ स्थिति ३७
 कार्या कदाचित्त ततो भवेद्भावविनाशनम् । एवमेकप्रकारो हि भक्तिवृद्धेरुदीरित ॥ ३८ ॥
 दृढभक्तिप्राप्तिकलो द्वितीयोपि निरूप्यते । भार्यादिप्रातिकूल्येन गृहे सेवाद्यसम्भवे ॥ ३९ ॥
 त्याग कृत्वा तु य सेवायत्नं कुर्यात्स दुर्लभम् । हर्यर्थमात्रचिन्तस्तु नाशतोऽन्यगमानस ॥ ४० ॥
 अनेनास्मिन्नपि प्रोक्ता कल्पेऽव्यावृत्तिरुत्तमा । लभते च स्वत सिद्धदाब्ज्या भक्तिं परा हरौ ४१
 मोक्षादितो भक्तिश्चाधिका व्यसनरूपिणीम् । ननु त्याग विधायैव कुर्यान्श्रवणकीर्तने ४२
 किमर्थं सेवना कार्या तनुवित्तयुता हरे । चेतस्तत्त्वव्यवस्था सेवा सा तु तैरपि सिध्यति ॥ ४३ ॥
 इति चेन्न यतस्त्यागे बाधकान्त्वमीक्ष्यते । दुःसर्गाद्दोषाभ्या दोषहेतुतया तयो ॥ ४४ ॥
 अतो यया न दुःसद्गदुष्टास्ते प्रतिबन्धके । स्वाता तथा हरिस्थाने देशदोषनिवारके ॥ ४५ ॥
 स्येय यतो हरिर्भक्तदुःखाभावाय हि स्थितः । तत्रापि चित्तदोषस्य सर्वथा विनिवृत्तये ॥ ४६ ॥
 तदीयै कृष्णसम्बद्धैः समर्पितनिजात्मभिः । तत्रापि कृष्णरूपया सेवया चापि तत्परैः ॥ ४७ ॥
 यत सत्सद्गमो भक्तधर्मबोधेन साधितः । तथा सद्दपदोक्त्यात् सहभावेन च स्थिति ॥ ४८ ॥

१ तथा च निरोधो व्यसनमिति भावः । २ अथ्यधमो सत्सद्गमो बुध्यते एवप्रकारेण सर्वत्र
 सत्सद्गम साधित इत्यर्थः । ३ एवप्रामस्थित्यापि सहभाव सम्भवतीति सहस्थितिनोधनार्थं गूढे
 सहपदमिति भावः ।

अन्यथा कृष्णसेवायाः कयाथाथाप्यसम्भवः । यदि ते भगवद्भक्ताः कृपयेयुः स्वभाग्यतः४९
 तदा दूरे तद्गृहे ततोवनायैः सहस्थितिः । तदान्नदोषदुःसङ्गौ धाषेयातां न सर्वथा ॥ ५० ॥
 तत्रैव देहनिर्वाहस्तत्सङ्गैर्नैव च स्थितिः । तथाविधमहाभाग्याभावेन यदि तादृशाः ॥ ५१ ॥
 न स्थापयेयुर्निकटे विप्रकर्षे तदा स्थितिः । वाशब्दोक्त्या न कोप्यत्र विशेषः पक्षयोर्द्वयोः५२
 यथाकथञ्चित्संतोष्याः सन्तः सन्मार्गवर्तिभिः । यथा तेषां सतां चित्तं न स्वस्योपरि दुष्यति ।
 तथा विनयसौजन्यसेवाभक्त्यादिभिः स्थितिः । अपवा स्वस्य वा चित्तं यथा तदुपरि स्वतः ५४
 न दुष्यति तथा स्वयं तदोषापरिभावनैः । यद्वाङ्मयदीयसंसर्गं चित्तदोषकरं परं ॥ ५५ ॥
 विहाय भगवद्भक्तैः सह स्वयं विशेषतः । यथा प्रथमपक्षे तु प्रेमासक्त्यादिसम्भवे ॥ ५६ ॥
 धीजदार्यं तथात्रापि सेवया कीर्तनेषु च । रदासक्तौ न भावस्य देहादेर्वापि नाशनम् ५७
 वस्येति दुर्लभा त्यागपक्षे प्रोक्ताधिकारिता । यतस्तस्मिन्दि कल्पे तु क्रमेणासक्तिसम्भवः ५८
 अत्र तु स्यात्स्वतो दार्ययुता भाग्ये तथाविधे । कापीति पदतो लोकवेदौ भक्तिश्च रूपिता ।
 सम्यक्प्रकारकस्थित्या कीर्त्या लोके न नाशनम् । त्यागपक्षस्थितौ कर्मत्यागात् श्रुतिनाशनम् ।
 भगवद्भक्तसङ्गेन भक्तिमार्गे न नाशनम् । दुःसंसर्गान्नदोषौ च नैव प्रभवतो यतः ॥ ६१ ॥
 तादृशस्यापीति वाक्ये यथापूर्वं गृहस्थितिः । बाधिकोक्ता तथात्रापि विच्छेदो बाधको मतः ।
 यावज्जीवमिति प्रोक्तमत एव पदं पुनः । एतेन त्यागपक्षाणामन्यासक्तिर्निवारिता ॥ ६३ ॥
 तथैव चात्र विच्छेदस्तदभावे न नाशनम् । मतिर्ममेति यत्प्रोक्तं तदभिप्राय ईदृशः ॥६४॥
 कदाचिद्दृष्टेन भगवत्प्रियरोपतः । दुर्बुद्धौ तदतिद्रोहाद्भगवत्प्रतिबन्धतः ॥ ६५ ॥
 नाशोपीति यतो वाक्ये संदेहो विनिरूपितः । ननु त्यागं विधायान्यसङ्गः किमिति बोधितः ।
 ज्ञानिनामिव संसर्गमात्रत्यागो न चोदितः । त्यागे त्वेकान्तवसतिविशेषेण च साधिका ॥६७॥
 तत्रोत्तरं तु भावस्य बाधनं हृदयस्थितैः । कामादिभिर्जीवधर्मैर्पावत्सम्भाव्यते पुनः ॥६८॥
 तावदेकान्तवासस्तु नेष्टे बाधानिराकृतेः । कामादयो भावनाभिर्नाशयन्ति क्षणान्मनः ६९
 न तत्र दोषनाशाय सहायोक्ति रदःसितौ । भक्तिमार्गप्रकारेण हरिश्चापि निरोद्धितः ॥७०॥
 भक्तिमार्गीयकार्याय न व्यापकतया स्थितिः । अतो न रक्षकः कोपि तस्मैकान्तस्थितौ भवेत् ।
 तुशब्देन ततोन्वोपि त्यागपक्षोत्र सूचितः । अत्रं प्रवृत्तयोपि दुर्बलत्वेन रूपितः ॥ ७२ ॥
 हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं पापां जुतोपरि । अतो न रक्षकापेक्षा सिद्धत्यागे विधीयते ॥ ७३ ॥
 स्वास्थ्यहेतोः परित्यागादिति वान्वाद्यमृदितत्वात् । यदा तु साधनदशा तदापेक्ष्यं हि रक्षणम् ।
 भक्तानां रक्षकः कृष्णो नान्य ह्येष निश्चयः । स तु सन्निहितो नित्यं लीलास्थाने तथा पुनः ।
 यत्र वा भगवद्भक्ताः सेवया कथया युताः । स्वभावतो दुःखहर्ता निजाश्रितजनाश्रितान्७६
 नोपेक्षते यतस्तत्र स्वयं यत्र स्थितो हरिः । तत्रापि सर्वतो रक्षा नान्यसाध्या न संशयः७७

१ हरिल्यानवातपरस्परिदं पशान्तरं, न तु त्यागपक्षम् । २ अत्यागपक्षम् । ३ हरिल्यानवातम् ।
 सेवापरता, अथापरता चेति त्यागे नैव पक्ष उच्यते । ४ मुने नैवैवा तदावपेक्षे ।
 भक्ति ४

यतः कालवशाः कालकर्मादिभ्यो न रक्षकाः । तुशब्देन स्वभावोपि हरेरेव निरूपितः ७८
 संशयाभावकथनं तत्र भक्तवशो हरिः । भक्तभक्तानपि सतो रक्षति स्वगतानिति ॥ ७९ ॥
 रक्षणं कालकर्मादेस्तथा भावान्तरादपि । पक्षद्वयेन भक्तेस्तु वृद्धिरेवं निरूपिता ॥ ८० ॥
 इतिशब्दः समाप्त्यर्थोन्यप्रकारनिषेधकः । एतावता हि भगवन्द्वास्त्वमेव निरूपितम् ॥ ८१ ॥
 यतस्त्वद्ब्रह्मत्वं हि ततो न्येषां सुदुर्गमम् । तत्त्वमेतावदेवास् तस्मिन्नत्र निरूपिते ॥ ८२ ॥
 तदेव सकलं शास्त्रं निरूपितमितीरितम् । एतदध्ययनात्सम्यग्बुद्धिं याति रतिर्हरौ ॥ ८३ ॥
 सम्यक्त्वं श्रद्धया भक्त्या तथा विश्वासतो गुरौ । य इत्यनेन वर्णादिनियमोपि कृतौ न हि ८४
 अपिशब्देन कैमुत्यन्यायोप्यत्र निरूपितः । ग्रन्थपाठादपि रतेर्बुद्धिर्यत्र तदा किमु ॥ ८५ ॥
 वान्यमाचरणे साधु समायामुपदेशने । तत्रापि भक्तिर्बुद्ध्यापि द्बोक्ता पाठमात्रतः ॥ ८६ ॥
 इति श्रीबल्लभाचार्यकरुणालब्धशक्तितः । स्वसन्तोषाय भावस्य पोषायातिप्रयत्नतः ॥ ८७ ॥
 श्लोकरूपेण सर्वापि विवृता भक्तिवर्धिनी । ययामति निजाचार्यचरणाश्रयणादपि ॥ ८८ ॥
 एतेनास्मत्कुलपतिः प्रभुः श्रीविठ्ठलेश्वरः । प्रसीदतु सदा दासे हरिदासे स्ववंशगे ॥ ८९ ॥

इति श्रीहरिदासविरचिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीगोपेश्वरविरचितविवृतिसमेता ।

श्रीबल्लभाचार्यचरणवारिरुहेभ्यो नमः । श्रीविठ्ठलपदपङ्केहेभ्यो नमः ।

यत्पदाम्भोजभजनाद्भवन्ति समसिद्धयः । कलयामि कृपावार्धिं तं प्रभुं भक्तिवृद्धये ॥
 निधाय श्रीमदाचार्यचरणान्जसुगं हृदि । तत्कृपातो यथाशक्ति व्याकुर्वे भक्तिवर्धिनीम् ॥
 भगवद्रसपीयूषपायिनो यत्कृपायुजः । भवन्ति.....मत्स्या तं श्रीविठ्ठलमाश्रये ॥
 श्रीमत्कल्याणरायाख्याननुकम्पापयोनिधीन् । नमाभि तातचरणानहं स्वाभीष्टसिद्धये ॥

अथ मायावादादिदुरध्येतिवाजालमहेन्द्रजालजनितजनताप्यामोहमूलनिर्मूलेन सम-
 र्थामितागमनिगमान्तस्मृतिपुराणतत्त्वसूत्रादिप्रमाणशतप्रतिपन्नप्रपन्नजनप्रतिक्षणक्षेमंकरप्रम्वा-
 ज्ञाप्रादुर्भाविततद्भक्तिमार्गेणातिकरालकलिकालविलुप्तकर्माद्यधिकारान् भगवदीयकृपाव्यपा-

१ 'तत्रापि भक्तिर्बुद्ध्यापि प्राप्यते सुखा हरी । पाठमात्रेण तेनैवा ससेव्या भक्तिवर्धिनी ।' इत्यपि न
 कश्चित् । २ अत्राश्रयणमिव भाति ।

तसंजातभक्तिमार्गश्रद्धाधाधिक्यसमधिगतैतदधिकारानपि भक्तितत्त्ववृद्धिकरोपायविशेषपरि-
चयाभावप्रभवप्रसुरकेशकरवितान्त करणान्प्राणिन समुद्दिधीर्षव परमकृपालव श्रीवल्लभा-
चार्यचरणा भक्तितत्त्ववर्धकोपायनिरूपण प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

धीजभाये दृढे तु स्यात्पागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण भक्ते प्रकृष्टा वृद्धिर्भवति, तथा तेन प्रकारेण उपायो निरू-
प्यते, विविच्य कथ्यत इत्यर्थ । ननु श्रीभागवतगीतादिषु भक्तितद्बुद्धिनिदानभूतदान-
ग्रतादीनामुपवर्णितत्वेन तत एव तदवगतेरनर्थकमेतन्निरूपणमिति चेत् । अत्र वदन्ति ।
भक्तिर्हि द्विविधा, साधनरूपा फलरूपा च । तत्राद्याया दानव्रताद्युपायपूर्वकत्वमिति तदुत्प-
त्तिवृद्धिप्रकारा सुप्रसिद्धा, न द्वितीयस्या । अतस्तस्या स्वय प्रकृष्टिताया वृद्धिप्रकारानि-
रूपणमुचिततर भवतीति । वस्तुतस्तुभयविधभक्तिवृद्ध्युपाय एव निरूपणीयत्वेनात्राभिमत
इत्यामिति, श्रवणकीर्तनाद्युभयसाधारणसाधनानामप्रेऽभिधानात् । न चैषामुभयरूपत्वमनु-
पपन्नमिति वाच्यम्, स्वतन्त्रफलत्वफलान्तरसाधकत्वप्रतिसन्धानपूर्वकविधानेनोभयरूपताया
सम्भवात् । नन्वेव सत्येतेषामन्यत्र निरूपितत्वेनात्रापि निरूपणे क्रियमाणे पौनरुक्त्यदोषो
दुष्परिहर इति चेत् । न । अन्यत्र धर्मान्तरव्यतिकोषानिर्मुक्तिताकाराणामेवा व्यक्तमवश्य
वक्तव्यतयोक्तदोषस वक्तुमनुचितत्वात् । न पुनरुक्तता महान्दोष, शतकृत्योपि पप्य
वक्तव्यमिति न्यायात् । भक्तिप्रवृद्धि कदा भवेदित्याकाक्षायामाहु धीजभाये दृढे तु
स्यादिति । धीजभावे स्वल्पेहे दृढे व्यसनरूपे सति भक्ते सर्वाशेन वृद्धिर्भवेदित्यर्थ ।
यद्वा । धीजभावे स्वाचार्यानुग्रहससिद्धभगवन्निवेदनानन्तरमाविभगवदङ्गीकारे दृढे अति
सिधे केनाप्यचाल्ये सति सा सादित्यर्थ । न च भक्तेर्मुक्तिहेतुत्वाद् ज्ञानेनैव तदवाप्तेर्भ-
क्तिवृद्धिरनभिलषितेति वाच्यम् । भक्ते स्वतन्त्रफलत्वेन तद्दृढे सर्वाकाक्षणीयत्वात् । कथ
मन्यया मुक्तपूर्वाभिविक्त श्रीशुको भृश भक्तावनुरक्तोऽमृत । कथ वानारतनिवृत्तिनिरता
'नैकात्मता मे स्पृहयन्ती'त्यादिवाक्यानि । नापि भक्तिं विना कृत ज्ञान कैवल्यकरणीन
वितुमर्हति, भक्तिसहितसैव तस्य मुक्तिसाधकत्वात् । 'श्रय'श्रुतिं भक्तिमुदसे'ति वाक्यात् ।
ननु यथाकथञ्चिन्मुक्तिहेतुत्वोक्तावपि भक्ते स्वतन्त्रफलत्व न सुप्रतिपदमिति चेत् ? आ-
न्तोसि । स्वतः पुरुषार्थत्वेन कृतायास्तसास्त्रयात्वस्य दुर्वारत्वात् । अत एव प्रमुपरा-
रणाणि भक्तिहसे 'वेद्मोत्सत्यनन्तर स्वप्यसनत न्यतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाण भवा-
दिरुचम पुष्टिरूप' इति । एव सति 'मत्सेवया प्रतीत च' 'सालोक्यसाष्टिभारमीप्यमा
रुच्यैकत्वमस्युत' 'मधुद्विदोवातुरफमनसाममधोपि फल्यु,' 'अनिमिवा भागवती भक्तिः
सिदेर्गरीपसी' 'भगवान्भजता मुकुन्दो मुक्तिं ददानि कर्हिद्विःस न भक्तियोगम्' 'एव

धर्मैर्भुष्याणाम्' 'भक्तिं लब्धवतः' 'भक्त्या सखातया भक्त्या,' 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्ये'-
त्यादिवचनानि सङ्गच्छन्ते । तद्द्विधावतिरिक्तानि साधनान्याहुः स्यागाच्छ्रवणकीर्तना-
दिति । भक्तिमार्गविरोधिदेवान्तराश्रयादेस्त्यागाद्भगवन्नामचरित्रादेः श्रवणात्कीर्तनाच्च ।
कर्मणोरिव श्रवणकीर्तनयोर्विरोधो नास्तीति बोधनार्थमेकवद्भावः । श्रवणकीर्तनयोस्फ-
लक्षणत्वेन स्मरणस्वाचार्यभक्तिविश्वासादीनामपि संग्रहः । न चाप्रमाणसिद्धान्वन्याश्रय-
त्यागश्रवणादीनीति वाच्यम् । 'यो वै स्वां देवतामतियजते, प्रसायै देवतायै च्यवते,
न परां प्राप्नोति, पापीयान्भवति' 'यावदन्याश्रयस्तावत्', 'अनन्यचेताः सततं,' 'अनन्या-
श्चिन्तयन्तो माम्,' 'प्र तत्रे अथ शिपिविष्टः नामार्यः शंसामि वशुनानि विद्वान्, तं त्वा
गृणामि तवसमतव्यान्क्षयंतमस्य रजसः पराके' 'तस्मात्सर्वात्मना राजन्' 'तस्माद्भारत'
'तस्मादेकेन' 'तमु स्तोतारः' 'शृण्वन्गृणन्संस्मरयन्' 'शृण्वन्ति मायन्ती'त्यादिश्रुतिपुरा-
णवाक्यसिद्धत्वात् ॥ १ ॥

भक्तिवृद्धौ साधनान्यभिधाय तत्प्रतिभुवं प्रकारमाहुः बीजदारब्धप्रकारस्त्विति ।

बीजदारब्धप्रकरस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

तुशब्दः प्रकारान्ताव्यवच्छेदकः । बीजस्य भगवद्भावस्य दारब्धजनकः प्रकारो
भगवद्भजनलक्षण इत्यर्थः । यद्वा । बीजस्य पूर्वोक्तरूपस्य स इत्यर्थः । तमेवाहुः गृहे
स्थित्वा स्वधर्मतः अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिरिति । स्वध-
र्मतोऽग्निहोत्रादेर्गृहे अव्यावृत्तः कर्तव्यान्तरव्यासक्तिगूढः स्थित्वाऽचमलो मूत्वा कृष्णं
सदानन्दं, 'कृषिर्भूवाचक' इति वाक्यात्, श्रवणादिभिः पूजया भजेदित्यर्थः । इदं स्नेहा-
धिक्यवैधुर्येण विधीयमानायाः सेवायाः पूजासान्यात्पूजापदमुक्तम् । तत्राद्युक्तपूजायां
शीतलशङ्खसलिलस्नानाद्यभिधानेन भक्तिमार्गविरोधात् । अथवा । नतु कृष्णभजनप्रकरणे
तद्विभूतिविषयकाममाहुक्त्यज्ञोक्तेरसुक्तत्वेन प्रकृते कथं पूजापदोपादानमुपपद्यत इति
चेत् । इत्यम् । सन्ति हि बहवो भावभजनप्रकाराः, तदन्तर्निविष्टा भवति भावपूर्विका
पूजापि । अत एव शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यैः प्रमेयप्रकर्णीयसप्तमाध्याये 'पूजां दधुर्विरचितां
प्रणवावलोके' रित्यत्र गुणमाने हरिणीभावनिरूपणानन्तरं तद्भावदशः पूजारूपता निरू-
पिता । नहि तत्र ताश्चिकी पूजा युज्यते जातुचित्, तस्याः पृथग्रूपत्वात् । तेनैवंभूतभावा-
नुसारिणी सात्राभिधिरिस्ततेति तदुपादानमविरोधि । न चैवमप्यन्ततो भक्तौ पर्यवसानेन
तस्या एव वाच्यत्वात्संग्रहितपूजोक्तिरयुक्तेति वाच्यम् । श्रवणाद्यभक्तिनवकान्तर्गतस्वत-
त्रभावपूजायाः प्रकृते पुरस्कृणीयत्वेन क्षेतेरभावादिति । यद्वा । धर्मान्तराणां परधर्मत्वेन
परिहार्यत्वात्स्वधर्मतो भगवद्भर्मतः सेवानुकूले गृहेऽव्यावृत्तस्यक्तान्यव्यासक्तिरिति यावत्,
तयामृतः सन्, कृष्णं सदानन्दं पूर्वोक्त्या पूजया श्रवणादिभिर्भजेदित्यर्थः । अत्र कृष्ण-

पदेनोक्ता भजने फलरूपता । सूचितोकरणे प्रत्यवायो लिङ्गव्यत्ययेन च । न चास्मिन्पक्षे निहितवर्णाश्रमधर्मत्यागे प्रत्यवायपापण्डित्वादिदोषप्रसङ्ग इति वाच्यम् । सेवासमवामावे यथाधिकारं सर्वधर्मसम्पादनेनैव दोषापाकरणसम्भवात् । सेवासमये च सर्वधर्माणामन-
वकाशनिराकृतत्वेन तदभावेपि हानेरभावात् । 'मत्कर्म कुर्वतां पुंसा'मिति वाच्यम् । कदाचिहोपापातेपि भगवतैव तदपगमोपपत्तेश्च । 'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभा-
वस्य हरिः परेशः । विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिदुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्ट' इति वाच्यम् । मर्यादामार्गीयव्यवस्थौषा । शुद्धपुष्टिमार्गमभिनिविशमानस्य तु प्रभुचरणतामरसैकतानचेतसः
कृत्स्नकर्मकलापं परित्यजतोपि प्रभोरशिक्षिलपरिमृष्टेण न कश्चिदोपः, यतस्तयामृत एव स पन्थाः । 'यदायमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः । स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिता' मिति वाच्यम् ॥ २ ॥

एवं तद्वृद्धिप्रकारं व्यासक्तिविरहितभगवद्भजनलक्षणमुक्त्वा, 'न हि कश्चित्क्षण-
मपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृ'दितिन्यायेन काचित्कव्यावृत्तावपि चित्तं भगवति निधाय भजन-
प्रयत्नमत्यजन्नासीतेत्यभिप्रायेणाहुः—

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत्सदेति । व्यावृत्तो लौकिककर्मव्यावृत्तोपि हरौ स्वकीयदुःखहरणस्वभावे चित्तं निधयेति शेषः, सदा निरन्तरं श्रवणादौ तन्निमित्तं यसे-
त्प्रपतेतेत्यर्थः । यमु प्रयत्ने तेन, यथा केनचिदुक्तं, 'परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि पृष्ट-
कर्मणि । तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायन'मितिवद्बुद्धये हरिं धृत्वावश्यकसांसारिकका-
र्यव्यावृत्तेनाप्यनन्तरमनवरतं श्रवणादिप्रयत्नश्रवणान्तःकरणेन भवितव्यमित्यर्थः । यद्वा । भगवत्कार्यव्यावृत्तोपि तत्परिसमाप्योर्वरितसमये श्रवणाद्यर्थमुपमं निदध्यादित्यर्थः । 'पते-
दिति क्वचित्पाठः । तत्र परस्मैपदमनुदात्तेतामात्मनेपदानित्यत्वात्प्रत्येतव्यम् । एवं प्रय-
तमानस्यानुपूर्व्येण प्रेमासक्तिव्यसनानि भवन्तीत्याहुः ततः प्रेमेति । ततः श्रवणादिभ्यः प्रथमं प्रेम चित्तासङ्गवद्भवति, पश्चात्तथैव सङ्कल्पवदासक्तिर्भवति, व्यसनं च पुनर्वदा भवे-
दतिप्रजुरप्रमुप्रसादप्राप्तत्वात्तत् । कीदृशानि पुनः प्रेमासक्तिव्यसनानि । स्वगोचरे स्वतः प्रवर्तको भावः प्रेम । तथानेकप्रियमनोरथजनको भाव आसक्तिः । त्रिपयेण विना स्यानुमशक्तिर्येन स भावो व्यसनमित्येवमाकलय । अत्र संग्रहसौकी । 'स प्रेम यः सं-
विदधाति भावः स्वतःप्रवृत्तिं त्रिपये स्वकीये । यथाभिलाषान् जनपेदनेकान्मायः स मासक्तिरिति प्रसिद्धः । स्यानुमेव न शक्नोति त्रिपयव्यतिरेकतः । येन भावेन तं भाव-
मादुष्यंसनसंज्ञकम् ॥ ३ ॥

एतन्मन्वती पीजं १८ भवतीत्याहुः पीजमिति ।

वीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यत्रापि नश्यति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृह्यारुचिः ॥ ४ ॥

भगवत्कृपादिना यदि व्यसनसमुद्भवस्तदा यद्भगवच्छ्लेषे वीजं स्नेहाङ्कुरस्वरूप-
मुच्यते तद्दृढमग्निविलं भवति, अत एव विषयादिसंसर्गेण नश्यत्यपि न । व्यसनमावस्य
वीजभावदाब्जपरमावधिरूपत्वादिति भावः । यद्वा । वीजं यत्प्रमुपरिग्रहात्मकं तद्यदि
व्यसनं समुत्पद्यते, तदा भक्तिशास्त्रे दृढं केनापि शिथिलीकर्तुमशक्यमुच्यते । अत एव कला-
सत्सद्भेदादिनापि न विनश्यतीत्यर्थः । नहि भगवन्निजाङ्गीकृतान्कदाचिदपि विहातुमु-
त्सहते । तदङ्गीकारस्य नित्यत्वात् । एवमुत्तरोत्तरबलवत्तराणामेतेषामावयोः कार्यमाहुः
स्नेहेति । स्नेहाद्भगवद्विषयकप्रेम्णः प्रसुप्तेवाप्रतिकूले गृहे रागस्य विनाशो भवति । भग-
वद्भागस्य द्रागेव गेहानुरागनाशोपायत्वात् । 'तावद्भागदयः स्तेना' इति वाक्यात् । आ-
सक्त्या चोत्तरूपया गृहेऽरुचिरासक्त्यभावात् उपजायते । भगवदासक्तेस्तदतिरिक्तास-
क्तिनिराकरणशीलत्वात् । 'कृप्यांप्रिपन्नमधुलिदं न पुनर्विसृष्टनायागुणेषु रमते वृजिनाव-
हेष्वि'तिवाक्यात् । न च प्रेमासक्तिमतानपि गेहश्लेहादिसद्भावदर्शनादसङ्गतमिदमिति
पाप्यम् । तादृशां भगवद्विषयकस्नेहसङ्कोपनार्थमेव सांसारिकतत्प्रकाशनादनेवंभावे च
भगवत्सति तदभावदेवेत्युभयथापि दोषाभावात् । लोकसंग्रहार्थमपि भक्तानामसंख्य-
व्यापारदर्शनात् । भजनौषधिकमवनाद्यनुरागस्य स्वधर्मपर्यवसायित्वेनौचित्याववित्त्वाच्च ।
एवं सति गृहाद्यनुरागिणामेवात्र बाधकत्वात्स्वधर्मत्वे स्फुरत इत्याहुः गृहेति ।

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद्वासनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्सदैव हि ॥ ५ ॥

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

भगवत्सम्बन्धिप्रेमासक्तयोर्गृहस्थानां विवेकवैकल्येन गृहेनुरागाधिक्यात्तत्रैव तिष्ठतां
बाधकत्वं, तत्र स्नेहाभावात्पादकतया कलत्रपुत्रादिपोषणसामर्थ्याभावलक्षणदोषोद्भावना-
त्प्रवृत्तिमार्गातिगात्रनिष्ठावत्त्वानात्मधर्मत्वं च, भगवति वानात्मत्वं भासत इत्यर्थः । वस्तु-
तस्तु, 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' 'न मे मक्तः प्रणश्यति' 'न कर्हिचित्
मत्तरा शान्तरूपे नश्यन्ति' 'तस्मिन्प्रसभ्रे सकलाशिषां प्रभौ', 'तस्मिन्सन्तुष्टे किमप्राप्यं
किमलभ्यं भगवतीत्यादिवाक्येभ्यो भगवानेव निजमक्तनिखिलकार्यनिर्वाहाय जागरूक
इति वास्त्वसर्वभावेन भजनीय इति वस्तुगतिमविदुषाममीपामेवेयं कुमनीपेति । अत एव
श्रीमदाचार्यैर्भासत इत्यभापि । अथवा । भगवदासक्तियुक्तानामतादृशशास्त्रादिसु बाध-
कत्वप्रतिबन्धानं भवतीत्याहुः गृहस्थानामित्यादि । अत्र गृहस्थपदेन भार्यापुत्रादयस्ता-
त्स्थानाद्गृहस्थान्ते । तथा च सति तेषां विजातीयभावतया तद्भावस्य स्वभावप्रतिबन्धित्वेन स्वात्म-

भावस्वामाभ्येन च निजभावभङ्गभीरूणां तेषु बाधकत्वं भासतेऽनात्मत्वं च । तथाभूतानां भगवत्त्वे च स्फुरत्स्वात्मभावतया तदीयेष्वात्मीयताविर्भावान् । अत एव श्रीमदस्मदाचार्यै-
रुक्तं 'पुत्रे कृष्णप्रिये रति'रिति । एतेन 'न वारे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति,
किन्त्वात्मनः कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ती'त्यादि श्रुतेरात्मसम्बन्धितया पुत्रादीनां प्रिय-
त्वेन बाधकत्वमसम्भवीत्याशङ्का व्युदस्ता । एवं प्रेमासक्तयोः कार्यमुक्त्वा व्यसनस्य तदाहुः
यदेति । यदा परमदुरापमनुपममुक्तभावात्मकं व्यसनं कृष्णे सदानन्दे स्वलीलासहिते
स्वात्, तदैव कृतार्थः पर्याप्तार्थः स्वात्, कर्तव्यान्तरपरिशेषाभावात् । अत एव ब्रजस्थितानां
तथाभावः श्रूयते श्रीभागवते, 'तदर्थविनिर्वातितसर्वकामाः,' 'सन्त्यज्य सर्वविययांस्तव
पादमूलम्' 'क्षणं युगशतमिवे'त्यादिना । एवकारः प्रेमासक्तिमतोर्व्यवच्छिनत्ति ।
हिंस्रन्देनात्र युक्तार्थतोक्ता, तद्भावविधातकसद्भावात् । तदेतदाहुः । तादृशस्यापि प्रेमा-
दिमतोपि सततमविच्छेदेन सत्सङ्गाद्यभावेन गेहस्थानं भावस्य विनाशकं भवति ।
सत्सङ्गाद्यसचिवस्य तस्य तादृशत्वात् । न च व्यसनवतोपीदृशबाधकास्त्रित्वं शक्य-
शङ्कम् । तद्भावस्यैव स्वतन्त्रकार्यक्षमत्वेन सत्सङ्गादिभावाभावायतैर्वृद्धिहासैस्त्रयति-
रिक्तभावानामेव साधकबाधकादिसम्बन्धितया प्रकृते बाधशङ्कानवतारात् ।

गृहादेर्भावान्तरायरूपत्वं विदित्वा तदपहाय फलाय प्रयतेत यस्तस्य तदाहुः ।

त्यागं कृत्वा यसेद्यस्तु तदर्थायैकमानसः ॥ ६ ॥

लभेत सुहृदां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां पराम् ।

तुशब्दः प्रकृष्टान्तरव्यावर्तकः । यः पुमान्गृहादिषु भगवद्भजनप्रतिबन्धं विवृष्य
तत्यागं कृत्वा भगवल्लीलाश्रयणाचिन्तनादिनिमित्तं यसेत् यत्नं कुर्यात्, कीदृशः ? तदर्था-
यैकमानसः । तस्य भगवतो योर्थः श्रवणादिरूपस्तदर्थं एकं मानसं यस्य तादृश इत्यर्थः ।
यद्वा । भगवतोर्थो लील्य, तदर्थं तन्निमित्तं तदर्थेषु तत्सम्बन्धिपदार्थेषु वा तथेत्यर्थः ।
अथवा । स चासावर्थश्चेति कर्मवारये तदर्थो भगवान् तदर्थं तथेत्यर्थः । स एवार्थः शास्त्र-
स्कन्धादिषु यत्र । तादृशं श्रीभागवतं 'शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे । एकार्थं
सप्तधा जानन्नविरोधेन मुच्यते' इति श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपचचनात् । तदर्थं वा तथेति वार्थः ।
स एवार्थो घनं येषां ते । तदर्थां भगवद्भक्तास्त्रेषामर्थेषु कार्येषु वा तथेत्यर्थः । एतादृशः
सन् भक्तिं सुहृदां विषयाद्यनभिभाव्याम्, 'प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नागिमूयते' इति
वाक्यात्, सर्वतो ज्ञानादिभ्योऽप्यधिकासुक्ताम् । न चाधिक्ये मानाभावः । 'तस्मा-
न्मद्भक्तियुक्तस्य' 'ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भव मां भक्तिभाषितः,' 'नैकात्मतां मे स्पष्ट-
यन्ति' 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये' 'आत्मारामाक्षे'त्यादिवाक्यशतसिद्धत्वात् । विस्तरस्तु
श्रीमदस्मत्प्रभुचरणैरन्यत्र कृत इति नेह तन्यते । परामभिव्यक्तापरिच्छिन्नानन्दरसस्वरूपां
लभेत प्राप्नुयादित्यर्थः ॥ ६ ॥

तर्हि निरन्तरायेऽस्मिन्नपापे सति किमित्युपायान्तरमुपादेयमित्यत आहुः त्याग इति।

त्यागे बाधकभूयस्त्वयं दुःसंसर्गात्तथाज्ञतः ॥ ७ ॥

अतः स्वयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरं विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

न हि त्यागो निष्प्रत्यूहं फलाय कल्पते, त्यागे यतो बाधकानि दुःसंसर्गदुष्ट-
ज्ञमक्षपादीनि सद्बुद्धिप्रतिक्षेपकारीणि मूयांसि सन्ति । न हि भगवत्पराश्रुत्वानामने-
कदोषदन्तुरितस्वान्तानां सङ्गस्त्वं भावभङ्गं न विधत्ते । न वा तथाभूतानाम-
ज्ञादिकं भक्षयतो भगवत्समीक्षणमविशिष्टं मनो भवति । अत एवावैष्णवादीनामन्नं न
परिग्राह्यम् । तदुक्तं पद्मपुराणे 'अवैष्णवानामन्नं च पतितानां तथैव च । अनर्पितं तथा
विष्णोः श्रमांससदृशं भवे'दिति । ननु बाधकानां बहुले ह्येवै कथं कथितौ । दुष्ट-
संसर्गाद्भदोषयोः प्रबलत्वादिति बुध्यस्व । तेन यदि भगवद्भजनं गृहादिषु निर्बाधं सम्प-
द्यते, तदा न परित्यागः श्रेयान् । तत्रेत्तत्र मार्याद्यभिद्वेषादिना सम्यग्ज्ञानं निर्वहति, तदा-
पूर्वोक्तप्रणालिकया त्याग एव कर्तव्य इति विवेकः । अत एव श्रीमदाचार्यैस्त्वत्तदीप-
निवन्धेऽभ्यधापि 'भार्यादिरनुकूलश्रेत्कारयेद्भगवत्कियाम् । उदासीने स्वयं कुर्वीत्यतिकूले
गृहं स्वजे'दिति । द्वितीयस्कन्धविवरणे च 'दाम्पत्यं भगवद्भजनार्थमपेक्षित'मिति । एवं त्यागे
दुःसङ्गादेर्विपातकत्वं निरूप्य तदोपनिराकरिष्णुः सतां सङ्गः क्वचिद्भगवत्स्थाने सम्पाद-
नीय इत्याहुः अत इति । यतस्त्यागे पापकानां बहुत्वमतःकारणात्कचिद्दोः सर्वदुःखहर्तुः
स्थाने श्रीगोकुलश्रीनोवर्धनादौ तदीयैस्तत्सम्बन्धिभिस्तत्परैः, स एव परः सर्वपेक्षयोत्कृष्टो
येषां तादृशैः, परमकाष्ठपन्नवस्तुनिष्ठैः सह स्वयमित्यर्थः । न च तत्राप्यसत्सङ्गादिसम्भ-
वाद्दुक्तदोषानिवृत्तिरिति वाच्यम् । सर्वसमयसत्सङ्गवत्सु दुःसङ्गादिदोषाणामनवकाशनि-
वारितत्वात् । न हि प्रतिदिनं सत्सङ्गरसास्वादिनः क्वचिदन्यत्र चित्तप्रतादमासाद-
यन्ति । अत एव सत्सङ्गोत्कर्षः श्रीभागवते गीयते । 'तुल्यम उवेनापि न स्वर्गं नापुन-
र्भवंम् । भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिष' इति । ननु यत्र क्वचित्सत्सङ्गेन
कार्यसिद्धेः सङ्गिः सहावस्थानं हरिस्थान एव कार्यमिति निर्वन्धो चक्रवन्धवन्निरर्थक इति
चेत् । मैवम् । तत्र बाहुल्येन तेषां सङ्गतेः सम्यक्सम्भवेन तदनुवृत्तेरावश्यकत्वात् ।
अन्यत्र तेषां प्रापशोचुरागविरहेणानवस्थानात् । यहिर्मुलजनकृतोपद्रवसङ्ख्या स्यातुमशक्य-
त्वात् । अत एवोक्तं पद्मस्कन्धे 'न यत्र वैकुण्ठकथा सुधापत्रा न साधनो भागवतास्तदा-
श्रवणः । न यत्र श्रेयसकला गृहोत्सवः सुरेश्लोकोपि न यतिः सेव्यता'मिति । एवं सति
तेषां सन्निधौ स्थितिः कथं कर्तव्येत्याकांक्षावामाहुः अदूरमिति । यथा भगवद्दीपानां चित्तं
न दुष्यत्युद्वेगादिना, न विकृतिमाप्नोति, तथाऽदूरं निकटं यथा स्यात्तथा, विप्रकर्षे दूरे वा
स्यात्तव्यमित्यर्थः । अत्रापमाशयः । सन्तो हि नितान्तमेकान्ते भगवत्कर्यां मिथः कुर्वन्तस्त-

इसमसविबशा भवन्ति, ताननुसरन्त्यदि कश्चित्स्वलाभं निश्चित्य तेषामासत्तिमालम्बते, ते चेदतिगूढरसं तदग्रतः प्रकाशयितुमशक्यभाकलयन्तः, स्वयं ततो विरमन्ति चित्तोद्वेगवन्तः, तदा तस्य दूरस्थितिरिवानुसरणे श्रेयसी, अन्यथा मनीषितानिष्पत्तेः । अथ दयार्द्रहृदयतया-
तिनिकटागमने नियोगं विदधते, तर्हि तत्सामीप्यमेव समीचीनम्, अनुसरणानुकूलतया समीहितसिद्धिहेतुत्वादिति । यद्वा । स्वस्य चित्तं यथा दुष्टं न भवति तथा सन्निकर्षेण विप्रकर्षेण वा स्वयमित्यर्थः ॥ ७, ८ ॥

एवं सत्सद्भावपगताशेषदोषस्वामिभ्यवस्थामाहुः सेवाध्यामिति ।

सेवायां वा कथायां वा घस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

यस्य सत्सद्भादिकमनुतिष्ठतः श्रीकृष्णसेवायां स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वपरिस्फूर्त्या दृढा निश्चलासक्तिर्भवेत्, कथायां वा, तस्या अपि सेवासनत्वात्, तस्य यावज्जीवं प्राणस्थिति-
पर्यन्तं नाशः फलाभावः कापि न स्यादिति मम मतिः । अतो नेह सन्देहः कर्तव्य इति भावः । यद्वा । मम मतिरेवं भगवान्परमकृपालुः कथं वा तस्य दयेतेति न वेदितुं शक्यमिति भावः । ननु सेवायाः कथायाश्च कथं साम्यम् । इत्यम् । तथाहि । सेवा नाम चित्तस्य तदेकप्रवणत्वम् । चित्तस्तत्प्रवणं सेवे'ति लक्षणाभिधानात् । तत्सम्पादिकायाः कृतेरपि तथात्वम्, अन्यथा तस्याः परत्वानुपपत्तेः । अत एव 'मानसी सा परा मते'त्यभाणि । तेन यथैतस्या भगवद्भावतद्भक्तसद्भादिसाधकत्वं नान्तरीयकानन्तकार्यसाधकत्वं च, तथा कथाया अपीति साम्यं दूरपवादम् । अत एवैतादृशाभिप्रायेण 'कथारतिषु सक्तस्य कथका अपि मिलन्ति, प्रेमापि भवति, आनुपङ्गिकं चान्यद्ब्रह्मेव भवती'त्युक्तमाचार्यैः ॥ ९ ॥

ननु कश्चित्काननादावेकान्ते वासं विधाय भगवन्नामलीलादिकमेव चिन्तनीय-
मेकाकिना, किं भगवद्भक्तसङ्गेनापीति चेत्प्राहुः ।

याधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

तुशब्दः शङ्काव्युदासकः । यदुक्तमेकान्तेन नामचिन्तनमेव कार्यं, न सत्सद्भाव इति तत्सत्यम्, परन्तु यदि बाधस्य भोगाचिचोद्वेगलक्षणस्य सम्भावना न भवेत्, सा चेत्स्यात्, तदैकान्ते वासो नेष्यते, चित्तचाञ्चल्यादिना नामचिन्तनापनिर्वाहात् । अतः सत्सद्भाव एव कर्तव्य इति भावः । ननु चित्तविज्ञेयादिरान्तरो बाधः सत्सद्भादिना नि-
वर्तताम्, बाधं चौरव्याघ्रादिभयं तु दुःपरिहरमिति चेत्प्राहुः हरिरिति । तुशब्दः प्रकार-
भेदावेदकः । हरिर्मत्तदुःखहर्ता सर्वतो बाधादान्तराद्य बाधकाद्रक्षां करिष्यति । अस्मि-
न्मये संशयो नास्तीत्यर्थः । न हि भगवान्भक्तदुःखं क्षणमात्रमपीक्षितुं क्षमते ? निरुपम-

परमानुष्णापूर्णत्वात् । अत एव हरिपदमुपात्तम् । भक्तदुःखहर्तृत्वस्य तदसाधारणधर्म-
त्वात् । तदाहुराचार्याः 'यथा गन्धः शृङ्खलाः, एवं भगवतो भक्तदुःखनिवर्तकत्व'मिति ।
यद्वा । सर्वतः मुदृशनादिना रक्षां हरिः करिष्यति, नात्र संशय इत्यर्थः । 'अप्याहृतानि
कृष्णस्य चक्रादीन्यामुपाणि तं, रक्षन्ति सकलापद्भ्यो येन विष्णुरुपासितः । सकृदेव
प्रपत्ताय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वमृत्योर्ददाम्येतद्गतं मम । कौन्तेय प्रति-
जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यती'सादिवाक्येभ्यः ॥ १० ॥

एवं प्रस्तुतमशेषं शास्त्रगुणवर्णयैतदर्थपरिज्ञानपूर्वकपाठफलोपन्यासपुरःसरमुपसंहरन्ति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गुहा रतिः ॥ ११ ॥

इतीति समाप्तौ । एवमुक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं भगवद्भक्तिप्रकारप्रतिपादनात् निरू-
पितमपि गूढतत्त्वं गुप्तस्वरूपम्, भगवदनुग्रहीतैरेवैतदनिप्रायस्यावगन्तुं शक्यत्वात् ।
एतद्यः पुमानुदितभाग्यो भगवदीयानुग्रहेण विचारेण वा सम्बन्धार्थवगमपूर्वकमधीयीत पठ-
तस्य भगवति द्वा सिरा रतिः स्यादित्यर्थः ॥ ११ ॥

श्रीमःकल्याणरायाहजन्मा गोपेश्वरामिभः । विवृतिं भक्तिवर्धिन्याः कृतिनिवृत्तये व्यधात् ॥
यद्यप्यतिद्विधास्याः पितृचरणैर्निर्मिता विवृतिः । तदुपरिकरणेऽन्यस्या आघोषो भूपतेनत्वम् ॥
तेषामतिकरणानां तथापि बालेन संरचिता । निजपाठितगुणेनैव प्रीत्यै नित्यं भवित्रीयम् ॥
इमां श्रीवल्लभाचार्यपदपङ्कजकिङ्कराः । पश्यन्तः सन्तनं सन्तः सन्तुष्यन्तु सुहृर्गुहः ॥

इति श्रीमद्भोक्कुलाधीशपदपङ्कजरुहनिरतिशयरतिवर्त्मप्रवर्तकोद्वेल्लङ्गवल्लीलामहारसाम्बिधस-
मुच्छलद्भावकलोलसंवलितप्रकलस्वरूपश्रीवल्लभाचार्यवदनचन्द्रचञ्चलरुतमवचनमतीचिनि-
चयप्रोदञ्चिःसीमानन्दनिकुरुम्बकरमिनीकृतनिजभृत्यनिकरचेतश्चकोरकानवधिकानुकम्पा-
निपानश्रीविठ्ठलामिधानप्रभुचरणपयोदहरेणुःरुणमात्रसर्वस्वश्रीकल्याणरायतनुजगोपेश्वरविर-
चिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्तिमुपागमत् ।

श्रीविठ्ठलपदपङ्कजकिङ्करगोपेश्वररचिता या । तां श्रितानां तोषाय रोषाय द्वेषिणानस्तु ॥
अनया कृपया तेषां कृतयामितया मया । सरार्यां बल्लभाचार्याः प्रसीदन्तु सरा मयि ॥११॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवृतिसमेता ।

प्रणम्य गोकुलाधीशभक्तिमार्गान्जभास्वतः ।

आचार्यास्तदयादृष्ट्वा ध्याकुर्वे भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥

अयं श्रीमदाचार्यचरणा मगवता एकादशस्कन्धे चतुर्दशाध्याये 'न साधयति मां योग' इत्यत्रोपलक्षणविषया सर्वेषां योगदीनामुपायानां सासाधकत्वमुक्त्वोक्तितायाः भक्तेः स्वसाधकत्वमुक्तम्, तत्र किं नामोर्जितत्वमित्याकांक्षायां प्रवृद्धत्वमेवोर्जितत्वमित्यभिसंधाय भक्तिवृद्ध्युपायं स्वीयानामर्थे वक्तुं प्रतिजानते यथा भक्तिरित्यादि ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तपोपायो निरूप्यते ।

तत्र भक्तिश्चन्द्रो माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढस्येहे रूढः । 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः । सेहो भक्तिरिति श्लोकस्तथा मुक्तिर्न चान्यथे'ति परमाराधस्मृतेः, 'सा परानुरक्तिरीश्वर' इति शांडिल्यसूत्रोक्तान्नकिलक्षणात्, 'रतिर्देवादिविषया भान इत्यभिधीयते' इति भावलक्षणस्मृतेः । सेहस्य ज्ञानादिभ्योतिरित्तो मनोधर्मविशेषः । श्रीणाम्यनुरज्यामि खिद्यामीत्यनुव्यवसायेन मानसप्रत्यक्षमस्य इति शांडिल्यसूत्रमाप्ये स्वमेश्वराचार्यैर्व्यवस्थापनात् । नचैवं सति सेहमात्रमेव भक्तिरिति शङ्क्यम् । 'गोप्यः कामाद्भपात्कमो द्वेषावैषादयो नृपाः । सवन्पादृष्णयः सेहाप्य भक्त्या वयं विभो' इति सप्तमस्कन्धीयनारदवास्ये भक्तिश्रेयोनिर्देशभेदस्य विरोधापत्तेः । उक्तपरमाराधस्मृत्यादिपूक्तानां तद्विशेषणानां वैयर्थ्यापत्तेः । तस्मात्तावद्विशेषणविशिष्टमेह एव रूढो, न केरु इति निश्चयः । योगविचारे तु 'भव सेवाया'मिति धानोभावे किन्प्रत्यये कृते भक्तिरिति भवति । भावश्च क्रियासंज्ञान्तरम् । प्रकृतिप्रत्ययौ सदर्थे मृतः, तयोस्तु क्रान्तः प्राधान्येनेति वैयाकरणनियमात् धात्वर्थव्यग्या या प्रधानमृता क्रिया नत्र पर्यवस्यति । प्रधानमृता च क्रिया मानस्येव । अन्यप्रमना अभूवत्तामृष्णम्, अन्यप्रमना अभूवत्तावशमि'तिरावसनेपशुती मनसः प्राधान्यभारणेन तत्रित्याया एव प्राधान्यम्वीचित्यात् । तथाच सेवाभिष्यंसा प्रेररूपा मानमी सेवा भक्तिरिति तत्र योगरूढः निष्पद्यति ।

१ सुन्दररूपे च 'सा परानुरक्त्या विदरेक्या शिल्पिन्यत्र कर्तो' इति । २ इति परमाराध-विनिर्णय समस्तु साधकत्वमुक्तेः इति । ३ तत्रभक्तिरिति वद ।

तथाच श्रवणादिनवकेपि पारिभाषिकः । 'श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण पादसेवनम् ।
 अर्चन वन्दन दास राख्यमात्मनिवेदनम् । इति पुसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणे ति
 सप्तमस्कन्धे प्रह्लादवाक्यात् । अन्ये तूपासनायामपि भक्तिशब्द प्रयुजते । नैयायिकास्तु
 आराध्यत्वेन ज्ञान भक्तिरित्याहुः । तन्मते बुद्धिविशेष एव भक्तिः । वस्तुतस्तु तत्र
 सारूप्यप्रयुक्ता गौणी । पूर्ववद्ब्रह्मादिज्ञापकप्रमाणामावात् । तृतीयस्कन्धे पञ्चविंशत्याये
 श्रीकपिलदेवैस्तु 'काचित्त्वप्युचिता भक्तिः कीदृशी मम गोचरे ति देवहृतिप्रश्ने 'देवाना
 गुणलक्षणानामानुश्रविककर्मणाम् । सत्त्वं एवेकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या, अनिमित्ता
 भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी, जरयत्याशु या कोश निर्गोर्णमनलो यये'ति स्वरूपकार्य
 लक्षणाम्या बोधिता । तत्र एकमनसः पुंस इन्द्रियाणां स्वभाविकी अनिमित्ता सत्त्वोपाधौ
 भगवति वृत्तिर्निष्ठेति स्वरूपलक्षणम् । कोशजरणं च कार्यलक्षणमिति सिध्यति । तत्सुबो
 धिन्या सत्त्वपद साख्यानुसारात् 'वस्तुतस्तु मूलरूप' इति व्याख्यातत्वात्स्पष्टम् । अष्टौ
 विंशत्याये तु 'भक्तियोगो बहुविधः' इति पुरुषस्वभावभेदकृतमार्गभेदेन भक्तियोगस्य बहु
 विधत्व प्रतिज्ञाय, त्रिविध सात्त्विकराजसतामसभेदेन तदेव नवधा त्रिभिः श्लोकैर्भिधाय,
 ततो 'महदुपश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये । मनोगतिरविच्छिन्ना यथागगामसोन्मुषी ।
 लक्षण भक्तियोगस्य निर्गुणसाध्युदाहृतमित्यनेन भगवद्गुणश्रवणमात्रात् भगवत्वविच्छिन्ना
 मनोगतिं यो जनयति स भावैः निर्गुणभक्तियोगाख्य इत्येव लक्षितः । ततः 'अहंतुक्य
 व्यवहृता या भक्तिः पुरुषोत्तमे । सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसाम्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न
 गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना' इति सार्ष्ट्या काठकर्मोप्यवहृताः पुरुषोत्तमविषयिणी सतः
 पुरुषार्थरूपा या सेवा सा आत्यन्तिकभक्तिरित्येव लक्षिता । अत्र च भक्तिशब्दः प्रेमसेवाया
 योगरूढो गृहीत इति 'सालोक्ये तिवान्यादवसीयते । अयमेव चैकादशस्कन्धे द्वादशा
 ध्याये 'केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगा । येन्ये मूढधियो नागा सिद्धा माभी
 सुरजसे'त्यादिभिः श्लोकैर्भगवता परामृष्टो ज्ञेयः । एव भक्तिशब्दस्वानेकार्थत्वे सति प्रकृते
 का वा विवक्षितेति चेत् ? उच्यते । आचार्याणां भगवदाज्ञया एकादशस्कन्धे भगवदभिस
 हितो यः सुगोप्यः सत्सङ्गलभ्यो भाव उक्तः, स एवाभिसहितः । सिद्धान्तस्तुक्ताख्या 'चेतस्त
 श्रवणं सेने'ति कथनात्, तद्विवरणे प्रयुच्यैरपि 'ता नाविद' इति द्वादशाध्यायवाक्यस्य
 लिखनात्, प्रकृतग्रन्थेषु तत्रत्यचतुर्दशाध्यायवाक्योक्तसत्सङ्गश्रवणकीर्तनात्मकसाधनानां
 मन्निधानात् । न च चतुर्दशाध्यायोक्तसाधनानां द्वादशाध्यायोक्तभावः प्रति साधनत्व
 क्यमिति शक्यम् । चतुर्दशाध्याये तस्यैव भक्तिशब्देन परामर्शात् । द्वादशाध्याये 'न रो

१ प्राणाभ्यामानादिति पाठः । २ एकोनविंशत्याये इति पाठः, अष्टाधिको विंशो यत्रैकोनविंशो
 श्लोकादिनां तदन्ते ध्याये । ३ तेन मनसो गतिर्येव भावेनेति विग्रहः । एव भक्तिरस्य अजनमित्यसौ
 मनः कल्पनशब्देऽपि । ४ पुहित्व साधनेष्वपि अतो न वेवलाटुमहासाध्यलक्षितोप ।

धयति मां योग' इत्याद्युक्तस्य योगादीनामसाधकस्यात्रापि 'न साधयति मां योग' इत्यनेन प्रत्यभिज्ञानेन तथा निश्चयात् । अतस्तस्य या पूर्वावस्था 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्त्विति पञ्चरात्रवाक्ये उक्ता, सात्र विवक्षिता, तस्याः पूर्वोक्तपुरुषोर्मितत्वार्थमेव प्रयतनात् । तथाच सा यथा येन प्रकारेण प्रवृद्धा ऊर्जिता स्यात् तथा तेन प्रकारेण उपायो बुद्धिस्थो निरूप्यत इत्यर्थः ।

एवं प्रतिज्ञाय अधिकारिभेदेन प्रकारद्वयं वदिष्यन्तो मुख्याधिकारिणो भक्तिप्रवृद्धेरधिकारणलादेव सिद्धत्वाच्चदनुक्त्वा प्रथमं मध्यमाधिकारिण उपायमाहुः बीजभावे इत्यर्थेन ।

बीजभावे दृष्टे तु स्यान्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

बीजरूपो भावः मगं वदनुग्रहजन्यः प्रेमा । तस्मिन्वक्ष्यमाणरीतिकव्यसनरूपतया दृष्टे सति । तुः साधनान्तराग्रहानिरासे । तदा त्यागोच्छ्रवणकीर्तनात्सात् । विरहानुभवार्थं संन्यासनिर्णयोक्तप्रकारकः सवासनगृहपरित्यागस्त कृत्वा तदुत्तरं यच्छ्रवणसहित कीर्तनं तस्मात्सार्थादित्यर्थः । अत्र श्रवणानन्तरं कीर्तनस्य कथनाच्छ्रुतानां स्वरूपगुणलीलानां भावनं कीर्तनात्पूर्वमर्षफलआप्पते । एतदभिप्रायेणैव संन्यासनिर्णये 'भावो भावनया सिद्धः साधन'मित्युक्तम् । निरोधलक्षणे चाशंसाः प्रथमतो निरूपिताः । तथाचैतैश्चतुर्भिर्मक्तिरूजितलक्षणवती प्रवृद्धा भवतीत्यर्थः । एतदेव निरोधलक्षणग्रन्थे 'महतां कृपाया याव'दित्यारभ्य 'तदध्यासोपि सिध्यती'त्यन्तेन फलानुभवपर्यन्तं प्रश्रितं ज्ञेयम् । तन्मया तत्रैव विवृतमिति नेहोच्यते ।

प्राञ्चस्तु । पुष्टिमागार्गाचार्यानुग्रहपूर्वकमगवत्रिवेदानानन्तरमाविनमंगीकारं बीजभावत्वेन केचिदाहुः । अन्ये तु भक्त्यसाधारणकारणमहदनुग्रहसत्ताम् । इतरे चाल्पं रोहम् । तथा त्यागपदेन भगवदतिरिक्तत्वायं केचिदाहुः । अन्ये तु एतन्मार्गीयातिरिक्तसाधनत्वायम् । इतरे तु भक्तिमार्गविरोधिनोन्यमजनादेस्त्यागम् । तेन तन्मते गृहस्थित्यविरोधी त्याग आयाति । मन्मते तु गृहस्थितिविरोधीतिभेदो बोध्यः ॥ १ ॥

अतःपरं जघन्याधिकार्यर्थं प्रकारं वदिष्यन्तः पूर्वं बीजदार्ढ्यप्रकारमाहुः बीजत्वादि ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

बीजं पूर्वाक्तम् । तद्दार्ढ्यप्रकारस्तु निरूप्यत इति शेषः । गृहे गृहस्थाश्रमे स्थित्वा स्वधर्मतः वर्णाश्रमधर्मतः पूर्वसिद्धादव्यावृत्तः अपरावृत्तः । 'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य गुरोः

१ साधारणवसरूपप्रेमव्यावृत्तं विरोधणम् । 'नासतो विद्यते भाव' इति नीताया तदुक्तम् । प्रेमानि सत्तारूपं विषयवेदव्यावृत्तं । विरोधणादित्युक्तम् । २ एकादशसैनादसोपानेतिभ्यति । ३ व्यसनस्य प्रेमविरणानान्तिमेव दृष्टादित्यस्य सपके कारिकोक्त भक्तिरुद्धि स्वादिति नोपक्रमविरोध ।

कर्मातिशेषेणामिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सप्रतिष्ठाप्यार्हिसन् सर्वाणि मृतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः, स सत्त्वेव वर्तयन् यावदायुष्यमसलोकमभिसंपद्यते, न च पुनरावर्तत' इति छान्दोग्यस्यै गृहिणोपसंहारसूत्रविषयवाक्ये तथा सिद्धत्वात् । एकादशस्कन्धे उद्धवप्रश्ने भगवताप्याचारलक्षणस्य वर्णाश्रमधर्मस्य भवनाह्वलेनोक्तत्वात् । तं कुर्वन् कृष्ण पुरुषोत्तम भवेत् । तत्र साधनपूजाश्रवणादिकं च । तदाहुः पूजया श्रवणादिभिरिति । अत्र पूजा ययालम्बोपचारैः छान्दालक्षणादिरूपस्वरूपसेवनम्, अर्चनापार्यायम् । तत्रैव पूजनप्रयोगदर्शनात् । श्रवणादि तु नवविधप्रसिद्धमेव । तैर्मजैत् सेवेत । प्राथमिकभगवदनुग्रहेण जातामनुज्ज्ञताभक्तिमनया साधनमर्यादयामिव्यञ्जयन् वर्धयेदित्यर्थः । यद्यपि नवस्वर्चनमपि प्रविशति, तथापि तस्यावश्यकत्वात् विशेषफलसाधकत्वात् च प्रथमं पृथङ्निर्देशः । नचोक्तश्रुतिभगवद्वाक्ययोधितप्रकारकस्य वर्णाश्रमधर्मस्वेदानीमभावाद्भजनस्य व्यङ्ग्यत्वशङ्काम् । सप्तमस्कन्धे 'स्वधर्माचरणशक्तये'ति नारदवाक्येन, निदन्ध आचार्यैरपि 'स्वधर्माचरणशक्तये'त्वगीकारेण च यथाशक्ति तत्कारणेषु भक्तेर्बद्धतापरिहारस्य निःप्रवृत्तत्वात् । एवमेकप्रकार उक्तः ॥ २ ॥

अतः परं वैधुर्यादिना तदशक्तौ प्रकारांतरमाहुः व्यावृत्तोपीत्यादि ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तश्रवणादौ यतेत्सदा ।

वैधुर्यादिना व्यावृत्तस्वाशक्त्या वर्णाश्रमधर्मान्निवृत्तोपि हरौ भगवत्पदहर्तारिचित्तस्थापयित्वा श्रवणादौ श्रवणार्थम्, तादर्थ्ये सप्तमी, यतेत् यन्न कुर्यात् । अनुदात्तलक्षणस्यात्मनेपदस्मान्नित्यत्वात् परस्मैपदम् । न तु परार्थत्वात् । स्वतः पुरुषार्थत्वेनैव तत्करणस्य सिद्धान्तत्वात् । सदेति । निरन्तरमभीक्ष्णं वा । एवञ्च जपन्याधिकारिणोर्मध्ये यस्य सेवकसाधनसंपत्तिस्तस्य पूजाश्रवणादिकं च बीजव्यक्तिसाधनम् । यस्य तु न पूजासाधनसंपत्तिः, तस्य तु भगवच्चित्ततापूर्वकं श्रवणादिकमेव साधनम् । एतदेवापिसन्धाय निरोधलक्षणग्रन्थे 'ससारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै' इत्यारभ्य आन्तप्रपञ्चितज्ञेयम् । तन्मया तद्विवरणे व्युत्पादितमिति नेह पुनरुच्यते ।

प्राक्स्तु अव्यावृत्तशब्दस्य व्यासङ्गरहित इत्यर्थमाहुः, व्यावृत्तशब्दस्य च व्यासक्त इति । सोत्र 'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सप्रतिष्ठाप्ये'ति श्रुत्यैव सिध्यतीत्युपेक्षितम् । व्यासक्त इति तु 'हरौ चित्त'मित्यादिनैव निवार्यत इत्युपेक्षितम् । उर्ध्वगोप्रसगाचेति बोध्यम् ॥ २३ ॥

१ भाष्योक्तं वाचि शिव । २ यत्रैव विद्यया करोति भद्रमेति श्रुत्युक्तं विशेषकम् । कल्याणोपेक्षितं चेत् ३ तत्रैव वैश्वानरवनेन मात्स्या विविदिषन्तीति श्रुत्युक्तत्वात् । ४ विपरीतशक्त्यापयोगत्वात् ।

एवं बीजदार्यसाधनमुपदिश्य बीजाभिव्यक्तिप्रकारमाहुः ततः प्रेमेत्यादि ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यज्ञापि नश्यति ।

तत्र उक्तविध(मध्यम)जघन्याभ्यां कृताहुक्तविधसाधनात्प्रेम हरौ भवेत् । पूर्वोक्तो हरिशब्दोऽप्यनुपजते । एवमप्रेषि बोध्यम् । प्रेमं च भावकन्दलरूपं बोध्यम् । तथा-सक्तिः तदुत्तरं तादृशेन तत्करणेन तदुत्कर्षावस्था रागादिरूपा भवेत् ।

कल्याणरायास्तु स्वविषये स्वतः प्रवर्तको भावः प्रेमशब्देनोच्यते, स्वविषये विधि-धमनोरधजनको भाव आसक्तिरिति तयोर्लक्षणमप्याहुः । तदपि युक्तम् । तथानुभवस्य सर्वजनीनत्वादिति ।

च पुनः यदा व्यसनं तद्विना स्यातुमशक्तिरित्याकारकं यदा भवेत्, तच्छास्त्रे भक्तिपरमकारणबोधके 'श्रद्धास्तकथायां म' इत्यादिरूपे भगवता साधनपर्याप्तिकथनात् दृढं बीजमित्यस्माभिरुच्यते । दृढत्वे गमकमाहुः यज्ञापि नश्यतीति । नस अदर्शने । यद् दुःसंघादिना परिभूतं सर्वशानागोचरतां न प्राप्नोति, किन्तु सर्वदैव द्रव्यते, स्वयं चानुभूयते । तथाचैतदेव दार्यलक्षणम् । अदृढस्यैव कादाचित्कत्वादिति । अत्र पूजाश्र-वणादिकं दशमस्कन्धोक्तरीतिकमेव आह्वमित्यभिप्रेतम् । नामावलीसमाप्तौ 'पाललीलानाम-पाठात् श्रीकृष्णे प्रेम जायते । आसक्तिः प्रौढलीलाया नामपाठाद्भवति । व्यसनं कृष्णचरणे राजलीलाभिधानतः । तस्मान्नामत्रयं जायं भक्तिप्राप्तीप्सुभिः सदैविति कथनात् । एवं कीर्तनस्य निरोधलीलाविषयत्वे निश्चिते श्रवणस्यापि तद्विषयत्वमेव निश्चितं भवति । तथा श्रवणमपि यत्र यज्ञमसिद्धं, यथा च नामावल्यां यत्रोक्तं, तदनुसंधानपूर्वकमेव संपा-दनीयमिति च । तथा पूजाया अपि । तेन नवानामप्येकरूपत्व निश्चितं भवतीति मम प्रतिपत्तिः । न च 'यस्याः सकीर्तनाद्रिश्वरात्मानं संप्रयच्छती'त्युपक्रमोक्तफलविरोधः संकनी-यः । तस्मात्तर्तनसिद्धात्कीर्तनात्सिद्धेः । उपसंहारे निरन्तरे जाप्योक्त्या तयावसायादिति ।

एवं दृढबीजलक्षणमुक्त्वा तत्सिद्धयर्थं तदुत्पादकानां प्रेमायवस्थानां सिद्धिज्ञापकं लक्षणं क्रमेणाहुः स्नेहादित्यादि ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्वृहत्कथिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां याघकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

१ 'बीजं तदुच्यते' इत्युत्तरमप्याह । 'विशयो वा कथायां वै'त्यत्र हेतुत्वव्याप्तिःसर्पिका भक्ति-इत्येवम् । २ 'आवशयो भित्तु'रित्यारभ्य 'नीचीं कथित्ये'त्यन्तम् । ३ दृढ प्रेमेलयोरुक्तव्यपनेषु ना-मात्मनसाधनप्रवेशाद् तत्र इत्यस्य नामानुवचसाधनमाहुः ।

अत्रैतद्विषयम् । भक्ति स्नेहविशेष इति पूर्वं व्युत्पादितम् । तत्कारण तु भगवद्भक्त्यै विशेष एवानुग्रहाख्य इति भक्तिहेतुनिर्णये स्थितम् । सा चानुग्रहजन्या भक्ति क्वचित्साहसैर्नाभिव्यज्यते, क्वचिच्च सत्यज्ञश्रवणादिसाधनद्वारा । तत्र ये शुद्धपुष्टावगीकृतास्त्रेषु तु सह सैवाभिव्यज्यते, यथा गोकुलश्लेषु । ये पुनर्मिथुष्टावगीकृतास्त्रेषु तु साधनद्वाराभिव्यज्यते, किञ्चित्कार्यार्थं तेषु प्रतिबन्धतन्निवृत्त्योर्दर्शनात् । तथापि 'लौकिकत्व वैदिकत्व कापट्यात्त्रेषु नान्यथा । वैष्णवत्व हि सहज'मिति लक्षणं तु न व्यभिचरति । एव सति येषु साधनद्वारा भक्त्यभिव्यक्तिः, तेषु साऽनुद्धता भावरूपेण मनसि तिष्ठति, तत पूजादिषु साधनेष्वनुष्ठीयमानेषु प्रेमादिरूपेण क्रमादुद्धता भवति । अभियुक्तास्तु भावस्वावस्थासप्तकमाचक्षते । 'भाव प्रेम प्रणय स्नेहो रागानुरागव्यसनानी'ति । अत्र च पूर्वं वीनाभिव्यक्तिप्रकारकथने 'तत प्रेमे'ति प्रेमशब्देन पूर्वावस्था निर्दिश्यात् तदभिज्ञापककथने यस्नेहशब्द प्रयुक्तः, तेन प्रेमप्रणयस्नेहाख्यास्तिस्रोवशा यदा भवन्ति, तदा भगवच्छ्रवणाद्यतिरिक्तेषु रागविनाशो भवतीति सूच्यते । तथा च इतररागविनाशस्तथाच्युर्वाभिज्ञापक लक्षणम् ।

रागानुरागात्मकावस्थाद्वयस्थासक्तिप्राचुर्याभिज्ञापक लक्षणत्रयमाहुः आसक्त्या स्याद्गृह्णाच्छिरीत्वादि । रुचिराकाशा गृह्णाच्छिर्गृह्णाकाशाऽभाव उपेक्ष्यत्वमिति यावत् । सा आसक्त्या स्यादिति । तदासक्तिप्राचुर्याभिज्ञापक लक्षणम् । लक्षणान्तरमाहुः गृहस्थाना मित्यादि । गृहस्थाना चेतनाचेतनाभा भगवति समर्पणानन्तर भगवदीयत्वानुसन्धानेपि तेष्वशत स्त्रीयत्वामिमानस्यापि विद्यमानत्वात्तदादाय तेषां पूजाश्रवणादिसाधनवापकत्व स्वस्य भासते, सर्वेषां चित्रकर्मत्वात्स्वभावभेदेनान्यविनियोगसमवात्तच्चिन्ताया अकरणेपि तेषु स्वाभिमानस्य सहसाऽनिवृत्तेरनायस्यापि तच्चिन्तादिसम्भवेन 'गृहेश्वतिशिवत् वस' इति न्यायस्य तदानीमसम्भवादपि तेषां श्रवणादिषाचकत्व स्वस्य भासते । किञ्च, अन्यविनियोगादीनां स्थूललिङ्गशरीरधर्मत्वात्तेषां तत्राद्यान्ये जीवसानुसृष्टिः सतीत्युक्तस्यात्पधर्मस्य गौणत्वात्पूर्वं पापाणकल्पत्ववदनात्मत्वं च तेषु भासते । तथाचैतदुभयभानं गृहस्थितिं शिपिलीकुर्वदासक्तिदाढ्यं सपादयतीति पूर्वोक्तमुभयविषयमानमासक्तिप्राचुर्यं लक्षणमित्यर्थः । अत्र लक्षणत्रयकथनेन त्रितयमवने आसक्तिपर्याप्तिसौध्याः ।

प्रायस्तु केचिदिमं भाग आसत्तिलक्षणत्वेनाहुः । अन्ये पुनर्व्यसनलक्षणत्वेन । अर्थं च स्वस्वीत्या त तमाहुः । मम तु भगवानेव प्रेरितवानिति मयैव व्याख्यातम् । गृहत्याग एवाचार्याणामाशयस्य स्फुटत्वादिति ।

व्यसनस्य तदाहुः यदेत्यादि । यदि एव प्रेमासक्तिप्रकर्षोत्तरं व्यसनं 'तदिना

१ संघारिभावरूपेण सर्वमाना अन्तरा भूताप्रामव'स्ता'भव' इति सूत्रात् । मन्नागामरुति'रित्यत्र भक्तिरसोक्तः । २ निरोपदेशे तथोक्तः । ३ द्वितीय-लक्षणत्रयस्य सुस्पष्टत्वमित्यर्थः ।

स्यात्तुमशक्तिः' । सा भगवद्गुणलीलादिप्राधान्यं विहाय, कृष्णे स्यात्, कृष्णे इति तादर्थ्ये सप्तमी, भगवत्स्वरूपार्थं स्यात्तद्वैव कृतार्थः स्यात्, कृतः अर्थः पुष्कलसाधनरूपो येन तादृशः स्यात्, तादृशत्वं विना साधनपौष्कल्यं नेति । 'एवं धर्मैर्मुमुक्षुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि संजायते भक्तिः कोन्योर्योस्वावशिष्यत' इत्यत्रैवात्रापि साधनपौष्कल्येर्ध-शब्दप्रयोगः । तथाच गुणलीलादिप्राधान्यं विहायैवं सर्वात्मभावपूर्वकधारुषं स्वरूपपरत्वं व्यसनोत्कर्षाभिज्ञापकं लक्षणमित्यर्थः । अयं च गुणलीलादिप्राधान्यत्यागो गुणोपसंहारे 'प्रदानवत्सूत्रे' प्रभुचरणैर्धुत्पादितः 'प्रकृतेषु सर्वात्मभाव' इत्यादिना । तेनैवं दैन्य-पूर्वकचरणैर्भावेन स्वरूपपरत्वं व्यसनोत्कर्षलक्षणं पर्यवस्यति । एतावता दृढवीजस्वरूप-गुक्तम् ॥ ५ ॥

एवं बीजभावे दृढे सति भक्तिवृद्धिः सत एवाग्रे भविष्यतीति न मन्तव्यम्, किन्तु दृढं तत्तद्व्यमेवेत्याहुः तादृशस्यापीत्यादि ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

तादृशस्य सर्वं विहाय स्वरूपपरस्यापि सततं निरन्तरं गृहस्थानं विनाशकं तादृश-स्वरूपपरतानाशकम् । एकादशस्कन्धे भगवता 'वाच्यमानोपि मरुद्धो निषगैरजितेन्द्रियः । प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयत' इत्यादि । अनेकेमाहात्म्यमुक्त्वा, अग्रे 'स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सहं लवत्वा दूत आत्मवान् । क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः' 'न तथास्य भवेत्क्षेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः । योपित्सद्वाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गत' इति द्वाभ्यां श्लोकादिसद्गुणपरित्यागपूर्वकं निरुपद्रवे विविक्तस्थाने स्थित्वा स्वचिन्तनस्य कथनात् श्लोकादिसङ्गस्य श्लेशबन्धहेतुत्वकथनाच्च । तस्मान्निरन्तरं गृहस्थितिस्त्याज्यैव । किन्तु मध्ये मध्ये गृहाङ्गिर्गल, यत्र भगवत्सान्निध्यं, तत्र गत्वा, भगवद्दर्शनसेवादिविधानेन गृह-स्थितिं शिथिलीकुर्यादित्यर्थः । एतेन बीजदार्ढ्यनिर्वाहप्रकार उक्तः ।

अतः परं यत्पूर्वं 'त्यागान्द्रवणकीर्तनादि'त्यनेन भक्तिवृद्धिप्रकार उक्तस्तं व्युत्पादयन्ति त्यागं कृत्वेत्यादि ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थायैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां पराम् ।

संन्यासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इत्यादिना आरंभदशाया

१ आर्तिविशेषो देव्यम् । २ 'गुप्तपुनै' शब्दमनुष्यैरिति गोपालतापिनीये माहात्म्यं शरणत्वम् । ३ सोहमित्येकपरत्वं संन्यासिभावस्वरूपम् । उभयं भक्तिद्वाराणं बीजभावे निरूपितम् । ४ भक्तिरससात्म-भोरीपनानुभावसंन्यासिभावस्वरूपम् । ५ गृहे स्थित्वा शपथतो गृहस्थाग्ने मज्जनं संयोगरूपं, नियोगरूपं त्याग इति द्विदशमस्कन्धे द्वितीयदशप्रकारम् । ६ भक्तिः ।

अत्रैतद्विषयम् । भक्ति' स्नेहविशेष इति पूर्वं व्युत्पादितम् । तत्कारणं तु भगवद्दर्श
विशेष एवानुग्रहारय इति भक्तिहेतुनिर्णये स्थितम् । सा चानुग्रहजन्या भक्ति क्वचित्सहस्रै
वामिव्यज्यते, क्वचिच्च सरसङ्गश्रवणादिसाधनद्वारा । तत्र ये शुद्धपुष्टावगीकृतास्त्रेषु तु सह
सैवामिव्यज्यते, यथा गोकुलस्थेषु । ये पुनर्मिश्रपुष्टावगीकृतास्त्रेषु तु साधनद्वारामिव्य
ज्यते, किञ्चित्कार्यार्थं तेषु प्रतिबन्धतन्निवृत्त्योर्दर्शनात् । तथापि 'लौकिकत्व वैदिकत्व
कापट्यात्तेषु नान्यथा । वैष्णवत्वं हि सहज'मिति लक्षणं तु न व्यभिचरति । एव
सति येषु साधनद्वारा भक्त्यभिव्यक्तिः, तेषु साऽनुद्भूता भावरूपेण मनसि तिष्ठति, तत
पूजादिषु साधनेष्वनुष्ठीयमानेषु प्रेमादिरूपेण रुमादुद्भूता भवति । अभियुक्तास्तु भाव
स्यावस्थासप्तकमाचक्षते । 'भाव प्रेम प्रणय स्नेहो रागानुरागव्यसनानी'ति । अत्र च पूर्व
धीनामिव्यक्तिप्रकारकथने 'ततः प्रेम'ति प्रेमशब्देन पूर्वावस्था निर्दिश्यात् तदभिज्ञापककथने
यत्स्नेहशब्दः प्रयुक्तः, तेन प्रेमप्रणयस्नेहाख्यास्तिस्रोवस्था यदा भवन्ति, तदा भगवच्छ्र
वणाद्यतिरिक्तेषु रागविनाशो भवतीति सूच्यते । तथा च इतररागविनाशस्तत्प्राप्त्याभि
ज्ञापकं लक्षणम् ।

रागानुरागात्मकावस्थाद्वयस्यासक्तिप्राप्त्याभिज्ञापकं लक्षणत्रयमाहुः आसक्त्या
स्याद्गृहकारुचिरित्यादि । रुचिराकाशा गृहकारुचिर्गृहाकाशाऽभाव उपेक्ष्यत्वमिति यावत् । सा
आसक्त्या स्यादिति । तदासक्तिप्राप्त्याभिज्ञापकं लक्षणम् । लक्षणान्तरमाहुः गृहस्थाना
मित्यादि । गृहस्थानां चेतनाचेतनानां भगवति समर्पणानन्तरं भगवदीयत्वानुसन्धानेपि
तेष्वशतं स्त्रीयत्वाभिमानस्यापि विद्यमानत्वात्तदादाय तेषां पूजाश्रवणादिसाधनबाधकत्व
स्वस्य भासते, सर्वेषां चित्रकर्मत्वात्स्वभावभेदेनान्यचिनियोगसम्भवात्तच्चिन्ताया अकरणेपि
तेषु स्वाभिमानस्य सहसाऽनिवृत्तेरनायत्त्यापि तच्चिन्तादिसम्भवेन 'गृहेष्वतिथिवत् वस'
न्निति न्यायस्य तदानीमसम्भवादपि तेषां श्रवणादिबाधकत्व स्वस्य भारते । किञ्च, अन्य
चिनियोगादीनां स्थूललिङ्गशरीरधर्मत्वात्तेषां तद्व्याधान्ये जीवस्यानुसृष्टिः सतीत्युक्तस्या
त्मधर्मस्य गौणत्वान्मूर्खे पापाणकल्पत्वचदनात्मत्वं च तेषु भारते । तथाचैतदुभयमान
गृहस्थितिं शिथिलीकुर्वदासक्तिदारुण्यं सपादयतीति पूर्वोक्तमुभयविधं मानमासक्तिप्राप्त्यर्थं
लक्षणमित्यर्थः । अत्र लक्षणत्रयकथनेन त्रितयभवेन आसक्तिपर्याप्तिसोप्या ।

प्राप्तस्तु केचिदिमं मानं आसक्तिः लक्षणत्वेनाहुः । अन्ये पुनर्धर्मस्य लक्षणत्वेन ।
अर्थं च स्वस्वरीत्या तत्तमाहुः । नमः तु भगवानेव प्ररितवानिति मयैव व्याख्यातम् ।
गृहत्याग एवाचार्याणामाशयस्य स्फुटत्वादिति ।

व्यसनस्य तदाहुः यद्देत्यादि । यदि एव प्रेमासक्तिप्रकर्षोत्तरं व्यसनं 'तद्विना

१ रुचिराभावरूपेण वर्तमाना अन्तरा भूतप्राप्तपरत्वात्मान इति सूत्रात् । मन्त्रानामात्मनि मिलन
अस्तिरसौक्यम् । २ विरोधरूपे तयोके । ३ द्वितीयत्वानुभवस्य मुख्यकारित्वम् ।

सात्तुमशक्तिः' । सा भगवद्गुणलीलादिप्राधान्यं विहाय, कृष्णे स्यात्, कृष्णे इति तादर्थ्यं सप्तमी, भगवत्स्वरूपार्थं स्यात्तदैव कृतार्थः स्यात्, कृतः अर्थः पुष्कलसाधनरूपो येन तादृशः स्यात्, तादृशत्वं विना साधनपौष्कल्यं नेति । 'एवं धर्मैर्मुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि संजायते भक्तिः कोन्योर्थोऽसावशिष्यत' इत्यत्रेवात्रापि साधनपौष्कल्यैर्ध-शब्दप्रयोगः । तथाच गुणलीलादिप्राधान्यं विहायैवं सर्वात्मभावपूर्वकक्षारूपं स्वरूपपरत्वं व्यसनोत्कर्षाभिज्ञापकं लक्षणमित्यर्थः । अयं च गुणलीलादिप्राधान्यत्यागो गुणोपसंहारे 'प्रदानवत्सूत्रे' प्रभुचरणैर्धृत्यादितः 'प्रकृतेषु सर्वात्मभाव' इत्यादिना । तेनैवं दैन्य-पूर्वकशरणभावनेन स्वरूपपरत्वं व्यसनोत्कर्षलक्षणं पर्यवस्यति । एतावता दृढबीजस्वरूप-युक्तम् ॥ ५ ॥

एवं धीजभावे दृढे सति भक्तिवृद्धिः खत एवाग्रे भविष्यतीति न मन्तव्यम्, किन्तु गृहं त्यक्तव्यमेवेत्याहुः तादृशास्यापीत्यादि ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

तादृशस्य सर्वं विहाय स्वरूपपरस्यापि सततं निरन्तरं गृहस्थानं विनाशकं तादृश-स्वरूपपरतानाशकम् । एकादशस्कन्धे भगवता 'बाध्यमानोपि मन्त्रोन्ने निष्पौरजितेन्द्रियः । प्रायः प्रगतमया भक्त्या विषयैर्नानिभूयत' इत्यादि । रं. भक्तेर्माहात्म्यमुक्त्वा, अग्रे 'स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरतः शालवान् । क्षेमे विविक्त आसीनश्चित्तयेन्मामतन्द्रितः' 'न तथास्य भवेच्छेषो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः । योषित्सङ्गायथा गुंसो यथा तत्सङ्घिसङ्गत' इति द्वाभ्यां श्रुत्यादिसङ्गपरित्यागपूर्वकं निरुपद्रवे विविक्तस्थाने स्थित्वा स्वचिन्तनस्य कथनात् श्रुत्यादिसङ्घस्य श्लेशबन्धहेतुत्वकथनाय । तस्मान्निरन्तरं गृहस्थितिस्त्याज्यैव । किन्तु मध्ये मध्ये गृह्याक्षिगीत्य, यत्र भगवत्सान्निध्यं, तत्र गत्वा, भगवद्दर्शनसेवादिविधानेन गृह-स्थितिं शिथिलीकुर्यादित्यर्थः । एतेन धीजदार्ष्यनिर्वाहप्रकार उक्तः ।

अतः परं यत्पूर्वं 'त्यागान्द्रवणकीर्तनादि'त्यनेन भक्तिवृद्धिप्रकार उक्तस्तैः व्युत्पादयन्ति त्यागं कृत्वेत्यादि ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थायैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां पराम् ।

संन्यासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इत्यादिना आरंभदशाया

१ आर्तिविशेषो दैन्यम् । २ 'युगपुत्रे' इत्यनेन युगजे' इति गोपालतापिनीये माहुरत्यं शरणत्वम् ।
३ सोहृदभिरैक्यपरत्वं धनारिभाररूपम् । उभयं भक्तिकारणं धीजभावे निरूपितम् । ४ भक्तिरससाठन-
मोदीपनानुभावसंज्ञारिभावरूपम् । ५ गृहे स्थित्वा स्वधर्मदो गृहस्थाधने भजनं संयोगरूपं, निप्रयोगरूपं
त्याग इति द्विदत्तात्मकमर्केर्द्वितीयपरत्प्रकारम् ।
६ भक्तिः ।

यत्प्रकारकस्याग उक्तं कृत्वा, यथाधिकारं श्रवणकीर्तनाभ्यां यत्ने, भक्तिप्रवृत्त्यर्थं यत्
 कुर्यात् । तत्रापि न भक्तिप्राप्तयेव पर्यवसन्नः, किन्तु तदर्थार्थैकमानसः । पूर्वं कृष्णशब्द-
 सौक्तत्वाद्गत् तच्छब्देन स एव पराश्रयते, अर्थश्च प्रयोजनम्, स अर्थो यस्याः सा
 तदर्थी, स्वरूपमात्रफला गुणातीतभक्तिरिति यावत् । तस्याः य अर्थो भगवान्, तस्मि-
 श्चेकं केवलं मानसं यस्य सः तथा । तथा च तादृशी भक्तिं यो भगवत्साधकत्वेन न करोति,
 किन्तु स्वरूपदिदक्षयैव क्लेशति, स तथेत्यर्थः । तस्य मिद्धिमाहुः लभत इत्यादि । सः
 सुदृढा इतराप्रतिनय्यां सर्वान्योपि भक्तियुक्तिकां निरोपलक्षणग्रन्थ उच्छृत्त्वेन सूचितां
 परामूर्जितां भगवत्साधिकां भक्तिं लभते । तथाच दिदृष्ट्यातिरिक्तयावदपेशारहितस्य परम-
 भक्तियोगिभवेति । तेनेदमेव भक्तिप्रवृद्धेः स्वरूपमित्यर्थः ॥ ६३ ॥

एवं भक्तिप्रवृद्धिस्वरूपपर्यन्तं तद्विद्वन्नुपायमुक्त्वा, तत्र प्रतिबन्धेऽनधिकारे च तद-
 नुकल्परूपमुपायान्तरमाहुः त्यागत्यादि ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथागतः ॥ ७ ॥

अतः स्वयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते यास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

त्यागे करिष्यमाणे कालाच्छादिकृतदुःसंसर्गात्, तथाऽन्नतः प्राणपोषका-
 दन्नाद्यतो बाधकभूयस्त्वं भक्तिपुद्धिबाधकवाहुल्यम्, अतस्तद्वाहुल्याद्धेतोः हरिस्थाने
 स्वयम्, 'भक्तिकेतं तु निर्गुण'मिति भगवद्वाक्येन तत्र देशदोषाभावात् । अत्र कथं
 खेयमित्याकांक्षायां प्रकारमाहुः तदीयैरित्यादि । तत्रापि तत्परैस्तदीयैः सहेति
 क्रथनेनानन्यतया सेवाकृतिः स्वस्यापि सूचिता । तेन 'भावधानैः परस्परं सस्नेहैव-
 ह्निर्दृष्टिभिर्भगवत्सेवैकरैः खेयम् ।' तथा च तादृशस्यित्वां दुःसंसर्गसामावात्प्रसा-
 दादिना वा अंघ्रिपतुल्यवैष्णवादिन्यो भिक्षया वा देहनिबोद्धेऽन्नदोषस्याप्यभावाद्भक्तिपुद्धि-
 रित्यर्थः । एतेन नलकूपरप्रसंगे वैराग्याद् यस्यागो निर्णोतस्तस्यायं प्रकार इत्यपि बोधितम् ।
 तस्याप्यसंभवे तदनुकल्पान्तरमाहुः, तत्र स्थितौ वा प्रकारमाहुः अदूरे विप्रकर्षे चेति ।
 भगवन्मन्दिराद् भगवदीयेभ्यश्चादूरे, दूरे वा । यादृश्या सेवया स्वस्य सेवामिमानो न
 भवति, भगवदीयेषु च निकर्षयुद्धिविरुद्धयुद्धिदोषदृष्टिक्षोमादिभिर्धया चित्तं न दुष्यति, तथा
 खेयमित्यर्थः । यदि च काठाच्छादिदोषेण तादृशां सङ्गो न भवति, तदा तत्र स्थितौ प्रका-

रान्तरं तदनुकल्प वा आहुः सेवायामित्यादि । तादृशभगवदीयसङ्गामावेपि यद्यद्वारायां विप्रकृष्टायां वा सेवायां आसक्तिर्दृढा भवेत् । अन्यकृतोपहासजन्यकारादिभिरनपनोचा भवेत् । एवं कथायां श्रूयमाणयां कीर्त्यमानायां वा तस्यामासक्तिर्दृढा भवेत्, सापि यावज्जीवम्, यावत्सामर्थ्यम्, जीवपदेन सामर्थ्यादिकमप्यर्थादाक्षिप्यते । अतस्तावत्पर्यन्तम्, न तु कश्चित्कालम् । क्रियाविशेषणमेतत् । तस्य यावज्जीवं तत्कर्तुः पुंसः कापि नाशो न । इह लोके यथाधिकारं स्वरूपपरतायाः साधनपरतायाश्च नाशो न । परलोके च यथाधिकारं फलप्रतिबन्धश्च नेत्यर्थः । दृढकथासक्तिप्रकारश्च प्रक्षिप्ताध्यायेषु तृतीये 'ज्ञाने प्रयासमुदपास्येति' श्लोके आचार्यैर्विधृतः । 'अयमेको मार्गः सर्वेषां पुरुषार्थ-सिद्ध्यर्थं प्रसिद्धः सुगमः । आदौ स्थानस्थितानां जीविकोपग्रवाभावादिः स्वतःसिद्धः । सन्तश्च सर्वत्र भगवदाज्ञया परिभ्रमन्ति, तेषां चैतदेव कृत्यम् । भगवद्गुणगाने ते मुख्या एव भवन्ति । तत्रापि कथायां ज्ञात्वा वक्तव्यमिति न नियमः । केवलं भगवदीया भगवत्सम्बन्धिनी वार्ता भवतु, न तूपपन्नाऽनुपपन्ना वेति । तत्राप्यनायासेन स्वकर्णे समागता भवति । परं कायवाङ्मनोभिर्नमस्ता सा, तदनुगुणतया कायवाङ्मनानांसि स्वापनीयानि, न तु तत्र विरोध आचरणीयः । एतावदेव कृत्यम् । अत्र साधनं जीवनमेव, न तु कर्मकरणादिकमपि । प्रायश इति ते चेद्भावान्तरं न कुर्युः । कालादयश्च प्रतिबन्धकत्वाद्वा । अतोनेनैव प्रकारेणाप्रेतनानां निस्तारः ।' किञ्च, सेवादृढासक्तिप्रकारोपि तत्रैव 'पुरेह गम'न्निति श्लोके विधृतः । 'हे गूणन् व्यापक पूर्वमपि विद्यमान इहास्मिन्मार्गे पहवोपि सहशो योगिनो योगेनावधृतभक्तिसामर्थ्याः, अत एव त्वय्यर्पिता ईहा चेष्टा वैः । तेनैव समर्पणलक्षणेन कर्मणा त्वत्सेवालक्षणकर्मणा वा लन्धया प्राप्तया भक्त्यैव विबुध्यस्वरूपं ज्ञात्वा, हे अच्युत केनापि प्रकारेण च्युतिरहित, ते गतिं मार्गं, येन प्रकारेण त्वं गच्छसि, तां प्रपेदिरे । पश्चात्त्वदनुगानां न कापि चिन्ता । अञ्जः अनायासेनैव परां लोकगतीतां प्रपेदिरे प्राप्तवन्तः । अत आत्मज्ञानोपेक्षायामप्ययमेव मार्ग उचितः ।' अत्र नान्येषां सम्मतिः, किन्त्वहमेव पदामीत्याहुः मतिर्ममेति । 'श्रद्धा'मुपक्रम्य 'मत्सेवायां तु निर्गुणे'ति । संवादसमाप्तौ च 'नद्वज्जोपक्रमे ध्यंस' इति 'यो यो मयि परे धर्म' इति च भगवद्वाक्यात् सदादत्तभक्तिप्रश्ने, तामुपक्रम्य 'मत्कथाश्रवणे श्रद्धा' 'श्रद्धामृतरूपायां म' इति च भगवद्वाक्यात् मम बुद्धिस्वादृशस्य नाशभाव भासयति, तेन तथेत्यर्थः । यदि च जाते धीजभावदार्ये अजाते वा पूर्वोक्तानां तदर्यानां साधनानां कालादृष्टादिना प्रतिपन्धा-स्करणाशक्तिः, तदोपायान्तरनाहुः साधेत्यादि । मुख्यः कल्पस्तु भगवत्कृपयैव सिध्यतीति न तत्र पापसम्भावना । 'तदा भवेद्दयालुत्व'मिति निरोपलक्षणे निष्कर्षात् । दयायां च सत्यां प्रतिपन्धासम्भवात् । यत्र पुनस्त्यागे पापकर्मभूयस्त्वमित्यादिनोकेतुकल्पे करिष्यमाणे क्रियमाणे वा पापस्य विषयस्य सम्भावना उत्कटकोटिकः संशयः, तदा तु एकान्ते भगवत्सा-

नादौ वासो नेष्यते । तदा गृहे वा अन्यत्र वा यत्र क्वचिन्निश्चया हरिरेव शरणं भावनीयः ।
 'हराम्यघं परस्मर्द्वणामिति' भारते भगवद्वाक्यात् । 'सर्वधर्मान्परित्यज्ये'ति गीतायां भग-
 वद्वाक्यात् । हरिरेव सर्वतो रक्षां करिष्यति । तुः संशयाविश्वासादिनिरासे । न संशयः,
 रक्षाकरणे संशयो नास्ति । तथा च पूर्वोक्तरीत्या भक्तिमार्गे प्रवृत्तिः संपाद्या । तत्र चापे
 सत्यनुकल्पः करणीयः । तत्रापि चापे तदनुकल्पः । तत्रापि चापे शरणगमनं सर्वानुकल्प-
 रूपं करणीयम्, न तु पूर्वमेव सेवादिकं त्यक्त्वानुकल्पे प्रवर्तनीयम्, भगवदिच्छया
 ज्ञातुमशक्यत्वादिति ॥ ७-१० ॥

एवं सर्वं भक्तिवृद्धयुपायं निरूप्य तदुपसंहरन्त एतद्विचारफलमाहुः इतीत्यादि ।

इत्येयं भगवच्छास्त्रं मया गुप्तं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद् दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इतिः समाप्तौ । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं गीतायामेकादशस्कन्धेऽन्यत्र च
 भगवदुपदिष्टं शास्त्रं मया गुप्तं निरूपितं प्रकटीकृतम् । यः सदा एतद्गुप्तं शास्त्रं समधीयीत
 सम्यक्प्रकारेण चिन्तयेत्, इह स्मरणे, इडिकावप्युपसर्गतो न व्यभिचरतः । तस्यैतद्विचार-
 पितुरपि रतिः प्रेमात्मिका दृढा स्यात् । तथा च तथा दृढया संसारागविनाशे जाते क्रमा-
 दन्यदपि भगवान् सम्पादयिष्यति । 'न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंस' इति भगवद्वाक्यात् । तथा
 चात इदमभीक्ष्णं विचारणीयमित्यर्थः ।

इति श्रीबल्लभाचार्यचरणभाजप्रसादतः ।

परप्रेरणयाभातं व्यवृणोत्पुरुषोत्तमः ॥ १ ॥

इति श्रीबल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमविरचिता

भक्तिवर्धिनीविद्वतिः सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीवल्लभकृतटीकासमेता ।

शश्वत्प्रियासितापाङ्गध्यानावस्थितचेतसा ।

प्राप्ततन्निजरूपाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ १ ॥

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्यात्स्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

भक्तिवर्धिन्याम् । यथेति । यथा येन प्रकारेण । भक्तिः शास्त्रीया । प्रवृद्धा मानस-
सेवारूपा सती फलोन्मुखा भवेत्तथोपायस्वरूपकारभूत उपायस्तनुविचजसेवया बीज-
भावदार्ढ्यसम्पादनरूपस्लागेन श्रवणकीर्तनरूपश्च निरूप्यत इत्यर्थः । तस्य साधना-
साध्यत्वसिद्धान्तादुपायपदम् । अत्र बीजं रत्यास्य आद्यः कोमलो भावः भगवानेव शर-
णमित्याकारकः । येन भगवद्दर्शनेषु रुचिर्भवति । भक्तिर्दुर्मः । फलं स्वाधिकारानुसारेणात्मैकि-
कसामर्प्याद्यन्यत्राप्राप्त्या भगवद्भजनम् । स उपायो द्विविध इत्याहुः बीजेति । बीजरूपे
रत्यास्ये भावे तनुविचजसेवया द्धे नासंभावनारहिते जाते तस्य भक्तिर्दुर्मस्य प्रवृद्धिः ।
फलोन्मुखत्वं स्यादित्यर्थः । अतस्तद्दार्ढ्यं सम्पादनीयमित्येक उपायः । द्वितीयनिर्धार-
माहुः स्यागादिति । त्यागाद्देतोः सिद्धाच्छक्तितात्पर्यरूपाच्छ्रवणसहितकीर्तनादित्यर्थः ।
हरिस्थानवासे तदीयैः सह स्थितौ शक्तितात्पर्यनिर्धारो भवतीति भावः । द्वितीयपक्षेपि
दार्ढ्यमपेक्षितमेवेति तुशब्दः । परन्त्वायपक्षे पृष्टक्षित्या भावनाशशङ्कया तनुविचज-
सेवया तद्दार्ढ्यं सम्पादनीयं भवति । द्वितीयपक्षे तु तद्भावात्स्वत एव दार्ढ्यं सिध्य-
तीति विभेदः ॥ १ ॥

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्या स्वधर्मतः ।

अन्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

आद्यमुपायमाहुः बीजदार्ढ्येति । द्वितीयपक्षद्वयं पक्षः श्ययिति तुशब्दः ।
पापगिहत्वाभावाय स्वधर्मतो वर्णाश्रमधर्मेण गृहे स्थित्याऽन्यावृत्तो भोगार्थन्यावृत्तिर-
दितः । आश्रमधर्मत्वेन प्राप्तमृत्युमनादिकमेव कुर्वन्ति यावत् । श्रवणादिभिः सहितया
पूजया द्रव्येषु भावात्मकत्वभावनरूपया कृष्णं फलात्मकं भजेत्सेवेत । तनुविचजसेवां
कुर्यादित्यर्थः । ज्ञानमयद्रव्यसम्पादितायाः पूजालं 'धन्यास्ति'ति श्लोके निरूपितम् ॥२॥

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

यीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

व्यावृत्तोपीति । कामादिप्राचत्ये तत्कृतप्रतिबन्धाभावाय भोगार्थव्यावृत्तिसिद्धि-
तोपि सेवाऽनवसरेऽनिषिद्धप्रकारेण नित्यमपि भोगं कुर्वन्नित्यर्थः । हरौ चित्तं स्थापयित्वा
शेषः । श्रवणादौ यतेत्, प्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रार्थमेव भोगं कुर्वन् सदा सेवानवसरेपि यत्नं
श्रवणादिविषयकमेव सम्पादयेदित्यर्थः । एवं कृते बीजभावस्य दार्ढ्यं भवति । तत्राभि-
ज्ञापकमाहुः ततः प्रेमेति । एवं कृते सा भक्तिः प्रेमशब्दवाच्या भवति । पूर्वं
लोकेपि स्नेहः स्थितो, भगवति परमधिकः । 'सर्वतोधिकः स्नेहो भक्ति'रिति लक्षणात् ।
एवं कृते तु सर्वतो निवृत्तो भगवन्भावविषयको भवतीत्यर्थः । तदनन्तरं सासक्ति-
शब्दवाच्या भवति । अनायासेनापि भगवानेव स्मृतो भवति येन तादृशस्नेहो भवतीत्यर्थः ।
'चित्तस्वभाव आसक्तिर्यस्त्यक्तुं नैव शक्यते । स्नेहो रतिरिति श्लोक' इति तृतीयस्कन्धसु बो-
धिन्यामुक्तम् । आसक्तिस्त्वसाधकोपि पूर्वोक्त एव प्रकार इति तथेत्युक्तम् । व्यसनं चेति ।
अत्रापि स एव प्रकार इति चकारः । विशेषेणासनं श्लेषणं येन । येन भावेनान्यास्फुरणं
भवति । प्रपञ्चविस्मृतिरिति यावत् । आसक्तिः प्रपञ्चविस्मृतिमुता सती व्यसनम् ।
तथाच निरोधो व्यसनशब्दवाच्यस्तत्त्वं भक्त्यर्था भवेत् । तत्तदा यीजं दृढं भगवच्छास्त्रे
उच्यते । भक्त्यर्व्यसनत्वं बीजदार्ढ्यस्याभिज्ञापकमित्यर्थः । दार्ढ्यस्वरूपमाहुः नापीति ।
नाशाप्रतियोगीत्यर्थः । सततगृहस्थितौ नाशसम्भावनामपि वक्ष्यन्तीत्यपिशब्दः ॥ ३३ ॥

प्रेमादित्रयस्याभिज्ञापनाय तत्कार्याभ्याहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

सर्वतो निवृत्ताद्भगवन्मात्रविषयकस्नेहादित्यर्थः । रागविनाशगृहारुचिकृतार्थतानां
क्रमात्प्रेमाद्यभिज्ञापकत्वमिति भावः । रागविनाशो विषयवैराग्यम् । स्नेहस्य विषयेभ्यो
निवृत्तौ तेषु वैराग्यमुदासीनता भवतीत्यर्थः । आसक्त्या गृहारुचिर्भवति ॥ ४ ॥

अत्र नञर्थो विरुद्धत्वमित्याशयेनारुचिपदार्थं विष्ण्वन्ति ।

गृहस्थानां पाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यादादौ हि ॥ ५ ॥

तादृशस्यापि सततं गृहस्थानं विनाशकृत् ।

गृहस्थानामिति । अभगवदीयानामिति शेषः । एतेषां भावपाधकत्वेनानात्म-
त्वेन च भानमरुचिपदार्थ इति भावः । भार्यापुत्रयोरालम्ब्ये शास्त्रसिद्धे अपि भक्तानां भ-
गवानेवात्मरूपो, न तु ताविति भावः । अत एव सेवाप्राप्तिकृत्ये भार्यादीनामपि त्यागोऽ-

श्लोकः । यदा भक्तिर्व्यसनरूपा स्यात् । बाधकत्वेनाप्यन्यास्फुरणं स्यात् । तदैव कृप्ये
 कृतः समर्पित ऐहिकपारलौकिकः सर्वोप्यर्थो येन तादृशः सिद्धात्मनिवेदो भवतीत्यर्थः ।
 पूर्वं सामान्यतो निवेदने कृतेपि तत्सिद्धिर्व्यसने एव जाते भवति । तथाचात्मनिवेदनरूपा
 भक्तिर्व्यसनकार्यमिति भावः । यथा गोपाः सर्वस्य भगवदर्धत्वज्ञानेन प्रपद्यन्विस्मृतेर्जातत्वा-
 त्सर्वार्थे भगवानेव यत्कथ्य इति ज्ञानयुक्ताः क्षुन्निवृत्त्यर्थमपि भगवन्तमेव प्रार्थितवन्तः ।
 अत एव 'व्यसनान्नान्यगामिन' इति तत्र निबन्धे निरूपितम् । पूर्वयोः क्रियित्कालं
 व्यवधानमपि । इदं तु व्यसनसिद्धौ शीघ्रमेव भवतीति यदा तदैवेत्युक्तम् । तत्र किञ्चिदन्य-
 दप्याहुः । तादृशस्यापीति सिद्धात्मनिवेदनस्याधीत्यर्थः । गृहस्य भगवति समर्पितत्वेन
 सर्वथा बाधकत्वाभावात् सर्वात्मना त्यागः, किन्तु सततस्थितौ भोगदृष्टिसम्भवात् भो-
 गस्य च सेवाफलजन्ये बाधकत्वनिरूपणान्मध्ये मध्ये लीलास्थलेषु गोवर्धनादिषु गच्छे-
 दिति सततमित्युक्तम् । विनाशकृत् । भोगसम्भावनाया धीजभावनाशुद्धित्यर्थः ।
 एवं तनुवित्तजसेवया धीजदार्यसम्पादने भक्तिर्व्यसनान्तावस्थां प्राप्ता चेत्सर्वव्यवहार-
 मानससेवारूपा दृढा सती अलौकिकसामर्थ्याद्यन्यतरफलोन्मुखा भवतीत्येक उपाय उक्तः ।
 अत्र भार्यादिप्रानिकृत्ये यः प्रतिकूलहास्य त्यागो, न तु गृहस्य । अत एव 'प्रतिकूले गृहं
 त्यजे'दित्यत्र गृहं भार्यादिकमिति व्याख्यातम् ॥ ५३ ॥

त्यागं कृत्वा पतेद्यस्तु तदर्थाधिकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

द्वितीयमाहुः त्यागं कृत्वेति । गृहत्यागं कृत्वा । स चासावर्थस्य तदर्थः ।
 आपद्योके उदेशत उक्तः श्रवणकीर्तनरूपो योर्ध्वदर्धं तद्विषयसमेक मानसं यस्य
 तादृशः सन् । श्रवणकीर्तनार्थमेव हृत्स्वनि भगवन्नक्तमनिधौ तिष्ठति यारत् । एतादृशः
 सन् यो पतेत् । श्रवणादाविति शेषः । स भक्तिं सुदृढां व्यसनत्वं प्राप्तां लभते । ततः
 सर्वतोऽधिकां परां फलोन्मुत्तामपि लभत इत्यर्थः । भक्तेः पूर्णमपि सिद्धत्वात्मनिशेषणे
 हीतिन्यायेन शिष्टेषुपलाभो विधीयत इति शेषम् । 'गृहं सर्पात्मना त्याज्य'मिति
 वाक्यादेतस्य पक्षस्य मुख्यत्वम् । अत एव प्रथम-पक्षे नाशसम्भारनाप्यर्थात्पुक्तम्,
 अत्र तद्रणवर्तनाय तुगन्धः । मुख्यं शिष्टेषु सुदृढानिति । आपद्ये सतनगृह-
 स्थितौ नाशसम्भावनाप्यस्तीति तदकृत्वा धीजदार्यसम्पादनेन भक्तेर्दीर्घं व्यसनत्वं
 सम्पादनीयं भवति । अत्र पक्षे तु गृहभावनेन नाशसम्भावनाजमाना पूर्वोक्तधीजदार्ये
 पक्षे विनियुक्ता व्यसनत्वं प्राप्ता भवतीत्येतावदंशमादाय 'पाधिचोरेति दोषः परि-
 हारणीय' इति न्यायेन मुख्यत्वम् । फलभाषणे तु साम्यमेवेति वदपते ॥ ६३ ॥

ननु त्यागमात्रमेव बन्धन्यं भवति, हृत्स्वनिपात्रो मात्प्रज्ञम पुनः किन्वं
 दोष्यत इत्यत आहुः त्याग इति ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाघ्नतः ॥ ७ ॥

अतः श्येयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

धर्मद्वयपरहितकेवलत्यागे बाधकभूयस्त्वमस्त्यतो हेतोः । तयान्नतो दुःसंसर्गाद्देतोः हरिस्थाने तदीयैः सह श्येयमित्यन्वयः । हरिस्थानवासराहित्ये बाधकभूयस्त्वं 'सहायसह-साध्यत्वा'दित्यारभ्य 'नैव त्यागः सुखावह' इत्यन्तं संन्यासनिर्णयोक्तमस्तीति शेषः । अतो हरिस्थाने श्येयम् । तत्र ते दोषा न भविष्यन्तीति भावः । तथा भक्तसङ्गराहित्ये अन्नतो हेतोः अन्नार्थं दुःसंसर्गात् दुष्टानां संसर्गसम्बन्धाद्देतोस्तदीयैर्भगवदीयैस्तत्रापि तत्परैर्भगवत्परैर्नतु हिरण्यकशिपुप्रभृतिवदत्परैः सह श्येयम् । तदाज्ञार्थमपि तेषामेव संसर्गो भविष्यति, न तु दुष्टानामिति भावः ॥ ७ ॥

हरिस्थानस्य द्वैविध्याशयेनाहुः अदूरे इति ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

पूजाप्रवाहवति गोवर्धननाथजगन्नाथादिस्थाने भगवतः अदूरे पूजाप्रवाहरहित-यमुनातटादिषु लोकदृष्ट्या भगवतो विप्रकर्षे वा स्वस्य चित्तं यथा न दुष्यति, दोषयुक्तं न भवति, तथा स्वयमेव विचार्य श्येयमिति पूर्वेणान्वयः ॥ ८ ॥

अन्योक्तपक्षद्वयमुपसंहरन्ति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापोति मतिर्मम ॥ ९ ॥

सेवायामिति । आये बीजदारब्धसम्पादनपक्षे सेवायां क्रियमाणायाम्, द्वितीये त्यागपक्षे कथायां वा क्रियमाणायाम् सत्यां यस्य आसक्तिरामक्तित्वं प्राप्ता भक्तिर्दृढा प्यसनत्वं प्राप्ता भवेत्, तस्य पुरुषस्य भक्तिबीजस्य नाशो न । तथा च प्यसनरूपा नाशसम्भाव-नारहितबीजा भक्तिश्चेतस्त्वत्पवणलक्षणमानससेवारूपा सती अटीकिक्रिसामर्प्याद्यन्यतरफलं यथाभिन्नग्रां सम्पादयतीति भावः । नात्र वर्णादिनियम इत्याहुः यावज्जीवमिति । सर्पानेव जीवान् मर्यादीकृत्येत्यर्थः । प्यसनसिद्धानन्तरं हरिस्थानवासनियमोऽपि तथा नास्तीति कापीत्युक्तम् । किन्तु सततगृहस्थिनिर्निषिद्धेऽपि पूर्वमुक्तम् । वर्णादिसाधारण्यं प्रमाणेन विरुध्यत इत्याशङ्क्याय प्रमाणघन्ताभावादाहुः मतिर्ममेति । अस्मन्मतिस्त्रिदोषं पक्षः, अतः प्रमेयपक्षसिद्धः । वाचा कथनेऽपि मतिस्त्रिद्वयमेव मुख्यमिति भावः ॥ ९ ॥

पक्षद्वयस्य ध्यवस्थामाहुः याधेति ।

याधसंभाषनायां तु नैकान्ते धास्य इप्पते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

क्रामादिभिर्षोषसम्भावनायाम् । इन्द्रियजयसामर्थ्याभाव इति यावत् । तदा एकान्ते वासस्वागपक्षो नेष्यते । तथाचेन्द्रियजयसामर्थ्याभावे पूर्वोक्तपक्षेण सोपम् । तन्नामर्थ्ये त्यागपक्षेण हरिस्थाने तदीयैः सह सोपमिति व्यवस्येति भावः । एवं व्यवस्थायां 'गृहं सर्वात्मने'ति श्लोकसंमतिसूचनाय तुशब्दः । नन्वत्यागपक्षे गृहे स्थितौ तत्रासक्तिरनिवार्या । त्यागपक्षे च गृहत्यागस्याश्रमान्तराग्रहणे प्रमाणविरुद्धत्वात्त्यागसम्भावनेत्याशङ्क्याहुः हरिरित्त्विति । सर्वतो गृह्यासक्तेः सर्वपापेभ्यश्चेत्यर्थः । 'अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच' इत्यस्मार्थोत्संधेयः । एतद्वाक्यानुसंधानेन न संशय इत्युक्तम् । हरित्वाद्दर्शणं युक्तमेवेति तुशब्दः ॥ १० ॥

उपसंहरन्ति हत्येवमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गृहतरत्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गृहा रतिः ॥ ११ ॥

य एतदिति । एतदध्ययनेनापि रतिर्धीजिभावरूपा एवा स्यादिति । धीमदाब्ज-सम्पादनस्याद्यपक्षस्यायमप्येकः प्रकार इति तस्याशीत्यपिशब्दः ॥ ११ ॥

स्त्रीषु कृपयोक्तस्य ग्रन्थस्यास्य महात्मभिः ।

वदनालदासोक्ता व्याकृतिः पूर्णतामगात् ॥ १ ॥

इति श्रीविद्वलेशात्मजश्रीवल्लभकृष्ण भक्तिवर्धिनीटीका समाप्ता ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

मठपतिश्रीजयगोपालभट्टकृतटीकासमेता ।

सहिर्पईलसन्मौठि बेशुवादबिगारदम् ।

दुःखं दलयतादुबैसिमहलकितं महः ॥ १ ॥

श्रीवल्लभतस्सुतवरगुरुषित्कृष्णान् गुरुः प्रणमन् ।

टीकामतीव रम्यां कुर्वे श्रीभक्तिवर्धिण्याः ॥ २ ॥

सगुणा भक्तिर्नवभोक्तैकविषा निर्गुणा ततो दशभिः ।

पदैरक्तो घृष्टिप्रकार एकेन चोपसंशारः ॥ ३ ॥

अथ दशभिर्भक्तमावैर्दशविषा भक्तिरिति दशश्लोकेभक्तिवर्धिनीशास्त्रे भक्तिशुद्धि-

प्रकारं एकेन श्लोकेन तदुपसंहारं तत्पाठफलं चाहुः श्रीवल्लभाचार्याः यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यादित्यादिना ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

यीजभावे दृढे तु स्यात्स्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण भक्तिर्भाररूपा प्रवृद्धा अवस्थाविशेषविशेषाविर्भावेन स्वरूपतापर्यन्तं प्राप्ता भवति, तथा मया उपायः साधनं निरूप्यते कथ्यत इत्यर्थः । ननु भक्त्युत्पत्तिसाधनं पूर्वमनुकत्वा भक्तिवृद्धिसाधनोपदेशः कथं क्रियत इति चेत् । अप्रोच्यते । पुष्टिमार्गे प्रमो 'रसो वै स' इति श्रुत्या एकमचनाविरुद्धसामान्यरसशब्दप्रयोगेणानेकविधरसरूपावशिष्टैकरसरूपत्वं सिध्यति । अत्र प्रभुरनेकरसविशिष्टोपि प्राधान्यतः कीदृशरसरूप इति जिज्ञासायां शृङ्गाररसरूप एवेत्यायाति । यतः श्रुतिभिः परमकाष्ठापन्नानन्दस्वरूपफलरूपदर्शने प्रार्थिते भगवतोदीपनविभावरूपश्रीगोवर्धनश्रीयमुनादिविशिष्टे प्रकृत्यतीताक्षरमसान्तर्गतब्रह्मानन्दमध्यव्यापिवैकुण्ठाऽन्तर्गतश्रीमद्वृन्दावने 'नानारासरसोन्मत्तं यत्र गोपीकदम्पक'मित्यादीदृशोऽनुभावरूपो यो रासस्तद्रसोन्मत्तः शृङ्गाररसालम्बनीमूतनायिकारूपगोपीकदम्पकयुक्तमेव परमकाष्ठापन्नफलरूपं स्वरूपताम्यः प्रदर्शितमिति वृहद्ब्रह्मनपुराणे श्रूयते । अन्यरसस्वरूपत्वेनैव प्राधान्ये तद्विभागादिविशिष्टमेव स्वरूपं प्रदर्शितं स्यात् । न च तस्य स्वरूपस्य परमकाष्ठापन्नत्वे प्रमाणाभाव इति वाच्यम् । 'कल्पं सारस्वतं प्राप्य प्रजे गोप्यो भविष्यथ । पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले । वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान्नो रासमण्डल' इति वृहद्ब्रह्मनपुराणे सारस्वतकल्पे स्वावतार उक्तो भगवता श्रुतीनामनुग्रहार्थम् । तत्कल्पानुसार्यैव श्रीभागवतं तत्स्वरूपदर्शनेनैव च निखिलवेदपुराणधर्मजिज्ञासासमस्तजिज्ञासादिभिरप्यज्ञातचित्तप्रसादानां श्रीमतां व्यासचरणानां चित्तप्रसादो जातो, न त्वन्यस्वरूपदर्शनेनेत्यर्थापत्तिरूपप्रमाणेन तस्य स्वरूपस्यैव परमकाष्ठापन्नत्वे सिद्धे तत्स्वरूपस्य परमकाष्ठापन्नत्वे प्रमाणाभावाभावात् । एवं च सिद्धे शृङ्गाररसरूपत्वस्यैव प्राधान्येन धर्मत्वेऽन्यरसस्वरूपाणां च तदङ्गत्वेन धर्मत्वे, शृङ्गाररसस्य तु रतिरूपस्थापिभावात्कत्वात् रतिरूपस्थापिभावस्य च भगवद्रूपत्वेन ब्रह्मत्वात् ब्रह्मणश्च व्यापकत्वात् भगवद्विषयकरतेरपि व्यापकत्वे सिद्धे सर्वजीवेषु त स्थितत्वं सिद्धम् । तत्र रतेर्ब्रह्मत्वेनानन्तरूपत्वान्नगवद्विषयिणी श्रीमद्ब्रह्मभक्तादिनिष्ठारतिः शृङ्गाररसरूपा भवति । अस्मदादिनिष्ठा भगवद्विषयिणी रतिर्भक्तिरसरूपा भवति । सैवास्मदादिनिष्ठा सपरिकरभगवदतिक्रपायां स्वस्य पूर्वरूप तिरोधाप्य शृङ्गाररसरूपतामपि प्रकटीकरोति । एवं च 'प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते' । 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयते' । 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोभिक' । 'स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तथा मुक्तिर्न चान्यथे'ति वाक्येभ्यः प्रेमप्रथमावस्थारूपत्वात् प्रभुविषयकत्वात् भावशब्दाव्याप्त्वात् स्नेहरूपत्वेन भक्तिशब्दान्यापि

भवति । तत्र सा भक्तिर्द्विविधा । मर्यादापुष्टिमार्गीया शुद्धपुष्टिमार्गीया च । तत्र 'यमेवे'ति
 श्रुतिवृद्धं मर्यादापुष्टिमार्गीयं वरणं शुद्धपुष्टिमार्गीयं च वरणमिति वरणेति द्वैविध्यमिति
 सिद्धान्तात् मर्यादापुष्टिमार्गे मर्यादानुग्रहाम्यां मिलिताभ्यामेव कार्यसिद्धिः । शुद्धपुष्टिमार्गे
 तु विशुद्धानुग्रहमात्रेणैव कार्यसिद्धिः । एतच्च मर्यादापुष्टिमार्गे मर्यादापुष्टिमार्गीयभगवद्व-
 रणप्रेरिततादृशजीवकृततादृगाचार्यसंश्रयसञ्जाततादृगामनिवेदनमात्रेणैवातिमात्राञ्छादकमा-
 यारूपावरणभङ्गे पूर्वोक्तसत्परपर्यायभावसाविर्भावः । 'दानव्रततपोहोमजपस्नाध्यापसंयमैः ।
 श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्ये भक्तिर्हि साध्यत' इत्यादिवाक्यात् । शुद्धपुष्टिमार्गे तु शुद्धपु-
 ष्टिमार्गीयश्रीमद्भजभक्तकृपाविष्टभगवत्कृपप्रेरिततादृशजीवकृते शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यसंश्रयस-
 ञ्जाततन्मार्गीयनामनिवेदनमात्रेणैव । न चैतन्मार्गीयनामनिवेदनेपि न सूक्ष्मबीजरूपमात्रो
 दस्यत इति वाच्यम् । तादृगामनिवेदनादिभिः प्रतिषन्धकाविषाणमेपि सूक्ष्मतत्त्व-
 दैव तद्दर्शनाभावात् । समयविशेषसमुद्भूतकिञ्चिदश्रुपुलकादिभिस्त्रुदुन्नयनाच्च रतिमात्रा-
 ञ्छादकमायारूपावरणभङ्गे पूर्वोक्तभावसाविर्भावः । 'न रोषयती'त्यात्म्य 'यथाऽ-
 यरुन्धे सत्सङ्ग' इत्यादिवाक्यात् । एवं च भावसाविर्भावमाश्रमेव, न त्वत्तिरिति
 नोत्तत्तिप्रकार उक्तः । किन्तु वृद्धितत्प्रकार एवोक्त इति । न चाविर्भाव एव उत्पत्तिरिति
 वाच्यम् । 'अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः । नित्यापरिच्छिन्नतनी प्राक-
 त्यमिति सा विधे'ति विविधोत्पत्तौ षटादिवदनित्यत्वाभावात् जननरूपोत्पत्तिः ।
 बीवात्मवन्नित्यपरिच्छिन्नत्वान्न समागमरूपोत्पत्तिः । नित्यापरिच्छिन्नत्वेपि धर्मरूपस्य
 भावस्य तत्तत्त्वाभावात् प्राकृत्यरूपोत्पत्तिः । किन्तु वेदस्य यथा प्रलये सूक्ष्मरूपेणाव-
 स्थानमेवमेव भावसापि पूर्वसूक्ष्मरूपेणावस्थानं पथात्पृष्टी वेदस्य निस्तार इव स्वका-
 रणैः प्रवृद्धिमात्रमित्याविर्भावस्य उत्पत्तिरूपत्वाभावात् । तस्माद्भक्तेः सूक्ष्मबीजरूप-
 भावरूपेण सर्वजीवेभ्यपि नित्यस्थितत्वात्तस्य च आचार्यकृपाप्राप्तौ आनिर्भाष्येय
 जातत्वात् साधनान्तरापेक्षत्वात् तद्वृद्धिप्रकार एवोच्यते, न तु तदुत्पादनप्रकारः, विरि-
 धोत्पत्तेरप्यसम्भवात् । न च 'पानेन ते देव कयासुधायाः प्रवृद्धमक्षया विशदाक्षया य'
 इत्यादिना कयासुधापापानस्य भक्तिवृद्धिहेतुत्वमप्युच्यत इति धर्मो भवत्ययाम इति
 वाच्यम् । अत्रैव श्लोके 'वैराग्यसारं प्रतिउभय षोष' मित्यत्र उक्तत्वादस्य वृद्धिप्रकारस्य
 मर्यादामार्गीयभक्तिरिषयत्वात् । शुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तेस्तु 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः
 श्रेयो भवेदिति' नि शक्याद्वैराग्यज्ञानानपेक्षत्वादिनि जानीहि । श्रुती प्ररूपेस्तु फलानुभव-
 पर्यन्तसम्पादकररूपः ।

ननु सा भक्तिवृद्धिः कदा मर्यादाकाहापानादुः खीजनभावे दृष्टे तु मर्या-
 द्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिनि । तत्र रयागात् भगवद्भजनप्रतिषन्धकृत्वादिनात् ।
 अथ च श्रवणकीर्तनाय प्रेमायक्तिभजनरूपारन्वाग्भित्तिसिद्धिर्भवेत् पूर्वोक्त-

प्रकारकरत्यपरपर्यायबीजरूपो यो भावस्तस्मिन् दृढे केनापि तिरोधापयितुमशक्ये सति शुद्धपुष्टिमार्गीया भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् । रासरूपतारूपवृद्धिप्राप्ता स्यादित्यर्थः । न चात्र त्यागपदेन सर्वत्याग एव कुतो नोच्यत इति वाच्यम् । अग्रे 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मत' इत्यनेन वैदिकलौकिकधर्मसाहित्येन गृहस्थितस्यैव भजनस्य बोधितत्वेन तया-
 व्याख्यानस्य कर्तुमशक्यत्वात् । अत्रेदं तत्त्वम् । त्यागस्तावन्निविधः । भगवद्भजनानु-
 कूलानामेव गृहादीनां त्यागः, न तु तदनुकूलानामपि । द्वितीयस्तु भगवद्भजनानु-
 कूल-गृहमात्रस्यैव त्यागः, न तु भगवद्भजनानुकूलानां स्वगृहस्थितान्यभगवदीयानामपि । तृती-
 यस्तु भगवद्भजनानुकूलगृहस्थितभगवदीयानामिव तद्भजनानुकूलतदन्यभगवदीयानामपि
 त्यागः । तत्र प्रथमस्त्यागो बीजदाढ्यप्रकारे तनुजवित्तजसेवारूपप्रारम्भदशासामयिकः ।
 द्वितीयस्त्यासक्तिदशाविर्भावरूपमध्यदशासामयिकः । तृतीयस्तु व्यसनदशाविर्भावरूपपू-
 ण्णदशासामयिकः । तत्रैव तन्त्रोक्तस्त्यागो बीजदाढ्यप्रकारप्रारम्भदशात्यागः । अग्रे
 'तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् । त्यागं कृत्वा यतेषस्तु तदर्योर्धेकमानस' इत्यनेन
 नक्ष्यमाणः स मध्यमदशात्यागः । 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इति संन्यास-
 निर्णयोक्त्यागस्तु फलदशात्याग इति बोध्यम् । अत्रायं श्लोकः सूत्ररूपः, जग्रिमग्रन्थो
 व्याख्यानरूप इति ज्ञेयम् ।

केचित्तु बीजं नाम 'यमेवे'ति श्रुतेर्निरुपाधिकरूपणया पुष्टिमार्गीयं भगवद्हरणम्,
 अन्यथा तत्र प्रवृत्तिरेव न स्यादित्यादिप्रकारेण व्याचक्षते । तच्चिन्त्यम् । वटादिवृक्षस
 वटादिबीजमेव बीजम्, न तु पिप्पलादिबीजं बीजम् । एवं च जीवस्य वृक्षसजातीयत्व-
 मुत्सर्गतः सर्ववादिधिद्धम्, अन्यथा पिप्पलादिवीजेभ्योपि वटाद्युत्पत्तिः स्यात् । तथात्रापि
 स्नेहरूपभक्तेरपि स्नेहरूपभक्तिरूपमेव बीजं भवितुं योग्यम्, सजातीयत्वात् । अत एवो-
 पसंहारे 'तस्यापि स्याद्गदा रति' इत्यनेनोपक्रमोक्तभावपर्यायरतिशब्देन भावस्यैव दाढ्य-
 मुक्तम्, न तु पुरुषोत्तमवरणादीनाम् । एवं च यथा वर्षासमयो नववारिसेकेन क्षेत्रान्तः-
 स्थितं बीजं क्षेत्रनिष्ठं प्रतिबन्धकरूपं काठिन्यं दूरीकृत्य स्वकार्योन्मुखं करोति, तथा च
 निरुपाधिपुरुषोत्तमवरणादिकं शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यानुग्रहद्वारा जीवान्तःस्थितं तत्परपर्यायं
 सूक्ष्मरूपत्वात् बीजरूपभावं मायातिरस्करीणीरूपं प्रतिबन्धकं दूरीकृत्य स्वकार्योन्मुखं
 करोतीत्यसाधारणनिमित्तकारणरूपमेव, न तु भाववत् । तत्समवायि तु इदमेवेति ज्ञापयितुं
 बीजपदमुक्तम् । अत्र अन्यथा मूलकारणदाढ्यं स्यादित्यापेव श्लोकनिबन्धः कृतः
 स्याच्छ्रीमदाचार्यचरणैः । न च वटादिबीजानामपि वटादिवृक्षं प्रति निमित्तत्वमेव दृश्यम्,
 न तु समवायिकत्वम्, कार्यस्य वटादिस्तत्समवेतत्वाभावात्, तथैव भावरूपबीजस्यापि
 निमित्तत्वमेवेति सिद्धे समवायित्वोक्तिर्विरुद्धेति वाच्यम् । यथा वटादिबीजानां निमित्तत्वेपि
 कन्दरूपबीजानां समवायित्वदर्शनेन समवायित्वम्, एवमेव भावरूपबीजस्यापि प्रकल्पेन

‘स हैतावानास’ इति श्रुतेः, अयं च समवायित्वेनानुभवाच्च समवायित्वोक्तैर्विरुद्धत्वाभावात् । तस्मादुपक्रमोपसंहारपर्यालोचनया युक्तिपर्यालोचनयापि बीजरूपो यो भाव इत्येव व्याख्यातमस्माभिरित्यास्तां तावत् ॥ १ ॥

ननु बीजदार्ष्योपाय उच्यतामित्याकाङ्क्षायामाहुः बीजदार्ष्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ष्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अन्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

अत्र पूर्वोक्तो भावो बीजम्, तस्य दार्ष्यप्रकारस्त्वयं यत् ‘भार्यादिरनुकूलधेतुकारयेद्भगवत्क्रियाम् । उदासीने स्वयं ; रातुं प्रतिशूले गृहं त्यजे’दिति श्रीभागवततत्त्वदीपनियन्त्रे सिद्धान्तितत्वात् । भगवद्भजनानुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः वर्णाश्रमधर्मतो भगवद्भजनानुकूललौकिकवैदिकधर्मतश्च अन्यावृत्तः अनिवृत्तः सन् कृष्णं श्रीमद्रोपीजनविशिष्टं कृष्णपदार्थं फलरूपं भजेत्, कृष्णविषयिकीं सेवां कुर्यादित्यर्थः । अत्र यद्यपि स्वधर्मत इत्यत्र स्वपदस्यात्मात्मीयवाचकत्वात् स्वधर्मपदेनात्मधर्मरूपो दासधर्मोप्यायति, तथापि न व्याख्याने संगृह्यते, किन्त्वात्मीयधर्मरूपवैदिकलौकिकधर्मा एव संगृह्यन्ते । यतो भजेत्पदार्थस्य सेवाकारणस्य सेवकधर्मत्वात् भजेत्पदेनैवात्मधर्मरूपदासधर्ममग्रहस्य जायमानत्वादिति बोध्यम् । कृष्णशब्दस्य श्रीमद्रोपीजनविशिष्टकृष्णपरत्वं तु मत्कृतप्रथममत्कन्धसुषोधिनीटिप्पण्यां ‘कर्ता ज्ञः सकलस्ये’ति पद्यव्याख्याने मया सप्रथममुक्तमिति तत्रैवावलोकनीयम् । अत्र वर्णाश्रमधर्मत्यागेन भजने यद्यपि पापं न भवति, ‘तस्मात्स्वमुद्धवोत्सृज्य नोदनां प्रतिनोदना’मित्यादिवाक्येन विहितत्वात्, तथापि स्वधर्मत्यागेन भजने गृहस्थितानां पुत्रकलनादीनां तादृग्विश्वासाभावात् स्वस्मिन्नसद्गुह्या सेवौदासीन्येन षड्विंशत्यज्ञानितमार्गनिन्दया स्वचित्तक्षोभेन च सेवाया अनिर्वाहः सात् । न च तर्हि पुत्रकलनादीनां निन्दया स्वचित्तक्षोभजनकानां षड्विंशत्यानां सद्गत्यागस्य कर्तुं शक्यते ‘प्रतिशूले गृहं त्यजे’दित्युक्तत्वात् सेवाप्रतिशूलतायामेव पुत्रकलनादीनां त्यागस्य सिद्धान्तत्वेनौदासीन्ये गृहे स्थित्वा स्वयं कर्तव्यस्य बोधितत्वात् । न च स्वयमेव सर्वं क्रियतामिति वाच्यम् । स्वयमेव सेवासामग्रीसम्पादनस्य कर्तुमशक्यत्वात् । स्वधर्मत्यागेन तेषामौदासीन्याच्च सेवापाधः प्रसज्येतेति । अयं च स एवोत्तमः सेवको यः स्वामिन आयासं न सहते । एवंस्थिते गृहस्थे सेवकेन वैदिकलौकिकधर्मत्यागेन भजने क्रियमाणे तं दृष्ट्वान्येरेषे तदनुयायिभिस्तथैव भजने कृते स्मरणार्थकवैदिकलौकिकधर्मनाशे जायमाने ‘यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं व्रजाम्यहम्’मिति वाक्यात् धर्मरक्षायं भगवतः प्रयत्नकरणे मदायास उत्पद्यते । स चायासः स्वदत्त एवेति गृहस्थसेवकस्यानुत्तमसेवकत्वं च प्रसज्येतेत्यनोपि हेतोः स्वधर्मत अन्यावृत्तो भजेदित्युक्तमित्यनुषेदि ।

ननु केवलमेव सेवनं कर्तव्यम्, अथवा किञ्चिदन्यदन्यदपि कर्तव्यमित्याकाङ्क्षा
 यानाहु पूजया श्रवणादिभिः । अत्र विनापि सहयोगं तृतीयेत्युक्तत्वात्सहस्रशब्दाप्रयोगेऽपि
 तृतीया । तथा पूजया श्रवणादिभिः सहेत्यर्थं सम्पन्न । अथाप्रधानतृतीयाभिर्देशात्से
 वाया एव प्राधान्यम् । पूजाया श्रवणादेश्च गौणत्वमेव । अत्र पूजापि गृहस्थितानाम
 नौदासीन्यसम्पादनार्थं बहिर्मुखजनितमार्गनिन्दया स्वचित्तक्षोभाभावाद्यर्थमेवोक्ता । अथवा
 शुद्धपुष्टिमार्गीयसेवाभावकरणे विध्युक्तत्वाभावज्ञाने तेषामौदासीन्यं स्यात् । तस्मात्
 पूजासाधने शङ्खघण्टाद्युपचारैरपि सह सेवा कर्तव्येत्युक्तम्, परन्तु शुद्धपुष्टिमार्गीयसे
 वाविरोधिपूजासाधनैर् कर्तव्येति । न च पुष्टिमार्गशिरोशिपूजासाधनत्वयोगेऽपि तेषामो
 दासीन्ये का गतिरिति वाच्यम् । पञ्चोपचारयोऽशोपचाराष्टादशोपचारचतुःषष्ट्युपचारै
 पूजा विहितेति उपचाराणामनियतत्वेन कमपि पक्षं करोतीति तेषामौदासीन्याभावात् ।
 अत एव अप्रधानतृतीयया श्रवणादित्रयमपि सेवाविधेर्न कर्तव्यम् । मुख्यतया सेवा कृत्वा
 सेवासमयातिरिक्तसमये श्रवणादिकं कर्तव्यमिति तस्यापि गौणत्वमिति ।

यत्तु स्वधर्मतो दासधर्मतो भवेत्, अव्यावृत्त लौकिकव्यावृत्तिरहितं सन् इति व्या
 ख्यानं, तत्र गृहे स्थित्वा भवने लौकिकव्यावृत्तिरहित्य सर्वथा न भवतीति विचार्यम् ।
 यद्वा । कृष्ण फलात्मकं पूजया पूजासाधनेर्भवेत् । सेवा कुर्यात्, न तु पूजयेत् । तथा च
 सेव्यसेवकभावेनैव कृतिं कुर्यात् । न तु 'देवो मूत्वा देव यत्तैदिति वाक्यात् स्वस्मिन् देवत्व
 भावयेत् । किन्तु दासत्वमेव । न च भजेदित्येतापत्तैवायमर्थ आयात्येव, तथा च पूजयेदिति
 वचनं व्यर्थमिति वाच्यम् । भजेदित्येतावत्युक्ते कया सामग्या भजेदित्याकाङ्क्षाया पूजया
 पूजासाधनेरेव भजेदिति बोधनेन तस्य सार्थस्यात् । एवमेव श्रवणादिभिरपि भजेत्
 श्रवणादिकमपि सेव्यसेवकभावेनैव कुर्यात्, न तु सेवकत्वमात्रमुद्धृत्वा । तत्र प्रथमया
 ख्याने तु सेवानुकूलसाङ्गपूजासाधने सह भवन्म्, न तु गृहस्थितानामौदासीन्याभा
 वाय बहिर्मुखजनितचित्तक्षोभाभावाय मार्गनिन्दाभावाय चेति ज्ञेयम् । द्वितीयं यादयाने
 तु प्रायशो यैरेव स्तुतिभिः पूजा भवति, तैरेव स्तुतिभिः सेवा भवति । परन्तु पूजा
 विहितत्वेन समर्पणम्, न तु दास्योपयोग्युचितानुचितविविचारेण । सेवाया तु दास्यो
 पयोग्यशुद्धपुष्टिमार्गीयार्थसहस्रदशभावनया समर्पणं मया स्नेहाभावोपीति विशेष । न
 च स्नेहाभावे कथं फलं भविष्यतीति वाच्यम् । स्नेहवन्तु शुद्धपुष्टिमार्गीयार्थमार्गीयत्वपक्ष
 पातात् । इह यथा तथा 'स्वयं समुत्तमं सुदुम्भरं मिति दशमस्कंधापममस्तुविषय्या
 स्थाने भक्तिहृत्ते प्रथमित्यस्यत्पुमिरेति तत्रैवावलोकनीयम् । अत एव भजेदित्येव
 न तु पूजयेदिति । अत्र यथा पूजासाधनानां शुद्धपुष्टिमार्गीयेण समर्पणम्, न प्रस
 रस्तु मत्तुनशुद्धपुष्टिसेवासरणौ द्रष्टव्यं, गृहस्थितानां तौक्त इति ज्ञेयम् ।

तु सेवा हि सेव्यसन्तोषजनकक्रियया निष्पद्यते । सा च क्रिया पादसामानादि

रूपा । श्रवणादौ तु क्रियात्वाभावात्कथं तेन सेवा सिध्यतीति चेत् । अत्र धूमः ।
 सेव्यसन्तोपजनकधर्ममात्रेणैव सेवा सिध्यति लोके, न तु क्रियामात्रेण, तथैवानुभवात् ।
 तथा च श्रवणादेरपि तादृशधर्मत्वात्तेनैव सेवासिद्धिर्भवत्येवेति जानीहि । यद्वा । श्रवणा-
 दिभिः सेवानुकूलभावभगवत्स्वरूपसेवाप्रकारादीनां ज्ञानस्य कृतिपर्यवसायित्वमेवेति
 क्रियात्वमेव ज्ञेयम् । न च सिद्धान्तमुक्तावल्यां तु 'तस्मिद्ध्वै तनुवित्तजे'त्यत्र तनुवि-
 त्तजसेवैवोक्ता, न तु श्रवणादिजा सेवापीति वाच्यम् । तनुजसेवायामेव श्रवणादिजसे-
 वाया अन्तर्भावात् । तथा हि । तत्र तनुजावित्तजा सेवा द्विविधा मुख्या गौणी च । तत्र
 प्रभुसुखमात्रोद्देशेनैव कृता प्रसङ्गात् स्वधर्मपर्यवसायिनी मुख्या । स्वधर्मत्वमात्रोद्देशे-
 नैव कृता प्रसङ्गात् प्रभुसुखपर्यवसायिनी गौणी । तत्रेन्द्रियदेहप्राणान्तःकरणसद्भा-
 रूपतनौ ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियसत्त्वात् ज्ञानेन्द्रियैर्प्राणरसनचक्षुःश्रोत्रस्वयानोभिर्भगव-
 त्सेवोपयोगिषु स्ववियेषु सदसद्विवेचनजा सेवा, अथ च कर्मेन्द्रियैर्बाह्याणिपादै-
 र्भगवत्सेवोपयोगिवचनकथनार्थगमनचरणसेवाहनवस्त्वानयनादिकसेवा, अथ च कर्मे-
 न्द्रियान्यां पायूपस्थान्यां सेवाप्रतिबन्धकमलकामनिवृत्तिद्वारा स्वच्छसहातजा सेवा,
 अथ च शरीरावयवेन भूषां त्वयातिसमीचीना भगवद्भोग्यसामग्री सम्पादनीया सम्पा-
 दितेति स्त्रीपुत्रादीनामपि वन्दनजा सेवा च स्वकृतालङ्कारादिष्वपि स्वस्मिन् दासत्वेन तत्-
 त्साभग्रीसम्पादकत्वात् स्वान्तःस्थितप्रियप्रियतमाभ्यामेव परस्परकृतत्वबुद्ध्या बतिसौन्द-
 र्यावलोकनजनितानन्देन प्रियस्य प्रियायाश्च वा वन्दनजा सेवा, अथ च क्षुधातृपादीनां
 प्राणधर्मत्वात् चानुभावेन तत्तत्समयानतिक्रमेण सपरिकरे प्रभौ भोजनजलादिसमर्पणेन
 प्राणजा सेवा, अथ च दास्यसत्त्वाभ्यामात्मनिष्ठान्यां चहिरङ्गान्तरङ्गसमयेष्वपि सर्वदा
 प्राणप्रियासहितप्रभुसत्तिधौ निःशुद्भगमनसम्पादिता तत्तद्वस्तुसम्पादनजा सेवा, अथ च
 सहातविशिष्टोद्भू मत्सम्बन्धितः सर्वे प्रभुमात्रभोग्याः, नान्यभोग्या इत्यात्मसमर्प-
 णजा सर्वविधा सेवा च भगवत्सुखोद्देशेनैव कृतत्वादिषु तनुजा मुख्यसेवा । स्वधर्म-
 त्वमात्रोद्देशेन कृता चैतरी सेवा गौणीतनुजा सेवा ज्ञेया । एवमेव श्रवणकर्तनस्मर-
 णजा सेवापि द्विविधा, मुख्या गौणी च । तत्र मद्ददिसः सपरिकरः प्रभुः स्तयिततम-
 क्तविशिष्टलीलाश्रवणेनानन्दानिशयमनुभवतामिति प्रतिशुष्य शरणजा मेवा मुख्या ।
 स्येतरभक्तहृदिसो मत्प्रभुस्तादृशलीलाकीर्तनेनानन्दानिशयमनुभवतामिति प्रतिशुष्य तत्-
 छीलागोचराय तादृजलीलाविशिष्टप्रभुस्मरणजा मेवा मुख्या । भगवत्सुगमात्रोद्देशेनैव
 कृतत्वात् । स्वधर्ममात्रोद्देशेन कृता तु शरणकीर्तनस्मरणजा गौणीशुष्यते ।
 अत्राया सर्वत्रापि सेवा शुद्धदृष्टियार्ग्यानाय, द्वितीया तु मर्यादादृष्टियार्ग्याना-
 मिति ज्ञेयम् । एवं च श्रवणादिजाया अपि मेवायाः शोभनाग्निन्द्रियान्तःकरणमाध्य-
 त्वात्तनुजमेवायामन्तर्गार इति श्रवणादिजनेनादिकनेवेति । न रादुनपदनस्य इति दिक् ।

एवं चित्तजापि द्विविधा । मुख्या गौणी च । तत्र स्वार्जितसर्वविधसर्ववित्तेन परि-
करविशिष्टप्रभूपयोगिवस्तुसम्पादनजा मुख्या । वित्तजा सेवा स्वार्जितद्रव्यस्य शासोक्त-
विभागं कृत्वा विभागागतभगवद्रव्येण तादृशप्रभूपयोगिवस्तुसम्पादनजा गौणी वित्तजा
सेवा । अत्राप्याद्या शुद्धपुष्टिमार्गीयाणाम्, द्वितीया मर्यादापुष्टिमार्गीयाणां ज्ञेया ।

स्यादेतत् । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इति श्रुत्या भगवत ईदृशत्वेन जीवानां सहज-
दासत्वेन दान्येन सेवा कर्तुं शक्या । सख्यात्मसमर्पणयोस्तु भगवदङ्गीकारसाध्य-
त्वात् सख्यात्मसमर्पणान्यां निःशङ्कतया जीवेन स्वयं सेवा कर्तुमशक्येति चेत् ।
अत्र यदामः । 'स नो बन्धुर्जनिता संविधाते'ति 'पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमन्यु-
त'मिति तैत्तरीयोपनिषच्छ्रुतिभ्याम् 'भर्ता संश्रियमाणो विभर्ति' 'एको देवो बहुधा
निविष्ट'इति श्रुतिभ्यां 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाये' ति मुण्डकोपनिषच्छ्रुत्या च 'पिताहमस्य
जगतो माता धाता पितामहः । गतिर्भर्ता प्रसुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् । उपद्रष्टा उमन्ता
च भर्ता भोक्ता महेश्वर' इत्यादिभगवद्गीतावाक्येभ्यः । 'येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा
गुरुः सुहृदो दैवमिष्टमि'ति तृतीयस्कन्धीयवाक्येन । 'सुहृत्प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चापं
शरीरिणाम् । तं विक्रीयात्मनैवाहं रेमेऽनेन यथा रमा । सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं वित्त-
प्रदं नित्यमिमं विद्वाये'त्याद्येकादशस्कन्धीयपिङ्गलावाक्यैश्च । 'मां भजन्ति गुणाः सर्वे
निर्गुणं निरपेक्षकम् । सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयो गुणाः' इत्यादि तत्रत्यभगव
द्वाक्यैश्च सर्वविधबन्धुत्वसखित्वपतित्वप्रभुत्वभर्तृत्वदेवत्वमातृत्वपितृत्वपितामहत्वधातृत्व-
विधातृत्वगतित्वसाक्षित्वनिवासत्वशरणत्वसुहृत्त्वोपदेष्टृत्वानुमन्तृत्वभोग्यत्वप्रियत्वात्मत्व-
सुतत्वगुरुत्वप्रेष्ठत्वमत्वरमणत्ववित्तरतिदातृत्वादिधर्मा भगवति प्रतिपाद्यन्ते । ते च धर्मा
भगवद्धर्मत्वात् नित्याः । नित्यधर्मवत्त्वं च तदैव घटते, यदि तत्प्रतियोगिनो धर्माः सर्ववि-
धबन्धुत्वसखित्वदासत्वसेवकत्वपौष्यत्वाराधकत्वपुत्रत्वपौत्रादिकत्वापेयत्वविधेयत्वप्राप्तियो-
ग्यत्वद्वितीयत्ववास्तव्यत्वदीनत्वसुहृत्वोपदेष्टव्यत्वमन्तृत्वभोग्यत्वासक्तत्वपितृत्वशिष्यत्वेष्ट-
त्वपरमासक्तत्वरत्याकाङ्क्षितत्वार्थित्वरत्याविष्टादयो जीवेषु नित्या भवन्ति । एवं च
पूर्वोक्तनित्यसिद्धधर्माणां भगवति सत्त्वाजीव्येते धर्मा नित्या निरुद्धा इति
भगवति सखित्वभोग्यत्वयोः सत्त्वाजीव्येतेषु सखित्वभोग्यत्वयोरपि सत्त्वात्तयोश्च
नात्मनिवेदनाभ्यामाधिर्भावितत्वाद्भगवदङ्गीकारस्यापि सत्त्वान्निःशङ्कतया सख्यात्मसमर्पणसे-
वासिद्धिरिति श्रुष्यस्य । तथा च यतः सर्वविधोपि सम्बन्धो जीवानां भगवता सह वर्तते,
अतएव 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव मजाम्यहमि'ति भगवता मीतायां येन केनापि प्रकारेण
प्रपन्नस्यापि फलदानमुक्तम् । न चैवं भगवतो जीवैः सह सर्वविधे सम्बन्धे सति भगवान्
स्त्री अहं पुरुष इति भावेनापि भजनं प्रसज्येतेति वाच्यम् । 'पतिपुत्रसुहृद्भ्रातृपु-
त्रबन्धिमवद्वरिम् । ये भजन्ति सदोद्युक्तास्तेभ्योपीद नमोनमः । नारी वा पुरुषो

वापि मर्तुभावेन केशवम् । हृदि कृत्वा गतिं यान्ति श्रुतीनां नात्र संशयः । येषामहं
 प्रियतम आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् । पिताहमस्य जगतो धाता
 माता पितामहः । गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् । उपद्रष्टानुमन्ता च
 भर्ता मोक्ता महेश्वर' इत्यादि नारायणव्यूहस्तवीपवृहद्दामनपुराणीयश्रीभागवतीयश्री-
 मगंबद्रीतादिस्यवचननिचयेषु त्वदुचीतभावेन भजनस्यानुक्तत्वात् । 'यावद्बचनं हि वाचनि-
 क'मिति न्यायात् । एतादृशभाववद्भक्त्याश्रुतत्वाच्च । एवं सति स्वयमेवैतादृशभावेन
 भजने 'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरैणा-
 त्मापहरिणे'ति वचनेन दोष आपद्यते । एवं च 'ये यथा मामि'ति श्लोकस्यापि
 येजीवाः शास्त्रोक्तभजनप्रकारेषु 'यथा येन प्रकारेण प्रपद्यन्ते तांस्तेनैव उक्तप्रकारानुकृ-
 तप्रकारेणाहं भजाभी'त्यर्थो बोध्यः । न तु येनकेनचित्प्रकारेणेति । किञ्च । श्रीभागव-
 त्तेषु 'कोटिकन्दर्पलावण्यः साक्षान्मन्मथमन्मथः पुरुषोत्तम' इत्येव नामोक्तं प्रमुखरूपेण,
 न तु कोटिरतिलावण्यः रुयुत्तम इत्यादि । तथा च तारङ्गामतादृक्स्वरूपयोः श्रवणे
 दर्शने च सर्वेषां स्वस्मिन् स्त्रीभावोदय एव भवति, न तु स्वस्मिन्पुरुषभावोदय इति ।
 अत एवोक्तं श्रीमदस्वप्नशुषिः त्रिभङ्गललितस्त्रवे 'एतस्य दर्शने तु स्यात्प्रमदाभाव एव
 ही'ति । अत्र दर्शनपदं श्रवणादीनामप्युपलक्षकम् । इयदवधि एतच्छ्रोतृणामपि
 साक्षात्कर्तृणामिव प्रमदाभावोदयस्यैव दृश्यमानत्वात् । यद्वा । दर्शनपदं चाधुपादिज्ञान-
 मात्रपरं शोध्यम् । यदि च भगवता सच्चिदानन्दरूपात्युत्तमस्त्रीरूपेणाविर्भूय कस्यापि
 पुरुषभाव उत्पादितः स्यात् तदा रुयुत्तम इति कोटिरतिलावण्य इति नामापि युक्तं
 स्यात् । मोहिनीरूपं तु 'इत्युपामधितो दैत्यैर्मायायोपिद्गुहिरि' रिति । 'यन्मे स्त्रीरूपया
 स्त्रैर् मोहितोऽस्य ह्य मायये'त्यादिश्रीभागवतीयवाक्यैर्भगवन्मायारूप एव, न तु सच्चिदानन्द-
 रूपम् । आवेशमात्रं तु भगवत इत्यवतारमप्ये गणना । जीवानां नारदादीनामिव । न
 वा तद्रूपमपि केनचित्स्वस्मिन्पुरुषभावेन मोहिन्यां च स्त्रीभावेनोपासितमिति । तस्माच्छिष्टा-
 चारानावादर्थादुक्तमेव साधु । यत्पुनः 'स वै न रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्विती-
 यमिच्छत, स ह एतावानास । स पतिः पत्नी चामरतामि'ति श्रुती यत्पत्नीरूपं भगवतः
 श्रूयते, तत्तु सपत्नीत्वेनैव प्रकटितमिति तस्य प्रभुपत्नीरूपत्वेन भजनं दिश्टमेव । पूर्वोक्त-
 विरुद्धभावेन भजनं तु भजनगावप्रकारेषु शालेतुक्तमिति न कर्तव्यमेव । अन्यथा द्वेषमया-
 दिविरुद्धभावेन फलवद्वेनाप्युक्तं स्यात् । एवं जीविः सह भगवतः सर्वसम्बन्धसम्बन्धे
 नित्यसिद्धे स्थिते भगवतो यत्सम्बन्धपुरस्कृतेन जीवेषु रिता स सम्बन्ध एवारिद्वान्यमान-
 सम्बन्धपरिर्भावविशिष्ट आभिर्भूयति, न तु विरुद्धसम्बन्धाभिर्भावविशिष्टः, साक्षाद्भोग्यत्वं स-
 म्बन्धे भर्तृत्वादिस्वम्बन्ध इवेति कृतं प्रत्यक्षानुभवमकथि चोक्तम् । अत्रेदं ज्ञेयम् । पूर्वोक्ता सर्ववि-
 धापि सेवा प्रेम्णा क्रियमाणकठरूपा । केवलं शुद्धपुतिर्मायापापार्थरत्नरूपेपदेशमात्रेणैव

विना प्रेम कृता नित्यसिद्धमक्तिवृद्ध्याविर्भावसाधनरूपा ज्ञेया । तथापि साधनत्वबुद्ध्या न कर्तव्या । साधनत्वबुद्ध्या करणे तु 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'ति वाक्यात् 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह'मिति स्वप्रतिज्ञातश्च प्रेमाद्युत्पाद्य 'मत्स्या मामभिजानाति यावान्यथास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तर'मिति पुरुषोत्तमज्ञानमुत्पाद्य स्वप्रवेशरूपमुक्तिरूपफलमेव मर्यादाभक्तिमार्गीयं भगवान् दद्यात् । न तु सर्वदा साक्षात्सम्बन्धरूपं शुद्धपुष्टिमार्गीयं फलम्, साधनबुद्ध्या कृतनवविधमक्तेः प्रेमोत्पादनद्वारा प्रवेशपर्यवसायित्वात् । फलरूपत्वबुद्ध्या करणे तु प्रेमासक्तिव्यसनान्युत्पाद्य स्वसेवामेव स्वप्रवेशरूपफलादप्युत्तमां दद्यात् । तस्मात् फलत्वबुद्ध्यैव शुद्धपुष्टिमार्गे सेवा कर्तव्येति । 'साष्टिसामीप्ये'त्यादि'सेवानुरक्तमनसामभवोपि फल्गु'रित्यादिवाक्यैः सेवायाः सर्वोत्तमफलत्वं प्रसिद्धमेव । इदमेव ज्ञापयितुं फलात्मकनामोक्तम् । वस्तुतस्त्वाचार्यमार्गीयस्याचार्यपक्षपातेन प्रवेशरूप फल साधनबुद्ध्या करणेपि न भविष्यति, तथापि भगवत एतस्मिन्विषये सङ्कोचो भविष्यतीति फलात्मकनामोक्त्या फलत्वबुद्ध्यैव सेवा कर्तव्येत्युपदिष्टं श्रीमदाचार्यचरणैरिति चोप्यमिति दिक् । ननु भगवानेकदैव प्रेमादिवक्ष्यमाणवस्थाविर्भावं कुतो न करोति, वा क्रमेण करोतीति चेत् । क्रमेणाविर्भावे रसाधिक्यानुभवस्यानुभवसिद्धत्वाद्रसाधिक्यानुभवाद्येमेवेति एहाणेति सर्वं निष्प्रत्यूहम् । प्रकृतमनुसरामः ।

ननु 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' । 'तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विषेत् यावता । मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते । तस्मात्त्वमुद्धरोत्सृज्य नोदनां प्रतिनोदनाम् । प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च' 'याहि सर्वात्मभावेन मया सा ह्यकुनोभय' इत्यादिश्रीगीताश्रीभागवतीयमगवद्वाक्येभ्यो लौकिकवैदिकत्यागपूर्वककेवलदासभावेन चेद्भजेत्तदा कथं भजेदित्याकाङ्क्षायां सार्धश्लोकेनाहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्षसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

चीजं तदुच्यते शास्त्रे ददं यन्नापि नश्यति ।

पूर्वोक्तमगवद्बचनरत्नेन पुत्रकलत्राद्यौदासीन्यं पहिर्मुखजनितनिन्दां चाविगण्य लौकिकवैदिकग्रहस्यधर्मतो व्यावृत्तोपि निवृत्तोपि 'उदासीने स्वयं कुर्या'दिति सिद्धान्तात्स्यमेव दासधर्मत्वाद्यथाशक्ति सेवां विधाय सदा हरौ सकलदुःखहर्तरि चित्तं न्यसेत् । तत्स्मरणं कुर्यात्, अथ च श्रवणादौ श्रवणकीर्तनयोरपि चित्तं न्यसेत् स्थापयेत् । न त्वेतेभ्योपि निवृत्तो भवेदिति भावः । अत्र चित्तपदं देहलीदीपन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते । यद्वा हराविति विषये सप्तमी । हरिविषयकं चित्तं श्रवणादौ श्रवणकीर्तनस्मरणेषु न्यसेत् । यद्वा ।

हराविति निमित्ते सप्तमी । चर्मेणि द्वीपिनं हन्तीत्यत्रेव । तथा च हरिनिमित्तं श्रवणादौ श्रवण-
कीर्तनेषु चित्तं न्यसेत् । अत्रेदं ज्ञेयम् । पूर्वश्लोके श्रवणादिभिरित्यत्राप्रधानतृतीयान्याख्यान-
पक्षे गृहीयया श्रवणादीनां सेवासमयातिरिक्तसमये कर्तव्यत्वात्प्राधान्यं यथायोषितं तथा
वस्मिन् श्लोके श्रवणादीनां सदापदेन सर्वदा कर्तव्यत्वस्य बोधितत्वेन पूर्वश्लोकानुवर्तमाना-
याः गृहे स्थित्वा सेवायाः किञ्चित्समय एव कर्तव्यत्वस्य आगतत्वात्, अथ च पुत्रकलत्रा-
दीनां स्वपर्भत्वागजनिर्तादास्रीन्येनासहायत्वात्पूर्णसेवानिर्वाहाभावाच्च स* प्राधान्यं बोध्यत
इति । अयं तु गौणपक्षः । लौकिकवैदिकगृहसन्व्यावृत्तिं विनातुत्तमसेवकत्वसंपालया(?)दिति
बोध्यम् । अस्मिन्पक्षे पूर्णफलप्राप्तिस्तु गुणश्रवणादिसन्तुष्टान्तरङ्गभक्तकृपया ज्ञेया । अत्र यत्नेत ।
यत्नेत् इति पाठस्तु लेखकप्रमादमूलक एव । न चाव्याहारः । चित्तपदोत्तरं विषयेति क्रिया-
शब्दं क* नप्याहारोपार्थक्ये चित्तपदस्य वैयर्घ्यापाताधेति सुधीभिरेवाकलनीयम् । एतत्सा-
ठस्य व्याख्यानं यथा श्रीमदस्मद्गुरुभिर्व्याख्यातं तथैव व्याख्यानं मन्यतेपि बोध्यम् । अस्मिन्
पक्षेऽनुदात्तेत्वलक्षणमात्मनेपदमनित्वं चक्षिञो छित्तरणान्त्रापकादिति यत्नेदित्यत्र परस्मै-
पदं साधनीयम् । नन्वेवं भक्तिवृद्धिसाधने क्रियमाणेपि भक्तिवृद्धिरेवैकपदेन सादर्यवा कि-
ञ्चिन्मध्येत्यदपि स्यादित्याकाङ्क्षायामाहुः तन्नः प्रेमेति । तत् इति पश्यमी । तत्सात्सादेतु-
ताद्भवनात् प्रेम । यस्य पूर्वावस्थाभावस्य भावस्य तत्तत्फलसाविर्भावः । तथा तेन सप्रेममज-
नरूपप्रकारेण तस्यैव भावस्यासन्नितरूपावस्थाविर्भावात् भवेत् । च पुनर्व्यसनम् । 'दैहिकान्
सकलान् भावान् निर्जान् द्रौडां च दैहिकीम् । परित्यज्य हस्त्रिप्रातिपदैव सातदैव तत्' इति
श्रीभागवततत्त्वदीपीयभागवतरूपप्रकरणसदृशमस्कन्धे सकलदैहिकं भावं दैहिकतत्रात्याग-
पूर्वकं हरिप्राप्तौ सर्वगतादिकमासत्तयै क्रियते तदेष तद्व्यसनमित्युक्तत्वावाद्यं व्यसनम् ।
अथ च तदनन्तरमपि प्रभुसम्बन्धभावे प्रतिकाररूपं च व्यसनं यदा भवेदाविर्भवेत् ।
अथ यदेति पदं व्यसनविर्भावस्य फलनियमाभावं ज्ञापयति । तथा च यदा भगवद्विष्ण-
या व्यसनमाविर्भवेत् तदा ददं बीजमुच्यते इत्यग्निमश्लोकेन सम्बन्धः । व्यसनपदस्याप्रति-
कार्यदुःखपरत्वेन च व्याख्यानं तु 'व्यसनं स्वमवोचते'ति दशमस्कन्धप्रथमाध्यायमुपोधिन्वां
श्रीमद्वाचायैः कृतं तत्रैवावलोकनीयम् । ननु तदा किं भवेदित्याकाङ्क्षायामाहुः पीज-
मिति । तदा तद्गानास्यविशेषरूपं व्यसनं शशो भक्तिशब्दे ददं बीजमित्युच्यते । परदं
पीजमपि पुनः न नश्यति विरोधात् न प्राप्नोतीत्यर्थः । एतेन प्रेमाश्रययोगवदनुष्ठाने गृहे
तदनुष्ठाने तत्प्रायेण तस्मिन्सादीपैः सह स्थित्वा च कदापिदन्वव्यासहे तत्पुने नितोपागो
रूपेदपि पीजस्य । व्यसने जाते तु सर्वेषामेव त्यागात् व्यासहान्तरील्लतेः सम्भारानामा
एवेति तस्मिन् ददं बीजत्वं निरन्तरं निश्चितव्यसनाभिर्भावेन फलप्राप्तत्वमिति ज्ञेयम् ।

ननु प्रेमासक्तिव्यसनानां परमानस्याविशेषेनेनान्तरपभत्वाद्वाप्येन्द्रिषाप्रत्ययत्वात् पर-

निष्ठस मनसा ज्ञातुमशक्यत्वात् केन लिङ्गेनेदं प्रेमेयमासक्तिरिदं व्यसनमिति ज्ञापयामित्या-
शंक्य तत्तत्कार्यमेव ततस्त्रिङ्गमिति सार्धस्रोत्रेनाहुः स्नेहाद्रागविनाशः स्यादित्यादि ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां वाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

पदा स्याद्दसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदेव हि ॥ ५ ॥

स्नेहाद्धेतोः आसक्त्या स्याद्गृहारुचिरिति गृहारुचेरेवै वक्ष्यमाणत्वात् सेवोपयोगि-
स्वगृहस्वपुत्रतादृशान्यव्यतिरिक्तेषु रागस्य, 'रागोऽनुरक्तौ मात्सर्ये क्लेशादौ लोढितादिषु ।
गान्धारदादौ नृपे राग' इति विश्वात् प्रेम्णो भगवद्विषयकविशेषेण नागः तिरोभावः स्यात् ।
स्वस्त्रीस्वपुत्रतदन्येषु सेवोपयोगिषु तु तिष्ठत्येव । अत्र नाशे विशेषकथनात्प्रेमाविर्भावत्वात्-
यं कृतभजने इतरत्र कदाचिद्रागो भवति । प्रेमाविर्भावोत्तरं तु न भवत्येवेति ज्ञेयम् ।
तथा च भगवत्सम्बन्धव्यतिरिक्ते तु रागाभावः प्रेमलिङ्गमिति ज्ञेयम् । अथ गृहारुचिः ।
स्वगृहेषु स्वगृहस्वपुत्रादिपदार्थेषु सर्वेष्वप्यरुचिः तत्सम्बन्धानिच्छा स्यात् । तेषां भगव-
दनुकूलत्वात्सेवोपयोगित्वेषु प्रेमासक्त्यभावात्सेवासमयातिरिक्तसमये गृहव्यासङ्गजनक-
त्वात् । यदि गृहव्यासङ्गं न जनयेत्सुखादा त्वरुचिर्न भवत्येवेति भावः । तथा च स्वगृह-
स्थानां गृहव्यासङ्गजनकत्व एव गृहारुचिरासक्तिलिङ्गम् । तेषां गृहव्यासङ्गजनकत्वे
तु पूर्वदृशान्यधिकसेवाश्रवणादिरुचिरेवासक्तिलिङ्गं ज्ञेयम् । अथ व्यासङ्गलिङ्गमाहुः
गृहस्थानामिति । अत्र प्रेमासक्तेः सेवालुकूलाः स्वगृहस्थाः पुत्रभार्यादयो यदि लौकिक-
व्यासङ्गं न जनयेत्सुखादाप्राप्तासक्तिना स्वगृहस्य भगवति निवेदितत्वेन हरिस्थानत्वात्स्व-
गृहस्थानां सर्वदा भगवत्सेवाकथानिष्ठत्वेन तत्परं भगवदीयत्वात् लौकिकव्यासङ्गजनकत्वेन
स्वप्रतिबन्धकत्वाभावाच्च स्वगृहस्थितौ वाधकत्वाभावात्स्वगृहमध्य एवासत्यसुखदृढबीजसि-
द्धधर्म्यं ज्ञेयम् । यदि तु तादृशस्वगृहस्था लौकिकव्यासङ्गं जनयेत्सुखादा तेषां वाधकत्वा-
त्स्वगृहं त्यक्त्वा तत्परभगवदीयैः सह दृढबीजसिद्धधर्म्यं सेवाकथाश्रवणादिविषयकयत्नं
कुर्वतान्यहरिस्थाने स्थेयमिति पक्षद्वयम् । तत्र यस्मिन् पक्षे त्वासत्सुखत्यन्तन्तरं वाधका-
भावात्स्वगृहस्थितस्यैव व्यसनं जातं, तस्मिन्पक्षे स्वगृहस्थानां तत्परभगवदीयत्वात्तैर्गुण-
गाने क्रियमाणे तच्छ्रवणेन प्राप्तव्यसनस्य स्वास्थ्ये जाते तापक्लेशाभावाद्भगवत्प्रादुर्भा-
वात्तापक्लेशजनितपूर्वभगवत्प्राकट्यस्यापि गतत्वाच्चान्तःप्रकटभगवत्सम्बन्धानन्दविपातक-
त्वादेते मम भगवत्सम्बन्धानन्दविशेषविपातका इति स्वगृहस्थेषु तादृशान्यगृहस्थेषु च
वाधकत्वमानं भवति । द्वितीयपक्षे त्वासत्सुखत्यन्तन्तरं स्वगृहस्थास्तु त्यक्त्वा एव लौकि-
कव्यासङ्गजनकत्वात्, स्थितं च हरिस्थाने तत्परभगवदीयैः सह, तेषामपि भगवद्गुणगानपर-
त्वात्, पूर्वोक्तप्रकारेण प्राप्तव्यसनस्य तेष्वपि वाधकत्वमानं भवति, अतो गृहस्थानामिति

पदं सर्वगृहस्थपरम् । न तु स्वगृहस्थमात्रपरमिति बोध्यम् । तथा च गृहे तिष्ठन्ति ते
 गृहस्थास्तेषां बाधकत्वं तत्सम्बन्धिविरहानुभवान्तर्गतभगवदनुभवबाधकत्वं पूर्वोक्तप्र-
 कारेण प्राप्तव्यसनस्य भासते स्फुरतीत्यर्थः । न च स्वगृहरूपहरिस्थानस्थान्यहरिस्थानस्य-
 गृहस्थानां भगवदीयत्वेन भगवद्गुणगाने क्रियमाणे प्राप्तव्यसनस्य स्वास्थ्ये जाते तापहेशा-
 भावाद्भगवदाविर्भावामावे पूर्वसंज्ञातभगवत्प्राकट्यतिरोभावे भवद्विर्भगवद्गुणा न गेया इति
 प्राप्तव्यसनेनोक्ते यस्माद्भजनप्रतिबन्धक इति प्राप्तव्यसनसम्बन्धिबाधकत्वं भासते । स्फुर-
 तीति धार्यः । इदमर्थद्वयमप्यत्राभिप्रेतं श्रीमदाचार्याणाम्, परस्य न बाधकज्ञानेन दृढ-
 तरपरित्यागाय गृहस्थपदं भगवदीयानां ब्रह्मचारिवानप्रत्यसंन्यासिनामप्युपलक्षकम् । एतत्कृ-
 तगुणगानश्रवणजस्वास्थ्यजनितभगवदाविर्भावामावपूर्वकं प्रकटभगवतिरोभावान्यां पूर्वव्या-
 ख्याने ब्रह्मचर्यादिसम्बन्धिबाधकत्वमानं प्राप्तव्यसनस्य, द्वितीयव्याख्याने प्राप्तसम्बन्धिवा-
 धकत्वमानं ब्रह्मचर्यादीनामपि जायत इति भगवदीयब्रह्मचर्यादयोपि सद्ग्राह्या एवेति । अतएव
 श्रीमदाचार्यैर्कृतव्यसनेतरपरित्यागे स्वपरगृहस्थाधारम्य अन्नजलादिपर्यन्तमपि त्यागो दृष्टः ।
 अत एव विरहानुभवार्थस्त्यागः परितस्त्यागरूप इति संन्यासनिर्णये परित्यागशब्देनैवोक्तः ।
 अत एव तादृशबाधकत्वज्ञानोत्तरमेव 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते' इति संन्या-
 सनिर्णयोक्तः परित्यागः स भविष्यति । यदि प्राप्तव्यसनस्य सर्वप्रकारकपूर्वोक्तभगवदीयगृ-
 हस्थादिषु भगवदीयगृहस्थादीनां प्राप्तव्यसने सर्वथा बाधकत्वमानं न भवेत्, तदा सर्व-
 परित्यागोपि दुःशकः कथं भवेदेवेति ज्ञेयम् । ननु पूर्वोक्तगृहस्थेषु प्राप्तव्यसनस्य प्राप्तव्य-
 सने च तेषां बाधकत्वज्ञानेपि प्राप्तव्यसनस्य भगवत्प्रासक्तौ जातायां भगवति यथात्मात्मीय-
 त्वं भावं तथा भगवत्सम्बन्धेन भगवदीयेष्वपि पूर्वोक्तेषु पूर्वोक्तभगवदीयानां च प्राप्तव्यसने
 भासत एव । एवं च परस्परं दृढतरात्मत्वात्मीयत्वाध्यासस्य विद्यमानत्वात् महारोगाद्युपह-
 तदेहादिषु यथा लौकिकालौकिकीकार्यबाधकत्वज्ञानेपि तैर्दृढतराध्यासात्तत्यागः कर्तुं न शक्यते,
 तथा पूर्वोक्तसर्वभगवदीयत्यागोपि प्राप्तव्यसनेन प्राप्तव्यसनस्य च त्यागस्तैः कर्तुं न शक्यते
 इत्याशंन्याहुः अनात्मत्वं च भासत इति । आत्मशब्दस्य देहात्मनोर्वापरकसात्
 तेषु प्राप्तव्यसनस्य प्राप्तव्यसने च तेषामनात्मत्वमात्मात्मीयमिच्छत्वे स्वहितकारित्याभावात् इति
 यावत् । तच्च भासते । यद्येते मद्दितकारिणो भवेयुस्तदा ययान्तःप्रकटीभूयान्मात्मीय इति
 भगवान् स्वदर्शनदानादिना हितं करोति, तथैतेपि कुर्युः, न तु भगवत्संन्यासिनाम् । अत्रो-
 नैते ममात्मात्मीया इति प्राप्तव्यसनस्य पूर्वोक्तेषु यद्यप्यस्मद्दितकारी म्यावदास्मद्भजनप्र-
 तिबन्धं न कुर्यात्, अतो नाप्यस्मदात्मात्मीय इति प्राप्तव्यसनपूर्वोक्तगृहस्थादीनां च
 बाधकत्वमानात् मुक्तेन परित्यागः सेत्स्यतीति भावः । तथा च परस्परनिबन्ध-
 बाधकत्वज्ञानं अनात्मकत्वज्ञानं च परित्यागे कारणं बोद्धव्यम् । ननु तासां बाधकत्व-
 मनात्मत्वं च कदा भासत इत्याकांश्यापानाहुः यदा ह्याद्भगवत्संन्यासो गृह्णा इति । यदा क-

दाचिद्भगवदिच्छया कृष्णे कृष्णनिमित्त कृष्णविषये वा भागवततत्त्वदीपीयदशमस्कन्धोक्तव्य-
सनोत्तराप्रतिकार्यं दु ए तदा पूर्वाक्त भासत इति ज्ञेयम् । तद्वैवाप्रतिकार्यदु ए जाते एव भ-
क्त कृतार्थ- प्राप्तफलं स्यात् । हि युक्तोयमर्थ । अप्रतिकार्यदु ए जाते परमस्नेही भग-
वान् साक्षात्सम्पन्नं कथं विलम्बं कुर्यादिति जानीहि । अत्रैतावज्ज्ञेयम् । येषामलौकिक
शरीरं तेषां तु रासमण्डलमण्डनानामिव व्यसने जाते तेनैव देहेन फलप्राप्ति । येषां च
गंतानामिव लौकिक शरीरं तेषां तु व्यसनेन देहपात । तदनन्तरं अलौकिकदेहप्राप्त्या फ-
लप्राप्तिरिति दिक् । तथा च गृहस्थविषयकं प्राप्तव्यसनस्य गृहस्थानां वा प्राप्तव्यसनविषयकमु-
भयोर्भयविषयकत्वं बाधकत्वज्ञानं अनात्मकत्वज्ञानं च व्यसनलिङ्गं ज्ञेयम् । एतेलिङ्गै-
रेमासक्तिव्यसनानि ज्ञातव्यानीति भावः ।

अथ ज्ञातव्यसनस्य गृहस्थपदार्थविषयकत्वात्तत्त्वज्ञानयोरवश्यभावित्वेन सन्यास-
निर्णयोक्तं परित्यागं स्वयमेव भविष्यतीति नोपदेशो योग्यः, अप्राप्तव्यसनस्य प्राप्तसक्तेर्भक्तस्य
तु गृहारुचेर्जातत्वेपि तेषां भगवत्सेवोपयोगित्वेन भगवत्सम्बन्धित्वात् त्यागो मत्सम्बन्धिन-
एतस्मै न रोचत इति भगवन्मनस्वामते समापराधं स्यादिति भियां तत्यागं न कुर्यात्, तदा
तेषां पोष्यत्वादात्मपोषणार्थं सेवासमयातिरिक्तसमये व्यासज्ञानान्तरमुत्साह एतैरिति तत्याग-
उपदिश्यते । न च तेषां भगवदीयत्वात् तत्यागे अपराधं प्रसज्येतेति वाच्यम् । एते
लौकिके मां योजयन्तीति लौकिकधर्मपुरस्कारेण दोषारोपपूर्वकत्वागेपराधप्रसक्तेरभावात् ।
भगवदीया एते मया त्याज्या इति भगवत्सम्बन्धपुरस्कारेणैव तेषु दोषारोपेण त्यागापरा-
धप्रसक्तेरिति स्वस्वपूर्वपक्षाभावादिति मनसि ह्यत्यागप्राप्तसक्तेर्गृहत्यागमुपदिशन्तं सुदृढसर्व-
तोधिकपरमभक्तिलाभं च सार्धं शोकेनाहुः तादृशस्यापीति ।

तादृशस्यापि सततं गृहस्थानं विनाशकम् ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थिकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोभ्यधिकं पराम् ।

सततं सर्वदा तादृशस्यापि प्राप्तसक्तित्वात् गृहासक्तियुक्तस्यापि आभासोक्तभगवद-
पराधभियां गृहमत्यजतो गेहे स्थानमवस्थानं विनाशकं मध्ये मध्ये तौक्तिकव्यामङ्गजनकत्वेन
भगवद्भजनविषयकयत्ननाशकम्, अतस्तादृशानां मध्ये गृहादिमात्रत्यागं कृत्वा यः भाग्यवा-
स्तदर्थार्थिकमानसः । स चासौ भगवानेवार्थो वस्तुरूपोऽर्थः प्रयोजनं यस्मिन् सन् यतेत्,
भगवत्प्राप्त्यर्थं यत्नं कुर्यात्, स सुदृढां भक्तिं लभते इत्युत्तरेणान्वयः । नन्वस्मिन्पक्षेय-
त्यागो व्यसनोत्तरसामयिकसन्यासनिर्णयोक्तव्यत्वेनैव कुनो नोच्यत इति चेत् । अत्र वदामः ।
अप्रतिकार्यदु ए रूपव्यसनोत्तरत्यागस्य स्वयमेव जायमानत्वेन उपदेशानर्थन्यम् । क्रिय-
यत्र व्यसनोत्तरत्यागे व्यसने जाते तत्प्रतिकारो भगवदतिरिक्तेन न कर्तुं शक्यत इत्येवोच्यते ।

तदा 'यदा स्याद्ध्यसनं कुष्ण' इत्यव्यवहितपूर्व व्यसनमुक्तमिति ईदृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकमित्यत्र प्रत्यक्षपदार्थवाचिइदमः प्रयोग एव कृतः स्यात्, न तु परोक्षपदार्थवाचितादृशस्यापीति तच्छब्दप्रयोग इति । अपरत्र, 'व्यसनं यदा भवेत्' 'बीजं तदुच्यते शास्त्रे ह्यं यत्रापि नश्यती' लनेन व्यसने जाते भावात्मकबीजस्य नाशमात्र एवोक्तः । अत्र तु 'तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशक'मित्यनेन नाश उच्यते । तस्मादपि नायं त्यागशब्दः संन्यासनिर्णयोक्तव्यामपरः, किन्तु प्राप्तासक्तिमात्रस्यैव लौकिककार्यव्यासङ्गजनकत्वेन पुत्रकलत्रादित्यामपर एवेति सुष्ठु प्रतिभाति । अत एवाग्रे त्यागोत्तरं 'अतः स्वयं हरिस्थाने तदीयैः सह तस्यै'रिति तत्परतदीयसङ्ग उपदिष्टः । यद्यप्येतेषु तदीयास्तथापि तेषां स्वेन पोष्यतासम्बन्धयुक्तत्वात् स्वपौर्णार्थ लौकिकव्यासङ्गजनकत्वाभाव इति तत्सहभावेन स्थितिरुपदिश्यत इति । अत एव संन्यासनिर्णये 'विरहातुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते' इति विरहातुभवार्थत्यागे भगवदीयाभगवदीयसकलत्यागवाचकः परित्यागशब्दः प्रयुक्तः, अत्र तु लौकिकव्यासङ्गजनकपदार्थत्यागोऽलौकिकव्यासङ्गजनकपदार्थत्यागश्चोक्त इति परित्यागत्वामावादपि न संन्यासनिर्णयोक्तोयं त्याग उपदिष्ट इति भगवदीयैः सहृदयैः परिभावेनीयमिति दिक् ।

नन्वेवं प्राप्तासक्तिर्यहत्यां कृत्वा हरिस्थाने स्थितस्तदीयसहृदया चेत् भगवद्विषयकं यत्नं कुर्यात् तदा को लाभः स्याद् इत्याकांक्षायामाहुः लभ्यते इति । स भक्तः सुखदां केनापि नाशयितुमशक्यां भक्तिं स्नेहरूपां व्यसनविशिष्टत्वेन सुखदां बीजस्वरूपां लभते प्राप्नोतीत्यर्थः । नन्वेतादृशी भक्तिरन्यदेवविषयिण्यपि भवतीत्याशङ्क्य आहुः सर्वतोभ्यधिकाम् विभूतिरूपभक्तिभ्योप्यधिकां पुरुषोत्तमविषयत्वादिति भावः । अथ च सर्वविषयभक्तिभ्यः परां चरमावधिभूतां पुरुषोत्तमसाक्षात्सङ्गकारणमूत्रामिति यावत् । पद्म । परां परमकाष्ठापन्नम् । एतेनान्ये संप्रदायत्रयभक्तिमार्गान्तदुक्तभक्तिप्रकारास्तदुपास्यस्वरूपाणि तदाचार्यांश्च न परमकाष्ठापन्नाः । 'ते प्राप्नुवन्ति मामेवे'ति वाच्यत्वात् । 'तद्वत्त्वांगतयोन्तत' इति वाच्यत्वात् शुद्धपुष्टिमार्गः, तदुक्तं भक्तिः, तदुपास्यस्वरूपं, तदाचार्यांश्च परमकाष्ठापन्ना इति ज्ञेयम् । तथा चैतन्मार्गतदुक्तभक्त्यैतन्मार्गोपास्यस्वरूपं पत्न्यमार्गोपास्यत्वात् सत्यां सर्वं प्राप्तं किमपि नावशिष्यते प्राप्तव्यमित्येतेषां सर्वेषां फलरूपत्वम् । यतो वेदविभागाष्टादशपुराणधर्मनक्षत्रिज्ञानामहाभारतादिकल्पेनापि धीमन्नामयन्नाम्नारूपाणां श्रीमतां व्यामचरणानां चित्तप्रमादेऽजाने नारदोपदेशेन प्रेमालम्बकमयापायाशुक्ते चित्तप्रमादे जाने तत्रानुभूतपूज्यपुरुषोत्तमादिपदार्थमपिनममादिभावात्तन्धीमानवतत्परत्वम्, अतो ज्ञायते श्रीभागवतोक्तं स्वरूपम्, तथापिना भक्तिः, तदाचार्याः, श्रीमद्भजमसादयः, तदनुगता विष्णुन्माभ्यादिधीमन्तभाचार्यान्ताम, तद्व्यङ्गितो भक्तिमार्गश्चेतत्परं परमकाष्ठापन्नत्वात्फलरूपमिति भावः ।

अथैतादृशत्यागकर्त्रां त्यागं कृतैकान्ते गन्तव्यमेवाथवा किञ्चिदन्यदपि कर्तव्य-
मित्याकांक्षायां गृहमात्रमेव लक्ष्णा हरिस्थाने तदीयैः सह स्वयं'मिति सार्धश्लोकेनोप-
दिशन्ति त्यागे बाधकमूपस्त्वमिति ।

त्यागे बाधकमूपस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाव्रतः ॥ ७ ॥

अतः स्वयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्पति ॥ ८ ॥

त्यागे बाधकानां मूपस्त्वं बाहुल्यं वर्तते । ननु कस्माद्देतोर्दुर्वाषकबाहुल्यमित्याकां-
क्षायाहुः दुःसंसर्गात्तथाव्रत इति । देहाप्यासस्थानिवृत्तत्वाच्च कुत्रापि स्थितौ सङ्गे
प्राये दुष्टसङ्गो बहिर्मुखसङ्गोपि भवति । तथा देहपोषार्थं दुष्टान्नमक्षणं च प्रसजते । तदा
दुःसङ्गादुष्टन्नतश्च बाह्याभ्यन्तरदोषोत्पत्तेर्भजनादिष्वालस्ये सम्पन्ने कृतोपि गृहत्यागो व्यर्थः
स्यात् । तर्हि तेन किं कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः अतः स्वयं हरिः स्थाने तदीयैः
सह तत्परैरिति । अतः कारणाद्धेरः सर्वविषदोषहर्तुः स्थाने शुद्धप्रस्थिताने वृन्दावनादी
तत्परैः रात्रिदिनं भगवत्सेवादिपरैः सह तदीयैः शुद्धपुष्टिभार्यादासम्पर्बद्धिः सह
स्वयम् । तथा च तत्सङ्गेन दुःसङ्गाभावात्तत्समर्पितभगवत्प्रसादात्प्रमक्षणात्तद्वत्समर्पिता-
न्नमक्षणाच्च बाह्याभ्यन्तरदोषाभावाद्भजनसिद्धिर्निश्चल्यह्य भवति । प्रासासत्तेरिति भावः ।
एतेनाप्ययं त्यागो न व्यसनोत्तरसामर्थिकः संन्यासनिर्णयोक्तस्त्यागः । यतो व्यसनोत्तर-
त्यागे भगवदीयेष्वपि बाधकत्वज्ञानादानामत्वज्ञानाच्च सर्वत्यागादत्रादित्यागोपीति क
दुःसंसर्गाद्यादिजनितदोषप्राप्तिसंभावनापीति सुधीमिराकलनीयम् । अत एव श्रीमदस्मदा-
चार्यचरणकृतव्यसनोत्तरत्यागेनशनकाशीगमनादिकमपि दृष्टम् । अन्यथा तैर्हरिस्थाने
ब्रजादेवेव गतं स्यात् । भगवदीयात्रादिकमपि गृहीतं स्यात् । तनु न कृतमिति संन्यासनि-
र्णयोक्तस्त्यागो न साधनदशात्यागो येन हरिस्थाने गमनं स्यात्, तदन्नमक्षणं च प्रसजते,
किन्तु फलदशाव्रतितस्त्यागः फलजनित एव । अत एव संन्यासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं
तु परित्यागः प्रशस्त' इति विरहानुभवार्थरित्यागस्य प्रशस्तत्वमेवानुदितम् । ननु 'विर-
हानुभवार्थं तु त्यागः कर्तव्य एव ही'ति तस्यावश्यकत्वमनुक्तम् । जीवकृतसाप्यत्वात् ।
तस्मादस्मदुक्त एवाशक्तिदशात्यागोपमिति ज्ञेयम् । ननु हरिस्थानस्यतत्परतदीयानामपि
स्वाप्तिकिसमानासमानासक्तेः सत्त्वे तु दोषाभावः सिध्यत्येव, स्वसमानासत्तेरभावे तु तेषामपि
सेवाभ्यतिरिक्तसमये कदाचिन्नैकिक्रियासङ्गजनकरत्ने का गतिरित्याशङ्क्याहुः अदूरे
विप्रकर्षे चेति । यदि तेषां स्वसमानासमानासक्तिसदा तद्वत्तावमेकान्ते मध्यवित्त्वा तेषामदूरे
निकटे स्वयम् । अदूरमिति पाठे अदूरं यथा भवति तथा स्वयम् । यदि पूर्वोक्तं न तदा
तेभ्यः प्राप्तं भगवत्प्रसादाच्च तद्वत्समर्पिताच्च च मध्यवित्त्वा विप्रकर्षे दूरे स्वयम् । यथा
येन प्रकारेण चित्तं न दुष्पति तथेत्यर्थः ॥ ८ ॥

नन्विदमत्यशक्यं, यतोस्मिन् कलिकाले हरिस्थानानामपि दुष्टाक्रान्तत्वात् प्रतिष्ठा-
दिकामुक्त्वेन तत्परभगवदीयानामपि दुर्लभत्वाच्च प्राप्तासक्तेः का गतिरित्याशङ्क्याहुः
सेवायां वा कथायां वेति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्भव ॥ ९ ॥

यस्य मत्स्य पूर्वोक्तसेवायां कथायां कथाश्रवणक्रीतनयोर्वा आसक्तिर्दृढा बद्धमूला
भवेत्, तस्य यावज्जीवं यावदेहस्थिति व्यसनं यदा कदापि भवतु, परंतु दुःसङ्ग-
दुष्टान्नभक्षणजनितो नाशो भगवत्सेवाकथायासक्तिप्रच्युतत्वं कापि देशे कापि काले च
कापि जन्मन्यपि च न भवतीति मे मम मतिर्बुद्धिरित्यर्थः । तथा च यदि भगवद्धर्मरूप-
सेवाकथासक्तस्यैव न नाशस्तदा साक्षाद्दर्भरूपभगवदासक्तस्य न नाश इत्यत्र किं
वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायः सूचितः । यद्वा । नाशः दुःसङ्गदुष्टान्नजनितदोषसम्बन्धरूपः
न कापि संभवतीत्यर्थः । तथा च दुष्टाक्रान्ते हरिस्थाने दुष्टाक्रान्तहरिस्थानातिरिक्ते
स्थाने वा तिष्ठन् तत्परभगवदीयेभ्यस्तदितरजनेभ्यश्च भिक्षया जीवनमात्रसंपादकमत्रं
संपाप स्वयं पाकं कृत्वा प्रभवे समर्थं भक्षणम् न दोषभाक् भवतीति भावः ॥ ९ ॥

ननु यदि हरिस्थानातिरिक्ते हरिस्थाने वा दुष्टाक्रान्ते दुष्टैर्भजनबाधः, अथ च
तत्रान्नादेरप्यलाभेन वा भजनबाधः प्रसज्येत, तदा किं कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः
पाघसंभावनायां तिबति ।

पाघसंभावनायां तु नैकान्ते चास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

यदि सेवायाः कथाश्रवणादीनां वा बाधः संभाव्येत ज्ञायेत, तदा एकान्ते गृहं
त्यक्त्वा स्त्रीयाज्जाते स्थले वासो नेष्यते, किन्तु गृहे एव चास इष्यते । ननु तदा गृह-
स्थानां पुत्रकलत्रादीनां लौकिकव्यासद्धान्तराजगत्वं सिद्धमेवेति दोषप्रसक्तिरिति किं
कर्तव्यमित्याशङ्क्याहुः हरिस्तु सर्वत इति । तु पुनः हरिः सर्वदुःखदोषो सर्वतः सर्वेभ्यो
दोषेभ्यः स्वयं रक्षां करिष्यति । गृहस्थपुत्रकलत्रादिजनितलौकिकव्यासद्धान्तरदोषो न
वापिष्यत्वेवेति भावः । अत एव 'मद्भातीयातयामानां न पन्थाय गृहा मता' इति
श्रीभागवते भगवतोक्तम् । ननु को वेद, हरिः प्रसूः करोति चेत्, तस्य किं कर्तव्यमित्या-
शङ्क्याहुः न संशय इति । न सन्देह इत्यर्थः । यदि सौपरक्षां न कुर्यात्तदा हरित्वमेव
गच्छेदिति भावः ॥ १० ॥

एवं मत्किशुद्धिप्रकारमुपपाद्य ग्रन्थोपसंहारमेतत्पाठफलं चाहुः ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गृह्यतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीपीत तस्यापि स्याद् दृशा रतिः ॥ ११ ॥

इति ग्रन्थसमाप्तौ । एवं अनेन प्रकारेण च भगवच्छास्त्रं उत्तरेपदलोपितमाहात्
भगवत्प्रापकं शास्त्रं भगवत्प्रापकोपदेशग्रन्थः । गूढतत्त्वं गूढं गुह्यम्, इतरमार्गीयेभ्यस्तत्त्व-
सिद्धान्तो यस्य तादृशं निरूपितं कथितम् । मयेति शेषः । अत्रैतदुक्तप्रकारेण सेवायाः
कथाश्रवणकीर्तनादीनां च कर्तुः प्रेमाद्याविर्भावो भवेदिति किमाश्रयम्, यत्रैतच्छास्त्र-
ध्ययनकर्तुरपि प्रेमाद्याविर्भवेदित्याहुः य एतदिति, योधिकारी कोपि एतत् समर्था-
यीत, सम्यक् श्रद्धापूर्वकमनुसन्धानपूर्वकं वाध्ययनं कुर्यात् तस्यापि ददा केनापि तिरो-
पापयितुमशक्या रतिर्बीजरूपभावरूपा स्वादाविर्भवेत्, किं पुनरेतदुक्तप्रकारकमजन-
कर्तुरिति दिक् ।

श्रीमद्ब्रह्मविद्ब्रह्मभगवत्परान्जरेणुकणकृपया ।

कृतवान् जयगोपालटीकां श्रीभक्तिवर्धिण्याः ॥ १ ॥

सूर्यञ्जलिं ननु विधाय निधाय भूयो सूर्यः कृपालुषु महत्सु निवेदयामि ।

यत्किञ्चिदत्र मयका लिखितं भवद्विरस्तुष्टिमार्गपथिकैः परिशोधनीयम् ॥ २ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मभार्यचरणैकतानमानसश्रीमन्महाप्रभुश्रीविद्ब्रह्मेश्वरकृपा-

कटाक्षोद्बुद्धिना श्रीमन्विन्तामणिदीक्षितात्मजेन जयगो-

पालेन विरचिता भक्तिवर्धिनी टीका ॥

श्रीगिरिधारी वनोद्भूत मङ्गलानि ।

भक्तिवर्धिनी ।

दीक्षितलाल्भट्टकृतविवृतिसमेता ।

नमामि श्रीमदाचार्यान् विद्ब्रह्मेशांश्च मत्प्रभून् ।

यत्कृपातो भवेत्प्राप्तिः (श्री)गोवर्धनगिरीशितुः ॥ १ ॥

अथ श्रीब्रह्मभार्यचरणाः गुष्टिभक्तानां नित्यलीलाप्रवेशाख्यस्वमार्गीयफलप्राप्त्यर्थं
तत्कारणमूर्तां धीजभावात्मिकां तायात्मकसूक्ष्मश्लेढरूपां भक्तिं वर्धयितुं तत्प्रकारनिरूपणं
प्रतिजानते यथा भक्तिरित्यादिना ।

यथा भक्तिः अष्टाङ्गा स्यात्तथोपासने निरूप्यते ।

धीजभावे दृढे तु स्यात्प्रागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण भक्तिर्धीजभावरूपा प्रकर्षेण वृद्धा सर्वात्मभावावाहापद्या स्यात्त-
थोपायः त्यागात्यागविभेदेन श्रवणादिरूपः पूजादिरूपश्च निरूप्यते इत्यर्थः । ३६

भक्तेर्वृद्धधुपायकथनप्रतिज्ञया भक्तिसत्ता सूचिता । अतो बीजरूपा पुष्टिभक्तिः पूर्वं पुष्टि-
जीवेषु सूक्ष्मरूपेण वर्तते एवेति बोध्यम् । अन्यथा यथा भक्तिरुत्पन्ना स्यादिति प्रतिज्ञायेत ।
उत्पन्नाया एव वृद्ध्यादिभावार्हत्वात् । अतः पूर्वं पुष्टिभक्तेः सूक्ष्मरूपेण सत्ता ज्ञापिता ।
सैव पुष्टिभक्तिर्बीजभावशब्देनोच्यते । इयमेतद्धन्दोदितप्रकारेण वृद्धा सती सर्वात्मभावा-
वसां प्राप्य नित्यलीलाप्रवेशरूपं फलं साधयिष्यतीति सिद्धान्तनिष्कर्षः । बीजभावे
इति । बीजरूपे भावे सूक्ष्मभक्त्यात्मके दृष्टे सति सात्, भक्तिः प्रवृद्धा सादित्यर्थः ।
बीजभावदार्ष्यं कथं सादित्याकांक्षायामाहुः त्यागात् श्रवणकीर्तनादिति । गृहादि-
त्यागपूर्वकं भगवत्कथाश्रवणाद्बीजदार्ष्यं भवतीत्यर्थः । गृहादेर्विषयासक्तिसम्पादकतया
भजनप्रतिबन्धकत्वेन गृहादित्यागो भजने मुख्यमङ्गम् । 'हित्वात्मपातं गृहमन्वकूपं वनं
गतो यद्भरिमाश्रयेत' इति प्रह्लादवाक्यात् । अत एव निबन्धे भगवदुक्तश्लोकयोरेवं
वक्ष्यते 'गृहं सर्वात्मना त्याज्य'मिति ।

एवं मुख्यतया पूर्वं त्यागपक्षमुक्त्वा तादृशजितेन्द्रियत्वादिगुणरहितस्य त्यागे दोषा-
धिक्याद् बीजदार्ष्यं प्रकारान्तरमाहुः बीजदार्ष्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः
इत्यनेन ।

बीजदार्ष्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अन्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

गृहे बीजदार्ष्यप्रकारस्त्वित्यन्वयः । गृहे बीजदार्ष्यप्रकारमाहुः स्थित्वा स्वध-
र्मत इत्यादिना । गृहे इति सप्तम्यन्तं देहलीदीपन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते । स्वधर्मत
इति । वेदोक्तवर्णाश्रमधर्मत इत्यर्थः । तथा च विहितप्रकारेण गृहस्थाश्रमे स्थित्वा भक्ति-
मार्गप्रकारेण कृष्णं भजेत् । यद्यपि 'अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽवृहद्भूत' इति द्विती-
यस्कन्धवाक्यात् गृहाश्रमस्य फलप्रतिबन्धकत्वम्, तथापि भगवद्भजनं कुर्वाणस्य न गृह-
स्थाश्रमः प्रतिबन्धकः । 'गृहेष्याविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणाम् । मद्रतायातया-
निषिद्धानां निवृत्तिः सूचिता । कुशलकर्मणामित्यस्य व्याख्यारूपं स्वधर्मत इति पदमाचा-
र्यैर्वर्षेयकम् । अत एव भगवता द्वितीयोऽत्यागात्मापि पक्षः सफलो निरूपितः 'गृहं
सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्यक्तुं न शक्यते । कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णः संसारमोचकः ।'
इति । अन्यावृत्त इति । 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यह'मिति वाक्याद्भगवान्
गृहस्थाश्रमनिर्वाहकं धनादिपदार्थं स्वत एव सम्पादयिष्यतीति विश्वासेन धनापजनेनाधि-
निवेशं त्यक्त्वा श्रीकृष्णं निरन्तरं भजेदित्यर्थः । कथं भजेदित्याकांक्षायामाहुः पूजया
श्रवणादिभिरिति । पूजयेति । मन्दिरमार्जनादिरूपया परिचर्यैत्यर्थः । श्रवणा-
दिभिरिति । श्रीमद्भागवतोक्तदशविधलीलायुक्तस्य भगवतः श्रवणादिभिरित्यर्थः । 'तस्मा-

द्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः । श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभय'मिति
शुकवाक्यात् । 'दशविधलीलायुक्तस्य श्रवणादि कार्य'मिति सुषोधिभ्यां निर्णतित्वात् ।
दशविधलीलास्तु भागवते प्रतिवादिता इति भागवतं श्रवणादिनिषयीकार्यमिति फलित-
म् । एवं सति सेवां विधाय तदनवसरे भागवतश्रवणादि कार्यमिति विभागोवगन्तव्यः ।
एवं वर्तमानस्य गृहेषु संसारावेशाभावात् बीजदाढ्यं भवति । ततो भक्तिवर्धिष्यते
इति भावः । ननु यस्य भक्तिः सूक्ष्मावस्वारूपस्य बीजभावस्य सर्वात्मभावान्तावस्था
भवतीत्युक्तम्, कोसौ बीजभावः ? कदा कुत उत्पद्यते इति चेत् । ग्यु ।
सृष्ट्वादौ 'यथाशेषेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ती'ति श्रुतेरक्षरप्रक्षयः सकाशादुत्पन्नानां
चिदंशानां भगवदिच्छया तिरोहितानन्दत्वेन प्राप्तजीवभावानां भगवदिच्छयैवा-
विद्यासम्बन्धः । ततो देहाध्यासादिस्वरूपविस्मरणान्तानि पञ्चपर्वानि सम्पद्यन्ते ।
ततस्तेषु जीवेषु सदसद्भासनाभेदेन दैवत्वमासुरत्वं विदधाति भगवान् । तत्र दैवजीवेषु
यान् पुष्टिमार्गीयान् कर्तुमिच्छति, तेषु स्वविषयकां सूक्ष्मरूपां रतिं स्थापयति । सा
बीजभावशब्दवाच्या । 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयते' इति चाक्यात् कारणत्वेन
बीजत्वात् । सा रतिः प्रेमासक्तिव्यसनसर्वात्मभावानां बीजरूपेति बीजभावशब्देन
व्यवह्रियते । एवमत्यागपक्षे व्यावृत्तिरहितेन भगवद्भजनं मुख्यः पक्षः ॥ २ ॥

तदसम्भवे गौणं पक्षमाहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च पदा भवेत् ॥ ३ ॥

बीजं तदुच्यते शास्त्रे ह्यं यज्ञापि नश्यति ।

भगवत्सेवानवसरे व्यावृत्तिं कुर्वाणोपीत्यर्थः । श्रवणादाविति । 'श्रोतव्यः
कीर्तितव्यश्चे'त्यत्र उक्ता ये श्रवणाद्यस्तैर्भजेदित्यर्थः । व्यावृत्त्यवसरे पूजाया असंभवात्
श्रवणादिमात्रमशुक्तम् । अव्यावृत्तस्य तूमयं संगवतीति पूजया श्रवणादिभिरित्यनेनोभय-
शुक्तम् । ततः प्रमेत्यादि । एवं भगवन्तं भजतः प्रेमासक्तिव्यसनानि क्रमेण भवन्ति ।
सूक्ष्मभक्तिबीजभावरूपा पूजाश्रवणादिभिः प्रवृद्धा प्रेमासक्तिव्यसनावस्थां प्राप्नोतीत्यर्थः ।
बीजं तदुच्यते इति । व्यसनावस्थायां सिद्धायां बीजभावस्य दाढ्यं संपन्नमिति बोध्यम् ।
नापि नश्यतीति । न तिरोभवतीत्यर्थः । सत्यतियोगिनोऽभावस्य तिरोभावानतिरेकात् ।
अभावास्त्वस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ता न भवन्तीति सुषोधिभ्यां निर्णतित्वात् ॥

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां पापकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

पदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

प्रेमावस्थायाः कार्यलक्षणमाहुः स्नेहाद्रागविनाशः स्यादिति । आसक्तेः कार्यलक्षणमाहुः आसत्तया स्याद्गृहारुचिरिति । गृहपदं गृहस्थानामुपलक्षणम् । अरुचिरिति । नात्रारुचिशब्देन रुच्यभावः । तस्य स्नेहाद्रागविनाशः स्यादित्यनेन पूर्वं स्नेहकार्यत्वेनोक्तत्वात् । अतोत्रारुचिशब्देन रुचिविरुद्धो भावः । विरोधार्थं नगः स्मरपात् । 'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नन्याः पदप्रकीर्तिता' इति वाक्यात् । स च बाधकत्वस्फूर्तिरूप इति स्वयमेव व्याचक्षते गृहस्थानां बाधकत्वमिति । तथा च भगवदितरविषयकबाधकत्वस्फूर्तिसंपादको भाव आसक्तिरिति कार्यलक्षणमासक्तेः । आसक्तेर्लक्षणान्तरमाहुः अनात्मत्वं च भासत इति । देहस्यैति शेषः । तथा च देहात्मभावनिवर्तको भगवद्भाव आसक्तिरिति लक्षणात्तरमासक्तेः । यदा स्याद्व्यसनमित्यादि । व्यसनमिति । विशेषेण अस्त्येते क्षिप्यते दूरीक्रियते अन्यसम्बन्धो येन तद्व्यसनं भगवत्सत्त्वभाव इति यावत् । एवं भगवत्सत्त्वभावो निरुपाधिकस्नेहो व्यसनमिति फलितम् । अत एव 'प्रेष्ठो भवांस्तनुमृतां किल दन्धु-रास्मि'ति व्यसनभाववतीभिर्भगवत्सत्त्वमभाषि । 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवती'ति श्रुतेरात्मसम्बन्धादेवान्यस्य प्रियत्वं लोके, एवं ब्रजसुन्दरीणां भगवत्सम्बन्धादेव स्वदेहादौ प्रीतिविषयत्वम् । अत एव 'त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वत' इत्युक्तं तामिः । 'त्वदर्थं प्राणधारण'मित्याशयो विवृतः श्रीमदाचार्यवर्यैः । अतस्तादृशो निरुपधिभावो व्यसनशब्दार्थः । अत एतादृशो व्यसनारम्भे भावे सिद्धे युक्तैव कृतार्थतेति बोधयितुं यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदेव हीति हिशब्द उक्तः । कृतार्थ इति । भगवन्तं साक्षात्करोतीत्यर्थः । भगवन्मूर्तिं परिचरतो जातव्यसनाख्यभावस्य भगवत्साक्षात्कारो भवेत्, तदानेकप्रकारकं भगवदाज्ञादिजन्यं सुखविशेषमनुभवेद्, अतः कृतार्थता सिध्यतीति बोध्यम् ।

एवं भगवदाविर्भावेन लीलावलोकनादिरूपं भगवत्सम्बन्धसंयोगसुखमनुभवतोपि भगवद्विरहजन्यविलक्षणमुत्तानुभवराहित्यात् पूर्णफलप्राप्तिः, अतो द्वितीयदलानुमाराणं साधनमाहुस्तादृशस्यापीत्यारम्भं त्यागं कृत्वा यतेष्वस्तु तदर्थाधिकमानस इत्यन्तेन ।

तादृशस्यापि सनतं गेहस्थानं विनाशकम् ।
त्यागं कृत्वा यतेष्वस्तु तदर्थाधिकमानसः ॥ ६ ॥

तादृशस्येति । प्राप्तव्यसनभावस्येत्यर्थः । गेहस्थानं विनाशकमिति । गेहे स्थितौ हि भगवत्सेवया भगवदाविर्भावेन संयोगानुभवसिद्धौ न वियोगानुभवो भवेत्, अतः फलपूर्वतायां गृहस्थितेः प्रतिबन्धकत्वाद्दिनाशकत्वोक्तः । अतो 'विरहानुमाराणं न परित्यागः प्रशस्त' इति संन्यामनिर्वचनन्योक्तं त्यागमुपदिशन्नि ग्यागं कृत्वा

यतेदिति । यतोयं विलक्षणस्त्यागोत एव तदर्थार्थिकमानस इति विशेषणमुक्तम् । स चासौ अर्थः तदर्थः 'पुरुषार्थरूपो भगवान्' तदर्थं तत्प्रयोजनकमेव मानसं यस्येति विग्रहः । पुष्टिमार्गे हि भगवानेव पुरुषार्थः । 'त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मे'ति दशमस्कन्धे श्रीरुक्मिणीवाक्यात् । 'तावांस्तेहं चतुर्विध' इत्येकादशस्कन्धे श्रीमद्बुद्धं प्रति भगवद्वाक्याच्च । तथा च भगवदर्थमयं त्यागो विरहे सर्वदा अन्तर्भगवत्स्फुरणार्थः । न तु 'गृहं सर्वात्मना त्याज्य'मित्यनेनोक्तोयं त्यागः । तत्र तु 'हित्वात्मपातं गृहमन्ध-
कूप'मिति वान्यात्पातहेतुत्वं गृहस्थितेः, अतो गृहत्याग उक्तः । स त्यागस्तु 'त्यागाच्छ्रव-
णकीर्तना'दित्यनेन पूर्वमुक्तः । अयं त्यागस्तु 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मत' इत्यश्रोक्तप्रकारेण वर्णाश्रमधर्मतः स्थितस्य पूजाश्रवणादिना व्यसनभावोत्पत्त्यनन्तरं विहितः । अतोस्मिन् त्यागे श्राप्यसनभावोधिकारी । 'तादृशस्यापि सतत'मित्यत्र तादृशशब्देन 'यदा स्वाह्यसने कृष्णे' इत्यनेन पूर्वमुक्तस्य व्यसनभाववतः परामर्शत् । अतोयं त्यागो विरहानुभवार्थं एवेति निर्धारः ।

एवाद्कृत्यागकर्तुः फलमाहुः लभते सुहृदां भक्तिमिति ।

लभते सुहृदां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथागतः ॥ ७ ॥

सर्वतोप्यधिकामिति । सर्वतः प्रेमासक्तिष्यसनतोपिकामित्यर्थः । परां सर्वात्मभावरूपामित्यर्थः । वियोगे हि सर्वात्मभावो भवतीति तृतीयाप्यायभाष्ये निरूपितम् । तदत्रापि ध्यसनभावोत्पत्त्यनन्तरं कृत्यागस्य भगवद्विरहानुभवप्रेरकजन्य-
भगवत्सम्बन्धार्था सर्वत्र भगवानेव स्फुरतीति सर्वात्मभावमिदौ न किञ्चित् कर्तव्यम-
वशिष्यत इति बोध्यम् । एवं गृहस्थितिपथे भक्तिपृष्ट्यापायं निरूप्य 'त्यागाच्छ्रवण-
कीर्तना'दिति पूर्वमुपदिष्टे त्यागे बाधकभावं साधयितुं बाधकस्वरूपनिरूपणपूर्वकं त्याग-
प्रकारमाहुः त्यागे इति । त्यागे बाधकभूयस्त्वमित्यादिना कामादिपदकजन्यानां बाधकानां भूयस्त्वमित्यर्थः । दुःसंसर्गादिति । 'प्रमहमजरं पाशमात्मनः कवयो विदु'रिति वाक्यात् । जीवे हि कामादिदोषाः सर्वेव निष्ठन्ति । 'भयं प्रमत्तस्य बनेष्वपि स्थायतः स आत्मे सह पटसपत्न' इति वान्यात् । तथा च दुःसङ्गदुरात्म्यां तस्य कामादिपदकस्योद्बोधे तत्रन्यानां बाधकानां बाहुल्यं स्यादित्यर्थः ॥ १ ॥

अतःपरं बाधकहेतुकामादयो येन निवर्तन्ते तं उपायमाहुः अतः स्थेपमिति ।

अतः श्रेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अहरे विप्रकर्षे वा यथा गित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

हरिस्थाने गोवर्धनादौ, तत्रापि तदीयैः तत्परैः सह स्थेपम् । 'न एव साधु इतो मोक्षद्वारमपावृत'मिति वान्यात् । एवं गृहस्थितिगृहत्यागपक्षौ सप्रकारं निरूप्य अन्तर-

साधनावस्थापन्नस्य पक्षद्वये अनुगतं मुख्यसाधनमाहुः अदूरे विप्रकर्मं वेति । भगवत इति शेषः । गृहस्थितिपक्षे श्रीविग्रहस्य अदूरं निष्ठे, त्यागपक्षे श्रीमूर्तेर्विप्रकर्मं दूरे स्थितायपि चित्तदोषो यथा न भवेत्तथा श्रेयमित्युपदेशः । 'चित्तः एतस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् । गुणेषु सक्तं वन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये' इति तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्यात्, 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो'रिति बार्हस्पत्यन्तराजं चित्तस्यैव सर्वत्र मुख्या कारणतेति तस्मिन्दोषोत्पत्तौ सर्वनाश इति चित्तस्य निर्दोषतायै दुःसङ्गवर्जनपूर्वकं सत्सद्वादि सम्पाद्य सावधानतया श्रेयमिति भावः ॥ ८ ॥

कथं चित्तं निर्दुष्टं स्यादित्याकांक्षायां पूर्वोक्तमुपायं स्मरन्ति सेवायां वा कथायां वेति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्भवेत् ॥ ९ ॥

गृहस्थितिपक्षे सेवयाम्, त्यागपक्षे कथायाम्, यस्यासक्तिर्भक्तिर्दृढा भवेत्, तस्य यावज्जीवं कापि दुर्देशो दुष्टकालेषु नाशो बुद्धिभ्रंशरूपो न भवेत् । अन्यथा चित्तदोषे विषयध्यानात् 'ध्यायतो विषयान् पुंसः' इत्यारभ्य 'बुद्धिनाशत्पण्यवती'लन्तेन निरूपितो नाशः स्यादिति भावः ॥ ९ ॥

ननु कृतत्यागस्य भगवदीयसद्वादप्येकान्ते स्थितिरेव समीचीना, भजनप्रतिबन्ध-
दुःसङ्गसंभावनाया अप्यभावादित्याकांक्षायामाहुः बाधसंभावनायां त्विति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते यास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

यद्यप्येकान्ते दुःसङ्गादिदोषो नास्ति, तथापि व्याघ्रादिभयरूपबाधसंभावना यथास्ति, तत्र वास्तो न इष्यते, न इष्टप्रापको, मनसश्चात्मत्यापादकत्वेन भगवद्भजनप्रति-
बन्धकत्वादित्यर्थः । ननु सर्वरक्षको भगवान् व्याघ्रादिभ्यो भक्तान् कथं न रक्षतीत्याकां-
क्षायामाहुः हरिस्त्विति । 'रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति शोपसत्ता'मिति वाक्यात् सर्वथैव भगवान् रक्षति, तथापि तादृगविश्वासाभावेन मनस्यासन्धं स्यादेव, ततो भवने प्रतिबन्धो भवेत् । अतस्त्यागपक्षे हरिस्थाने श्रीगोवर्धनादौ भगवदीयैः सह स्थितिरेव श्रेयस्कारिणी । संसारेस्मिन्क्षणाधोपि सत्सङ्गः शेषविनृणा'मिति भागवतवाक्यादिनि भावः । अपि च एकान्ते स्थितौ हि रक्षणार्थं भगवति भारो देयः । स च सेहविरुद्धः । हरिस्थाने भगव-
दीयैः सह सङ्गे तु सोपि दोषो नास्तीति त्यागपक्षे भगवत्स्थाने भगवदीयैः सह स्थित्वा भगवद्भजनं कार्यम् । तेन च श्रेयासक्तिव्यसनानि भवन्ति । ततो भगवदाभिर्भावः । ततो

एवा सती वृद्धिमवाप्य 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युत्तरोत्तरसंकल्पैर्निद्रान्छेदाद्यनुभावयन्ती मानसी फलरूपा सात् तद्योपायो निरूप्यत इत्यर्थः ।

तत्राधिकारी द्विविधः, अटदवीजभावो टदवीजभावश्च । द्वैविध्ये बीजं भक्तिर्हंसे निरूपितम् । 'वरणे चास्ति प्रकारद्वयम्, मर्यादापुष्टिभेदेने'ति । तत्र प्रथमं द्वितीयस्य कर्तव्यमाहुः बीजेति । 'रतिर्देवादित्रिपयिणी भाव इत्यभिधीयत' इति बीजनूतो यो भगवद्विषयको रत्यात्मको भावः स्थायिभाव इति यावत् । तेनैव पुष्टिमागीयत्वं तेषामुच्यत इति । भगवदनुग्रहादेव तत्सत्त्वादिति यथा तथा पुष्टिप्रवाहमर्यादायां द्रष्टव्यम् । अत एव 'तद्भजस्त्रिय आश्रुत्ये'तत्र टिप्पण्यमुक्तं 'एतेन श्रुतं सर्वैः स्थायिभावोत्रैवास्तीत्यत्रैव तदुद्दीपनमिति शङ्का निरस्तो'ति । स भगवदिच्छया अनुग्रहप्राप्तयेन दुःसहायनभिन्नोऽत एव एवो वक्ष्यमाणस्वरूपो यस्यास्ति तस्य तु बाधकगृहादिसर्वत्यागाच्छ्रवणकीर्तनाच्च भक्तिः पूर्वोक्ता प्रवृद्धा फलरूपा सात्, तस्य नान्यत् कर्तव्यमस्तीति भावः । श्रवणस्यान्यसापेक्षरवात् कीर्तनस्यापि तत्साधकत्वज्ञापनाय समस्तं पदमेकवचनं च । अत एवोपसंहारे एतद्भ्रम्यपाठमाश्रयापि एदरतिप्रतिपादकत्वं वक्ष्यते । अथवा । समाहारद्वन्द्वः । तेन समुच्चयसैव हेतुत्वमिति समास एकत्वं च । बीजभावे एव इति सत्तिसप्तमी । तुशब्द इतरन्यावर्तकः ॥ १ ॥

प्रथमस्य साधनान्तरमाहुः ।

बीजदाह्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अध्याष्टसो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

अनुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः, 'सर्वविभक्तिकरुसासित्', दासधर्मेण ममायमेव धर्मः, एतदकरणे सर्वस्वहानिरेवेति स्वतन्त्रपुरुषार्थशुद्ध्या इतरव्यावृत्तिरहितः कृष्णं सदानन्दं सेवेत । पूजया भक्त्या । 'तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः कश्चित् । परिचर्यां सदा कुर्वाद्भक्तप्रक्षालनादिभिः । अलंकुर्वीत सप्रेम वक्षैरामरगैरपि' इत्यादिस्मारक्यात् स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं विधेरनतिक्रमाय पूजापदम् । विधिप्रधानत्वात् तस्याः । अत एव भक्तिर्हंसेपि तथैवोक्तं प्रमुचरपैः 'स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं विधिरेव नियामक' इति । स चात्र श्रीमदाचार्यनिर्दिष्ट एव, न तु ताञ्छिक इति ज्ञेयम् । स च 'कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दग्भादिरहितं नरम् । श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेजिज्ञासुरादरा'दिति वाक्यात् तदनुसार्येवेति हृदयम् । साक्षात् श्रीमदङ्गसेवानवसरे श्रवणादिकं विधेयम् । 'सप्रेमे'ति सर्वत्रानुपज्यते । वस्तुरभावे स्वयमेव कीर्तनम् । आदिपदात् स्मरणं च सर्वदा । पादसेवनमित्युपलक्षणम् । वस्तुतस्तु भगवत्स्वरूपसेवनमेव तत् । यद्यपि 'श्रवणं कीर्तनं विष्णो'रित्यत्र श्रवणादित्रयानन्तरं पादसेवनमुक्तम् । तत्र मर्यादायां भगवद्विमुखस्य विषयासक्तस्य गुरुपदेशमात्रेण भजनमिच्छतः श्रयमप्रवृत्तौ माहात्म्यज्ञानेन श्रवणेन्द्रियमनोदोषनिवृत्त्या शुद्धिसंपादनेन

‘शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविधाविशारदाः । भगवत्सेवने योग्या नान्य’ इति वाक्यात् साक्षात् भगवत्सेवने अधिकारसिद्धयर्थं प्रथमत एव श्रवणं, कीर्तनं स्मरणमित्युक्त्वा अग्रे पादसेवनमुच्यते । अत्र तु भगवदाज्ञया श्रीमदाचार्यैरादावेव सर्वसमर्पणेन ब्रह्मसंबन्धकरणात् तेनैव सर्वदोषनिवृत्तिपूर्वकसेवाधिकारो जात इति स क्रमो न विवक्षित इति ज्ञेयम् । तदुक्तं ‘ब्रह्मसंबन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः । सर्वदोषनिवृत्तिर्हि’ इति सिद्धान्तरहस्ये साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधानमाहुरिति । नवरत्ने चेत्यमेवाशङ्का समाहिता । तथा च अरुणोदयात् प्रागुत्थाय स्वयं स्नानादिकं विधाय भगवन्मन्दिरे गत्वा मन्दिरपात्रादिसंशोधनं, सिंहासनसंस्कारः, चालभोगसञ्जीकरणं, ततः प्रबोधस्त्वैः भगवद्बोधनं, शीतादिसमयोचिततूलकञ्चुकप्रावरणादि परिधाप्य, सिंहासने उपवेश्य, चालभोगं समर्प्य, शीताधिक्ये हसन्तीमुपनिधाय, स्नानसामग्रीं सुगन्धतैलतप्तोदकादि अङ्गनस्रृष्टारवशोचितवस्त्रालङ्कारादि सर्वमुपस्थाप्य, समये जाते, चालभोगमपनीय, आचमनं मुखवस्त्रताम्बूले समर्प्य, दर्पणं प्रदर्श्य, तत्सामयिकशोभामवलोकयन् मङ्गलनीराजनां कुर्यात् । एवं स्नानशृङ्गारभारग्य श्रीमदाचार्यनिर्दिष्टप्रकारेण शृङ्गारभोगगोपीवल्लभगोपालराजभोगोत्थापनसन्ध्याशयनपर्यन्तं यथायथं परिचरणमेव पादसेवनमित्यर्थः । अर्चनं च पूजनम् । तद्धि पूज्ये उत्कर्षत्वापकम्, सर्वोत्कृष्ट एव पूज्यो भवतीति । प्रकृते च पूज्यो भगवान् पुरुषोत्तमः, तथापि श्रीवशोदोत्सङ्गलालितः, तथापि कोटिकन्दर्पलावण्यः श्रीगोपीजनवल्लभः, तथापि श्रीवल्लभाचार्यहृदयसर्वस्वरूपः, तत्र च श्रीमदाचार्यचरणानुग्रहपक्षपातेन स्वरचितशृङ्गारादिपरिष्कारप्रकाशमानं शोभातिशयविशेषमङ्गीकारसूचकमवधार्य परमोत्साहभरेण विवशतया सूर्ये दीपदानमिव धूपदीपनैवेद्यताम्बूलागुरुसारादिसुगन्धपुष्पमालादिभिरभ्यर्च्य एतादृशे न्यसर्वस्वरूपे कस्यापि दृष्टिदोषसंक्रमो भाम्बुदिनि परमप्रेम्णा नीराजनां सर्वदोषनिवृत्त्या ‘निःशेषेण राजयती’ति व्युत्पत्त्या अपूर्वशोभाप्रकाशिकां नीराजनां कुर्यादित्यर्चनम् । ततश्च परिक्रमणेन स्वात्मानमपि प्रभोरुपरि निर्भन्क्ष्य परमाणुना मया किं कर्तुं शक्यमिति परमदैन्येन दण्डवत्पादाङ्ग प्रणमेदिनि वन्दनम् । ततो दास शय्यादिरचना । तत्र चाधिशयाने प्रभौ व्यजनचरणसंवाहनादि च । ततो मुकुटितनयने प्रभावनसरां विधाय श्रीमत्प्रभुप्रसादीकृतपुष्पमालादिभिश्चर्चितः परमाह्लादपूर्णो भगवन्मन्दिराद्बहिरूपेत्ये ‘उच्छिष्टमोजिनो दासाः’ इति वाक्यात् साक्षाद्भराशृनकरभिनने वाद्यान्धन्तरशोधकं परमसौभाग्यसंपादकं महाप्रसादं सेवकादिभ्यो विभज्य भवेत् । ततश्च क्षणे विश्रम्योत्थाय वस्त्राभरणदिमेवया तदभावे तादृशैः वृत्तात्मनिषेदिभिः समानशीलव्यसनेभ्यः भगवदीर्यैः शुक्तितात्पर्यावधारणपूर्वकं श्रीमागवतसुनोधिन्वादिश्रवणम् । तथैव कीर्तनम् । ततस्तीलाशोभादीनां स्मरणं च कुर्याणो यावदुत्थापनं दिनं बेणुगीतोक्तप्रकारेण नयेत् । तन्म्योत्थापने जाते कन्दमूलफलादि तत्तदार्तनं समर्पेत् । अत्र च पुन्दिमीभाग्यं

संभावयेत् । ततो भगवद्दुःखापनशङ्खनिवेशुनादोत्यनिजनिजाह्वानाभिवानश्रवणोत्साह-
समुद्भूतलाङ्गुलसहस्रहृद्कारोलसितमुखीर्षेणः पुरस्कृत्य, साक्षिभिर्गोपवृन्दैरनुभीयमानचरितं
'तं गौरजश्चरितं'त्यादि वर्ष्यमानस्वरूपं भावोद्धारिणीभिर्दृष्टिभिः श्रीमद्भजसीगन्तिनीपरितापं
परिहरन्तं गोपीशृङ्गुत्सवदृशं ब्रजे प्रविशन्तं परिभाष्य, धेनुस्तत्तद्रोष्ट्रे निवेश्य, निजमन्दि-
रमलंकुर्वाणं प्रसुं वन्यपुष्पादिभिरलंकृतं पयोमोदकादिभिर्यथालम्ब्यैर्गोपचारैरम्यर्थ्य,
सान्ध्यनीराजनां विधाय, क्रमेण प्रेम्णा शृङ्गारं चहृत्कृत्य उन्मज्जनसायन्तनवस्त्रालङ्कारादि-
भिरलंकृत्य, दुग्धकेनं समर्प्य, यथात्ममिति सर्वत्र ज्ञेयम् । 'यथालम्बोपचारकै'रिति
वाक्यात् । 'स्नाह्वजैमुपलालित'मिति प्रकारकं शयनभोगमुपनीय, ताम्बूलभात्यादिभिरलंकृत्य,
शयननीराजनां कुर्यात् । ततश्च शय्यामधिशयिते प्रभौ नमस्कृत्य, अनवसरं विधाय,
यहिर्निःसरेत् । इदमेवोक्तं तत्त्वार्थदीपे 'एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि पूजये'दिति ।
ततो यथोचितं प्रसादादि संसेव्य तादृशैः श्रवणकीर्तनादि कुर्वन् परमानन्दमनुभवन्
विश्रमेदिति दास्यं दिङ्माद्यं प्रदर्शितम् । यद्यपि सख्यात्मनिवेदने हि भगवदङ्गी-
कारेणैव संप्रयेते, तथापि 'तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे' इत्यत्र निवेद-
नाङ्गीकारचिन्ताऽभावनिरूपणेनैव सख्यसिद्धिरपि निरूपिता । तथापि साधनदशायां
निरोधलक्षणोक्तमापनावत् तदनुकूलान्तरङ्गसेवा भावनीया । निवेदनं च ब्रह्मसंयन्ध-
समये समर्पितानां पदार्थानां यथायथं तत्रैव विनियोगः ॥ २ ॥

सर्वथा व्यावृत्तिराहित्याभावेपि प्रकारमाहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

वीजं तदृच्यते शास्त्रे दृढं यत्रापि नश्यति ।

हरौ सर्वदुःखहर्तरि चित्तं निधायैति व्यावृत्तिसमयेपि 'शानीयहारिणी यद्'दिनिवृत्
हरावेव चित्तं निधाय व्यावृत्तिं कुर्यादित्यर्थः । अनन्तरं च श्रवणादौ सदा यतेत् ।
इदमेवाभिप्रेत्योक्तं निबन्धे 'सर्वथा वृत्तिहीनधेदेकं यामं हरौ नये'दिति । एवं सर्वदा
भजतः फलमाहुः तत इति । एवं भजतः प्रथमं भगवति स्नेहः स्यात्, पृथक्को वीजभा-
षोऽङ्कुरितः स्यादित्यर्थः । ततः क्रमेणसक्तिर्भवेत्, भगवत्स्वरूपे चक्षुरापो भवेत् ।
तदाङ्कुरो द्विपत्रितो जात इति ज्ञेयम् । ततश्च क्रमेण व्यसनम् । विशेषेण अस्मन्ते तदितरे
सर्वे विपया येन, तं विना स्वातुमशक्तिरिति यावत्, तद्भवेत् । ततश्च सद्गत्या उत्तरोत्तरं
पल्लवस्थानीया भविष्यन्ति । एवं व्यसने जाते तद्दीर्घं भक्तिशास्त्रे दृढमुच्यते । यद्यस्मा-
न्नाशहेतावपि यत्र नश्यति ॥ ३ ॥

तत्र हेतुभूतं तस्य साधारणं कार्यमाहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां पाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद्वासनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

तादृशस्यापि सततं गेहस्थान विनाशकम् ।

भगवति स्नेहे जाते गृहादौ तदितरं सर्वत्रैव रागो निवर्तते, स्नेहपदार्थसैव तथात्वात् । तत्रासक्तौ जाताया गृहादावरुचिर्भवति, तत्प्रीतिजनकं न भवतीत्यर्थः । न केवलमरुचिमात्रम्, किन्तु एते मम पाधका अनात्मीया इति बुद्धिर्जायते 'इत्याहुः' गृहस्थानामिति । समन्यमाने पृष्ठी । गृहस्थितेषु स्त्रीपुत्रादिषु ममताविषयेषु स्पष्टम् । तदेवमासक्त्या सेवते यदा कृष्णे फलरूपे व्यसनं तदितरसर्वविषयनिवृत्तिपूर्वकं तं विना स्यातुमशक्तिर्भवेत्, तदा कृतं सम्पादितं अर्थं यदर्थं तनुवित्तताया प्रवृत्तं बीजदाढ्यरूपं पुरुषार्थं येन तादृशं स्यात् । अत एव बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढमिति पूर्वमुक्तम् । एवकारेण अन्यथा तदभावः । तत्सत्त्वेन तत्सिद्धिनिश्चयोपि हिशब्देन सूचितः । एव बीजभावे दृढे जाते यथा द्वितीयाधिकारिणस्त्याग श्रवणकर्तृत्वस्य साधनमुक्तम्, तदेवास्यापि वक्तुं हेतुमाहुः तादृशस्यापीति । गृहादावरुचिमतोपि पाधकत्वस्फूर्तिमतोपि भगवदेकव्यसनवतोपि निरन्तरं गृहस्थितिर्विशेषेण भावनाशिका ।

अत्रायं भावः । 'स्नेहाद्रागविनाशः स्यादित्यादिना विरागसोक्तत्वाद् 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रज्जे'दिति श्रुतेरवसरस्य प्राप्तत्वात् त्याग उपदिश्यते इति नानुसन्धेयम् । तस्य ज्ञानमार्गीयत्वात् । प्रकृते च पुष्टिमार्गीये बीजभावे दृढे व्यसनात्मके जाते तस्य च तं विना स्यातुमशक्तिरूपत्वात् विप्रयोग एवानुभावक इति सततं गृहस्थितौ स्वरूपासक्तस्य आसक्त्या, स्वरूपसेवा कुर्वते, सेवारसावेशेन परमानन्दानुभवेऽस्वास्थ्यभावात् पूर्वोक्तो भावः प्रवृद्धो न स्यात्, 'भगवता सह सलाप' इत्यादि सकृन्वा निद्राच्छेदादयश्च दशा न भवेयुः, क फलरूपमानसीसेवासभावनेति विमृश्य 'त्याग कृत्वे'त्युक्तं श्रीमदाचार्यैरिति तादृशस्यापि सततमित्यादि पदसमभिव्याहारादवगम्यते । अन्यथा सतततादवैयर्थ्यं च । अत एव स्वमार्गीयत्यागस्वरूपमुक्तं सञ्ज्ञासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं हि परित्यागः प्रशस्यते । स्वीयवन्धनिवृत्त्यर्थं चेशः सोऽनं न चान्यथे'ति । त्यागे स्वीयानावन्धवत्त्वाभावे स वेशोपि न कार्य इत्याशयेन । अतो नायं वैधस्त्याग इति हृदयम् । तस्मिन् वेशस्यापि अङ्गत्वात् । एतद्यथा तथा सञ्ज्ञासनिर्णये विशेषेण भावनीयम् । अत एव अन्त्याधिकारिणो आपन्नदिस्वप्ने त्यागाप्यव्यसनीर्त्तनैः इत्यादिकं एतत्त्याग उक्तं ॥ ५३ ॥

प्रथमस्यापि व्यसने जाते बीजस्य दृढत्वात् तथाधिकारो जात इति तदेव साधनमाहुः त्यागं कृत्वैति ।

भजने प्रवृत्तस्य सर्वतो रक्षामेव करिष्यति । अत्र संशयो न विधेयः । अत्र विशेषः
संन्यासनिर्णये द्रष्टव्यः ॥ १० ॥

उपसंहरन्ति ।

इत्थेवं भगवच्छास्त्रं गूढतर्यं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गुढा रतिः ॥ ११ ॥

स्पष्टम् । अथाधुनिकेभ्यः कुटुम्बव्यावृत्तिविशेष्यः स्वकीयेभ्यो महाकारुणिका
वरदानमिव प्रयच्छन्त आहुः य एतदिति । सेवाश्रवणाद्यसंभवे य एतद्भक्तिवर्धिनीश्लोचं
सम्पदार्थावधारणपूर्वकं समधीयीत तस्यापि बीजभावरूपा स्थायिभावात्मिका रतिर्दंढा
स्यादित्याशीर्दानम् ॥ ११ ॥

श्रीमदाचार्यकृपया तद्वाचामर्थसङ्गतिः । प्रादुरासीन्मम स्वान्ते तन्मयेत्यं निरूपितम् ॥१॥
न प्रौढ्या साक्षिणस्वत्र त एव प्रभवो यदि । जीवत्वादन्वया प्रोक्तं क्षमन्तां करुणार्णवाः २
इति श्रीमद्भक्तिवर्धिनीविवृतिः संपूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीवल्लभात्मजश्रीबालकृष्णकृतटीकासमेता ।

नत्वा स्वाचार्यचरणौ कृपापात्रं यतो हरेः ।

स्मृत्वा गोपीशचरणौ व्याख्यास्ये भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥

व्याख्यानरीतिरपरैर्वहुधा विभिन्ना सिद्धान्तरीतिमतिरेव च नान्यथा सा ।

तत्रापि बोधविशदाशयतानुपद्गादर्थं विशेषमभिधातुमना भवामि ॥ २ ॥

अस्याः कृतेर्मम विनोदहृदा विचारे केचित्परे प्रतिपधीनतया विशन्तु ।

ये तु प्रमेयगतिमेव विभावयन्ति ते भावयन्तु सदयाद्दयाः प्रवीणाः ॥ ३ ॥

इह तावत् श्रीवल्लभाचार्याः स्वप्रकटितपुष्टिमार्गं साधारणकारणत्वाद्ब्रह्मसम्ब-
न्धस्य तत्करणपूर्वमनुगृहीतानां जीवानां स्वमार्गायालौकिकसाधनातिशयक्रमेण व्यस-
नान्नास्तिद्वारा साक्षाद्भगवत्प्राप्तिरैकैव सर्वेषामिति ज्ञापयितुं भक्तिवर्धिनीनामान् प्रवर्त्य
व्याचख्युर्यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यादिति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्यात्सागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण भक्तिः पुष्टिमार्गीया स्यात् प्रवृद्धा स्वावस्थात्रयापन्ना च सा-
 च्छा उपायः साधनं निरूप्यते । विशिष्टविधानमेतत् । अयमर्थः । साधनानि तु प्रमा-
 णचतुष्टये प्रतिपादितानि, परं न तेषां यावत्स्वसाध्यविज्ञातीयार्थहेतुतावधार्यते, तावत्प्र-
 कृतोपयोगीनि भवन्ति । अतस्तद्धेतुप्रकारक उपाय उच्यते इति । यद्वा । उक्तं च
 साधनजातं विज्ञातीयार्थेषु तत्राकरणिकमिति वाक्येनेष्टार्थे विनियुज्यते । न चात्र
 प्रमाणभावो न वार्थविरोधः । इतरथा अप्रामाणिकत्वापत्तेः । न चैवं विषयव्यवस्था
 स्यादिति वाच्यम् । तत्त्वतो विषयद्वैविध्यादेरप्यनङ्गीकारादिति । श्रीभागवतादौ उक्तान्यपि
 साधनान्यसंभावनानिपरीतभावानान्यां नार्थहेतवो भवन्तीति ते निवार्याधिकारिविशेषवि-
 पयतया तदुपयोगः कथ्यते इति भावः । अत एव तृतीये कपिलेन 'भक्तियोगो बहुविध'
 इत्यादिना स्वभावगुणतारतम्येन भक्तितारतम्यं व्याख्याय 'अनिमिक्ता भगवती'त्यादिना
 निर्गुणभक्तिरेव स्तूयते । यत्तु कश्चित्प्रमाणचतुष्टये पुष्टिमक्तेस्वसाधनानां चाभावाद्दि-
 जातीयसाधनन्याख्याप्रतिज्ञेयाह । तत्र । तथा सति पुष्टिमक्तेरप्रामाणिकत्वापत्तेः ।
 प्रकृतग्रन्थसाधनविरोधात् । 'कश्चिदेव हि भक्तो हि वो मद्भक्त इतीरणात् । सर्वत्रोत्कर्ष-
 कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चय' इति प्रभुवाक्यविरोधात् । 'गीतायां स्फुटमतः पुष्टिः
 प्रतिपाद्यते' इति तन्मर्यादायां च विरुध्यते इति दिक् । ननु कैयं भक्तिर्नाम । न ताव-
 दाराध्यत्वेन ज्ञानम् । तथा सति ज्ञानविशेषत्वेनाभेदप्रसङ्गात् । न चेष्टापत्तिः । 'तस्मा-
 न्मद्भक्तियुक्तस्य' ज्ञानिनामपि सर्वेषां मित्यादिषु भेदेनाशानात् । न च अवर्णनदितममु-
 दायायन्यतमत्वम् । तस्य भक्त्या सञ्जातया मत्स्ये'त्यनेन कारणत्वोक्तेः । नापि वा एतेन
 सेवापि भक्तिः । न च श्रद्धाविशेषः । तस्याः सङ्कल्पात्मकतया निश्चयात्मकतया
 वा तद्विभक्त्यभेदेदात् । अत एव गुरवः 'श्रद्धातः साधनप्रवृत्तिस्ततः फलं भक्ति'रित्याहुः ।
 एतमेव श्रद्धाभक्तयोर्भेदमादाय 'श्रद्धावन्तो न भक्तास्ते ये स्वधर्मवर्हिर्मुखाः । सेवा-
 स्वधर्मं कुर्वाणा भक्तगोष्ठीविरोचका' इति वदन्ति । यत्तु केचित् श्रद्धासहितसेवाकृति-
 र्भक्तिरिति प्राहुः । तन्न । सेवाकृतेर्भक्तिसाधकत्वम्, न तु भक्तित्वमिति सिद्धान्तात् ।
 एतेन शमादिपक्षाः प्रत्युक्ता बेदितव्याः । अत्रोच्यते । भगवति निरुपाधि प्रेम भक्ति-
 रिति । न चाप्रसिद्धिः । आत्मनि प्रसिद्धेः । न च माहात्म्यज्ञानपूर्वकत्वस्य प्रधानवा-
 क्यगतत्वाद्दुपाधित्वं शक्यम् । तस्य तत्कारणे सेवायामुपक्षीणत्वात् । अत एव माहात्म्य-
 ज्ञानं सेवायामपराधाभावायोपयुज्यते, न तु भक्तिहेतुत्वेनेति श्रीमद्गोकुलनाथचरणाः ।
 नन्वेवं ब्रजस्यातां कामाद्युपाधिसम्भेमेति चेन्न । तत्र कामाभावात् । तासां जात्यनुरूप-
 भगवद्गुणवर्णनस्य तत्रैव विशदत्वात् । भक्तोचितस्वरूपनिष्ठतया वा तादृशगुणकथनस्या-
 वश्यकत्वमित्यस्य सुवचत्वाच्च । अत एव भक्ताः स्वरूपनिष्ठा एव भवन्ति । न हि तेषां
 भगवत्स्वरूपातिरिक्तं किञ्चिद्वर्णनीयमस्ति । तदाहुर्गुरुचरणाः 'तदेव हि प्रसिद्धं भग-

वदङ्गीकारो नाम वस्तु यत्कायवाङ्मनसां भगवत्परत्व'मिति । यद्यपि कामानुरूपा क्रिया दृश्यते, परं न कामः । आहुश्चाचार्याः 'क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते' इति । यद्यपि 'कामाद्भोष्यः,' 'कामं क्रोध'मित्यादिकथनं तदपि लोकप्रतीतिमापेक्षं चित्तासङ्गस्वप्नम्, न तु साधनताबोधकमिति दिव् । तस्मान्निरुपाधिकं प्रेम भक्तिरिति । सा च द्विधा । आत्ममनोधर्मभेदात् । न चायायां मानाभावः । स्वरूपेण भगवद्गीताप्रवेशे सद्भावाभावेन तदसम्भवापत्तेः । अलौकिकमहातस्वीकारे जीवे निराकारताप्रसङ्गात् । अतो न्ययानुपपत्तिरेव मानम् । न वा किञ्चिद्बाधकं पश्यामः । यतः अंशत्वादिवदैश्वर्यादिसमानाधिकरणो धर्मविशेषो भक्तिरिति युक्तमुत्पश्यामः । मनोधर्मरूपा तु श्रवणादिसाद्गुण्योपकृतिमपेक्षते । यावत्तद्भक्तिमती । तथा पुनः सामिव्यक्ता नेशते परोपकारं स्वात्मनि विनाभावविशेषावस्थायां दृष्टान्तीकृतानां भावानुरूपं करणम् । क्रिया हि परतत्रा प्रयत्नाभिलापतो भवति यथा, साप्येवं यतः । अस्ति च नायं प्राणप्रदो धर्मो, विभिद्यन्ते यतो नानाविधा गतयः । गतिमामान्यमपि साक्षादेवेति न नियमः, किन्तु पारंपर्यतयापि, तदविरोधात् । अतो द्विधा भक्तिः । तत्राद्या विधेयताहीना वृद्धिप्रकारमपेक्षते, अतस्तदुच्यते । ननु वक्ष्यमाणसाधनैः सर्वेषां भगवति कुतो न भक्तिवर्धत इति व्यभिचारिशङ्कायामाहुः 'बीजभावे दृढे तु स्यात्यागाच्छ्रवणकीर्तनादि'ति । परमादिसृष्टौ भगवतो रमणेच्छातो विस्फुलिङ्गन्यायेन निर्गता जीवाः । तेषां विविधगतितत्साधनानामानुपूर्वाविशिष्टानां सत्त्वासत्त्वे भगवतैव विचारिते । तत्र ये स्वप्राप्तियोग्यतया इच्छाविषयो-कृतास्तेषु यत्तादृशेच्छाविषयत्वं स एव बीजभावो नाम । तत्राप्ययं जीवः कतिचिदिनानि साक्षान्मत्प्राप्तिसाधनकृत्त्वा ततो निवर्त्यान्वगतिसाधनकृत्त्वादिति चेद्भगवता विचारितं, तदा स बीजभावो दृढो न भवति । दृढे तु बीजभावे स्यादुक्तसाधनैः प्रवृद्धा स्यादित्यर्थः । अदृढे तु तस्मिन्न भवेदिति । तदुक्तं गुरुचरणैः 'न हि पदार्थगुणदोषौ वर्णयतोपि पुरुषस्य ब्रह्मादेर्भवन्ति विधेयाः प्रवृत्तिनिवृत्त्योः केचिदपि न यावद्विशिष्टेच्छाविषयताशालित्वं धर्मस्येति । अतो दृढे तु बीजभावे तथा स्यात् । तत्र साधनमाहुः त्यागादिति । ऐहिकपारलौकिकयावदस्तुनस्त्यागो भगवति स्वमागीयप्रकारेण सात्मनः समर्पणं । तस्मात् भगवत्प्राप्तीच्छुना प्रथमतो मार्गानुसारेण समर्पणं कर्तव्यम् । मुख्यमिदं साधनं भक्तिवृद्धौ । अत एवैकादशे भगवतोद्भवं प्रत्युक्तम् । 'दारांस्तुतान्ग्रहान्प्राणान्यत्परस्मै निवेदनम् । एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्भवत्सनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्गोस्वावशिष्यत' इति । अन्यत्र च । 'ये दारागारपुत्रासप्राणान्वितमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तान् त्यक्तुमुत्सहे ।' 'मामुद्दिश्य हित्वे'ति तत्राख्यातम् । तस्मात्सर्वापि भगवति कर्तव्यम् । तदुत्तरं साधनमाहुः श्रवणकीर्तनादिति । समाहारे ननुसकलम् । आत्मसमर्पणानन्तरं निबन्धोकलक्षणप्रकारकं गुरुमाश्रित्य यत्रात्मसमर्पणं कृतं तस्य

भगवतः स्वरूपज्ञानार्थं स्वस्वरूपज्ञानार्थं भगवति स्वसम्बन्धज्ञानार्थं च भगवन्छास्त्रं श्रोतव्यम् । तेन सकलसंशयनिवृत्तौ भगवति भक्तिर्ददा स्वति । तदुत्तरं श्रुतस्वार्थस्य संरक्षणार्थं सति श्रोतरि कीर्तनं कर्तव्यम् । अत्र श्रवणकीर्तनयोः समुचित्य हेतुत्वम्, न तु पार्यक्येन । न च यत्र श्रवणमेव साक्षात्कारकं तत्र व्यभिचारः । तत्र कीर्तनस्मरणजनितार्थस्य जन्मान्तरीयतया सिद्धेः । भगवदनुग्रहो वा तत्र कारणम् । श्रवणादीनां हि दृष्टद्वारकत्वम् । तत्र दृष्टं फलं क्वचित्संशयनिवृत्त्यादि यथायथमवगन्तव्यम् । संशयनिवृत्तौ, (सति सम्भवे) स्मरणं विधेयम् । सति सम्भवे सेवा कार्या । श्रवणं तु लीलात्वेन कर्तव्यम्, तथा कीर्तनं च । तदुक्तं गुरुचरणैः 'निरन्तरं भगवतः स्मरणमेव मुख्यमस्माकम्, श्रवणादिकं तु तदुपकारि, न तु स्वतन्त्रपुरुषार्थः । भक्त्युत्पत्तौ लीलात्वेन श्रवणं तु तनुजा सेवा यथा स्वतन्त्रपुरुषार्थ' इति । सेवा च चेतस्तत्त्वश्रवणमेव, तनुजादिकं च तद्धेतुरिति तत्त्वम् ॥ १ ॥

ननु अनधिकारिणि कथं भागवतार्थो देयः, तदधिकारित्वं च दृढबीजभाववत्त्वमेव, स च कथं ज्ञातव्य इत्याकाङ्क्षायामाहुः सार्धेन बीजदार्ढ्येति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

उक्तबीजभावदार्ढ्यस्य प्रकारस्तु क्रिया तु । यस्मिन् बीजभावो दृढस्तरिक्रिया तु इयम् । यत् गृहे स्थित्वा अनुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः आत्मपमोयमिति ज्ञात्वा अव्यावृत्तः सन् यथा लाभसन्तुष्टः सन् कृष्णं सदानन्दं गजेत् । अनुदितमुख्यमक्तेन साधनदशापन्नेन गृहस्थाश्रमे स्थातव्यम् । तत्र स्थित्वा सन्देहमकृत्वा दृढविश्वासेन कृष्णं यथालम्बोपचारैर्भजेत् सेवेत, भज सेवायामित्यर्थकत्वात् । ननु गृहस्थाश्रमः सञ्जिपातरूपः कथं भगवद्भक्तिं साधयेदिति चेत्, मैवम् । 'भयं प्रमत्तस्य बनेष्वपि स्वात्' 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति किञ्चित्' 'प्राप्य पुण्यकृतांल्लोका' नित्यादिवाक्यैर्भगवदर्थिनो गृहाश्रमेपि सदर्थसिद्धेः । तस्मादप्राप्तवक्ष्यमाणलक्षणभक्तिना गृहस्थाश्रमे तदुपायः कर्तव्यः । तत्राप्ययं विशेषः । गृहाश्रमावस्थानं सिद्धगृहाश्रमस्यैव, न तु सिद्धप्रणष्टतत्कसासिद्धतत्कस्य वा । तदपि भजनं स्वधर्मत्वेन कर्तव्यं न तु धर्मत्वेन । तथा सति अन्यशेषत्वेनाभक्तिर्त्वं स्यात् । अत एव गुरुवः 'कर्माङ्गत्वेन क्रियमाणस्मरणादेः कर्माङ्गत्वमेव, अर्थात्कर्मत्वमेव, न भक्तिर्त्वं'मिति । अत्र गृहस्थानविधानेन स्वगृहाधिष्ठितस्वरूपभजनपरित्यागेनान्यत्र तत्करणे भक्तिर्न भवतीति सूचितं भवति । तत्रापि मज्जे फलमुखमङ्गमुपदिशन्ति अव्यावृत्त इति । सर्वव्यावृत्तिं परित्यज्य कृष्णः सेव्यः । आष्टायामिकः कालो भगवद्भक्त्यैव नेयः । सेवासमये सेवा कर्तव्या, अवशिष्टकाले श्रवणादिकं यथासम्भवं कर्तव्यम् । न तु व्यावृत्त्या कालक्षेपः क्षणमपि कर्तव्यः ।

‘निद्रया हियते नक्त’मित्यर्थ । यद्वा । व्यावृत्तिः सर्ववस्तुविषयकः सोऽयमो मनोरथः, सर्वथा तद्रहितोऽव्यावृत्तो भवेत् । सर्वेच्छा परित्यज्य निश्चितचेतसा स्वधर्मत्वेन कृष्णः सेव्यः, न तु पूज्यः । पारिभाषिकश्चायं भेदो द्रष्टव्यः । यदि अव्यावृत्तो न भवेत्, तदा भगवत्सेवनं केवलं स्वमाहात्म्येन यथासम्भवं पापादि निवर्तयेत्, न तु उक्तं फलं साधयेदित्यर्थः । न ह्यन्यचेतसा कृतं कृतमित्यभिमतव्यम् । अतो भगवदर्थिना विक्रान्तं भगवत्सेवासमये तु अवश्यमव्यावृत्तेन भवितव्यम् । तत्र कामचारः । ननु सेवा कर्तव्या, न तु पूजा । सा च कथं कथं कर्तव्या । किं स्वशरीरधर्मतत्समानधर्मत्वेनोपचर्यया, आहोस्त्रियथेच्छभागनादिरीत्या वेति सन्देहे प्राहुः पूजयेति । अत्र तद्गुणसंविज्ञानर-हुर्ब्रीह्याश्रयणादनुक्तसिद्धोपादानत्वेऽपि पूजायाः पृथगुपादानमुक्तभेदतन्त्रम् । तेन सेवा-प्राधान्येन श्रवणादिनवकं निषेधमित्युक्तम् । अपमर्षः । इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां तु तादृशिकोपचारा उपसृक्ता, तत्रापि यत्प्रेमविरोधि तत्र कर्तव्यम्, यथा नित्यं शीतोदकस्नानादि । प्रमाणवत्तान्त्रापेक्षया प्रमेयबलावलस्याधिकत्वेन स्थापितत्वात् । यथासम्भवं चतुःषष्टि उपचाराः प्रत्यहं कर्तव्याः । अपरञ्च । त एवोपचारा भक्तिमार्गे तदीयत्वेन कर्तव्याः, न तु स्वीयत्वेन, धर्मवत् । तथा सति न भक्तित्वं स्यात् । भगवन्मन्त्रालुपयोगश्चाश्रयविशेषावधारणेन कर्तव्यत्वेन व्याख्यातः । यत्तु कश्चित् पञ्चरात्रादिभगवच्छा-स्रतत्त्वानभिज्ञः पूजामार्गाया उपचारास्तत्प्राधान्यानि मन्त्रादीनीति न तानि पुष्टिमार्गे उपयुज्यन्ते, कथञ्चिदपि तदुपयोगे भिन्नमार्गावित्त्वं स्यात्, अन्यथा पूजापूजाभक्तिमार्ग-योरविशेषोपपत्तेरित्याह । तन्मतिमान्यादेव । भावविशेषात्पारिभाषिकभेदादेव तत्सिद्धेः । इतिकर्तव्यताकाङ्क्षाया अनुपरमात् । अप्रामाणिकत्वापत्तेः । ‘भगवच्छास्रं गीता मागवत् पञ्चरात्रं चे’ति सिद्धान्तग्रन्थविरोधात् । भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वाच्चेति दिक् । यद्वा । पूजया श्रवणादिभिर्वेति गृहस्यविधुरादिभेदेन पदार्थद्वयोपदेशः । ‘अधिकारिभेदेनो-पदेशा निघन्त’ इति सिद्धान्तात् ॥ २३ ॥

ननु यदि व्यावृत्तं स्वादृश्यादिद्वानितथैव तत्र प्राहुः व्यावृत्तोऽपीति ।

व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यत्तेऽसदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्च्यसन्नं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

पीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यज्ञापि नश्यति ।

नीचाश्रयणादिनिन्दितवृत्तिस्तु नादरणीया । अतिरिक्तवृत्त्या जीवेत । सा च दुःसाध्या वर्हिः, तदा अयस्य व्यावृत्तो भवति, तदा हरौ भगवदर्थं श्रवणादौ चित्तं निधाय यतेत् । सर्वथा याममानं कालो भगवति विनियोज्यः । श्रवणादिषु त्रिषु पात्यमानमे-कमादेहावसानं दृष्टार्थम् । अतस्तेषु यतेत् । तथापि ‘अन्ये त्वेवमवानन्तं श्रुत्वान्येभ्य उपासते । तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणा’ इति वाक्यात्ते भगवन्तः प्राप्स्यन्त्येव ।

अत एव तत्त्वदीपे भगवदाचार्यैरुक्तं 'सर्वथा वृत्तिहीनश्चेदेकं यामं हरौ नये'दिति । एव समर्थासमर्थभेदेन गृहस्थविधुरादिभेदेन च दृढबीजभावत इतिकर्तव्यता व्याख्याता । इदानीमवसरप्राप्त उक्तत्यागादिसाधनफल निरूपयन्ति ततः प्रेमेति । ततस्त्यागादिसाधनानां यथाभावप्रकारानुष्ठानानन्तरं प्रेम भवति, निरुपाधिकः स्नेहो भवति, यथा स्वहेयोपादेयवस्तूनि भगवति तथा विनियुञ्चन्ते । स्वात्मवद्भगवदुपचारकारको भावविशेषः । तत्र जाते सर्वत्रौदासीन्यं स्यात् । तदुत्तरं तादृशभाववता तथैव सेवायां क्रियमाणायामासक्तिर्भवति । अत्र तादृशानुपूर्वीविशिष्टैवासक्तिर्विधीयते । न तु स्वरूपतो भेदः । अन्यथा 'आसक्तिः प्रेमपूर्वैव, प्रेमापि हरिणा कृतमिति विरुध्यते । आसक्तौ हि सर्वेषु अरुचिर्भवति । यथा 'चित्तं सुखेन भवते'ति । ततो यदा पुनरासक्तिरेवावस्थातो व्यसनमपि भवेत्, तदा कृतार्थः स्यात् । परा काष्ठा भक्तेः सैव यद्व्यसनम्, यथा 'तन्मनस्कास्तद्रालापा' इत्यादि । अवस्थाविशेषं यावद्भावः कुतो न मध्ये कालादिगिरूपद्वन्द्वत इत्यत आहुः बीजमिति । भक्तिशास्त्रे बीज बीजभावः एवोच्यते, तदपि दृढं यत्रापि नैव नश्यति, देशकालादिभिर्न तस्य नाशः । अनेकजन्मभिरपि न तस्य नाशः, किं पुनरन्यैरित्यर्थः ॥ ३, ३१ ॥

इदानीं प्रेमासक्तिकार्यं तदनुपापकमाहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

यदि भगवति स्नेहस्तदा पुत्रदारपनदेहादिषु योनुरागश्चित्तव्यासङ्गः स नश्यति । मनः सर्वांशेन भगवदुपयुक्तं नान्यत्र सञ्जते इत्यर्थः । आसक्त्या पुनर्गृहे अरुचिः, कदा पुनरिदं गच्छेद्येनाहं विमुक्तः साम् । गृहे इति यावदात्मीयोपलक्षणम् । सर्वं न रोचत इत्यर्थः । प्रेमासक्तयोः फलद्वयं प्रत्येकमाहुः गृहस्थानामिति । अत्र निर्धारणे पृष्ठी, तत्र हेतुबाधकत्व गुणः । गृहस्थाः स्त्रीपुत्रादयस्तेषां बाधकत्वम्, एते सर्वथा लौकिका उत्पन्नभावनाशका इति भासते । यद्वा । सम्बन्धसामान्ये पृष्ठी । तथा च गृहस्थसम्बन्धि यद्बाधकत्वं तत्तदैव भासते, चान्यथेत्यर्थः । गृहस्थपदं प्रवृत्तिमार्गेनिष्ठमात्रोपलक्षकमजहलक्षणयेति च सम्यक् । एषा पुनरनात्मत्व अनारम्भीयत्व वा आगमापापित्वमित्यर्थः । तद्भासते । अत्र यावत्प्रेमासक्तयोः सम्भव विरोधिधर्मवतस्तविरोधानं सम्भवति । उत्पन्ने तु व्यसने साधनमसाधन वा तुल्यमित्याहुः यदा स्याद्व्यसनमिति । भगवति हृदयाकाशे सर्वांशेन प्रादुर्भूते तदानन्दसम्पत्त्या व्यसनं जायते, अतः फलान्तराभावादिहैवानुभूतफलो विशिष्टेच्छावशतो देहादि विदग्धप्रतिक्षणं जायमानाद्विविधपरमानन्दसम्पत्कीदृशजितवेद्यान्तरविज्ञानस्त्रिगुणर्हीनः कृतकृत्यः कर्मविपुटीविहीनः परमात्मन्येव रमते ॥ ४, ५ ॥

ननु जातव्यसनावस्थेन गृहे स्थेयं न वेलाकाङ्क्षायामाहुः तादृशस्यापीति ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं चिनाशकम् ।

एवं भक्तेः पराकाष्ठां विधुरगृहससाधनाधिकारियोग्यतापुरःसरं निरूप्य विरक्तस्य गृहाश्रमेच्छारहितस्य ब्रह्मचारिणो भगवदर्थिनो यतेश्च साधनमाहुः त्यागं कृत्वेति ।

त्यागं कृत्वा यतेष्वस्तु तदर्धार्थकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोभ्यधिकां पराम् ।

तुशब्दोधिकारिविशेषन्यावृत्त्यर्थः । य इति दुर्लभाधिकारः सूचितः । सर्वस्य लौकिकस्य त्यागं कायवाङ्मनसा कृत्वा यतेत् । यन्नश्च प्राप्तमद्यस्मरणकीर्तनाराधनभगवद्विज्ञादिदर्शनादिपरायणतैव । सद्यप्रतिबन्धस्याद्यप्रतिबन्धस्य चैतन्मार्गपक्षपातिना भगवतैव निवृत्तत्वात्सुदृढां केनाप्यनपनोद्यां भक्तिं लभते । अतः भगवदधीनत्वबोधायानुवादो, न तु विधानम् । तत्रापि यदि अन्यशेषत्वेन लोकान्तरापेक्षया मुक्तयाद्यपेक्षां कुर्यात्, तदा उक्तस्वरूपां तां न लभते इति अनवयतादृशतत्प्राप्तौ अधिकारिविशेषणमाहुः तदर्थेति । भगवद्रूपो योर्धस्तदर्थ एवैको मानसे यस्य स तथा । अत्र द्वितीयार्थपदेन तद्रूपस्यैव पुरुषार्थत्वेन ज्ञानं तद्धेतुर्नान्यथेति सूचितम् । सापि भक्तिर्न मनोधर्मरूपा, अपि तु आत्मधर्मरूपा, तां प्राप्नुयादित्याहुः परामिति ॥ ६, ६३ ॥

एवं विशिष्याधिकारं व्याख्याय साधनं अद्यकालोदेर्भगवन्मार्गं प्रतिबन्धकत्वाभावात् दृष्टं प्रतिबन्धकं प्रदर्श्य तन्निवृत्तिप्रकारपूर्वकं गुणाधानमाहुः त्यागे बाधकेति ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाऽन्नतः ॥ ७ ॥

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुप्यति ॥ ८ ॥

गृहत्यागे कृते भक्तेर्बाधकानि भूयांसि संभवेयुः । दुःसंसर्गो भवति, तेन भक्तिविषयेऽसम्भावना विपरीतभावना वा उत्पद्यते, द्वयं वा । तेन भक्तिमार्गायप्रकारकाचरणाभावाद्भक्तिर्नोत्पद्यते । दुःसंसर्गो वा एकाकिनो वनितादिसङ्गः, तेन विषयावेशे भक्तेरनुद्भवः । उक्तं च भगवता 'सङ्घात्सञ्जायते काम' इत्यादि । अथवा, दुष्टानामवैष्णवानां संसर्गात्तैः सर्वथा भक्तिनाशो भवेत् । यथैव दुःसंसर्गः सर्वथा बाधकः, तथा अवैष्णवानामनीदृशानामन्नतः अन्नमक्षणतः, अवैष्णवानां जलपानेन भक्तिर्नोत्पद्यते । अत एव धृतवराहरूपेण भगवता पृथ्वीं प्रत्युक्तं 'वैष्णवो यस्तु मोहेन पचेदन्नमनुत्तमम् । अवैष्णवाग्निना देवि तन्न भुञ्जे यथा विषम' । अन्यत्र च । 'वस्तु यद्वैष्णवं किमिषदि पश्येदवैष्णवः । न तन्मप्युपसृज्येत पुंसि स्त्रीव रजस्वला' । तस्माद् दृष्टभेदेन प्रतिबन्धं व्याख्याय तन्निवृत्तायुपायमाहुः अतः स्थेयमिति । यत उक्तरीत्या भक्तिप्रतिबन्धो

भवेत्, अतो हरिस्थाने पुरुषोत्तमस्थाने ब्रजे वा श्रीरङ्गधामपुरुषोत्तमक्षेत्रद्वारावतीच-
दर्याश्रमवैङ्कटादिषु वा श्लेषम् । तत्रापि विविधानां समागमनात्साधनदशापन्नत्वाच्च
स्वस्य न सर्वैः सह स्यातव्यम्, उक्तदोषापत्तेः, किन्तु तदीयैर्नगवदीयैर्न तु कर्मिष्ठादि-
भिर्वा । तत्रापि दीक्षादिकं परिगृह्य केवलं व्याख्यातारः प्रतिष्ठाप्रेक्षका लोकसङ्ग्रहार्थम्,
तेनैव स्यातव्यम्, किन्तु तत्परैः कृष्णपरायणैः सेवाश्रवणकीर्तनादिना । अत्र सर्वात्मना
भगवति चित्तव्यासन्नो मुख्यं साध्यम्, तथा सिध्येत्, तथा विधेयम् । तादृशस्यलेपि
तत्रैव न श्लेषम्, किन्तु दूरे दूरभिन्ने दूरसदृशे । अथाधिप्रकर्षे वा । विवक्षितं तात्पर्यमाहुः
यथा चित्तं न दुष्यतीति तथा विधेयम् । चित्ते दोषो बाहिर्मुख्यमभगवत्परत्वमिति
यावत्, तथा न स्यात्, तथा यतनीयम् ॥ ७, ८ ॥

ननु भगवत्सेवाया अभावात्साधनत्वमिति चेत्त्राहुः सेवायां चेति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते चास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

न वयं तनुजायितजाद्यन्यतमसेवायामेव फलत्वं ब्रूमो येन यतिप्रथमानामधमत्वं
स्यात्, किन्तु भगवत्प्राप्तिं तत्साधनं च भक्तिर्निरुपाधिकप्रेमात्मिकैवेति तस्मामेव
फलानन्तरीयकत्वात् । किमायातमेतावता साधनकलापमनुष्ठादणामुत्तमादिविभेदे उक्त-
श्रद्धासाधनप्रवृत्तितारतम्यातिरिक्तं हेतुत्वेन । अतः सेवायां द्विविधायामपि गृह्यस्वस्य,
कथायां साम्प्रदायिकगुरुकृपाकटाक्षपूर्वकगृहीतसाम्प्रदायिकगतिना कृतायां यतेर्ब्रह्मचारिणो
वा यस्य कस्यचिद्भगवदनुगृहीतसासक्तिर्दृढा, केनापि अनपनोद्या हर्षविषादादिनाप्यनप-
नोद्या भवेत् । ननु इदानीन्तनानां दृश्यते सेवायासक्तिः, कथं न भक्तिरुत्पद्यते इत्या-
शङ्कयामाहुः यावज्जीवमिति । भगवन्मार्गप्रेवशमारथ्य यावदेहावसानमावर्तमानानामेव
श्रवणादीनां द्यार्थत्वम्, न तु सकृत्कृतानामिति भावः । य एतादृशस्तस्य कापि देशे
काले नाशो नाम स्वरूपप्रच्युतिर्न स्यात्, यत्र कापि निन्दिते देशादौ तिष्ठेत्सर्वथा
मुक्तो भवेत्, किं पुनरुत्तमेणुक्ते उक्तविधे देशादावित्याचार्याः स्वयं वदन्ति मम
मत्तिर्गतं सिद्धान्तः । नात्र सन्देहः कर्तव्य इति तत्वम् । ननु विप्रकर्षं श्लेषमित्युक्तम्,
तत्र च दुष्टैरन्यैर्वा जन्तुभिः सर्वथा बाधः सम्भाव्यते, तत्कथं विप्रकर्षं एकान्ते
श्लेषमित्यत्राहुः बाधसम्भावनायां त्विति । तेन बाधसम्भावनं यत्र न स्यात्, तादृशं
स्थलं विमृग्य श्लेषमिति सूचितम् । वस्तुतस्तु अमायया भगवदर्थमेकान्ते वसतः
केनापि बाधो न सम्भवतीत्याहुः हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ।
एतेन 'चीराणि किं पथि न सन्ति' 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां' 'मक्तापातिप्रपन्नाय'

'तथा न ते माधव तावका' इत्यादिप्रमाणपुर सर सर्वथा निर्भयतया निश्चिन्त खेपम्,
विश्वस्य भगवदर्थिनेति तत्त्वमुपदिष्टमिति ज्ञेयम् ॥ ९, १० ॥

एव ग्रन्थमुपदिश्योपसहरन्ति इत्येवं भगवच्छास्त्रमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्र गूढं तत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गूढा रतिः ॥ ११ ॥

इति उक्त एवमनेन प्रकारेण भगवच्छास्त्रे यद्गूढं तत्त्वं तन्निरूपितम् ।
भगवच्छास्त्र गीता भागवत पञ्चरात्र चेति त्रिकम् । तत्सिद्धान्त एतावानेवेत्यर्थः ।
गूढतत्त्वमिति विशेषणोप्ययमेवार्थः । उपसहस्यैतत्पाठकर्तुरर्थानुसन्धानपूर्वकं पठितुरपि
फलमाहुः य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गूढा रतिः । ग्रन्थानुसन्धा
नात्तत्प्रवृत्त्यादिक्रमेणोक्तं फलं सर्वथा सेत्स्यतीति भावः ॥ ११ ॥

निज्ञासितव्यमिदमुत्तमभक्तिचित्तैः सिद्धान्तरीतिमनुश्लथ मयातियत्नात् ।

ह्यस्य निवन्धनमसौ विबुधेषु याज्ञा द्युष्य वचो यदि तदा प्रथमं विभाव्यम् ॥ १ ॥

वारन्धमर्थधिपणैरनवद्यमेव व्याख्यासु कौशलकलानिपुणत्वमेव ।

तचेच्चिरं भवति तत्कृतकृत्यता स्याद्गोपालपादकमलद्वयसनिविष्टम् ॥ २ ॥

सवत्सरे सप्तदशेतिरम्ये वर्षे शरश्रीपतिहस्तसख्ये ।

दिने तथा श्रावणकृष्णपक्षद्वयीकृतेसौ विवृतं प्रबन्धः ॥ ३ ॥

काह मन्दमति काय प्रयन्धस्तत्त्वसङ्ग्रहः ।

शिशुना मासते रम्य तथापि कलभापणम् ॥ ४ ॥

इति श्रीबल्लभात्मजश्रीबालकृष्णकृतभक्तिवर्धिनीटीका समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीगिरिधरकृतविवृतिसमेता ।

श्रीनिष्ठलपदाश्रया सर्वाभीष्टप्रदान् स्वतः ।

शब्दैः सक्षेपतोर्थैस्तु व्याख्यासे भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥

अथ श्रीबल्लभाचार्यचरणा परमकृपालवो भगवद्भक्ते कल्पतरुस्वभावत्वात् तत्त्वमेव
वदन्त स्वीयानां स्वमार्गीयभक्तिवत्पतरोर्बीजावापमारभ्य फलपरिपाकपर्यन्तं प्रवृ-
त्त्युपायं प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे इहे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

येन प्रकारेण भक्तिः प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्ता स्यात्, तत्प्रकारकोपायो निरूप्यत इत्यर्थः । अत्रोपायत्वाविशेषात् जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । तेन क्रमेणोत्तरोत्तरं दृढतरतमाश्रिप्रकारका उपायाः सन्तीति तानाहुः । तत्र प्रथमं बीजस्य दृढत्वे सत्त्वाग्रे ततो-रप्यविनाशित्वं भवति, नो चेद्वातादिवशान्महानपि तरुर्नश्यत्येव । अतस्तमुपायमाहुः बीजेति । बीजभावः श्रीमदाचार्यकृतभगवन्निवेदनानन्तरं तन्मार्गानुसारेण भगवत्स्वरूपनिष्ठास्वरूपः, स यदा दृढो भवति, तदा भक्तिः प्रवृद्धा स्यादिति प्रथमः । तदनन्तरं त्यागात् गृहादिसर्ववस्तुनस्त्यागे कृते सा दृढतरा स्यादिति द्वितीयः । ततः श्रवणकीर्तनात् भगवद्गुणरूपलीलादीनां स्वदेहादिसर्वविस्मरणपूर्वकं तद्रसपरवशतया श्रवणकीर्तने सिद्धे सा दृढतमा स्यादिति तृतीयः ॥ १ ॥

ननु दृढबीजभावः को वा तस्य दार्ढ्यं प्रकारश्च को वेत्ताशंक्य पूर्वं सोरेषं बीजदार्ढ्यप्रकारं ततो बीजभावस्वरूपं चाहुः बीजदार्ढ्यभकारस्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

त्वन्तत्वादेतत्प्रकारप्रवृद्धभावस्य विघातकोपि वक्ष्यमाणपदार्थोस्तीत्यस्याप्रौढत्व-मुक्तं भवति । तथाचायमप्येकः प्रकारो भवतीति तं पूर्वमुद्दिष्टवाग्रे प्रकारमाहुः गृहेति । स्वगृह एव स्थितः सन् स्वधर्मतः जीवस्य ये वैधा वर्णाश्रमधर्मास्तेभ्योऽव्यावृत्तोऽप्यु-व्यावृत्तिरहितः सन् विशेषेणावृत्तिः सततं तद्दर्मेणैवासक्तिपूर्वकं वाङ्मायमनसां परिभ्रमणं तद्गृहितः पुष्करपत्रवत् तत्र स्थितोऽपि तान् लोकसंग्रहार्थं यथाकथञ्चित् कुर्वन्नपि तेष्व-सक्तः सन्, पूजया तनुवित्तजया सेवया श्रवणादिभिरष्टप्रकारैश्च कृत्वा कृष्णं सदानन्दं पुरुषोत्तमं भजेत् सेवेत । एतेन लौकिकधर्माव्यावृत्तिं विहाय पूजाश्रवणादिभगवद्दर्मेणैव व्यावृत्तः स्यादित्यर्थः । अत एव श्रीभागवते 'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्धिषेत् यावते' त्वर्षेण मर्यादामार्गीयस्य कर्माचरणमर्यादामुक्त्वा, अग्रे न्यवस्थया शक्तिमार्गीयस्यापि तामाहुः 'मत्कथाश्रवणादौ वा यावच्छ्रद्धा न जायत' इति । अतो भगवद्दर्मेणु-व्यावृत्तस्य लौकिकधर्माव्यावृत्तिर्युक्तैव । अथवा स्वधर्मतः अव्यावृत्तः अनिवृत्तः सन् । पूर्वदशायां चित्तशोधकत्वेन तेषामुपयोगात् । तदुक्तमेकादशे 'अस्मिन्नोके वर्तमानः स्वध-र्मस्तोऽनघः शुचिः । ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदच्छयेति ॥ २ ॥

किञ्च, न केवलं भगवद्दर्मेऽभिनिमानेणाहं कृतार्थोऽस्मि, नातः परमधिकं किञ्चिद-स्तीति मन्तव्यम्, किन्त्वग्रे धर्मिसम्बन्धयपि किञ्चित् कर्तव्यमेवेत्याहुः व्यावृत्तोपीति ।

‘तथा न ते माधव तावका’ इत्यादिप्रमाणपुरःसरं सर्वथा निर्भयतया निश्चित्य स्वयम्, विश्वस्य भगवदर्थिनेति तत्त्वमुपदिष्टमिति ज्ञेयम् ॥ ९, १० ॥

एवं ग्रन्थमुपदिश्योपसंहरन्ति इत्येवं भगवच्छास्त्रमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढं तत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गूढा रतिः ॥ ११ ॥

इति उक्त एवमनेन प्रकारेण भगवच्छास्त्रे यद्गूढं तत्त्वं तन्निरूपितम् । भगवच्छास्त्रं गीता भागवतं पञ्चरात्रं चेति त्रिकम् । तस्मिन्दान्त एतावानेवेत्यर्थः । गूढतत्त्वमिति विशेषणेष्वयमेवार्थः । उपसंहृत्यैतत्पाठकर्तुर्यानुसन्धानपूर्वकं पठितुरपि फलमाहुः य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गूढा रतिः । ग्रन्थानुसन्धानात्तत्प्रवृत्त्यादिक्रमेणोक्तं फलं सर्वथा सेत्स्यतीति भावः ॥ ११ ॥

जिज्ञासितव्यमिदमुत्तमभक्तिचित्तैः सिद्धान्तरीतिभनुसत्य मयातियलात् ।

ह्यसं निबन्धनमसौ विबुधेषु याञ्चा दूष्यं वचो यदि तदा प्रथमं विभाष्यम् ॥ १ ॥

आरब्धमर्थधिपणैरनवद्यमेव व्याख्यासु कौशलकलानिपुणत्वमेव ।

तच्चैच्चिरं भवति तत्कृतकृत्यता स्याद्गोपालपादकमलद्वयसंनिविष्टम् ॥ २ ॥

संबत्सरे सप्तदशेतिरम्ये वर्षे शरश्रीपतिहस्तसंख्ये ।

दिने तथा श्रावणकृष्णपञ्चद्वयीकृतेसौ विद्युतः प्रपन्धः ॥ ३ ॥

काहं मन्दमतिः कायं प्रपन्धस्तत्त्वसङ्ग्रहः ।

शिशुनां भासते रम्यं तथापि कलभापणम् ॥ ४ ॥

इति श्रीबल्लभात्मजश्रीबालकृष्णकृतभक्तिवर्धिनीटीका समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीगिरिधरकृतविवृतिसमेता ।

श्रीविठ्ठलपदान्नत्वा सर्वांगीष्टप्रदान् सतः ।

शब्दैः संक्षेपतोर्थैस्तु व्याख्यासे भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥

अथ श्रीबल्लभाचार्यचरणाः परमकृपालवो भगवद्भक्तैः कल्पतरुस्वभावत्वात् तत्त्वमेव वदन्तः स्वीयानां स्वमार्गीयभक्तिकल्पतरोर्वाजावापमारभ्य फलपरिपाकपर्यन्तं प्रवृत्त्युपायं प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्यान्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

येन प्रकारेण भक्ति प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्ता स्यात्, तत्प्रकारकोपायो निरूप्यत इत्यर्थः । अत्रोपायत्वाविशेषात् जालमिप्रायेणैकवचनम् । तेन क्रमेणोत्तरोत्तर दृढ-तरतमाक्षिप्रकारका उपाया सन्तीति तानाहुः । तत्र प्रथम बीजस्य दृढत्वे सत्येवाग्रे तरो-रप्यविनाशित्वं भवति, नो चेद्वातादिवशान्महानपि तरुर्नश्यत्येव । अतस्त्रयोपायमाहुः बीजेति । बीजभाव श्रीमदाचार्यकृतभगवन्निवेदानन्तरं तन्मार्गागुसारेण भगवत्स्वरूपनिष्ठारूप, स यदा दृढो भवति, तदा भक्ति प्रवृद्धा स्यादिति प्रथम । तदनन्तरं स्यामात् गृहादिसर्ववस्तुनस्वागे कृते सा दृढतरा स्यादिति द्वितीय । ततः श्रवणकी-र्तनात् भगवद्गुणरूपलीलादीनां स्वदेहादिसर्वविस्मरणपूर्वकं तद्रसपरवशतया श्रवण-कीर्तने सिद्धे सा दृढतमा स्यादिति तृतीय ॥ १ ॥

ननु दृढबीजभाव को वा तस्य दाढ्यं प्रकारश्च को येत्याशङ्क्य पूर्वं सोदेश बीजदाढ्यप्रकारं ततो बीजभावस्वरूपं चाहुः बीजदाढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदाढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्ण पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

तन्तत्वादेतत्प्रकारप्रवृद्धभावस्य विघातकोपि वक्ष्यमाणपदार्थोक्तीत्यस्यप्रौढत्व-मुक्तं भवति । तथाचायमप्येक प्रकारो भवतीति तं पूर्वमुद्दिश्याग्रे प्रकारमाहुः गृहेति । स्वगृह एव स्थितं सन् स्वधर्मतः जीवस्य ये वैधा वर्णाश्रमधर्मास्तेभ्योऽव्यावृत्तस्तेषु व्यावृत्तिरहितं सन् विशेषेणावृत्तिं सततं तद्धर्मेऽभेदात्सक्तिपूर्वकं वाङ्मयमनसा परिभ्रमणं तद्रहितं पुष्करपत्रवत् तत्र स्थितोऽपि तान् लोकसंग्रहार्थं यथाकथञ्चित् कुर्वन्नपि तेष्व-सक्तं सन्, पूजया तनुवित्तजया सेवया श्रवणादिभिरष्टप्रकारैश्च कृत्वा कृष्णं सदानन्दं पुरुषोत्तमं भजेत् सेवेत । एतेन लौकिकधर्मव्यावृत्तिं विहाय पूजाश्रवणादिभगवद्धर्मेऽप्येव व्यावृत्तं स्यादित्यर्थः । अत एव श्रीभागवते 'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विधेयं याचते' त्यर्चेन मर्यादामार्गीयस्य कर्माचरणमर्यादामुक्त्वा, अग्रे व्यवस्थया भक्तिमार्गीयस्यापि तामाहुः 'मत्कथाश्रवणादौ वा यावच्छ्रद्धा न जायत' इति । अतो भगवद्धर्मेऽप्य-व्यावृत्तस्य लौकिकधर्मव्यावृत्तिर्युक्तैव । अथवा स्वधर्मतः अव्यावृत्तः अनिवृत्तं सन् । पूर्वदशायां चित्तशोधकत्वेन तेषामुपयोगात् । तदुक्तमेकादशे 'अस्मिन्नोके वर्तमानं स्वध-र्मस्योऽनघं शुचि । ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदच्छेपे'ति ॥ २ ॥

किञ्च, न केवलं भगवद्धर्मस्थितिमात्रेणाह कृताप्येति, नात्र परमधिकं किञ्चिद-स्तीति मन्तव्यम्, किन्त्वग्रे धर्मिसम्बन्ध्यापि किञ्चित् कर्तव्यमेवेत्याहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्याघृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

धीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यत्रापि नश्यति ।

श्रवणादौ व्याघृत्तोपि हरौ सर्वदुःखहर्तरि चित्तं यसेत् प्रयतेत् । तथा कुर्वन्नपि प्रेमसेवामपि कुर्यादित्यर्थः । यद्वा । ननु 'धावञ्जीवमग्निहोत्रं लुह्या'दिति न्यायेन देहाप्यासवैषाधर्माः सहसा कथं त्यक्तुं शक्यन्त इत्याशङ्क्याहुः व्याघृत्तोपीति । स्वधर्मेषु व्याघृत्तोपि यथाविधि यावच्छक्यं तान् कुर्वन्नपि श्रवणादिषु भगवद्धर्मेषु हरौ भगवति धर्मिणि च चित्तं यसेत् प्रयतेत् । कायिकप्रवृत्त्यां तत्र व्याघृतायामपि वाचिकमानसौ ते भगवत्सेव प्रयोक्तव्ये सर्वथेत्यर्थः । तावतापि कार्यं सिध्यतीत्यर्थः । एवं धीजदार्यप्रकारमुक्त्वा क्रमेण वर्धमानं पूर्णं च धीजभावमाहुः ततः प्रेम इति । ततस्तदनन्तरम् । अथवा । एवं क्रियमाणेभ्यः श्रवणादिभ्यः पूर्वं भगवद्विषयकं प्रेम उत्पद्यते, ततः क्रमेण भगवत्यासक्तिर्भवति । ततोप्रे व्यसनं भवति । व्यसने जाते तदेव दृढधीजभावपदवान्यमित्याहुः धीजमिति । भक्तिशास्त्रे तदेव दृढं धीजमित्युच्यते । यद्भीजमुक्तप्रकारेण स्थितौ दृढं सत् कदापि न नश्यति ॥ ३३ ॥

ननु प्रेमाद्यवस्थास्तु मानसो भवन्ति, ताः कथं शक्यं शक्यं ज्ञायन्त इत्याशङ्क्य तासां व्यावर्तकधर्मानाहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्भागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहान्पिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां पापकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

भगवति स्नेहे उत्पन्ने तत्पूर्वं स्थितस्वेतरविषयकानुरागस्य विशेषेण नाशः स्यात् । ततो यदा भगवत्यासक्तिर्जायते, तदा गृहे गृहपदार्थेषु चार्थिर्भवति । तत्र स्थित-
धन्युकलत्रादिषु किञ्चिद्विशेषमाहुः गृहस्थानामिति । गृहस्थिता ये धन्युकलत्रादयस्तेषां स्वस्मिन्स्थितभगवद्भावे पापकत्वमत एवानात्मत्वं च स्वस्य भासते । अप्यमाशयः । गृहे ये धन्युकलत्रादयस्ते सर्वे नैकजातीयमावाः, किन्तु विजातीयमावाधान्योन्यम् । तत्र केचन लौकिका दैहिकधर्मपराः, केचन वैष्णवा अपि नानाविधभगवद्धर्मपराश्च भवन्ति । तथा च भगवदासक्तिपूर्वानां मनसि तेषु सम्यक्त्वोपादेयत्वं न स्फुरति । एकेषु स्वभावविधातकत्वेनैतत्सङ्गः सर्वात्मना न कर्तव्य एवेति भासते । अपरेषु वैष्णवत्वेऽपि विजातीयभाववत्त्वेन नैते भद्रावस्य पोषकाः, किन्तु विद्वेषका इति नात्मीया मवन्त्यतः समुपेक्ष्या एवेति सामत इति । अग्निभावस्थानाहुः यदेति । यदेव कृष्णे सदानन्दे व्यसनं तस्योत्पद्यते, तदैव कृतार्थः साधितः सम्यग्धर्मः भक्तिपदार्थो येन तारणः स्यात् । व्यसनस्वरूपं तु 'क्षणं युगशतनिव यासां येन विनाऽभवत्'

इत्यादि । व्यसनपदेन यथा पूतकामादिव्यसनिन ऐहिकपारलौकिकेभ्यो लज्जाभयादिक सहसा परित्यज्य तत्तत्परतयैवेतरानुसन्धानरहिता सन्तस्तिष्ठन्ति, तथैतेपि सर्वं परित्यज्य भगवदेकपरा सन्तस्तिष्ठन्तीति ज्ञाप्यते । परमेतावान् विशेष, तत्र वैपयिकत्वादसद्ग्र्य सर्वम्, अत्र तद्ग्रहितत्वात्परमकाष्ठापत्र सर्वमिति । अन्यथा 'विपयान्कान्तदेहाना नायेश सर्वदा हरे' रित्याचार्या न वदेयु । तथा चैव व्यसनावस्थाया जातापामेव बीजभावस पूर्णं दृढत्व स्यादित्यर्थं । एव पुष्टिमत्तिकल्पतरो सर्वधाऽविनाशिदृढतम बीजभावो निरूपित । ततोऽग्रे शाखापत्रादित्यानीयभावाना वृद्धिरनुक्तसिद्धे वेति हृदयम् ॥ ४, ५ ॥

नन्वतिदृढत्वाद्बीजभावस नाशो मास्तु, परन्तु तदुत्पन्नकोमलशाखापत्रादीना पक्षिसृगादिक्रूतकृन्तनवदिहापि बीजोत्पन्नावान्तरभावनाशस्तु सम्भाव्यत एवेत्याशङ्क्य पूर्व नाशकपदार्थमुद्दिशन्ति तादृशस्यापीति ।

तादृशस्यापि सततं गृहस्थान् विनाशनम् ।

त्याग कृत्वा यसेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिका पराम् ।

सज्जातव्यसनस्यापि सततं गृहस्थान् गृहे स्थितिर्विनाशनं बीजोत्पन्नकोमलभावाना विपातकमित्यर्थं । एवमुद्दिश्यैतत्प्रतीकारमपि वदन्त पूर्वोक्तभक्तिप्रवर्धकोपायेषु द्वितीयमुपायमाहुः त्यागमिति । गृहादिसकलवस्तुनस्त्याग कृत्वा यसेत्, व्यसनदार्ढ्यप्रयत्नं कुर्यादित्यर्थं । अयं त्यागस्तु सन्नासनिर्णयोक्तभक्तिमार्गीयतुरीयाश्रमग्रहणरूपः । तत्र त्यागेपि प्रकारविशेषेण स्थितिं वदन्तस्तृतीय भक्तिप्रवृद्ध्युपायमाहुः यस्तु तदर्थार्थैकमानस इति । तु पुनः यं तदर्थार्थैकमानसं स भगवानेवार्यं सकलपदार्थरूपो येषां ते तदर्थं स्वतन्त्रमक्तास्तेषामप्यर्थं मुख्यं पदार्थस्तादृशभक्तैः सह मियो गुणगानरूपान्तरमण्डलिका केवला वा विप्रयोगावस्था । तत्रैवैकं केवलं मुख्यं च मानसं यस्य तारशं सन् यसेत्, तत्तद्भावानुभवं कुर्यात्, स सुदृढा कालादिभिरपि चालयितुमप्यशक्यया सर्वतः मुक्त्यादिभ्योपि अधिका परा परमकाष्ठापत्रा स्वतन्त्रफलरूपा भक्तिं लभते प्राप्नोति । एतेन पूर्वोक्तैस्त्रिभिर्भक्तिप्रवर्धकोपायैः क्रमेणोत्तरोत्तरमधिका सुदृढा, सर्वतोऽधिका, परा चेति त्रिविधापि भक्तिप्रवृद्धिरुक्ता । ननु 'ज्ञान गुणाश्च तस्यैव वतैमानस्य प्रायका' इत्युक्ते कथं गुणगानस्य परमफलत्वमुच्यते इति चेत् । मैवम् । ते तु मार्यादिका एव प्रायका, नैतन्मार्गीया । अन्यथा तत्रैवाग्रे 'गुणास्तु सङ्गराहित्याजीवनार्थं भवन्ति ही' त्याचार्या न वदेयु । नन्वधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्दानि'रिति न्यायेन विरहे जीवनाशा तदर्थं यमशोभी सुवरा न सुकतराविति चेत् । न । जीवनमृते विरहजदुःखस्यानुभवासम्भवात् । अन्यथा पातपातादिनापि

जीवनमपहातु शक्यत एवेति तथैवोक्तं स्यात् । अतो नेह तथा, यतो विरहस्य सम्पगनुभवार्थमेव परित्यागस्य षोडशमस्तीति दिक् । एव फलपर्यन्तं भक्तिं सोपाया निरूपिता ॥ ६३ ॥

ननु सञ्जातयसनस्वापि यतस्त्यागमृते न फलसिद्धिस्ततोऽसञ्जातप्रेमाद्यवस्य एव येनकेनापि हेतुना यथाकथञ्चित्सञ्जातस्य ह्यदिविराग एव कथं न सर्वत्यागं कुर्याद्य-
तस्तदनन्तरं फलाऽवश्यमाप्तो भवतैवोच्यत इत्याशङ्गाहुः त्याग इति ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःससर्गात्तथाज्ञतः ॥ ७ ॥

साधनदशापामेव त्यागे कृते तत्र भूयासो बाधका सम्भवन्तीत्यर्थः । ननु ते किंमूलमादाय सम्भवन्तीत्याशङ्कामाहुः दुःसंसर्गादिति । दुष्टे सह ससर्गेण दुष्टानां दुष्टे वा अन्ने भुक्ते बाधका उत्पद्यन्ते । अयमर्थः । सर्वं त्यजत्या यत्र कुत्रचि-
स्थितेनापि यतिना नैकाकिंया नापि क्षुत्पिपासादितेन कथञ्चित्सातु शक्यते, अपकद-
शापन्नत्वात्, तथा च तदर्थं दुष्टे सङ्गे दुष्टान्नभोजने च कृते सर्वं कृतमप्यकृतप्रायं भव-
तीति तथा । तदुक्तं श्रीमदाचार्ये सन्यासनिर्णये 'गृहादेर्बाधकत्वेनेत्यारभ्य 'अतो-
त्र साधने भक्तौ नैव त्यागं सुखावहं' इत्यन्तेन । अतोऽसिन् भक्तिमार्गं साधनदशाया
परित्यागो न कर्तव्य इत्युक्तं भवति ॥ ७ ॥

नन्वेव च सति साधनदशापत्रै स्वभार्यादिकृतमेवादिप्रानिकृत्यसम्भवे कुत्र कथं च
त्येवमित्याकाङ्क्षामाहुः, अत इति ।

अतः स्वयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अङ्गरविप्रकर्षे वा पथा चित्सं न दुष्पति ॥ ८ ॥

यत साधनदशाया त्यागे कृते बाधकभूयस्त्वमत एव हरेर्भगवत स्थाने निव-
न्धोक्तेषु पुरुषोत्तमादिषु प्रजादिषु वा स्वयं स्थिति कर्तव्येत्यर्थः । अत एव निषन्धेषु
स्वभार्यादि प्रातिकूल्येन गृहे स्थातुमशक्तस्य गृहादित्यागप्रकारमुक्तवन्त श्रीमदाचार्याः,
'भार्यादिरनुकूलश्चेत्कारयेद्भगवत्क्रियाम् । उदासीने स्वयं कुर्यात्प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति ।
अयं त्यागस्तु न तुरीयाश्रमग्रहणरूपः, किन्तु गृहस्थेषु कलत्रादिषु मध्ये एक द्वौ
वहवो वा ये एव प्रातिकूल्यं सेवादौ कुर्वन्ति, तानेव यावच्छक्यं त्यजेदित्येवबोधकः ।
अत एव 'गृहं त्यजे'दित्यस्य विवाणं 'गृहं भार्यादिक'मित्युक्तम् । दैवात्पुनः सर्वप्रा-
तिकूल्ये तु सेवाघनिर्वाह्यात् स्वस्य स्थातुमशक्तेषां गृहमेव परित्यज्य सेवादिसाम्प्रतीमपि
स्वसार्थं एव नीत्वा पूर्वोक्तभगवत्स्थानेषु यत्र कुत्रापि स्थितं सन् तत्प्राप्तया सेवादिक
कुर्यादित्याशयः । एव च सति पूर्वोक्तत्यागनिषेधस्तु तुरीयाश्रमीणत्यागपर एव । यतस्तत्र
सेवाघवलम्बनामम्भवेनापकत्वेन च दुःसङ्गदुष्टान्नभोजनादिकं भवत्येव । तत्तु सर्वथा पापकम् ।
अत एवैकादशस्कन्धे दुःसङ्गस्य बाधकत्वमुक्तम् । 'सङ्गं न कुर्यादमनां शिशोदरवृणा

कचित् । तस्यानुगस्तमसन्धे पतत्यन्धादुगान्धव'दित्यादिभिः । दुष्टात्तसा तु याधकत्वमुक्तं पद्मपुराणे । 'अथैष्यवानामन्न च पतितानां तथैव च । अनर्पितं च यद्विष्णोः श्रमांसस-
 द्वा विदु'रित्यादिभिः । एकदशापदानां तु 'ता नाग्निदन्मय्यनुपह्वनद्धधियः स्वमात्मान-
 मदस्त्वयेद'मित्यादिना स्वरूपनिरूपणास्वात्मादिसर्वास्तुसन्धानापगमादेव तत्तद्विष-
 याभावानां दुर्चारगर्वप्रहृत्वमिति दिक् । एषमेपां वासस्थलमुक्त्वा स्थितौ प्रकारमाहु-
 तदीयैरिति । भगवदेकपरा ये भगवदीयास्तैः सह मिलित्वा तत्किञ्च एव अर्थात् तैः
 सहैव यस्तन् सेनाश्रवणकीर्तनादिपरतया स्वैयम् । एतेन दुःसन्नदुष्टाद्यप्रभया दोषा निरा-
 रिताः । न'न्वतिपरिचयादवज्ञे'ति न्यायेन कथं सततं निकट एव स्वातु उपपद्यत इत्या-
 शङ्क्य प्रकारान्तरमप्याहुः अदूरेति । वा अपवा अदूरो दूरत्वामावः तद्वान् यो विप्रकर्षो
 दूरदेशस्तत्र स्वैयमित्यर्थः । अर्थात् नातिदूरे नातिनिष्ठे पर ततः क्रिमिणोऽप्यवधानेन
 स्वैयम् । मिलनादिकं तु तैः सह नित्य सर्वथा कर्तव्यमेव । अन्यथा तदेवासुरमात्र-
 प्रवेशः स्यात् । अदूरमिति पाठेऽदूरमिति क्रियाविशेषणम् । अग्रे पूर्ववत् । नन्वेव चेत्
 क्रिमिति व्यवधानेन स्थितिविधेयत इत्याशङ्क्याप्यामाहुः यथेति । यथा यत्प्रकारकस्थितौ
 स्वस्वान्येषां च चित्त कदापि न दुष्टं भवति तथा स्वैयमित्यर्थः । अत्रापं तनुदायार्थः ।
 भार्यादीनां सेवादावानुकूल्ये सति तैः सहैव सेवां कुर्यात् तैश्च कारयन्स्वग्रहे स्वैयम् ।
 उदासीनेषु तेषु सख्यु गृह एव स्वयमेव सेवादिकं कुर्यात् । तदभावे तु तेषु प्रातिपुन्य
 परित्यजेत् । सर्वप्रातिकूल्ये गृहमेव त्यक्त्वा भगवत्स्त्वाने स्थितः भगवदीयैर्मिलित्वा सेवा-
 कयादिपरतया तिष्ठेत् । अथ तत्सदृशासे चेत्स्वमनमि तद्विषयकं दोषादिकमामानि,
 अथवा स्वादृष्टरशासेपामेव मनमि खविषयकं तदापातीति मनमि सम्भाव्य तैभ्यः क्रिमि-
 दूरदेशे स्थित्वा तत्रैव सेवादिकं कुर्यात्, तदनवगते तत्र गत्वा तैः सह श्रवणकीर्तनादि-
 परतया तिष्ठेदित्यर्थः सम्पन्नः । यद्वा । अदूरेति । भगवत्स्त्वानादेवाद्विप्रकर्षे स्वैयम् ।
 तत्रैव स्थितौ तु अनिपरिचयाद्भवतो भगवदीयानां वा विषयका अपराधाः सम्भ्रान्ति,
 तेन तु स्वस्य चित्त दुष्यत्येवेत्यत आहुः यथेति । यथैव स्थिते चित्त न दुष्यति तथैव
 स्वैयमित्यर्थः ॥ ८ ॥

अतु प्यसन्नानन्तरमपि फलदशापामेव चेद्वाधक्यम्भारना, तदा सुतरामेव साध-
 नदशायां सेति कथं मुपेन सेवादिनिर्वाह इत्याशङ्क्याप्यामाहुः सेवापामिति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यामत्किञ्चिदं भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीमि मन्निर्मम ॥ ९ ॥

सेवायां तनुवित्तनायाम् । अत्र वाग्यन्दः स्मरणान्वापि सद्वाहकः । भगवता अशुका-
 वनवमरे वा शीतृवत्रापभावे स्मर्यापि वा भरितव्यम्, नान्यपरतया म्भान्यविति
 बोधकः । अत एवोक्त नपरत्नत्रासे 'अन्यथा तदेवासुरमात्रप्रवेश' स्यादिति । कथायां

श्रीभागवतादिश्रवणकथनादौ । अत्र वाशब्दः श्रवणकथनयोरन्यतरेणापि कार्यसिद्धिर्भवत्येनेति सूचकः । परमुभयोरपि तत्र तत्र दृढासक्तिरपेक्षिता । ततो वावञ्जीवं तस्यां स्थितायां तस्य भक्तस्य नाशस्तद्भावात् च्युतिस्तस्य भावस्य वा च्युतिः कापि इहास्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वाऽमुन च नास्त्येव इत्येव मे मतिः । सम्मतिर्निश्चयात्मिका बुद्धिर्वा । तथा च सेवायां श्रवणकीर्तनयोर्वा यस्य दृढासक्तिर्भवति, तस्य तावद्भावात् च्युतिः कदापि न भवति, परमग्रे भाववृद्धिस्तु स्वभावयोत्रतिसमये भगवत्सद्गुणानां च रूपया भविष्येवेति परमार्थः ॥ ९ ॥

नन्वेवं सर्वं त्यक्त्वा स्थितस्य तत्रापि चेत् कथनोपद्रावकः पदार्थः सम्बन्धेत्, तदा तेन किं कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः वाधेति ।

वाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

एकान्तेपि चेद्वाधकसम्भावना स्यात्तदा पुष्टिमार्गीवैर्ग्रहितया तत्रैव स्थित्वा भगवति भारो न देयः । अतस्तत्र तस्य वासो नैष्यते, इष्टसाधको न भवतीत्यर्थः । ननु पुनस्तत्र तत्रापि चेत्सम्भवन्मदा 'लितो भ्रष्टस्तो भ्रष्ट' इति न्यायेन कादि-शीकस्य तस्य का वा गतिरित्याशङ्क्यामाहुः हरिस्त्विति । यतो हरिः सर्वदुःखहर्ता, अतः सर्वतः । तसिलः सार्वभिकिकल्पात्मवैषां स्त्रीयानां सर्वेभ्यः प्रतिबन्धकेभ्यः सर्वेषु देशेषु सर्वैर्लौकिकालौकिकोपायैः सर्वप्रकारैश्च रक्षां निःसन्दिग्धं भगवान् करिष्यत्येवेति नात्र संशयात्मभिर्भवितव्यमित्यनवयव सर्वम् । अन्यथा 'अनन्या' इति 'न मे यक्त' इति 'मां हि पार्य' इति 'द्वि स्यापयती'त्यादीनि भगवद्गतानि विरुद्धानि च विफलीभवेयुः ॥ १० ॥

एवं भक्तिसाधनदशावामपि स्थित्वादिप्रकारमुक्त्वा उपसहरन्त एतस्त्रोत्रपाठस्य फलमभ्याहुः इतीति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गृह्यतश्च निरूपितम् ।

य एतन्समवीचीत तस्यापि स्याद् दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इतीति परिसमाप्तौ । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं भगवद्दर्शिशुद्धकं शास्त्रम्, अत एव गृहं तस्य स्वरूपात्मकं यस्मिन्निति तादृशम् । स्वतत्त्वायितपुष्टिरूपोत्तमस्य सत्वरमेव साक्षात्सम्बन्धजनकत्वमिति यावत् । तन्निरूपितं नितरामुक्तम् । एतन्मार्गीयो यः कोपि वा एतच्छास्त्रं सम्यगर्थानुसन्धानपूर्वकं श्रीभद्राचार्यचरणेषु थद्वाविश्वासा-दिपूर्वकं चाधीपीत पाठं कुर्यात्, तस्यापि भगवति रतिर्दृढा भ्यात् । दृढत्वं तु त्रमे-णासक्तिन्यसनयोरनन्तराय नियतपूर्वभाववृत्तित्वम् । अत्रायमाशयः । पूर्वं खेहोत्प-

त्यर्थं ये उपाया निरूपितास्तान्विनैवैतत्याठमात्रेणापि भगवति प्रेम उत्पद्यते । तदनन्तरं यथोक्तरीत्या स्थितौ तदभिभावस्यास्त्ववश्यमाविन्य एवेति परमार्थः ॥ ११ ॥

अत्र शुक्लमयुक्तं वा लिखितं यन्मयाज्ञतः । तद्विद्वठः कृपासिन्धुरज्ञस्य सुम्यतां मुदा ॥१॥

इति श्रीबिह्वलनाथचरणैकतानश्रीव्रजभूषणात्मजश्रीगिरिधरविरचित-
भक्तिवर्धिनीविद्युतिः समाप्ता ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीद्वारकेशविरचितप्रकाशसमेता ।

श्रीमद्ब्रह्मभपादपद्मरजसः संस्मरणेनैव मे
ज्ञातुं सर्वमशक्यमत्र सदसद्वैकिकं यत्परम् ॥
ज्ञातं शक्यमसाध्यमेव नितरां साध्यं तदुक्तार्थत-
स्तद्विश्वासवल्लभयैकनिरतो वक्तुं प्रवृत्तोऽस्म्यहम् ॥ १ ॥
श्रीमदाचार्यवर्षाणां चरणानुग्रहादहम् ।
तदुक्तवाक्यसन्दर्भं विमृशामि यथामति ॥ २ ॥

तत्र पूर्वं यथा भगवान्(न)न्यपूर्वाभ्यस्तारशरसोपयोमिदशाविरहादनुपि ऋरित्वमा-
शक्य तदभिमतप्रयोजनसिद्ध्यर्थं साधनत्वेन त्यायात्यागहेतुकीं भक्तिं ताभ्यः प्रयच्छतीति भाव-
फलोपकारावधि तदुत्पादकजीवभावत्वेन तादृशरसात्मकं स्वरूपं भावरूपत्वेनैतज्जावनया
तत्तदन्तःस्थापितमिति ततो भक्तिस्तयाग्रे चरमणं फलमिति राड्ढान्तसम्मतः पन्थाः । यद्य-
प्येतदतिरिक्तानां भक्तानां 'व्रजे गोप्यो भविष्यसे'ति वरप्राप्तत्वारसाग्रतमधिकारित्वं वर्तते
एव, तथापि, 'प्रथमातिक्रमे कारणाभावा'दिनि न्यायेनैतत्सदकार्यत्व एव फलदानम्,
यत एतासामेव वरप्राप्तत्वेनात्र रमणविशिष्टाः क्षया दत्तास्तत्रतिरेकेण नाम्ब सम्भावनमिति
नैतत्पूर्वं तासां रमणमिति भावः । अत एवाग्रे मग्नदाकारणं तु तावदेतद्विषयकमेव
स्पष्टीकृतं श्रीमदाचार्यैः । तथा सत्युभयोर्मग्नवतः प्राथमिकमन्वय एव बीजम्, तदाचाहा-
नम् । भक्तिधरधारविन्दरूपा । तस्मा नैरन्तर्यभावनेनावसरे प्राप्ते बीजपरिपाकदशायां फलं
साक्षात्स्वरूपानन्दानुभव इति यावत् । तत्र गुमादिकापामत्यागः, तद्गतिरिक्तानां त्याग
इति स्थापितत्वात् । अत एव अनाप्याये श्रीमदाचार्यैरुक्तं 'मत्यागस्यागादुत्तम' इति ।
तथाप्याप्यानुनिकदेवीमृष्टपुत्रज्ञानां जीवनां सर्वदोषदूरीकरणार्थं तादृशमात्मरुम-

जनानन्ददानार्थं च तादृक्सेवनानुकरणोपदिष्टत्वेन श्रीमदाचार्यवर्यास्तदुभयपक्षमाश्रित्य साक्षात्फलप्राप्त्यर्थं नामस्मरणानन्तरं फलपरिचयावधि साधनत्वेन भक्तिवृद्धिप्रकारं निरूपयन्ति यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभाये दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

‘माहात्म्यज्ञानपूर्वेस्तु सुदृढं सर्वतोप्यधिकं स्नेहो भक्तिरिति । यत्र वरप्राप्तत्वेन पूर्वकालिनरुसस्कारकरणानन्तरमेव भक्ते प्रक्षिप्तबीजत्वम्, तत्र स्मरणनाहुल्यादङ्कुरितत्वम्, ततस्तथात्वे पल्लवितत्त्वम्, तथैव कुसुमितत्वम्, एतानन्मात्रक फलीकरणावधि वर्धकत्वमग्रे कुतो न सादित्यनुसन्धेयम् । सा प्रवृद्धा स्यादिति । प्रकृष्टेन वृद्धि प्रतिक्षण तादृगार्तिपूर्वकस्मरणबाहुल्येन । तथोपायस्तत्प्रकारकाचरणोपायो निरूप्यते, उत्तरवाक्य एव निशेदीक्रियत इत्यर्थः । बीजभाये दृढीकरणापेक्षकत्वम्, अन्यथा तुशब्दस्य पूर्वपक्षव्यावर्तकत्वानापत्तिः स्यात् । किञ्च, बीजभावे दृढे सत्येवाग्रेङ्कुरभावमारभ्य फलपर्यन्तं तद्गुद्भावनपूर्वकं वर्धकत्वम् । अन्यथा कृतोपि सस्कारोऽर्थ एव स्यात् । अत एव ‘भावैरङ्कुरित’मित्याद्युक्तयस्तु तादृग्बीजभावफलीकरणत्वमेवाभिव्यञ्जयन्ति । तत्र विषयव्यवसाहेदेन हेतुत्रयमुच्यते त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिति । अत्र तामसाना त्यागादेव तथात्वम् । सात्त्विकराजसाना तु श्रवणकीर्तनादिति योजनोभयत्रैव वेदितव्या । तथा सति पक्षद्वयविशिष्टविभागसमानाधिकरणत्वेन हेतुनिरूपणप्रस्तावेषु सामानाधिकरण्यात्तद्विज्ञेयत्वं स्वीकर्तव्यम् । अत एव त्यागादिति पृथगुक्तिः, न तत्र समाहारे योजना । श्रवणकीर्तनयोस्त्वेकवद्भावत्वेन तथात्त्वात्त्यागपक्षमाश्रित्य श्रवणकीर्तने एव हेतुत्वेन निरूपिते, नतु त्यागः । तस्माद्यथायोग्यतया हेतुनिरूपणं ज्ञेयम् । अत एव ‘श्रवणा’दित्यारभ्य ‘प्रतियातु ततो गृह’नित्यन्तेन तद्दृढीकरणार्थमेव भगवता मय्यप्युक्तम्, तथापि नाङ्गीकृतमेताभिः, किन्तु ‘स्वपक्ष एवाद्दर्शनीय’ इति न्यायात्त्याग एव तासां दार्ढ्यसम्पादकत्वम् ॥ १ ॥

अतः परमेतावन्मात्रकं बीजदार्ढ्यमुपपाद्य तत्प्रकारमप्यग्रे प्रकाशयन्ति बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अध्यायवृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

अत्र कुमारिकावरप्राप्तसाधननिरूपणत्वेन प्रथमतस्तत्प्रकारमेव प्रचारयन्ति । अतस्तुशब्देन तत्प्रकारकातिरिक्तप्रकारं व्यावर्तयन्ति । तद्यथा । गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः इत्यत्र स्वैत्यारामा भगवान् तद्धर्मतः पङ्कणैश्वर्यादिकमनुभवन् तादृशरसभोक्तीणामाच-

रणं ज्ञात्वा भजेदित्यन्वयः । अथवा, यथैताः स्वस्य पूर्वं भगवद्गृहीतपुंस्त्वाख्यधर्म-
मधुना प्राप्य पूर्वकालीनोपदेशजनितसंस्कारस्मरणपूर्वकं तद्भजनं कुर्वन्ति, तथैतन्मा-
र्गीया अपि 'स्वधर्मत' इति नामस्मरणपूर्वकसंस्काररूपवरणप्राप्तौ तदनुकरणत्वेनैतद्भजनं
कुर्वन्ति त्वाशयेन श्रीमदाचार्यवर्या आहुः स्वधर्मत इति । एतत्प्रकारानुसारेण
स्वयमन्यावृत्तः सर्वदा । व्यावृत्तिर्व्यवहारः । स तु सन्निपातः, तद्वहितः सन् कृष्णं
फलात्मकं सदानन्दवाचकं पूजया श्रवणादिभिरित्यत्र, तथा पुष्टिमार्गयिया
'पन्यास्ति'ति वाक्यपट्टनिरूपितया, तथा श्रवणादिनवप्रकारकभक्तिभिरपि तत्तद्भावम-
माश्रितमेव भजेत्सेवनं कुर्यात्, तदप्यान्तरिकम्, नतु बाह्यमित्यर्थः । अथवा । तासां
कामरूपाणि वस्त्राणि गृहीत्वा पूर्वं नीपमारुह्य पश्चात्तत्रैव दानत्वेन तासु यथा
भगवत्सूजनत्वम्, तथैवाग्रे स्वातिप्रियोत्तरीयकल्पितासनदानत्वेन ताभिरपि भगवान्
पूजित इति लक्ष्यते । अत एव 'तत्रोपविष्टो भगवान्स ईश्वर' इत्यत्र तच्छब्दपरामर्शस्यैव
तदुद्घाटकत्वमेतत्प्रकारकाचरणं कर्तव्यमित्यर्थः । सर्वदा भावनीय इति संक्षेपः ।
अतएव व्रतचर्यायां 'प्राग्जन्मपुरुषत्वात्पधर्मा अपि वयस्यतां । प्राप्ता ये तैः सद्गगच्छन्
संबन्धं सूचयन् हरि'रित्यत्र श्रीमत्पुमुभिस्तथैवोक्तमिति प्रागमिकसंबन्धस्यैव धीजभावत्वम् ।
ननु ते तु ऋपयो मननशीला मन्त्रद्रष्टारः सर्वात्मना भगवदुक्तसाधनकरणत्वेनैव
प्रलहं गृहस्थितमेवाद्यत् तदाज्ञापालनपूर्वकं भजनं कुर्वन्ति, अयं तु प्राकृतः, कथं
तस्साधनाचरणं कर्तुं शक्यत इत्याहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ पतेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्न्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

धीजं तद्गुच्यते शास्त्रे हृदं यज्ञापि नश्यति ।

वस्तुतस्त्वयमप्येको धीजदार्यप्रकारान्तरः, तस्मात्स्वयं व्यावृत्तोपि संसारासक्तः
सन्नपि हरौ सर्वदुःखहरणशोले भगवति गजराजप्रास्ताविकनाट्यपराक्रमानुस्मरणपूर्वकं
चित्तं संस्थाप्येति शेषः । सदेति कालापरिच्छेदकत्वेनैव श्रवणादिषु नवप्रकारकभक्तिषु
तद्गृह्णप्रकारस्फूर्त्या यतेत् । तद्विषयकं यत्नं कुर्यादित्येतत्प्रकारेणापि सा प्रवृद्धा स्वादिति
पूर्वेणान्वयः । ननु पूर्वोक्तप्रकाराचरणेनाग्रे किं साधितमिति प्रेमादीनां प्राप्तिमपि सूचयन्ति
ततः प्रेमोति । ततः तद्गृह्णानन्तरं पूर्वोक्ताधिकरणक एव तथास्त्वेन भक्तपरचनारूपं प्रेमोत्प-
पते, येन भक्तिवह्नी प्रलहं प्रतिक्षणं सिम्बनविषयीक्रियते । तथा आसक्तिर्भावत्रिशेषः । स तु
पुण्यागमरूपः । अथ 'शास्त्रार्थस्य परिज्ञानात् भावस्य कलिका भवेदिति वाक्योक्तोपों-
नुसन्धेयः । तथा सत्येतत्प्रकारकासक्तेः प्रेमोत्तरभावित्वं युक्तमेव । अत एव श्रीमदा-
चार्यैरपि तथैवोक्तम् । 'आसक्तिः प्रेमपूर्वैव प्रेमापि इतिना कृत'मिति । तथा न्यसनं
च येन विना क्षणमपि स्यात् न शक्यते, तद्य धीजदारम्य फलाविष्कारावपि

सर्वत्र भावनीयम् । एव यदा भवेत्तदा न काप्यनुपपत्तिः । अथवा । अत्र चकार समु-
 धयार्थकः । तथा सति प्राथमिकसन्धो वीजभावः । तस्मात्स्वभावतो वृद्धिं प्राप्ता भक्ति-
 र्वेष्टी, तदुद्धृत प्रेम पलनस्थानापन्नम्, तन्ननितासक्तिः पुण्यागमः । ततो व्यसनं च फलत्वेन
 स्वरूपैकनिष्ठत्वम् । एतेषा वीजत्वजातिविशिष्टसमानाधिकरणत्वेनैकजातीयत्वम् । तथा
 सति मूढदृढीकरणत्वेनैव सर्वत्र तथात्वमिति भावनीयम् । तदेवाग्रे निरूप्यते वीजं तदु-
 च्यते, शास्त्रे भगवच्छास्त्रं, श्रीभागवतगीतानारदपञ्चरात्रादावपि, यद् दृढं नापि नश्यति,
 तत्तु प्राथमिकसन्धकालीनमित्यध्यवसेयम् ।

अतः परं प्रेमासक्तिभ्यां यज्ञात् तदाहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मन्व च भासने ।

यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थं स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

त्भते सुदृढा भक्तिः सर्वतोऽप्यधिका पराम् ।

त्यागे बाधकभृयस्त्वद्गुणससर्गात्तातत ॥ ७ ॥

अतः स्वयं हरिस्थाने तदीये सह तत्परैः ।

अदूरे विप्ररूपं वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

संवाया वा कथाया वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

याद्यज्जीव तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

बाधसंभायनाया तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षा करिष्यति न सशयः ॥ १० ॥

अत्र स्नेहपदेन भक्तिरुच्यते । तत्र धात्वर्थे सेवा, प्रत्ययार्थे 'प्रेमे'ति । तेन रागवि-
 नाशः स्यात्, भगवत्स्वरूपानिरिक्तवस्तुमात्रेषु यो रागः अनुरञ्जनतस्य विशेषेण नश्वरत्वेन
 नाशः अप्रतीतिः स्यात् । तथा आसक्त्यापि गृहहारुचिः स्यात् । तत्र 'न गृहं गृहमित्याहुः
 गृहिणी गृहमुच्यते' इति वाक्यात्तादृशसम्भत्या परिग्रहाद्यरुचिस्तूचिततरा । अथवा ।
 नैते आत्मसर्वाधनं, किन्तु देहादीनाम्, प्रत्युत तादृशभावनिरतस्वालौकिकभावविपातका-
 एव, नतु साधकाः, इतोपि तदनासक्तौ तस्य न किमपि बाधकम्, प्रत्युत तथात्वे
 तथात्वमिति । अग्रिमवाक्ये तथैव निरूप्यते गृहस्थानां बाधकत्वमिति । भगवद्वि-
 पयकसंस्कारानुभूतकर्तृणां तु स्त्रीपुत्रादिष्वनात्मत्वभासते एव । चकाराद्बाधकत्वमपि ।
 तथा सति तत्सङ्गो न विषय इति तात्पर्यार्थः । अथवा व्यसनभाववत्त्वानुपपत्ति-
 स्यात् । अतस्तस्यैवाग्रे सर्वत्र साधकत्वेनाधिकारी विषयीक्रियते यदा स्यादिति ।

नुरोधेनासपूर्वाणां सेवायामिति धात्वर्थस्यानुकृत्वत्वेन भगवद्भजन एवासक्ति । सपूर्वाणां तु भगवद्गुणानुवादत्वेन कथायामेव सा । 'तत्र कथासृष्टिभिरत्यादिवाक्येषु तथा निरूपितत्वात् । उभयत्र वाञ्छन्दो दिक्ल्पत्वेन तन्मात्रक बोधयति, अन्यथा एकेनैव तेन चारितार्थ्ये सति द्वित्वनिरूपणत्वात्प्रयोजनत्वात् । अतः श्रीमदाचार्यवर्या स्वकीयान्प्रति निःसङ्घि-
करणावत्त्वेन स्यानुभवपूर्वकीमयक्षीयासक्तिनिरोधस्तु फलत्वेन प्रतिपादयति सेवायां या कथायां चेति । अनेन सेवाकथयो स्वरूपात्मकत्व सूचितम् । आसक्तिभ्रमन्यायेन तयोक्ति । अथवा विकल्पत्वेन यस्येति सामान्यनिर्देशात्परमभाग्यवतस्तत्कृताचरणशीलस्य आसक्तिनिरोधे दृढ इति प्रथमस्मृतिपूर्वकत्वेन समवेत्तस्य यावज्जीव शरीरस्थितिपर्यन्तं पूर्वोत्तरीत्या नाम क्वापि कस्मिन्पि देशे समये वा न दृश्यत इति शेषः । 'स्यानुभूत प्रकारज्ञापनाय मे गतिरिति'त्युक्तान्त । अतः परमेतत्प्रकारकाचरणकर्तुं कदापि स्थितिपक्षे पापसम्भावनाया जातायामपि सद्युद्भयान्यत्रैव मया ख्येयमिति पक्षो निराक्रियते । पापसम्भावनाया तु एकान्ते वासो नोचितः । वैराग्यवशात्प्रहारणादौ स्थितिर्न कर्तव्या । किन्तु यत्र साक्षाद्भगवदाविर्भाव स्वहृदये स्यानुभूतो भवति, तत्रैव ख्येयमित्येकान्तपदतात्पर्यम् । अत एव नेष्यते नेच्छाविषयीक्रियते । कुतस्तत्र हेतुरुच्यते हरिस्त्विति । यथा व्रजराज्ञा सर्वतो भगवता रक्षिता, 'विपजलाप्यया'दितिवाक्य पृक्तयनात्, तथात्मविषयिणी या रक्षा ता सर्वतः पूर्वोक्तदुष्टसमूहादपि क्रियतेव । अत्रापि स्वमत्त्वैवोक्तं न संशय इति । संशय सर्वथा न कर्तव्य इत्यर्थः । हरिस्त्वस्या न्यथानुपपत्त्यैव तथा निश्चीयते । तुञ्चन्द्रस्यापि तथैवोद्घाटकत्वम् ॥

अतः परमुपसहरति इत्येवमिति ।

इत्येव भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गूढा रतिः ॥ ११ ॥

पूर्वोक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं श्रीभागवतभगवद्वाक्यनारदपञ्चरात्रादिकं तत्तु भगवत्कथितमुपदिष्टमपि गूढत्वेन दत्तत्वं 'एव मदर्थोऽज्ञितलोकवेदे त्यत्र यथोक्तं तन्मया तदुक्तप्रकारेणैव निरूपितम् । ब्रह्मसत्त्वन्धकरणादित्याद्याज्ञाविषयत्वात् । एतदध्ययनकर्तृणामपि पूर्वोक्तसिद्धिरित्याशयेनोच्यते य एतत्समधीयीतेति । य इति सप्तान्योक्ता क्रोष्येतत्स्मृष्टिगतभाग्यशील परमादरेणार्थानुसन्धानपूर्वकं तदुभयाचरणकर्तृत्वेनैतदध्ययनं करोतीति । तत्रापि नियमनैयत्येन सम्यक्त्वम् । तेन तस्यापि दृढा रतिर्भगवद्विषयको नाम स सुदृढः स्यादित्यलं विस्तरेण ॥

श्रीमदाचार्यचरणानुग्रहादेन निर्णयः । कृतस्तदुक्तवाक्यानां मुञ्जानां तोपसिद्धये ॥ १ ॥

इति श्रीद्वारकेशविरचितभक्तिवर्धिनीप्रकाशः ।